

छान्दोग्योपनिषत् ।

परमहंसपरिव्रजिकाचार्य-श्रीमत्पद्मपाद-शङ्कराचार्यकृत-
भाष्य सहिता अनन्दिनिरुक्तटीकयालङ्कृता च

वि, ए, उपाधिधारिणा

श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण

संस्कृता ।

THE

CHANDOGYA UPANISHAD

OF

THE SAMAVEDA

WITH THE COMMENTARY

OF

SANKARA CHARYA

AND

THE GLOSS OF ANANDA GIRI.

EDITED BY

PANDIT JIBANANDA VIDYASAGARA, B. A.

CALCUTTA:

PRINTED AT THE SUCHAROO PRESS.

1873.

छान्दोग्योपनिषत् सूचीपत्रम् ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

खण्ड पृष्ठावधि पृष्ठापर्यन्त

| | | |
|---|----|----|
| ॐ कारस्य रसतमत्वाप्रिसम्बद्धिगुणानासक्तिः । | ८ | २४ |
| प्राणद्व्या ॐ कारोपासनं २ | २५ | ३८ |
| आदित्यद्व्या प्राणादिद्व्या च उद्गीथ- स्वरोपासनं } ३ | ३८ | ४८ |
| स्वरशब्दितमोकारोपासनं ४ | ५० | ५३ |
| वागादीन् सख्यप्राणञ्च रश्मीन् आ- दित्यञ्च उद्गीथद्व्या अभेदोपास- ननिन्दापूर्वकं तयोः पुनर्भेदोपासनं } ५।६।७ | ५४ | ६८ |
| शिलकदाल्भ्यजैबलिसंवादः ८।९ | ७० | ७८ |
| दुर्भिक्षाखे उपस्तेर्देशान्तरगमनं } हस्तिपालोच्छिष्टभोजनादिप्रस्ताविपू- र्वकराजदर्शनादिस्त्वित्क् संवादः } १० | ८० | ८५ |
| राजोपस्तिर्वादापूर्वकमातिष्ठप्रस्तावेन } देवताज्ञानं } ११ | ८६ | ९० |
| कुङ्कुरैरुद्गीथोपासनोपदेशः १२ | ९० | ९४ |
| भस्मवयवोपासनं १३ | ९५ | ९७ |

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

| | | |
|---|-----|-----|
| बाधुद्व्या समस्तसामोपासना १ | ९८ | १०१ |
| लोकद्व्या हिङ्कारः प्रस्तावः उद्गीथः प्रति- हारः निधनमिति पञ्चविधसामोपासना } २ | १०२ | १०५ |
| हृदिद्व्या पञ्चविधसामोपासना ३ | १०६ | १०६ |
| अब्जद्व्या पञ्चविधसामोपासना ४ | १०७ | १०७ |
| कतुद्व्या पञ्चविधसामोपासना ५ | १०८ | १०८ |
| पशुद्व्या पञ्चविधसामोपासना ६ | १०९ | १०९ |
| प्राणादिद्व्या पञ्चविधसामोपासना ७ | ११० | १११ |
| वाय्वद्व्या हिङ्कारः प्रस्तावः आदिः } उद्गीथः प्रतिहारः उपहरः निधन- मिति सप्तविधसामोपासना } ८ | १११ | ११२ |

समस्त पृष्ठासंक्षिप्त पृष्ठापर्यन्त

| | | | |
|--|----|-----|-----|
| आदित्यदृष्ट्या सप्तविधसामोपासनं | ८ | ११२ | ११७ |
| आदित्य जयेन सप्तविधसामोपासनं | १० | ११७ | १२० |
| प्रायेष गायत्रिसामोपासनं | ११ | १२१ | १२२ |
| प्रायेष रथन्तरसामोपासनं | १२ | १२२ | १२३ |
| मिथुने वामदेव्यसामोपासनं | १३ | १२४ | १२५ |
| वृहदादित्ये पञ्चविधसामोपासनं | १४ | १२५ | १२५ |
| पञ्चमे वरुणसामोपासनं | १५ | १२६ | १२६ |
| ऋतुष वैराजसामोपासनं | १६ | १२६ | १२७ |
| वृषिव्यादिदृष्ट्या सामोपासनं | १७ | १२७ | १२७ |
| पशुदृष्ट्या सामोपासनं | १८ | १२८ | १२८ |
| लोहदृष्ट्या सामोपासनं | १९ | १२८ | १२९ |
| देवतादृष्ट्या सामोपासनं | २० | १२९ | १३० |
| तथोविद्यादिदृष्ट्या सामोपासनं | २१ | १३० | १३२ |
| विनिर्दिष्टविशिष्टसामोपासनं | २२ | १३२ | १३५ |
| धर्मस्त्राभ्येन ओङ्कारोपासनं | २३ | १३६ | १५१ |
| ओङ्कारप्रसङ्गेन सामहोमेनेन्द्रोपासनं | २४ | १५३ | १५७ |
| अज्ञातसामहोमेन्द्रोपासनस्य कर्म्मनिषेधः | २५ | १५७ | १५७ |

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

| | | | |
|--|----|-----|-----|
| आदित्यादौ सध्वादिवृष्टिः | १ | १५८ | १६२ |
| दक्षिणदिक्स्वरश्म्यादौ मधुनाद्यादिवृष्टिः .. | २ | १६२ | १६३ |
| पूर्वदिक्स्वरश्म्यादौ मधुनाद्यादिवृष्टिः ... | ३ | १६३ | १६४ |
| उत्तरदिक्स्वरश्म्यादौ मधुनाद्यादिवृष्टिः ... | ४ | १६४ | १६५ |
| अर्धदिक्स्वरश्म्यादौ मधुनाद्यादिवृष्टिः | ५ | १६५ | १६६ |
| प्रथमानृतं वृद्धीहितादिरूपं वस्त्रप- जीवनभूतं यज्ञोपासनं | ६ | १६६ | १६८ |
| द्वितीयानृतं वृद्धीजीवनभूतं यज्ञदुपासनं ... | ७ | १६९ | १७० |
| तृतीयानृतमादित्योपजीवनभूतं यज्ञदुपासनं | ८ | १७० | १७० |
| चतुर्थानृतं भरतोपजीवनभूतं यज्ञदुपासनं ... | ९ | १७० | १७१ |
| पञ्चमानृतं साध्योपजीवनभूतं यज्ञदुपासनं ... | १० | १७१ | १७२ |
| भोगक्षये आत्मनि संवृतं सर्वामित्युपासनं ... | ११ | १७६ | १७८ |

सख्येष्ट प्रमाणवधि प्रमाणार्थन

| | | | |
|--|----|-----|-----|
| हारपालादिगोपाननं कृदिमुख्य- ब्रह्मोपासनं | 13 | 155 | 200 |
| सर्वदृष्ट्या ब्रह्मोपासनं मनोमयत्वा- दारोपेण शास्त्रेणैव विद्या च ... | 18 | 200 | 202 |
| पुत्रदीर्घायुदफला विराट्कोशोपासना ... | 14 | 210 | 218 |
| आत्मनो दीर्घायुदफला आत्मयज्ञोपासना .. | 16 | 218 | 218 |
| आत्मयज्ञोपासना आक्षिप्तसेन देव- कौपुत्रायोक्ता अक्षयादिफला ... | 17 | 218 | 228 |
| मनसादिदृष्ट्या अध्यात्माधिदैविक- ब्रह्मोपासना | 18 | 224 | 228 |
| अदित्याण्डदृष्ट्या अध्यात्माधिदैविक- ब्रह्मोपासना | 19 | 228 | 232 |

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

| | | | |
|--|----|-----|-----|
| जानन्मुतेहंसोक्ता रेकनिकटे क्षुद्रप्रेरणं ... | 1 | 232 | 240 |
| रेकाय जानन्मुतेधनादिदानं ... | 2 | 240 | 248 |
| ब्रह्मचारिणे अन्नदानरूपा सर्वोपल- ब्धिफला संवर्गविद्या | 3 | 244 | 242 |
| सत्यकामेन ब्रह्मचर्याचं गौतमस्य गोचारणं ... | 4 | 242 | 246 |
| बलीवर्दस्य सत्यकामाय ब्रह्मण एकपादोक्तिः ... | 5 | 246 | 248 |
| अग्नेः सत्यकामाय ब्रह्मणो द्वितीयपादोक्तिः ... | 6 | 248 | 250 |
| इन्द्रस्य सत्यकामाय तृतीयपादोक्तिः ... | 7 | 250 | 251 |
| क्षत्रोः सत्यकामाय चतुर्थपादोक्तिः ... | 8 | 251 | 252 |
| सत्यकामस्य शुक्रते पुनर्ममनं ... | 9 | 252 | 253 |
| उपकोशलस्य आत्मविद्या ... | 10 | 253 | 250 |
| गार्हपत्याग्निविद्या ... | 11 | 251 | 252 |
| आम्नाह्वार्यपचनाग्निविद्या ... | 12 | 252 | 253 |
| आहवनीयाग्निविद्या .. | 13 | 253 | 258 |
| अग्नीनामुपकोशलप्रतिवचनं ... | 14 | 254 | 257 |
| अग्निपुरोपासना .. | 15 | 257 | 252 |

संख्येष्ट पृष्ठावधि पृष्ठापर्यन्त

| | | | | | |
|-----------------------|-----|-----|----|-----|-----|
| यज्ञे अध्यास्य उपासना | ... | ... | १६ | २८४ | २८७ |
| व्याहृत्यपासना | .. | ... | १७ | २८८ | २८९ |

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

| | | | |
|---|-----|-----|-----|
| ज्येष्ठश्रेष्ठशुभोपासना इन्द्रियाणां विवादश्च | १ | २८४ | ३०२ |
| प्राणस्यान्नवासकल्पोपासनं | ... | २ | ३०५ |
| पञ्चाभिः विद्यार्थं श्वेतकेतुप्रवाहणसंवादः | ... | ३ | ३१५ |
| लोकरूपान्निविद्या | ... | ४ | ३२४ |
| पर्जन्यरूपान्निविद्या | ... | ५ | ३२५ |
| पृथिवीरूपान्निविद्या | ... | ६ | ३२७ |
| पुरुषरूपान्निविद्या | .. | ७ | ३२८ |
| योषिद्रूपान्निविद्या | .. | ८ | ३२८ |
| पुनर्घटीयन्त्रवदग्नौ सम्पद्यते | ... | ९ | ३३० |
| आत्माविद्ययोत्तरमार्गः कम्पणा दक्षिणमार्गः | ... | १० | ३३३ |
| औपमन्यवादिभिः पञ्चभिरुद्दालकेन सहितैः | } | ११ | ३६२ |
| केकयस्य संवादः क आत्मा किं ब्रह्मेति .. | | | |
| औपमन्यवकैकेयराजसंवादः | .. | १२ | ३६७ |
| सत्ययज्ञकैकेयराजसंवादः | ... | १३ | ३६८ |
| इन्द्रद्युम्नकैकेयराजसंवादः | ... | १४ | ३७० |
| जनककैकेयसंवादः | ... | १५ | ३७१ |
| बुडिलकैकेयसंवादः | ... | १६ | ३७२ |
| उद्दालककैकेयसंवादः | ... | १७ | ३७३ |
| सर्वैः सह कैकेयसंवादः | .. | १८ | ३७३ |
| आहुत्यपासना तेभ्यः प्राणाय स्वाहेति | १८ | ३७६ | ३७७ |
| व्यानाय स्वाहेति | ... | २० | ३७७ |
| अपानाय स्वाहेति | .. | २१ | ३७७ |
| समानाय स्वाहेति | ... | २२ | ३७८ |
| उदानाय स्वाहेति | .. | २३ | ३७८ |
| एवंविदोऽग्निहोत्रफलं | .. | २४ | ३७८ |

षष्ठाध्यायः ।

| | | | |
|---------------------------------------|-----|---|-----|
| श्वेतकेतुमुपदिशत्यारुणिः | ... | १ | ३८२ |
| प्रपञ्चस्य कारणात्मना सत्त्वे स्मृत्य | .. | २ | ३८७ |

अथ पृष्ठावधि पृष्ठापर्यन्त

| | | | |
|--|----|-----|-----|
| अद्याव्ययितं त्वेधा भवति | ५ | ४१८ | ४२२ |
| भक्ष्यमाश्रयाणीयभागो मनस्वादिर्भवति . | ६ | ४२३ | ४२४ |
| शोडशकलपुरुषोपदेशः | ७ | ४२४ | ४२८ |
| सुषुम्निकालोपदेशः | ८ | ४२८ | ४४३ |
| यथायतनं पुनस्तथा सुषुम्नादुत्तिष्ठति ... | ९ | ४४४ | ४४६ |
| नदीहट्टान्ते नोपदेशः | १० | ४४७ | ४४८ |
| हृत्फलहट्टान्ते नोपासना | ११ | ४४८ | ४५१ |
| वटफलहट्टान्ते नोपासना | १२ | ४५१ | ४५३ |
| लवणहट्टान्ते नोपासना | १३ | ४५३ | ४५६ |
| गन्धारदेशादागतपुरुषहट्टान्ते नोपासना .. | १४ | ४५६ | ४६५ |
| सुसूक्ष्मपुरुषहट्टान्ते नोपासना | १५ | ४६५ | ४६५ |
| चौरपरशुपुरुषहट्टान्ते नोपासना | १६ | ४६५ | ४६८ |

सप्तमाध्यायः ।

| | | | |
|---------------------------------|----|-----|-----|
| नारदाय सनत्कुमारोपदेशः | १ | ४७३ | ४८० |
| वाक् नान्नो भूयसीति | २ | ४८० | ४८२ |
| मनो वाचो भूय इति | ३ | ४८२ | ४८३ |
| सङ्कल्पो मनसो भूयानिति ... | ४ | ४८४ | ४८८ |
| चित्तं सङ्कल्पाद्भूय इति ... | ५ | ४८८ | ४९० |
| ध्यानं चित्ताद्भूय इति | ६ | ४९० | ४९२ |
| विज्ञानं ध्यानाद्भूय इति | ७ | ४९३ | ४९४ |
| बलं विज्ञानाद्भूय इति | ८ | ४९४ | ४९४ |
| अक्षं बलाद्भूय इति | ९ | ४९६ | ४९७ |
| अपोऽक्षाद्भूय इति | १० | ४९८ | ४९९ |
| तेजोऽङ्गो भूय इति | ११ | ४९९ | ५०० |
| आकाशस्तेजसो भूयानिति | १२ | ५०१ | ५०२ |
| अरण्यमाकाशाद्भूय इति | १३ | ५०२ | ५०३ |
| आशा अरण्याद्भूयसीति | १४ | ५०४ | ५०४ |
| प्राण आशाया भूयानिति | १५ | ५०५ | ५१० |
| सत्यज्ञानोपदेशः | १६ | ५१० | ५११ |
| विज्ञानोपदेशः | १७ | ५११ | ५१३ |
| अतिज्ञानोपदेशः | १८ | ५१४ | ५१४ |
| अज्ञानोपदेशः | १९ | ५१४ | ५१४ |
| निष्ठाज्ञानोपदेशः | २० | ५१४ | ५१४ |

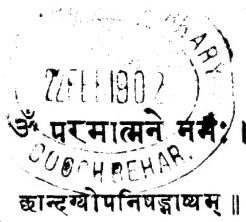
संस्कृत प्रज्ञा-विधि प्रकाशपत्र

| | | | |
|--------------------------------------|----|-----|-----|
| कतिज्ञानोपदेशः | २१ | ५१५ | ५१५ |
| सुखज्ञानोपदेशः | २२ | ५१५ | ५१५ |
| भूमाज्ञानोपदेशः | २३ | ५१६ | ५१६ |
| स्वस्मिन् प्रतिष्ठितत्वोपदेशः | २४ | ५१७ | ५२१ |
| सर्वत्र स एवेत्युपदेशः | २५ | ५२१ | ५२४ |
| एवंविदः फलोपदेशः | २६ | ५२४ | ५२७ |

अथाष्टमीध्यायः ।

| | | | |
|--|----|-----|-----|
| दहरपुण्डरीके ब्रह्मोपासनं | १ | ५२८ | ५४० |
| दहरब्रह्मोपासनफलं | २ | ५४१ | २४२ |
| असत्यापिहितसत्योपासनं नामाक्षरोपा- सनञ्च | ३ | ५४३ | ५४८ |
| सेतुरूपोपासना | ४ | ५५० | ५५३ |
| यज्ञादौ ब्रह्मचर्यादौः | ५ | ५५४ | ५६२ |
| हृदयनाडीसूर्यरश्मिपथोपासना | ६ | ५६३ | ४७० |
| इन्द्रविरोचनयोः प्रजापतिसकाशगमनं | ७ | ५७१ | ५७५ |
| इन्द्रविरोचनयोर्दशरात्रे आत्मदर्शनं | ८ | ५७६ | ५८५ |
| इन्द्रस्य पुनरागमनं | ९ | ५८६ | ५९० |
| इन्द्राय कृत्तुवर्णोपदेशः | १० | ५९१ | ५९४ |
| सुप्तपुरुषोपदेशः | ११ | ५९५ | ५९७ |
| मर्त्येश्वरीराद्युपदेशः | १२ | ५९७ | ६२१ |
| महाकाद्युपदेशः | १३ | ६२२ | ६२२ |
| कारणत्वेनाकाशाख्यब्रह्मोपदेशः | १४ | ६२३ | ६२५ |
| परब्रह्मरागतब्रह्मोपदेशः | १५ | ६२५ | ६२५ |

समाप्ता सूची ।



ॐमित्येतदक्षरमित्याद्यष्टाध्यायी छान्दोग्योपनिषत् ।
तस्याः सङ्क्षेपतोऽर्थजिज्ञासुभ्य ऋजुविवरणमल्पग्रन्थमिद-
मारभ्यते ॥

आनन्दगिरिकृतटीका ।

ओं ॥ नमो जन्मादिसम्बन्धवन्धविध्वंसहेतवे ।

हरये परमानन्दवपुषे परमात्मने ॥ १ ॥

नमस्तत्त्वान्सन्दोहसरसीरुहभानवे ।

गुरवे परपञ्चौषध्वान्ध्वंसपटोयसे ॥ २ ॥

छन्दोगानामुपनिषद्भेदं व्याचिख्यासुर्भगवान् भाष्यकारश्चिकीर्षित-
ग्रन्थपरिसमाप्तिप्रचयपरिपन्थिदुरितनिवर्हणसिद्ध्यर्थमोङ्कारोच्चारलक्षणं
मङ्गलाचरणं सम्पादयन् व्याख्येयस्वरूपं दर्शयति । ओमित्येतदिति ॥
व्याख्यानं सप्रयोजकं प्रतिजानीते । तस्या इति ॥ ननु शारीरके
भूयःसु प्रदेशेषु विस्तरेण व्याख्यातत्वादसुख्य भाष्यं किमिति सम्प्रत्या-
रभ्यतेऽत्वाह । सङ्क्षेपत इति ॥ विस्तरेण व्याख्यातत्वेऽपि सङ्ग्रहितो
व्याख्यानमस्याः सम्प्रणीयते विस्तृतस्य सङ्क्षिप्त्यपहण्ये सुग्रहत्वादित्यर्थः ॥ किञ्च ॥ न चेयं यथा पाठक्रमं व्याख्याता । प्रकृते तु पाठ-
क्रममनतिक्रम्य व्याख्यायते तदुक्तमिदं भाष्यमित्याह । ऋजुविवरण-
मिति ॥ ऋजु पाठक्रमानुसारि विवरणमर्थस्फुटीकरणं प्रकृतोपनिषदो
यस्मिन् भाष्ये तत्तथेति यावत् ॥ अथ पाठक्रममाश्रित्यापि द्वाविड
भाष्यं प्रणीतं तत्र क्रियतेत्याशङ्कनाह । व्याख्यातमिति ॥ तस्यापि

तत्र सम्बन्धः । समस्तं कर्माधिगतं प्राणान्यादिदेव-
ताविज्ञानसहितमर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकप्रतिपत्तिकारणम् । केवलं च धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकप्रतिपत्तिकारणम् । स्वभावप्रवृत्तानां च मार्गद्वयपरिभ्रष्टानां कष्टाः प्रीतिरुक्ताः ॥

विशिष्टाधिकार्यभावे कथमिदमारभ्यते । तत्राह । अर्थजिज्ञासुभ्य इति ॥ ये हि सुसुज्ञवोऽस्याविवक्षितमर्थं जिज्ञासन्ते तेभ्यो भाष्यमिदं प्रस्तूयते । तथा च विशिष्टाधिकारिसम्भवे तदारम्भः सम्भवति । तस्य च प्रकृतोपनिषदर्थपरिज्ञानमवान्तरफलं तद्वारा कैवल्यं परमं फलमिति भावः ॥

ननु कर्मविधिशेषत्वादुपनिषदस्तद्व्याख्यानेनैव कृतव्याख्यानत्वात् पिष्टपिष्टप्रसङ्गात् कृतं तद्भाष्येणेत्याशङ्क्य शेषशेषित्वे प्रमाणाभावान्नैवमित्यभिप्रेत्य पूर्वोत्तरकाण्डयोर्नियतपूर्वापरभावप्रयुक्तं सम्बन्धं प्रतिजानीते । तत्रेति ॥ तस्या व्याख्येयत्वेन प्रस्तुताया उपनिषदः कर्मकाण्डेन सह सम्बन्धोऽभिधीयत इत्यर्थः । कोऽस्यवित्यपेक्षया तदभिधित्वया कर्मकाण्डार्धमनुवदति । समस्तमिति ॥ विहितं प्रतिपिब्रुञ्च कर्म पूर्वस्मिन् काण्डे प्रतिपन्नमित्यर्थः ॥ तत्र हि विहितं समुच्चितमसमुच्चितश्चेति द्विविधमङ्गीकृत्य समुच्चितस्य फलमनुवदति । प्राणान्यादीति ॥ प्राणाद्यास्मिन्नेत्याद्याधिदेवता तद्विज्ञानं तदुपासनं तेन समुच्चितमग्निहोत्रादि कर्म अर्चिराद्युपलक्षितेन देवयानेन यथा कार्यब्रह्मप्राप्तौ कारणं न तु ब्रह्मप्राप्तौ तस्य गन्तव्यत्वाभावात् कार्यस्यैव गन्तव्यताया वादर्थ्यधिकरणे राज्ञान्तित्वात् । तस्माच्च समुच्चितं विहितं कर्म परमपुरुषार्थहेतुरित्यर्थः ॥ तस्यैवासमुच्चितस्य फलमाह । केवलश्चेति ॥ विहितस्य गतिमुक्त्वा प्रतिषिद्धस्य गतिमाह । स्वभावेति । स्वभावेन शास्त्रापेक्षामन्तरेण प्रकृतिवशादेव प्रवृत्ता यथेष्टचेष्टारसिकास्तेषां कर्मज्ञानाभावाद् देवयाने पितृयागे च पथ्यनधिकृतानामधोगतिस्तिथ्यगवस्था क्षुद्रजन्तुलक्षणा अपुनरावृत्तिर्दुर्लभा ॥

न चोभयोरपि मार्गयोरन्यतरस्मिन्नपि मार्गे आत्य-
न्तिकी पुरुषार्थसिद्धिरित्यतः कर्मनिरपेक्षमद्वैतात्मविज्ञानं
संसारगतित्वयहेतूपमर्देन वक्तव्यमित्युपनिषदारभ्यते ।

न चाद्वैतात्मविज्ञानादन्यत्वात्यन्तिकी निःश्रेयसप्राप्तिः ।

वाक्येनान्यतरस्मिन्नेवाधिकृतानां परमपुरुषार्थः सिध्यति । शुक्ल-
रूपेण गतो ह्येते जगतः शाश्वते मते इति स्मृत्या तयोर्नित्यफलत्वप्रति-
पत्तेरत आह । न चोभयोरित्यादिना ॥ ननु मार्गद्वयभ्रष्टानां पुरु-
षार्थाभावेऽपि द्वयोः पथोरन्यतरस्मिन् वा भविष्यतीति चेत् तत्र न
तावदेवयानपथि निमित्ते निरतिशयपुरुषार्थसिद्धिः ॥ इमं मानव-
मावर्त्तन्नावर्त्तते, तेपिह न पुनरावृत्तिरित्यत्रेवमिति विशेषणात्
एकया यात्यनावृत्तिमिति, स्मृतावनावृत्तेरेतत्कल्पविषयत्वात् कल्याणरे
ऽप्यनावृत्तावपि विशेषणानर्थक्यात् । नापि पितृयाणपथि निरति-
शयपुरुषार्थसिद्धिः । एतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तते । अन्यथा वर्त्तते पुन-
रिति चन्द्रस्यलसवलनावगमत् । तस्मान्न कर्मवशादात्यन्तिकपुरुषार्थ
प्राप्तिरित्यर्थः ॥ एवमनूय कर्मफलं फलितं सम्बन्धमाह । इत्यत इति ॥
उक्तरीत्या कर्म यतो न निरतिशयपुरुषार्थहेतुरतः समाधनात् कर्मण
स्तत्फलञ्च विरक्तस्य निरतिशयपुरुषार्थं काङ्क्षतस्तत्साधनं केवलमात्म-
ज्ञानं संसारान्तर्गतपूज्योक्तगतित्वयहेतुकर्म-तद्भेदुनिराकरणेन वक्तव्य-
मित्यभिप्रायेणोपनिषदारभ्यते । न हि कर्मानुष्ठानात् पुमर्थो निरति-
शयो लभ्यते । तस्य तत् यद्येहेत्यादौ क्षयिष्णुफलत्वश्रुतेः । तथा
चैवरापणबुद्ध्याऽनुष्ठितशुभकर्मवशादुपजातशुद्धबुद्धेर्विरक्तस्य सुसुक्ष्मो-
भोक्तसाधनज्ञानार्थोऽयमुपनिषदारम्भ इति हेतुहेतुसङ्गावः सम्बन्ध
इत्यर्थः ॥

ननु भोक्तार्थो न प्रवर्त्तत तत्र कास्यनिषिद्धयोः । नित्यनैमित्तिके
कुर्यात् प्रत्यवायजिहोषयेति वृद्धैरुक्तत्वात् कास्यनिषिद्धे वर्जनीये,
नित्यनैमित्तिके च कृत्वा व्यवस्थितस्य सुसुक्ष्मोर्वर्त्तमानदेहपाते पुनर्देहा-
न्तरग्रहे हेत्वभावादनायाससिद्धा ज्ञानाद्वतेऽपि सुक्तिरिति कथं ताद-
र्थ्येनोपनिषदारभ्यते तत्राह । न चेति ॥ न हि त्वदुत्प्रेक्षितो भोक्तो-

वक्ष्यति हि । अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्ष्य-
लोका भवन्ति, विपर्यये च स स्वराट् भवतीति ॥

तथा द्वैतविषयानृताभिसन्धस्य बन्धनं तत्स्कारस्यैव
तत्प्रपरगुणहणे बन्धदाहभावः संसारदुःखप्राप्तिश्चेत्युक्ता

पायो विना प्रमाणम् कल्पते । न च पौरुषेयं वाक्यं मूलप्रमाणमन्तरेण
प्रमाणम् । न चात्र श्रुतिसृती प्रत्यक्षादि वा मूलमालोच्यते । सम्भवति च
यथा वर्णितरचितस्यापि कर्मशेषवशाद्देहान्तरं न चैकभविकः कर्माशयः ।
तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेणेत्यादिश्रुतिसृतिविरोधात्तस्मा-
दात्मज्ञानादेव मुक्तिरिति भावः । अद्वैतात्मज्ञानविधुराणां भेद-
ज्ञानभाजां कर्मानुष्ठायिनां क्ष्यफलशालित्वे वाक्यशेषं प्रमाणयति ।
वक्ष्यति हीति ॥ अद्वैतात्मपदेशानन्तर्यमथशब्दार्थः । ये पुनरनुपा-
सितगुरवस्तदुपदेशमन्या यथामति यथोक्तादद्वैतादन्यथा द्वैतमेव
तत्त्वं विदन्ति ते परतन्त्राः सन्तो रागादिना कर्मानुतिष्ठन्तो विनाशि-
फलशालिनः स्युरिति श्रुत्यर्थः ॥ अद्वैतात्मज्ञानादात्यन्तिकपुरुषार्थसिद्धि-
रित्यत्रापि वाक्यशेषमनुकूलयति । विपर्यये चेति ॥ चकारात् क्रि-
यापदमनुकल्पते । स हि विद्वान्विद्यया निरस्ताऽविद्यादिमलः प्र-
रिज्ञानात् स्वयमेव परात्मा भवति । भेदप्रतिपत्तिहेतोर्हि ब्रह्मा-
दित्यर्थः ॥

कर्मिणां पुरुषार्थो निरतिशयो न सिद्ध्यति । अद्वैतनिष्ठानानु-
कर्मत्वजतां पुमर्थः सेत्स्यतीत्यत्र वाक्यशेषस्यं लिङ्गं दर्शयति । तथे-
त्यादिना ॥ द्वैतमेव विषयस्तस्मिन्वाचारम्भणमिति श्रुतेरन्तरेऽभिसन्धा-
यस्यभिसन्धा सत्यत्वाभिमानस्तस्य बन्धनं परमानन्दस्याविर्भावरा-
हित्यम्, संसारात्मकस्य दुःखस्य प्राप्तिश्च । यथा वस्तुतस्तत्स्कारस्य नाहं
तत्स्कारोऽस्मीति मिथ्यैवाभिसम्भानस्य परिशोधनार्थं तत्प्रपराशोर्यहणे
दाहो बन्धनं दुःखप्राप्तिश्च प्रतीयते । तथैव द्वैताभिनिवेशवतोऽपीति
प्रथममुक्त्वा वस्तुतोऽतस्कारस्य परैरारोपिततत्स्कारत्वस्य परिशुद्धया
तत्प्रपरगुणहणे दाहाद्यभाववद्वैताभावोपलब्धते प्रत्यगात्मनि परमार्थ-

ऽहैतात्मसत्याभिसन्धस्यातस्करस्येव तत्रपरशुग्रहणे बन्ध-
दाहभावाः संसारदुःखनिवृत्तिश्चेति । अतएव न कर्मसह-
भाव्यहैतात्मदर्शनम् ॥

क्रियाकारकफलभेदोपमर्देन सदेकमेवाद्वितीयमात्मै-
वेदं सर्वमित्येवमादिवाक्यजनितस्य बाधकप्रत्ययानुप-
पत्तेः । कर्मविधिप्रत्यय इति चेत् । न । कर्तृभोक्तृस्वभाव-
विज्ञानवतस्तज्जनितकर्मफले रागहेषादिदोषवतश्च कर्म-
विधानात् । अधिगतसकलवेदार्थस्य कर्मविधानादहैत-

सत्यऽभिमानवतो हैताञ्च व्यावृत्तचित्तस्थानर्थध्वंसो निरतिशयानन्दा-
विर्भावश्चेति । यथोक्तार्थानुरोधेनाग्रे श्रुतिर्विच्यतीति योजना । केवल-
मात्मज्ञानं कैवल्यहेतुस्तत्त्विसिद्धार्थमुपनिषदारम्भ इति स्वपक्षोदर्शितः ।
स्वयूय्यास्तु कर्मसमुद्भूतमात्मज्ञानं मोक्षसाधनं तादर्थ्येनोपनिषदारम्भ
इत्याहुः । तां प्रत्याह । अत एवेति ॥ यत्कृतकं तदनित्यमिति
व्याप्रानुवृत्तीतया तदुपेहेत्यादिश्रुत्या कर्मफलस्थानित्यत्वावगमाद्ब्रह्म-
विदाप्नोति परमित्यादिश्रुत्या च ज्ञानफलस्य नित्यत्वसिद्धेर्ज्ञानकर्मणो-
विरुद्धफलत्वाध्यवसायादहैतस्यात्मानो दर्शनं नैव कर्मणा सह भावि
भवितुमुत्सहते । न हि विरुद्धयोस्तमःप्रकाशयोः समुच्चयः सङ्गच्छते ।
तच्च समुद्भूतज्ञानार्थत्वेनोपनिषदारम्भ इत्यर्थः ॥

किञ्चाहैतात्मज्ञानं स्वसाध्यसिद्धार्थं कर्मापेक्षते, स्वबाधकविधू-
ननार्थं, वा नाद्यः तस्यासाध्यफलत्वादिति मन्वानो द्वितीयं प्रत्याह ।
क्रियेति ॥ वाक्यजनितस्याहैतात्मज्ञानस्येति शेषः । तस्य बाधका-
भावेन तत्परिहारायं सङ्कार्थपेक्षा नास्तीत्यर्थः ॥ बाधकप्रत्ययाभाव-
स्यासिद्धिमाशङ्कते । कर्मेति ॥ तद्विषयो विधिप्रत्ययो यजेतेत्यादि
विधिजनितः कर्त्तव्यतावबोधः । स चात्मनि कर्तृत्वादिकमाकाङ्क्ष-
कर्त्ताद्यात्मज्ञानस्य बाधको भवतीत्यर्थः । कस्यायं कर्मविधिरस्य विदुषो
वेति विकल्पप्राप्त्यं प्रत्याह । नेत्यादिना ॥ कर्त्ताद्याकारं प्रमाणनिर-

ज्ञानवतोऽपि कर्म्मोति चेत् । न । कर्म्माधिकृतविषयस्य
कट् भोक्तादिज्ञानस्य स्वाभाविकस्य सदेकमेवाद्वितीय-
मात्मैवेदं सर्वमित्यनेनोपमर्हितत्वात् । तस्मादविद्यादि-
दोषवत् एव कर्म्माणि विधीयन्ते । नाद्वैतज्ञानवतः ।
अत एव हि वक्ष्यति । सर्वे एते पुण्यतोका भवन्ति । ब्रह्म-

प्रेक्षप्रकृतिप्रसूतं मिथ्याज्ञानं तद्वत्स्तेन मिथ्याज्ञानेन जनितकर्मफलवि-
षयो रागादिदोषस्तद्वत्स्य कर्म विधीयते । न हि कर्त्ताहमित्यादि-
मिथ्याधियो रागादेशाभावे कर्म विधातुं शक्यम् । यद्यद्वि कुरुते जन्तु-
स्तत्तत्कामस्य चेष्टितमिति स्मृतेः । अतोऽज्ञस्य कर्मविधिपक्षे न तत्-
प्रत्ययो बाधकः प्राप्यभावादित्यर्थः ॥ द्वितीयं शङ्कते । अधिगतेति ॥
अधीतस्वाध्यायो हि तैदिके कर्मणि अधिक्रियते । अध्ययनञ्चार्था-
वबोधफलमिति सोमांसकमर्थ्यादा । तथा चाध्ययनवतो ज्ञातसर्ववेदा-
र्थस्य यजेतेत्यादिना कर्मविधानात्मात्मज्ञानस्यापि कर्म्माङ्गत्वं गम्यते ।
न चात्मज्ञानमपि बाध्यते । अविरोधादित्यर्थः । न तावदर्थावबोध-
फलमध्ययनमिति प्रामाणिकमन्तरावाप्तिफलं तदिति चाध्येतृप्रसङ्गम्
तत्वाध्ययनविधिवशेन नात्मज्ञानस्य कर्मविधिसम्बन्धः सम्भवतीति परि-
हरति । नेति ॥ किञ्च भवेदं कर्मेति कर्मण्यैश्वर्यं प्रतिपद्य व्यवस्थितं
विषयोऽत्य प्रवृत्तस्य कर्त्तृत्वाकारविज्ञानस्य प्रमाणामेक्षामन्तरेण स्वाभाव-
प्राप्तस्य वाक्योत्थेन सम्यग्ज्ञानेनापकृतत्वात् कर्मफलविषये रागादयोगा-
त्तद्विवन्धनस्य कर्मणोऽपि दुरनुष्ठानत्वाच्चात्मज्ञस्य कर्मोपपत्तिरि-
त्याह । कर्म्माधिकृतेति ॥ अद्वैतात्मज्ञानस्य कर्मप्रवृत्तिविरोधित्वे फलि-
तमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ अज्ञस्य कर्मविधिर्न त्यात्मज्ञस्येत्यत्र श्रुतिं
संवादयति । अत एवेति ॥ एते त्रयोऽप्याश्रमिणः कर्म्माधिकृता इति
यावत् । यथा मङ्गलचारो गृहस्थो वानप्रस्थश्चेत्येते कर्मिणस्तथा ब्रह्म-
विदपि कर्म्मो चेन्न पृथक् क्रियते । पृथक्करणाच्च न तस्य कर्मविधि-

संस्थोऽस्तवमेतीति । तत्रैतस्मिन्नहैतविविद्याप्रकरणेऽभ्यु-
दयसाधनान्युपासनान्युच्यन्ते । कैवल्यमन्त्रिकृष्टफलानि चा-
हैतादीपद्विकृतब्रह्मविषयाणि मनोमयशरीर इत्यादीनि
कर्मसमृद्धिफलानि च कर्माङ्गसम्बन्धीनि रहस्यसामा-
न्यान्मतोवृत्तिसामान्याश्च ॥ यथाऽहैतज्ज्ञानं मनोवृत्तिमात्रं
तथान्यन्युपासनानि मनोवृत्तिरूपाणीत्यस्ति हि सामान्यम् ।
कस्तर्ह्यहैतज्ज्ञानस्योपासनानाञ्च विशेषः । उच्यते स्वाभाविक-
स्यामन्यक्रियोऽधारोपितस्य कर्त्तादिकारकक्रियाफलभेद-
विज्ञानस्य निवर्त्तकमहैतविज्ञानम् रज्जादाविव सर्पाद्य-

रिति मत्वाङ्गं ब्रह्मसंस्थ इति ॥ यदि मनुज्यासम्भवात् केवलमेवात्मज्ञानं
कैवल्यसाधनमिति तादर्थ्येनोपनिषदरभ्यते । हन्त किमित्यस्यामुप-
निषदं विविधान्युपासनान्युपन्यस्यन्ते तत्राह । तत्रेति ॥ उक्तरीत्योप-
निषदारम्भे सतीति यावत् । स यो वायुं दिशं वत्सं वेदन् पुरेदं रोदि-
तीत्यादीन्यभ्युदयफलानि उपासनानि । कैवल्येन सन्निकृष्टफलत्वं
नाम क्रमसुक्तिफलत्वम् । अहैतान्निष्प्रपञ्चादपद्विकृतं सगुणं ब्रह्म । कर्मे-
समृद्धिफलानि कर्मफलगतातिशयफलान्युद्गीयाद्युपासनानि त्यर्थः ।

आत्मविद्याप्रकरणे विविधोपासनोपन्यासे हेतुमाह । रहस्येति ।
उपनिषत्पदवेदनीयत्वस्यात्मविद्यायासुपासनेषु चाविशेषादित्यर्थः । तत्रैव
हेत्वन्तरब्रह्माव्य विभजते । मनोवृत्तीत्यादिना ॥ आत्मज्ञानस्योपास-
नानां च यथोक्तं सामान्यमिष्यते चेत्तर्हि फलतोऽपि विशेषो न स्या-
दिति भन्वानः शङ्कते । कस्तर्हीति ॥ फलतो विशेषं दर्शयन्नन्तरमाह
उच्यते इति ॥ तत्र प्रथममात्मज्ञानस्योपासनान्यो विशेषमादर्शयति ।
स्वाभाविकस्येति । प्रत्यगात्मनि क्रियाकारकफलविभगविकले कूटस्थे
स्वभावशब्दिताविद्याकृतमधारोपितं कर्त्ताद्याकार विज्ञानम् । तस्या-
दितोयत्वादिलक्षणाधिष्ठानयाथात्मज्ञानं निवर्त्तकम् । यथा रज्जादाव-

धारोपलक्षणज्ञानस्य रज्जादिस्वरूपनिश्चयः प्रकाशनिमित्तः।
 उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्पितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय
 तस्मिन् समानचित्तवृत्तिसन्तानलक्षणम्। तद्विलक्षणप्रत्य-
 यानन्तरितम् इति विशेषः। तान्येतान्युपासनानि सत्त्व-
 शुद्धिकरत्वेन वस्तुतत्त्वावभासकत्वादहैतज्ञानोपकारका-
 श्यालम्बनविषयत्वात् सुखसाध्यानि चेति पूर्वमुपन्यस्यन्ते ॥
 तत्र कर्माभ्यासस्य दूढीकृतत्वात्कर्मपरित्यागेनोपासन एव

धिष्ठाने सर्पादिसमारोपरूपस्य मिथ्याज्ञानस्य प्रकाशादिकारणप्रसूतो
 रज्जाद्यधिष्ठानस्वरूपनिश्चयो निवर्त्तकस्तथेत्यर्थः। सम्प्रत्युपासनानां स-
 द्द्वैतज्ञानाद्विशेषं दर्शयति। उपासनं त्विति ॥ शास्त्रं मनो ब्रह्मेत्यु-
 पासीतेत्यादि, किञ्चिदालम्बनं मनःप्रभृति विवक्षितम्। समानजातीय-
 प्रत्ययसन्तानकरणं विच्छिद्य विच्छिद्य ध्यायिनोऽपि सिध्यतीत्याशङ्क्य
 विशिनष्टि। तद्विलक्षणेति ॥

आत्मज्ञानस्योपासनानां च अवान्तरविशेषमुपसंहरति। इति
 विशेष इति ॥ ननु विद्याप्रकरणे यथोक्तोपासनानामुपदेशसम्भवेऽपि
 विद्यैव प्राधान्यात्प्राथम्येनोच्यतामुपासनानि पुनरप्रधानत्वात्पश्चात्तेन
 वाच्यानीत्याशङ्क्याह। तानीति ॥ उपासनानामोत्तरार्पणबुद्धानुष्ठित-
 नित्यादिकर्मवृत्तित्तुद्विद्वारा ज्ञानकारणत्वात्। कार्यज्ञ कारणस्य
 प्राथम्यप्रसिद्धेः साकारवस्तुविषयत्वेन सुसाध्यत्वाच्च। मन्दानां सहसा
 तेषु प्रवृत्त्युपपत्तेरादावुपदेशः सम्भवतीत्यर्थः ॥ तथापि वस्तुविधेषूपा-
 सनेषु किमित्यङ्गावब्रह्मेवोपासनं प्रथममुच्यते तत्राह। तत्रेति ॥
 प्राकृते पुरुषे कर्माभ्यासस्यानादिवासनया दूढीकृतत्वादभ्यस्ततत्तत्कर्म-
 त्यागेनातत्त्वस्मिन्नि केवलोपासने चेतसः समर्पणं दुःखं कर्तुमित्यङ्गाव-
 ब्रह्मेव तावदुपासनमुच्यते। एवमादावुक्त्वा पुनरुपासनान्तराणि क्रमेण
 वक्तव्यानीत्यर्थः। काण्डद्वयस्य नियतपौर्वापर्यप्रयुक्तसम्बन्धमुपनिष-

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥

दुःखं चेत्तःसमर्पणं कर्तुमिति कर्माङ्गविषयमेव तावदादा-
वुपासनमुपन्यस्यते ॥

ओमित्येतदक्षरमुपासीत । ओमित्येतदक्षरम् । परमा-
त्मनोऽभिधानं नेदिष्टम् । तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसी-
दति प्रियनामग्रहण इव लोकः । तदिहेतिपरं प्रयुक्तम-
भिधायकत्वाद्वावर्त्तितं शब्दस्वरूपभावे प्रतीयते । तथा-
चार्चादिवत्परस्यात्मनः प्रतीकं सम्पद्यते ॥

नात्यर्थोद्भोक्ता प्रत्यक्षं व्याख्यातुकामः प्रतीकमादत्ते । ओमित्येत-
दक्षरमिति ॥

तत्र प्रथमसोद्धारस्याभिधायकत्वपक्षमेवावलम्ब्यते । परमात्मन
इति ॥ अभिधानान्तरेभ्यो विशेषं दर्शयति । नेदिष्टमिति ॥ निकट-
तममतिशयेन प्रियमिति यावत् । ओंकारस्य नेदिष्टत्वत्वं समर्थयति ।
तस्मिन्निति ॥ ओंकारस्यान्यत्र परमात्मनामत्वेऽपि प्रकृते किं विवक्षित-
मित्याशङ्क्याह । तदिहेति ॥ प्रकृते हि वाक्ये तदोमितिपदमिति-
शब्दश्चिरस्कं प्रयुक्तमितिशब्दसामर्थ्यादेव वाचकत्वाद्वावर्त्तितम् । शब्द-
स्वरूपभावमुपास्यं गम्यते । यत्र हीति परः प्रयोगो न तत्राभिधेय-
विवक्षास्ति यथा गौरित्ययमाहेति । तथा चात्रेतिपरत्वादेवंकारस्य
स्वरूपभावमुपास्यं विवक्षितमित्यर्थः ॥ तस्योपास्यत्वाद्यं श्रेष्ठं साध-
यति । तथा चेति ॥ इति परप्रयोगवशादभिधायकत्वाभावे सति व्यर्चा-
शब्दतत्प्रतिभायां भगवत्प्रतीकत्ववदेवंकारस्यापि परमात्मप्रतीकत्वेन श्रेष्ठ-
त्वादुपास्यत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ तदीयं श्रेष्ठं सप्रमाणकं निगमयति ।

एवं नामत्वेन प्रतीकत्वेन च परमात्मोपासनसाधनं
 श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्ववगतं । जपकर्मस्वाध्यायाद्यन्तेषु
 ब्रह्मशः प्रयोगात्प्रसिद्धमस्य श्रेष्ठम् । अतस्तदेतदक्षरं वर्णा-
 त्यकुमुङ्गीयभक्त्यवयवत्वादुङ्गीयशब्दवाच्यमुपासीत । कर्मा-
 ज्ञावयवभूते ॐ तारे परमात्मप्रतीके दृढामेकाग्रलक्षणां
 मतिं सन्तनुयात् ॥

एवमिति ॥ सर्ववेदान्तेष्वेतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परमि-
 त्यादिषु । किञ्च नान्यस्य श्रेष्ठं समर्थनीयं प्रसिद्धत्वादित्याह ।
 जपेति ॥ गायत्र्यादिजपे यच्चादौ कर्मणि स्वाध्यायस्यादावन्ते चेका-
 रस्य प्रयोगो दृश्यते ॥ तस्मादोमित्युदाहृत्य यच्चदानतपःक्रियाः ।
 प्रवृत्तेने विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् । ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादा-
 दावन्ते च सर्वदा । स्ववत्यनेङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यत इति
 स्मृत्यः ॥ ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाहेत्यादि श्रुतेष्वेत्यर्थः । ओम-
 तीत्ययं भागो व्याख्यातः । सम्प्रत्येतदक्षरमित्यस्यार्थमाह । अतः ॥
 श्रेष्ठत्वमुपास्यत्वार्थमनुलक्ष्यते । व्याप्तेश्च समग्रममिति न्यायेन विशेषण-
 स्यार्थवत्त्वमभिप्रेत्य, स्फुटिर्योगमुपहरतीति न्यायेनाक्षरशब्दस्य प्रक-
 रणमनुसृत्य प्रसिद्धमर्थमाह । वर्णात्मकमिति ॥ ग्रामो दग्धः पटो
 दग्ध इतिवदेकदेशे समुदायविषयं पदं प्रकृतमित्याह । उङ्गीयेति ॥
 उपास्तिं विभजते । कर्मेति ॥ उङ्गीयावयवत्वादेहकारे तच्छब्द-
 प्रवृत्तिरित्युक्त्वादनन्तरवाक्यमकिञ्चित्करमित्याशङ्क्य श्रुत्युक्तो योऽस्म-
 द्भक्तो हेतुस्तेन स्फुटीक्रियते ततश्चोत्कृष्टास्माभिर्दर्शयत इत्यभिप्रे-
 त्याह ।

ओमित्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥
 एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः॥

स्वयमेव श्रुतिरोङ्कारस्योद्गीयशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह ।
 ओमिति जुद्गायति । ओमित्यारभ्य हि यस्मादुद्गायति
 अत उद्गीय ओङ्कार इत्यर्थः । तस्याक्षरस्योपव्याख्यानमेव
 मुपासनमेवं विभूत्येवं फलमित्यादिकथनमुपव्याख्यानम् ।
 प्रवर्त्तत इति वाक्यशेषः ।

एषां चराचराणां भूतानां पृथिवी रसो गतिः परा-
 यणमवष्टम्भः । पृथिव्या आपो रसोऽमुं ह्योता च प्रोता च

स्वयमेवेति ॥ ओमित्येतदक्षरमित्युपासनोत्पत्तिविधिरुक्तः ।
 सम्मतिं गुणं विवक्षुर्वाक्यान्तरमादाय व्याचष्टे । तस्येति ॥ एवमुपा-
 सनमिति ॥ रसतमत्वमाप्तिः सन्दर्भिरित्येवं गुणकमुपासनं यस्याक्षरस्य
 तत्तथेत्यर्थः । एवं विभूतोति परमपरार्द्धः । तेनेयं त्रयोविद्यावर्त्तत
 इत्याद्या विभूतिः स्तुतिर्यस्य तत्तथेति यावत् । एवं फलमित्यापयिता
 ह वै कामानामित्यादिफलं यस्योपास्यसाक्षात्कारस्य तत्तथोक्तमित्यर्थः ॥
 गोदोहनवदाश्रित्य विधानादधिकृताधिकारमिदमुपासनं तथापि पृथ-
 गेव । पृथगुक्त्यप्रतिबन्धः फलमिति न्यायेन फलवत्फलं याजमानमुद्गा-
 तुर्यजमानेन कर्म्मार्थं क्रीतत्वात्तत्कर्मकस्योपासनस्यापि यजमानस्य स्वा-
 मिनः फलमिति वचनमादिशब्दार्थः । वाक्यस्य साक्षाच्छ्रुत्येनानर्थक्यं
 वारयति । प्रवर्त्तत इति ॥

तदेवोपव्याख्यानमनुवर्णयन्नेङ्कारस्य रसतमत्वं गुणं विधातुं पात-
 निकां करोति । एषामिति ॥ गतिरित्युत्पत्तिकारणत्वं परायण्य-
 मिति स्थितिहेतुत्वमवष्टम्भ इति प्रलयनिदानत्वमुच्यत इति भेदः ।
 वैपरित्यक्तं बामूनि पदानि नेदामि । अपां पृथिवीरसत्वं साधयति ।

अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः
 पुरुषस्य वायसो वाच ऋग्रसऋचः साम रसः
 साम्न उङ्गीथो रसः ॥ २ ॥ स एष रसानां

पृथिव्यतस्ता रसः पृथिव्याः । अपामोषधयो रसोऽप्परि-
 णामत्वादोषधीनाम् । तासां पुरुषो रसोऽन्नपरिणामत्वा-
 त्पुरुषस्य । तस्यापि पुरुषस्य वायसः । पुरुषावयवानां हि
 वाक् सारिष्ठा । अतो वाक् पुरुषस्य रस उच्यते । तस्या
 अपि वाचःऋग्रसः सारतरा । ऋचः साम रसः सारतरम् ।
 तस्यापि साम्न उङ्गीथः प्रकृतत्वादेःकारः सारतरः । एवं
 स एष उङ्गीथाख्य उँकारो भूतादीनामुत्तरोत्तररसाना-

अमु हीति । अस्मार्थस्य श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिं द्योतयितुं हिशब्दः । ओष-
 धीनामपः प्रति कारणत्वाभावात् कथं तत्र रसशब्दस्तत्वाह । अप्परि-
 णामत्वादिति ॥ कारणपरतया पूर्वत्र व्याख्यातोऽपि रसशब्दो गौरव
 इतिवदुत्तरत्र कार्यपरतया व्याख्येय इत्यर्थः । अपमोषधीनां पुरुषो
 रसः । न हि ताभिरसौ क्रियते तत्वाह । अच्चेति ॥ पुरुषरसत्वं
 वाचः समर्थयते । पुरुषेति ॥ वाग्बिहीनं प्रति पुरुषान्तरं निन्दन्ति
 अतो वाचः सारतमत्वं प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः । तस्याः सारित्व-
 प्रसिद्धिरतःशब्दार्थः । वाङ्निर्वर्त्यत्वाद्ब्रह्मसूत्रसत्त्वमित्यभिप्रेत्याह ।
 सारतरेति ॥ ऋचः सकाशादपि तदूढं साम गीयमानं वक्तृब्रह्मोः-
 सुखकरमिति मत्वाह । सारतरमिति ॥ उङ्गीथशब्दश्चावयवे प्रकर-
 णान्नियमयति । प्रकृतत्वादिति ॥ न हि सामानोद्धृतं फलत्रयमवतीति
 मत्वानो ब्रूते । सारतर इति ॥

यदर्थं पृथिव्यादीनां रसत्वसङ्गं तदिदानीं दर्शयति । एवमिति ॥
 रसतमत्वगुणकमोङ्कारमुपास्यत्वार्थं विशेषणाभ्यामधिकरोति । रस इति ॥

रसतमः परमः परार्द्धोऽष्टमो यदुद्गीथः ॥३॥
 कतमा कतमर्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम

मतिशयेन रसो रसतमः परमात्मप्रतीकत्वात् परार्द्धः अर्द्धं
 स्थानं परञ्च तदर्द्धञ्च तदर्हतीति परार्द्धः परमात्मस्था-
 नार्हः । परमात्मवदुपास्यत्वादित्यभिप्रायः । अष्टमः षष्ठि-
 व्यादिरससङ्ख्यायां यदुद्गीथो य उद्गीथः । वाच ऋग्रस
 इत्युक्तं । कतमा सा ऋक् कतमत्तत्साम कतमो वा स
 उद्गीथः कतमा कतमेति वीष्मादरार्था । ननु वा बहूनां

तस्य परमात्मस्थानयोग्यत्वं समर्थयते । परमात्मवदिति ॥ यथा पर-
 मात्मा स्वरूपत्वेनानुसन्धीयते तथास्यापि तदात्मनानुसन्धेयत्वाद्दिष्णु-
 बुद्ध्यालम्बनाहंप्रतिभावदयमपि परमात्मबुद्ध्यालम्बनयोग्यो भवतीत्यर्थः ।
 ओंकारात्पराची रसो नास्तीति तदीयरसतमत्वस्फुटीकरणार्थं परि-
 गणना । स्वतः सिद्धमष्टमत्वमनुवदति । अष्टम इति ॥ ननु भूता-
 न्यारब्ध नवमत्वे प्रतीयमाने कथमोङ्कारस्याष्टमत्वं प्रतिज्ञायते तत्वाह ।
 षष्ठिव्यादोति ॥ स एष इत्युक्तं व्यक्तीकर्तुं यदुद्गीथ इत्येतद्व्याचष्टे ।
 य उद्गीथ इति ॥ पूर्व्ववदुद्गीथशब्दोऽवयवपरो नेतव्यः । अथ गुणा-
 न्नरविधानार्थं प्रश्नसंवतारयन्वृत्तमनुवदति । वाच इति ॥ ऋचः साम
 रसः साम्ना उद्गीथो रस इति चोक्तमिति द्रष्टव्यम् । इदानीं ऋगादिजातिं
 जिज्ञासमानः पृच्छति । कतमेति ॥ वीष्माल्प्यं प्रश्ने तत्तज्जातिज्ञाने
 अज्ञातिरेकं दर्शयितुमित्याह । कतमा कतमेति ॥ प्रश्नत्वमाक्षिपति ।
 ननु वेति ॥ अनेकजात्यवच्छिन्नानां मध्ये यदेकस्या जातेनिर्द्धारणार्थः
 परिप्रश्नो भवति तदा तस्मिन् विषये विकल्पेन उतमच्चप्रत्ययः स्यादथवा
 बहूनां कठादीनां मध्ये कठजातिनिर्णयार्थं कतमे कठा इति प्रश्नो
 दृश्यते तथान्यत्वापीति सूत्रार्थः । बहूनामेकस्यानिर्द्धारणे उतमञ्च वि-

उद्गीथइति विमृष्टं भवति॥४॥वागेवर्कप्राणः साम

जातिपरिप्रश्ने उतमच् । न ह्यत्र ऋग्जातिबहुत्वं कथं
उतमच् प्रत्ययः । नैष दोषो जातौ परिप्रश्नो जातिपरि-
प्रश्न इत्येतस्मिन् विग्रहे जातादृग्व्यक्तीनां बहुत्वोप-
पत्तेः । न तु जातेः परिप्रश्न इति विमृष्ट्यते ।

ननु जातेः परिप्रश्नइत्यस्मिन् विग्रहे कतमः कठ इत्या-
द्युदाहरणमुपपन्नं जातौ परिप्रश्न इत्यत्र तु न दुष्यते ।
तत्रापि कठादिजातावेव व्यक्तिबहुत्वाभिप्रायेण परिप्रश्न
इत्यदोषः । यदि जातेः परिप्रश्नः स्यात् कतमा कतमा

धानेऽपि प्रकृते प्रश्नत्रये चानुपपत्तिरित्याशङ्काह । न हीति ॥ अत्रे-
त्यध्यापकाध्योऽव्यवहारभूमिरुक्ता । ऋग्जातिग्रहणं सामज तेरुद्गीथ
जातेश्चोपलक्षणम् । तद्वक्तृत्वाभावेऽपि किञ्च खिद्यते तत्राह । कथमिति ।
ऋगादिजातयो यदि भूयस्यः स्युस्तदा तासां मध्ये कतमा ऋग्जातिः
कतमा सामजातिर्वा कतमा उद्गीथजातिरत्र विवक्षितेति प्रश्नो
युज्यते । न चास्ति तत्र जातिबहुत्वं प्रमाणाभावादतोऽनुपपन्नं प्रश्न-
त्रयमित्यर्थः । प्रश्नानुपपत्तिं दूषयति । नैष दोष इति ॥ बहूनां
तत्तज्जात्यवच्छिन्नानां सन्निधाने जातौ सत्यां व्यक्तिबहुत्वसम्भवात्तदन्य-
तमनिर्धारणार्थं परिप्रश्ने विकल्पेन उतमजिति सूत्रार्थाङ्गीकारा-
दृगादिजातौ तद्व्यक्तिवाङ्मत्यात्कतमा तद्व्यक्तिर्वाच ऋक्स इत्यादौ
विवक्षितेति प्रश्नपर्यवसानादुपपन्नं प्रश्नत्रयमित्यर्थः ॥ यत्तु विग्रहा-
न्तरं गृहीत्वा प्रश्नानुपपत्तिरित्युक्तं तत्राह । न त्विति ॥

तत्र चानुपपत्तिं यदि जातेरित्यत्र व्यक्तीकरिष्यति । अस्मदिष्ट-
विग्रहापरिग्रहे दृष्टिकारीयसदाहरणं विरुध्यते ॥ कठशब्दस्य व्यक्ति-
विशेषत्वाभावादिति शङ्कते । न त्विति ॥ उदाहरणेऽपि सत्यां कठ-
जातौ तद्व्यक्तिवाङ्मत्यात्तदन्यतमनिर्धारणाभिप्रायेण परिप्रश्ने उत-

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथः

ऋगित्यादौ उपमह्वानं कर्त्तव्यं स्याद्विष्टं भवति विमर्शः
कृतो भवति । विमर्शे हि कृते सति प्रतिवचनोक्तिरूपपञ्चा
वागेवर्कप्राणः सामेति ।

वाग्वचोरेकत्वेऽपि नाष्टमत्वव्याघातः । पूर्वस्मादाक्यान्त
रत्वादाप्तिगुणसिद्धये ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ इति वाक्

मजित्यङ्गीकाराच्च परोक्तोदाहरणविरोधोऽस्मिन् पक्षेऽस्तीति परि-
हरति । तत्वापीति ॥ ननु द्विधापि विग्रहोपपत्तौ किमिति त्वदिष्टो
विग्रहो नियम्यते तत्वाह । यदीति ॥ त्वदिष्टविग्रहपरिग्रहे-
दृगादिजातेरेकत्वात् प्रत्येकं बहुत्वायोगाद्वा बहूनामित्यादिस्त्रुत्वेण
कतमर्कतमत्सामेत्युदाहरणं न सिद्धेत । तथा च तत्त्वद्वयार्थं पृथक्
स्त्रुत्वविधानं प्रसज्येत । न हि वैदिकमुदाहरणं प्रमत्तगीतमिव ज्ञातुं
शक्यं तस्मादृगादिव्यक्तिरेवात्र प्रयुक्तेत्यर्थः ॥ किमिति यथोक्तरीत्या
विष्टमस्यते । विवक्षितमृगादिस्वरूपमेवादावुपन्यस्यतां लाघवादित्या-
शङ्काह । विमर्शे हीति ॥ शिष्यभूतया श्रुत्या चोदिते सैवाचार्य-
भूता परिहरति । वागेवेति ॥ नन्वादौ प्रतिवचने वाग्वचोरेकत्वावग-
मात् ओङ्कारस्य रसतमवाक्योपदिष्टमष्टमत्वं व्याहन्येतेत्याशङ्काह ।
वाग्वचोरिति ॥

कथम्युनारसतमत्ववाक्यादिदं प्रश्नप्रतिवचनरूपं वाक्यं भिद्यते-
ऽयं पुमधिक्याभावात् तत्वाह । आप्नोति ॥ पूर्वं हि वाक्योङ्कारस्य
रसतमत्वं विदधाति । इदन्तु तस्यैवाप्तिगुणं विधत्ते । तथा च
तादृगुणविध्यर्थत्वेनास्य वाक्यान्तरत्वादेतद्वाक्यवशादष्टमत्वाभावेऽपि
पूर्ववाक्यादोङ्कारस्याष्टमत्वमविरुद्धमित्यर्थः ॥ तथापि कथमृगादिजातोये
पृष्ठे वागेवर्गित्यादिप्रतिवचनमुचितम् । तद्व्यक्तिविशेषवचनमेव प्रश्नानु-
सारीत्याशङ्काह । वाक्प्राणविति ॥ वाग्वचो योनिस्तन्निर्वर्त्तकत्वात् ।
प्राणाश्च साम्नो हेतुर्बुधेन हि गीतिरुत्पाद्यते । तथा च वागेवेत्यादिना

तदा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्चर्कं च साम च ॥५॥

प्राणावृत्तसामयोनी इति वागेवर्कं प्राणः सामेत्युच्यते ।
यथाक्रमवृत्तसामयोन्योर्वाक्प्राणयोर्ग्रहणे हि सर्वासा-
वृत्तां सर्वेषाञ्च साम्नामवरोधः कृतः स्यात् । सर्ववृत्तां
मावरोधे चर्कसामसाध्यानां च सर्वकर्मणामवरोधः कृतः
स्यात् । तदवरोधे च सर्वे कामा अवबुद्धाः स्युः । ओमि-
त्येतदक्षरमुद्गीय इति भक्त्याशङ्का निवर्त्तयते । तद्वैत-
दिति मिथुनं निर्दिश्यते । किन्तन्मिथुनमित्याह यद्वाक् च
प्राणश्च सर्वर्कसामकारणभूतौ मिथुनं ऋक् च साम चेति

कार्यकारणयोरभेदोपदेशादङ्गात्वं साममात्रं वा तत्तत्कारणात्मकं प्रती-
यते न पूर्ववापि व्यक्तिरविवक्षिता । अत्रप्रतिवचनयोरेकार्थत्वात् । न
चैवमृगादिजातेरेकत्वात् । उतमन्त्रप्रत्ययानुपपत्तिस्तत्तज्जात्यर्थच्छिद्धाना-
वृत्तसामोद्गीथानां सन्निधावृगादिजातेरेकस्या निर्धारणार्थं परिश्रमे
तत्रयोगसम्भवावृगादिषु प्रत्येकं भेदविवक्षया षष्ठीसमासे दूषणमुक्तम् ।
तत्र प्रत्येकमेकत्वसुप्तेत्योक्तरीत्या षष्ठीसमासे तु न किञ्चिद्दुष्यतीति
भावः । ऋगात्मिकाया वाचः सामात्मकस्य प्राणस्य ग्रहणे फलितं
दर्शयन्मुक्तमेव व्यक्तीकरोति । यथाक्रममिति ।

ऋक्साममात्रावरोधेऽपि किं सिद्धप्रतीत्याशङ्काह । सर्व्वेति ॥
तथापि किं स्यादिति चेत्तदाह । सर्व्वे कामा इति ॥ उक्तप्रक्रियया
सर्व्वकामावाप्तिहेतुरोङ्कारो विवक्षितप्रियुणकः सिद्धप्रतीत्यर्थः । तृतीये
प्रतिवचने तात्पर्यमाह । ओमित्येतदिति ॥ अत्रापि पूर्व्ववज्जाति-
वृत्तीतौ तद्व्यक्तिव्येन भक्तिरेवोक्तेति शङ्कां निरसितुमभित्येतदक्षर-
मिति विशेषणम् । तथा चोद्गीथसदवयवो विशेषणानुप्रकरणाच्चेत्यर्थः ।
पारम्पर्येण वाक्प्राणयोः सर्व्वकामसम्बन्धादुद्गीथस्यऽपि तथाभतवागा-

तदेतन्मिथुनमोमित्येतदस्मिन्नक्षरे संसृज्यते

ऋक् सामकारणौ ऋक् सामशब्दोक्तावित्यर्थः । ननु स्वतन्त्रं ऋक् च साम च मिथुनम् । अन्यथा हि वाक् च प्राणश्चेत्येकमिथुनमृक् साम चापरं मिथुनमिति द्वे मिथुने स्याताम् । तथा च तदेतन्मिथुनमित्येकवचननिर्देशोऽनुपपन्नः स्यात् । तस्मादृक् सामयोन्योर्वाक् प्राणयोरेव मिथुनत्वम् ॥

तदेतदेवलक्षणं मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते । एवं सर्वकामावाप्तिगुणविशिष्टं मिथुनमोकारे संसृष्टं विद्यत इत्यांकारस्य सर्वकामावाप्तिगुणवत्त्वं प्रसिद्धं

दिसम्बन्धादस्ति सर्वकामसम्बन्ध इत्युक्तः । इदानीमोङ्कारस्य वाक् प्राणद्वारा सर्वकामसम्बन्धे हेतुत्वरमाह । तद्वा इति ॥ तदेतत्पदयो- रक्षरविषयत्वं व्यावर्त्य वक्ष्यमाणविषयं दर्शयति । मिथुनमिति ॥ वैशब्दो मिथुनप्रसिद्धार्थः ॥ वाक् च प्राणश्चेति यदुभयमुपलभ्यते तदे- तन्मिथुनमिति योजनाऽङ्गीकृत्य वाक्यार्थमाह । सर्वकाममिति ॥ वाक् प्राणयोर्ऋक् सामकारणत्वमुत्तरवाक्येन स्पष्टयति । ऋक् चेति ॥ यथा वाक् प्राणौ मिथुनमेव ऋक् सामे च स्वातन्त्र्येण मिथुनं निर्देशसा- मान्यादित्याहुः । नन्विति ॥ विपक्षे दोषमाह । अन्यथेति ॥ इदमेव मिथुनद्वयमिति चेन्नोत्याह । तथा चेति ॥ ननु मिथुनयोरनुगतं मिथुनत्वमादायैकवचनमुपपत्त्यते चेन्नोत्याह । तस्मादिति ॥

उपक्रमभङ्गाच्च स्वतन्त्रं मिथुनद्वयमस्तीत्यर्थः ॥ भवतु वाक् प्राणाख्य- ऋक् सामात्मकं वाक् प्राणरूपम् । ओंकारमिथुनयोः संसर्गे किं फलतो- न्याह । एवमिति ॥ कया पुनर्बोधया मिथुनेन संसृष्टत्वमक्षरस्य सेत्स्यति तत्याह । वाङ्मयत्वमिति ॥ यत्तु सर्वकामावाप्तिगुणविशिष्टं मिथुनमि-

यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै ता-
वन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं

वाङ्मयत्वमोकारस्य प्राणनिष्पाद्यत्वञ्च मिथुनेन संस्पृष्टत्वं
मिथुनस्य कामापयित्वं प्रसिद्धमिति दृष्टान्त उच्यते ।
यथा लोके मिथुनौ मिथुनावयवौ स्त्रीपुमांसौ यदा समा-
गच्छतो ग्रास्यधर्म्मतया संयुज्येयातां तदाऽऽपयतः प्रापय-
तोऽन्योन्यस्येतरैतरस्य तौ कामम् । तथा च स्वात्मानुप्रवि-
ष्टेन मिथुनेन सर्वकामाग्निगुणवत्त्वमोकारस्य सिद्धमित्य-
भिप्रायः ॥

तदुपासकोऽप्युद्गाता तद्धर्म्मा भवतीतयाह । आपयिता
ह वै कामानां यजमानस्य भवति य एतदक्षरमेवाग्निगुण-
वदुद्गीथमुपासो तस्यैतद्यथोक्तं फलमित्यर्थः । तं यथा

त्युक्तं तदुपपादयति । मिथुनस्येति ॥ प्रसिद्धमिति ॥ स तादृगर्थे यथो-
क्ताक्षरस्य सर्वकामापयित्वेदृष्टान्तः सन्नुच्यतेऽनन्तरवाक्येनेत्यर्थः ॥
दृष्टान्तमेव विद्वष्येति । यथेत्यादिना ॥ मिथुनद्वयं नास्तीत्युक्तत्वात्कथं
मिथुनाविति द्विवचनं तत्वाह । मिथुनावयवाविति ॥ ग्रास्यधर्म्मतया
तथाविधव्यापारतयेति यावत् । वै शब्दोऽवधारणे । विवक्षितं टार्हा-
न्तिकमाचष्टे । तथेति ॥ एवमोकारमाग्निगुणविशिष्टं शिष्टा तदुपासना-
फलं कथयति । तदुपासकोऽपीति ॥

तद्धर्म्मेत्युपासकस्याग्निगुणवैशिष्ट्योक्तिः । आप्नोति वक्तव्ये कथमापयि-
तेत्युक्तं तत्वाह । यजमानस्येति ॥ निपातौ त्ववधारणार्थौ । उद्गीथं
तदवयवभूतमिति यावत् ॥ आग्निगुणवदेकारोपासनात् कथमुपासिता
तद्गुणो भवतीत्याशङ्काह । तमिति ॥ उत्तरपदस्य गुणान्तरविधाने
तात्पर्यं दर्शयति । सन्नुद्गीति ॥ तस्य सन्नुद्भिगुणवत्त्वमपामाग्निगुण

विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥७॥ तद्वा एतदनुज्ञा-
क्षरं यद्वि किञ्चानुजानात्योमित्येव तदाह एषो
एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्द्धयिता ह वै कामानां

यथोपासते तदेव भवतीति श्रुतेः । समृद्धिर्वाञ्छोकारः कथं
तद्वा एतत्प्रकृतमनुज्ञाक्षरमनुज्ञा च साक्षरश्च तत् । अनु-
ज्ञानुमतिरोङ्कार इत्यर्थः । 'कथमनुज्ञेत्याह । श्रुतिरेव
यद्वि किञ्च यत्किञ्च लोके ज्ञानं धनं वानुजानाति विद्वान्धनी
वा तत्तानुमतिं कुर्वन्धोमित्येव तदाह । तथा च वेदे त्रय-
स्त्रिंशदित्योमिति होवाचेत्यादि ॥

तथा च लोकेऽपि तवेदं धनं गृह्णामि इत्युक्त ओमि-
त्याह । अत एषा उ एव एषैव समृद्धिर्यदनुज्ञा या अनुज्ञा
सा समृद्धिस्तन्मूलत्वादनुज्ञायाः समृद्धो ह्योमितानुज्ञां

मित्याशङ्क्य परिहरति । कथमित्यादिना ॥ तदेतत्प्रदयोरोङ्कारा-
ख्यमक्षरविषयत्वेन निर्दिशति । प्रकृतमिति ॥ तस्य स्रुत्वार्था वैशब्दः ।
अनुज्ञाक्षरमित्येतद्विगृह्य विवक्षितेनार्थेन घटयति । अनुज्ञा चेति ॥
तस्यानुज्ञात्वे प्रश्नपूर्वकप्रसिद्धिमुपन्यस्यति । कथमिति ॥ तत्वेति
ज्ञानधनयोरुक्तिस्तदित्यनुमन्यं साधारण्येनोच्यते ओङ्कारस्यानुज्ञा-
क्षरत्वे लोकप्रसिद्धिबद्देदप्रसिद्धिं समृद्धिनोति । तथा चेति ॥ कस्येव
देवा याज्ञवल्क्येति शाकल्येन पृष्टे त्रयस्त्रिंशदिति याज्ञवल्क्येन
प्रत्युक्ते सत्योमिति शाकल्योऽनुज्ञां कृतवान् पुनश्च कस्येवेति प्रश्ने
षडिति प्रतिवचने सत्योमिति होवाचेत्यादि ढङ्गदारण्यके यथोक्ता-
र्यानुसारिप्रसिद्धमित्यर्थः ॥ यद्वि किञ्चेत्यादाऽनुज्ञां लोकप्रसिद्धिं मेव
प्रकटयति । तथा च लोकेऽपीति ॥ ओङ्कारस्य लोकवेदप्रसिद्धिभ्या-
मनुज्ञात्वेऽपि कथं समृद्धिर्युगकत्वमित्याशङ्काह । अत इति ॥ उच्यते-

भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥
 तेनेग्रं त्रयो विद्या वर्त्तते ओमित्याश्रावय-
 त्योमिति शंसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्या
 पचित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥

ददाति तस्मात्समृद्धिगुणवानोकार इत्यर्थः । समृद्धिगुणो-
 पाप्तकत्वात्तद्धर्मा समर्द्धयिता च वै कामानां यजमानस्य
 भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यादि पूर्व-
 वत् । अथेदानीमक्षरं स्तौति उपास्यवात्प्ररोचनार्थम् । कथं
 तेनाक्षरेण प्रकृतेनेयस्येवेदादिलक्षणा त्वयी विद्या विहितं
 कर्मेत्यर्थः ।

न हि त्वयी विद्यैवाश्रावणादिभिर्वर्त्तते कर्म तु तथा
 प्रवर्त्तत इति प्रसिद्धम् । कथमोमित्याश्रावयत्योमिति शंस-

ऽप्यर्थः समृद्धिशब्दादुपरि सम्बध्यते । तस्याः समृद्धिमूलत्वं साधयति ।
 समृद्धोद्गीति ॥ अनुज्ञायाः समृद्धिं प्रति कारणत्वेन समृद्धित्वे सत्यो-
 कारस्यापि तदात्मकस्य समृद्धिगुणवत्त्वं सिद्धमित्युपसंहरति । तस्या-
 दिति ॥ समर्द्धयितेत्यादिफलवाक्यं प्रत्याह । समृद्धीति ॥ अस्मिन्वाक्ये
 समर्द्धयितेत्यादिपदजातमापयितेत्यादिपूर्वव्याख्येयमित्याह । इत्यादि-
 पूर्ववदिति ॥ ओंकारस्य गुणत्ववतः सफलमुपासनमुक्तं । तथा च वक्तव्या-
 भावान् तेनेयमित्यादिव क्यमनर्थकमित्याशङ्क्याह । अथेति ॥ स्तुतेरान-
 र्थक्यमाशङ्क्याह । उपास्यत्वादिति ॥ प्ररोचनं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति ।
 कथमित्यादिना ॥ त्वयी विद्या वर्त्तत इति सम्बन्धः । त्वयी विद्येत्यस्योप-
 चरितार्थत्वं कथयति । त्वयी विद्येति ॥

किमिति श्रुतं त्यक्त्वा व्याख्यायते तत्वाह । न हीति ॥ तस्याः स्वल्प

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद ।

त्योमित्युक्तायतीति लिङ्गाच्च सोमयाग इति गम्यते तच्च कर्म एतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै पूजार्थम् । परमात्मप्रतीकं हि तत् । तदपचितिः परमात्मन एव सा । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव इति स्मृतेः । महिम्ना रसेन किञ्चैतस्यैवाक्षरस्य महिम्ना महत्त्वेन ऋत्विग्यजमानादिप्राणैरित्यर्थः ।

तथैतस्यैवाक्षरस्य रसेन व्रीहियवादिरसनिर्वृत्तेन हविषेत्यर्थः । यागहोमाद्यक्षरेण क्रियते । तच्चादित्यमुपति-
लाभस्यानादित्वेन हेत्वनपेक्षत्वादित्यर्थः । कर्मापि कथमात्रावणादिभि-
रात्मानं लभते तत्वाह । कर्मत्विति ॥ प्रसिद्धमेव प्रपञ्चयति । कथमित्यादिना ॥ आध्यर्थवद्भौतौक्तावसमाहारस्य दर्शपूर्णमासादिष्वसम्भवाद-
ग्नियोमादिषु च सम्भवात्तत्तयसमाहारात्किङ्गादोङ्कारेण प्रवर्त्तमानं
त्रयोविहितं कर्म सोमयाग इति प्रतिभातीत्याह । लिङ्गाच्चेति ॥
स्ववत्यनोद्धृतं कर्मेति न्यायादोङ्कारेण वैदिकस्य कर्मणः स्थिति-
रिति स्तुतिं विधाय स्तुत्यन्तरमाह । तच्चेति ॥ कथं पुनराक्षरं कर्मणा
पूज्यते तत्वाह । परमात्मेति ॥ तस्य तत्प्रतीकत्वे किं स्यादिति चेत्त-
दाह । तदपचितिरिति ॥ ननु कर्मणा परमात्मा चेदाराध्यते तर्हि
तत्प्रतीकत्वादक्षरस्यापि तेनाराधनं स्यात् ॥ न चेत्परस्तेनाराध्यत इति
प्रमाणमस्ति तत्वाह । स्वकर्मणेति ॥ वर्णाश्रमविहितेन कर्मणा ईश्वरं
प्रसाद्य तत्प्रसादवशात्तत्फलं कर्त्ता प्राप्नोतीति भगवतोक्त्वात् ईश्वरपू-
जार्थं कर्मेति गम्यते । तथा च तत्प्रतीकत्वादोङ्कारस्य तत्पूजार्थं कर्मेति
युक्तमित्यर्थः । वैदिकं कर्माक्षरपूजार्थमित्यक्षरं स्तुत्वा विधान्तरेण
स्तौति । किञ्चेति ॥ यजमानादीत्यादिपदेन पत्नी गृह्यते । प्राणैस्त्रयी-
विहितं कर्म वर्त्तत इति सम्बन्धः ॥

स्तुत्यन्तरमाह । तथेति ॥ यथाक्षरविकारैर्यजमानादिप्राणैर्वैदिकं
कर्म प्रवर्त्तते तथेति यावत् ॥ हविषेत्यत्रापि पूर्ववदन्वयः । कथं ऋत्वि-

नाना तु विद्या चाविद्या च

उते । ततो वृद्ध्यादिक्रमेण प्राणोऽन्वञ्ज जायते । प्राणैर-
न्वेन च यज्ञस्तायते । अत उच्यतेऽक्षरस्य महिम्ना रसे-
नेति । तवाक्षरविज्ञानवतः कर्म कर्त्तव्यमिति स्थितमा-
क्षिपति तेनाक्षरेणोभौ यस्यैतदक्षरमेवं व्याख्यातं वेद यस्य
कर्ममाववित् अक्षरयाथात्म्यं न वेद तावुभौ कुरुतः कर्म ।
तयोश्च कर्मसामर्थ्यादेव फलं स्यात् किं तवाक्षरयाथात्म्य-
विज्ञानेनेति ॥

दृष्टं हि लोके हरीतकीं भक्षयतोस्तद्रसाभिज्ञेतरयो-
र्विरेचनम् । नैवम् । यस्मान्नाना तु विद्या च अविद्या च ।
भिन्ने हि विद्याविद्ये । तुशब्दः पक्षथादृत्तार्थः । ओंकारस्य

गादिप्राणानां हविषश्चाक्षरविकारत्वमत आह । यागेति ॥ आदि-
शब्देऽनुक्तवैदिककर्मसंग्रहार्थः । तस्मादोमित्युदाहृत्येत्यादिसृतेरि-
त्यर्थः ॥ अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्यात्प्रवृत्ते
वृष्टिर्दृष्टेरन्नं ततः प्रजा इति सृष्टिमाश्रित्याह । तद्वेति ॥ दृष्ट्वा श्रुत्या-
दिशब्देनाक्षरस्य प्रजानाञ्चोत्पत्त्युपकरणं सर्वं सूच्यते । तथापि कथमेत-
स्यैवाक्षरस्य महिम्नेत्यदि तत्राह । प्राणैरिति ॥ अक्षरस्य स्तुत्या
महीकृतत्वादुपासने सिद्धे किमुत्तरेण यन्त्येनेत्याशङ्क्याह । तत्रेति ॥
पूर्वस्मिन्सन्दर्भे स्तुतिवशादक्षरविज्ञाने कर्त्तव्ये तन्निष्पाद्यं कर्म तद्वि-
ज्ञानवतोऽनुष्ठेयमिति स्थितम् । तदाज्ञेप्रमुत्तरं वाक्यमित्यर्थः ॥ आज्ञे
वाक्षराणि व्याचष्टे । तेनेत्यादिना ॥ ननु कर्मकर्त्तृत्वे विद्वद्विदुषो-
र्विद्वानेव तत्फलमश्नुते नाविद्वानिति कथमित्याशङ्क्याह । तयोश्चेति ।
इति शब्दस्वाक्षिपतीत्यनेन सम्बध्यते ॥ कथं विद्वद्विदुषोरविशिष्टं
फलमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह ॥

दृष्टं हीति ॥ विमतं न स्वतन्त्रफलमङ्गज्ञानत्वादाज्यावेक्षणवदिति
प्राप्ते प्रत्याह । नैवमिति ॥ जेत्येनावतारितं वाक्यं व्याचष्टे । भिन्ने

यदेव विद्याया करोति अद्वयोपनिषदा तदेव
वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योप-

कर्माङ्गत्वमात्रविज्ञानमेव रसतमाप्तिसमष्टिगुणवद्विज्ञानं
किन्तुर्हि ततोऽभ्यधिकम् । तस्मान्नदङ्गाधिक्यात्फलाधिक्यं
युक्तमित्यभिप्रायः । दृष्टं हि लोके वणिक्श्वरयोः पद्म-
रागादिमणिविक्रये वणिजो विज्ञानाधिक्यात्फलाधिक्यम् ॥

तस्माद्यदेव विद्याया विज्ञानेन युक्तः सन् करोति कर्म
अद्वया अद्धानश्च सन्नुपनिषदा योगेन युक्तश्चेत्यर्थः तदेव

हीति ॥ विद्योपासना कर्माविद्या तयोर्भिन्नत्वं पृथक्फलवत्त्वं तच्च
विद्यावैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ विद्यायाः स्वतन्त्रफलवत्त्वं नास्तीति पक्षस्य
व्यावृत्तिप्रकारमेव प्रपञ्चयति । नेत्यादिना ॥ अङ्गज्ञानाङ्गणवदक्षरज्ञान-
स्याधिक्ये फलितं माह । तस्मादिति ॥ तदङ्गकर्माङ्गसङ्गोपमावज्ञानं
तस्मादाधिक्याद्विशिष्टाक्षरस्य ज्ञानस्येति यावत् । यत्तु पुनरुक्तं तयोश्च
कर्मासाम्य्यादेव फलं स्यादिति तत्राह दृष्टं हीति ॥ यत्तुङ्गज्ञानत्वा-
दिति तत्किमङ्गत्वे सति ज्ञानत्वं किंवाश्रित्य विहितत्वमथवा एतदेव
ज्ञानत्वविशेषितम् । नाद्यः । तन्निर्द्धारणानियमन्यायेनासिद्धेः । न द्विती-
योगोदोहने व्यभिचारात् । न तृतीयो दृष्टान्तस्य साधनविकल्पत्वादाव्या-
वेक्षणस्याश्रित्य विध्युदाहरणवहिर्भूतत्वादङ्गसम्बन्धज्ञानत्वमात्रेण दृष्टा-
न्तत्वे सत्यङ्गत्योपाधेः सम्भवादित्यभिप्रेत्यज्ञानाधिक्ये फलाधिक्यमित्य-
त्नानन्तरवाक्यं योजयति । तस्मादिति ॥

विज्ञानसङ्गीथाद्यङ्गमात्रविषयसुपासनातिरिक्तं तेनेति यावत् ।
योगो देवतादिविषयसुपासनम् । इति शब्दस्तदर्थसमाख्यार्थः ॥ तत्रैवा-
र्थसिद्धमर्थं कथयति । विद्वदिति ॥ नन्वर्थो समर्थो विद्वानपर्यु-
दस्तश्च कर्मागत्यधिकारोत्पङ्गीकारादविदुषस्तत्त्वज्ञानाक्रान्तस्यानधि-
कारात्कथं तत्कर्मा वीर्यवदिति प्रतिज्ञायते तत्राह । न चेति ॥
अप्यस्ये उपस्तिगम्यन्ते मटचीकृतेष्वित्यादिके तस्मिन्पक्षजाते

व्याख्यानं भवति ॥ १० ॥ ॥ १ ॥ तृतीयस्य प्रथमः
खण्डः ॥

कर्म वीर्यवत्तरं । अविद्वत्कर्मणोऽधिकफलं न भवतीति ।
विद्वत्कर्मणो वीर्यवत्तरवचनादविदुषोऽपि कर्म वीर्य-
वदेव भवतीत्यभिप्रायः । न चाविदुषः कर्मण्यनधिकारः ।
औपस्थे काण्डेऽविदुषामपि आर्त्विज्यदर्शनात् । रसत-
माग्निसृष्टिगुणवदक्षरमित्येकमुपासनम् । मध्ये प्रयत्नान्त-
रादर्शनात् । अनेकैर्हि विशेषणैरनेकधोपास्यत्वात्स्वल्पे-
त्येव प्रकृतस्योद्गीथाख्यस्याक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ।

छान्दोग्यतृतीयाध्यायप्रथमखण्डभाष्यं ॥ १ ॥

विद्याहीनानामपि कर्मांशुष्ठानं दृश्यते प्रस्तोतया देवतेत्यादौ ताञ्चेद-
विद्वानित्यादिलिङ्गात् । तस्मादविदुषोऽपि कर्मण्यधिकार लक्षणे
तु ज्ञानाभावेऽपि द्रव्यादिज्ञानमात्रेण विशेषणसिद्धिरित्यर्थः । गुण-
वदक्षरज्ञानं स्वतन्त्रफलमित्युक्तम् । तत्तु रसतमगुणवदक्षराद्विषयमेक-
मुपासनं तत्र च विध्यदेशे फलस्याश्रुतयेऽपि विश्वजिन्मयायेन वा तत्क-
ल्पते । आग्निगुणवतः सृष्टिगुणवतश्चाक्षरस्य द्वे विज्ञाने प्रत्येकं
फलश्रुतेः । तथा चात्र त्रीण्युपासनानि पृथक्फलानि विवक्षितानीत्यत
आह । रसतमेति ॥ न तावदिहोपासीतेति विधिभ्यतिरेकेण मध्ये
विध्यन्तरमुपलभ्यते । न चापयिता ह वै कामानामित्यादिवाक्ये फल-
श्रुत्या विधिरुद्धेयः । रसतमगुणवदक्षरविज्ञानविधौ फलाकाङ्क्षिण्यर्थवा-
दस्य फलांशान्वयेनानेकगुणवदेकविज्ञानविधिसम्भवे विधिभेदकल्पना-
योगाच्च स्वत्वर्थवादफलवदनेकविशेषणैकोपासनविषयविध्युपगमसेन
वाक्येक्यसम्भवे वाक्यं भैक्षमुचितम् । एतेन विश्वजिन्यायो निरस्तः ।
रात्रिसत्त्वन्वायस्तु प्रकृताविरोधीति भावः ॥ तस्योपव्याख्यानमित्युक्तस्यो-

देवासुरा ह वै यत् संयेतिरे

देवासुराः । देवाश्चासुराश्च । देवा दीव्यतेद्योतनार्थस्य
शास्त्रोद्भासिता इन्द्रियवृत्तयः । असुरास्तद्विपरीताः ।
स्वेष्टेवासुषु विष्वग्विषयासु प्राणनक्रियासु रमणात्
स्वाभाविक्यस्तम आत्मिका इन्द्रियवृत्तय एव । ह वै इति
पूर्ववृत्तोद्भासकौ निपातौ यत् यस्मिन्निमित्ते इतरेतर-

पसंहारवाक्यं खल्वेतस्येत्यादि तत्रैतच्छब्देन प्रकृताकर्षणे कारण
माह । अनेकैरिति ॥ रसतमाप्रिसमृद्धिरूपारण्यनेकानि विशेषणानि
तैर्विशिष्टत्वेनाक्षरस्थानेकप्रकारेणोपास्यत्वात् । प्रकारभेदेऽप्युपासनैक्यस्य
प्रागेवोक्तत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्यैतदुपव्याख्यानं यत्खलु विहितमित्यर्थः ।
प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

गुणत्रयविशिष्टमुद्गीथावयवभूतमोकाराख्यमक्षरं परमात्मप्रतीकं
तद्गुडोपास्यमित्युपदिष्टमिदानीं तस्यैवाक्षरस्याध्यात्माधिदैवभेदेनादि
त्यप्राणवृष्ट्योपासनं विवक्षन् कण्डिकान्तरमवतारयति । देवासुरा
इति ॥ तत्राक्षराणि व्याचिख्यासुरप्रतिभाव्युदासार्थं विवक्षितं समा-
सन्दर्शयति । देवाच्चेति ॥ देवशब्दनिष्पत्तिप्रकारं सूचयति । देवा इति ॥
दीव्यतिद्योतनार्थो दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्यूतिस्तुतिभोदमद-
स्वप्नकान्तिगतिष्विति दर्शनात्तस्य चाजन्तस्य सति गुणे कर्त्तरि यथोक्त-
रूपसिद्धिरित्यर्थः ॥ ते च द्योतका देवा रुडेरेन्द्रादयो भविष्यन्ती-
त्याशङ्काह । शास्त्रेति ॥ इत्यध्यात्ममित्युपसंहारविरोधात्प्रसिद्धेरेव
हेयत्वाद् पासकशरीरस्थकरणावस्था देवाः सत्त्वात्मकाः शास्त्रानुसारिणी
देवशब्दाध्या इत्यर्थः ॥ तथाध्यात्मं असुरा विरोचनादयः स्युरित्या-
शङ्का पूर्ववदुपसंहारविरोधमभिप्रेत्याह । असुरा इति ॥ असुरा इ-
न्द्रियवृत्तय एवेति सम्बन्धः । सात्त्विकेन्द्रियवृत्तिभ्यो वैपरीत्यं तासा-

विषयापहारलक्षणे संवेतिरे । सम्पूर्वस्य यततेः सङ्ग्रामार्थ-
त्वमिति । सङ्ग्रामं हतवन्त इत्यर्थः शास्त्रीयप्रकाशवृत्ताभि-
भवनाय प्रवृत्ताः स्वाभाविकस्तमोरूपा इन्द्रियवृत्तयो-
ऽसुराः । तथा तद्विपरीताः शास्त्रार्थविषयविवेकज्योति-
रात्मानो देवाः स्वाभाविकतमोरूपानुराभिभवनाय प्रवृत्ता-
इत्यन्योन्याभिभवोद्भवरूपः सङ्ग्राम इव सर्वप्राणिषु प्रतिदेहं
देवासुरसङ्ग्रामोऽनादिकालप्रवृत्त इत्यभिप्रायः ॥

मसुरत्वसिद्धयर्थं दर्शयति । तद्विपरीता इति ॥ तासामसुरशब्दाच्चत्ये-
निमित्तान्तरमाह । खेप्तेवेति ॥ विष्वग्विषयासु विष्वद्धो नानागतयो
विषया यासां तास्त्विति यावत् । प्राणनक्रियासु जीवनानुकूलप्राण-
चेष्टास्त्वित्यर्थः ॥ तदेव स्फोरयति । स्वाभाविक इति ॥ शास्त्रापेक्षा-
मन्तरेणैव सभाववशात्प्रवर्त्तमानत्वं स्वाभाविकत्वम् ॥ तथा च शास्त्रो-
येन्द्रियवृत्तिभ्यो वैपरीत्यममूयामतिविशदमित्यर्थः । वैपरीत्यान्तरमाह ।
तमव्यात्मिका इति ॥ कथं मिथो विषयापहारं निमित्तोक्तव्यं देवान-
मसुराणां संयामोऽभूदित्यपेक्षायामासुरीं वृत्तिं प्रकटयति । शास्त्री-
येति ॥ दैवीं वृत्तिं प्रथयति । तथेति ॥ देवानासुक्तासुरवैपरीत्यं
स्फुटयति । शास्त्रेति ॥ स्वाभाविकः शास्त्रानपेक्षस्तमोरूपः पाप्मा-
सुरपरिच्छेदाभिमानस्तस्य तिरस्कारणार्थमिति यावत् ॥ उक्तमा-
ध्यात्मिकसंयामं निगमयति । इत्यन्योन्येति ॥ उक्तीत्या यथो-
क्तानां देवानामसुराणाञ्च पराभिभवः स्तोद्भवखेत्वेवं रूपः संयामः
प्रतिदेहमनादिकालप्रवृत्तो यथा देवासुरसंयामस्तथेति योजना ।
किमर्थं पुनरपुरुषार्थरूपोदेवासुरसंयामः श्रुत्या आच्यते तत्राह ॥
स इहेति ॥

उभये प्राजापत्यास्तइ देवा उद्गीथमाजहुरने-

स इह श्रुत्याख्यायिकारूपेण धर्माधर्मोत्पत्तिविवेक-
विज्ञानाय कथ्यते प्राणविशुद्धिविज्ञानविधिपरतया । अत
उभयेऽपि देवासुराः प्रजापतेरपत्यानीति प्राजापत्याः ।
प्रजापतिः कर्मज्ञानाधिकृतः पुरुषः । पुरुष एवोक्त्यमय-
महान् प्रजापतिरिति श्रुत्यन्तरात् । तस्य हि शास्त्रीयाः
स्वाभाविक्यश्च रणप्रवृत्तयो विरुद्धापत्यानीव तदुद्भवत्वात् ।
तत्तत्त्वोत्कर्षापकर्षलक्षणनिमित्ते ह देवा उद्गीथं उद्गीथ-
भक्त्युपलक्षितमौद्गावं कर्माजहुराहृतवन्तः । तस्यापि
केवलस्याहरणासम्भवाज्ज्योतिष्टोमाद्याहृतवन्त इत्यभि-
प्रायः ॥

स हि संयामोऽस्मिन्प्रकरणे प्राणस्य विशुद्धिविषयं विज्ञानं विधातुं
प्रवृत्तः । तथा श्रुत्या कथारूपेणाख्यायते । इन्द्रियाणां विषयवैमुख्ये
धर्मः स्यात्तेषां तदाभिसुख्ये पापस्योत्पत्तिरिति विवेकविज्ञानमिद्वर्ध-
चाख्यायिका प्रणीयते । तस्मादिन्द्रियाणां प्रयत्नतो विषयप्रावण्यं परि-
हर्तव्यम् । तद्वैमुख्यञ्च तेषां श्रेयोऽर्थिभिर्यत्नादाधेयमिति भावः । यज-
नानप्राणानामेव देवासुरभावस्योक्तत्वमतः शब्दार्थः । प्रजापतिशब्दस्य
रूढमर्थमप्राकृत्य विवक्षितमर्थमाह । प्रजापतिरिति ॥ उक्तरूपः पुरुषः
प्रजापतिरित्यत्र गमकमाह । पुरुष एवेति ॥ कथं पुनर्यथोक्तानां देवा-
सुराणां तदपत्यत्वं तत्राह । तस्य हीति ॥ यत्नेत्युक्तं संयामनिमित्तं
परामृशति । तत्तत्वेति ॥ देवानामुत्कर्षोऽपकर्षश्चासुराणामित्यस्मिन्नि-
मित्ते कथमुद्गीथभक्त्याहरणमित्याशङ्क्याह । उद्गीथेति ॥ लक्षितलक्षणा-
न्य यं सूचयति । तस्यापीति ॥ उद्गीथभक्तेरित्यपेक्षः ॥

नैनानभिभविष्याम इति ॥ १ ॥

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे

तत्किमर्थं ताजह्नुरित्युच्यते । अनेन कर्मणै नानसुरान-
भिभविष्याम इत्येवमभिप्रायाः सन्तो यदा च तदुद्गीथ-
कर्माजिहीर्षवस्तदा ते ह देवा नासिक्यं नासिकायां भवं
चेतनावन्तं प्राणं प्राणं उद्गीथकर्त्तारमुद्गातारं उद्गीथ-
भक्त्योपासाञ्चक्रिरे कृतवन्त इत्यर्थः । नासिक्यप्राणदृष्ट्यो-
द्गीथाख्यमक्षरमोकारमुपासाञ्चक्रिर इत्यर्थः । एवं हि प्रकृ-
तार्थपरित्यागोऽप्रकृतार्थोपादानञ्च न कृतं स्यात् । खल्वे-
तस्यैवाक्षरस्येवोद्गातो लोपास्यतया प्रकृतः ॥

तदाहरणप्रयोजनं प्रश्नपूर्वकं कथयति । तत्किमर्थमित्यादिना ॥
सम्प्रत्युद्गीथाहरणप्रकारं प्रकटयति । यदा चेति ॥ अचेतनस्य करणस्यो-
द्गातृवासम्भवादिशिनष्टि । चेतनावन्तमिति ॥ मुख्यं प्राणं व्यावर्त्तयति ।
प्राणमिति ॥ त्वन्न उद्गायेति वाजसनेयकश्रुतिमाश्रित्याह ॥ उद्गीथकर्त्ता
रमिति ॥ अथोद्गीथभक्तिरेव श्रूयते न तद्गाता ॥ तत्कथं तदुपासनमित्या-
शङ्क्याह । उद्गीथभक्त्येति ॥ तयोपलक्षितमुद्गातारमुपासत इति यावत् ॥
कथमुपासनमित्यपेक्षायामुद्गीथेन कर्तृत्वप्रार्थनयेत्याह । कृतवन्त इति ॥
ते ह नासिक्यमित्यक्षरोक्तमर्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह । नासिक्येति ॥ कि-
मित्यक्षरमोकाराख्यमिहोपास्यत्वेन व्याख्ययते तत्राह । एवं हीति ॥
उक्तमेव स्फुटयति खल्विति ॥ तथा च प्राणस्योद्गातृदृष्ट्योपासने प्रकृतस्य
परित्यागो भक्तेश्च प्राणदृष्ट्योपास्यत्वाङ्गीकारे प्रकृतोपादानमिति शेषः ॥
पूर्वापरविरोधमाशङ्कते । नन्विति ॥

तं हासुराः पाप्मना विविधुः

ननु उद्गीथोपलक्षितं कर्माहृतवन्त इत्यवोच इदानी-
मेव कथं नासिक्प्रमाणदृष्ट्योङ्कारमुपासाञ्चक्रिर इत्याद्य ।
नैष दोषः । उद्गीथकर्माण्येव हि तत्कालप्रमाणदेवतादृष्ट्यो-
द्गीथभक्त्यवयवसंस्कार उपपास्यत्वेन विवक्षितो न स्वतन्त्रो
ऽतस्तादर्थ्येन कर्माहृतवन्त इति युक्तमेवोक्तं । तमेवं देवै-
र्हतसुज्ञातारं हासुराः स्वाभाविकास्तमश्चात्मानो ज्योतीरूपं
नासिक्प्रमाणं देवं स्योत्येन पाप्मना ऽधर्मासङ्गरूपेण
विविधुर्विद्वन्तः संसर्गं कृतवन्त इत्यर्थः । स हि नासिक्प्र-
माणः कल्याणगन्धग्रहणाभिमानासङ्गाभिभूतविवेकविज्ञानो
बभूव ॥

उद्गीथोपलक्षितेनौहावेणोपलक्षितं ज्योतिषोमादि कर्माहृतमित्युक्तं
तदाहरणञ्च तस्योपासनं तद्विरुद्धं नासिक्प्रमाणदृष्ट्यालोपासनवचन-
मित्यर्थः ॥ स्रोक्तैर्मिथो विरोधं परिहरति । नैष दोष इति ॥ उद्गी-
थोपलक्षितकर्माहृतवन्त ज्योतिषोमादौ कर्माणि सत्येवोहातप्रमाणद-
ृष्ट्योपास्यत्वेनाक्षयं विवक्षितम् । आकारस्योद्गीथावयवो ध्येयत्वेनेष्टो
न स्वतन्त्रो व्यापकः । तथा चालोपासनार्थत्वेन कर्माहरणं न ध्येयत्वे-
नेत्यविरोध इत्यर्थः ॥ आश्रित्य विधानार्थं कर्माहरणमित्युक्ता तं हे-
त्यादि व्याचष्टे । तमेवमिति । स्योत्येन चासुरेण नासिकासम्बन्धेनेति
यावत् । अधर्मादासङ्गस्तद्रूपेणेतस्यासङ्गवेधं साधयति । स हीति ॥
कल्याणो गन्धः सुरभि रक्तस्तस्य ग्रहणं समैवेत्यभिमानात्पायोऽयमास-
ङ्गस्तेनाभिभूतसुप्तकारो गन्धाघ्राणकृतस्तुल्यः सर्वस्य कार्यकरणसङ्कात-
स्येति विवेकविज्ञानं यद्वा स तथेति विग्रहः ॥

तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च
पाप्मना ह्येष विद्वः ॥ २ ॥

स तेन दोषेण पाप्मसंमर्गो बभूव । तदिदमुक्तमसुराः
पाप्मना विविधुरिति । यस्मादासुरेण पाप्मना विद्वस्त-
स्मात्तेन पाप्मना प्रेरितो घ्राणः प्राणो दुर्गन्धिग्राहकः
प्राणिनाम् । अतस्तेनोभयं जिघ्रति लोकः सुरभि च दुर्गन्धि
च । पाप्मना ह्येष यस्माद्विद्वः । उभयग्रहणमविवक्षितम् ।
यस्योभयं हविरार्त्तिमार्च्छतीति यद्वत् । यदेवेदमप्रतिरूपं
जिघ्रतीति समानप्रकरणश्रुतेः ॥

ननु कथं यथोक्तासङ्गस्यशितेत्याशङ्क्याह । स तेनेति ॥ उक्तेऽर्थे
वाक्यं योजयति । तदिदमिति ॥ घ्राणप्राणस्यासुरपाप्मविद्वत्त्वे कार्य-
लिङ्गकमनुमानं सूचयति । तस्मादिति ॥ उक्तानुमानावद्योति वाक्यं
व्याकरोति । अत इति ॥ अतः शब्दार्थमेव स्पष्टयति । पाप्मने ॥ ननु
पाप्मना विद्वत्वात्तेन लोको दुर्गन्धं जानातीत्येव वक्तव्यं सुरभिज्ञान
नस्य पाप्मकर्मत्वाभावात् । तथा च कथं तेनोभयं जिघ्रतीत्युक्तं त-
त्वाह । उभयग्रहणमिति ॥ एकस्यापि हविषो द्रवात्मकस्य पुरोडाशा-
देर्वा काकादिसम्बन्धाद्भ्रंशं प्रायश्चित्तसत्त्वेऽपि यस्योभयं हरिरार्त्तिमा-
र्च्छति स ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेदित्यलोभयग्रहणमविवक्षित-
मिति स्थितं प्रथमतन्त्रे तथाऽनापीत्याह । यस्येति ॥ न केवलं पाप्मना
हीति वाक्यशेषेपादलोभयग्रहणमविवक्षितं किन्तु बाजसनेयके यथो-
क्तोद्गीथविद्याविषयत्वेन समानप्रकरणे यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव
स पाप्मेति श्रुतेरत्रापि पाप्मवेधवशाद्दुर्गन्धं जानातीत्येव वक्तव्यत्वादविव-
क्षितसुभयग्रहणमित्याह । यदेवेति ॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तां हा-
सुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदतिसत्य-
ञ्चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्वाः॥३॥ अथ ह चक्षु-

मुखप्राणस्योपास्यत्वाय तद्विशुद्धत्वानुभवार्थोऽयं वि-
चारः श्रुत्या प्रवर्तितः । अतश्चक्षुरादिदेवताः क्रमेण विचा-
र्यासुरेण पाप्मना विद्वा इत्यपोह्यन्ते । समानमन्यत् ।
अथ ह वाचं चक्षुः श्रोत्रं मन इत्यादि । अनुक्ता अप्यन्या-
स्वप्नसनादिदेवता द्रष्टव्याः । एवमुखलेता देवताः पा-
प्मभिरिति श्रुत्यन्तरात् ॥

असुरेण विद्धत्वात्प्राणादिदेवता अपोह्यन्ते । अथान-
न्तरं य एवायं प्रसिद्धो मुखे भवो मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमु-

ननु नासिक्यस्य प्राणस्य पाप्मविद्धत्वादनुपास्यत्वेसिद्धे न्याय-
सामान्याद्वागादीनामपि नोपास्यत्वमिति सिद्धमिति तत्किमुत्तरपन्थे-
नेत्यत आह । मुख्यप्राणस्येति ॥ न्यायसाम्येऽपि मुखतो निरा-
करणाभावे मुख्यप्राणस्यैवोपास्यत्वमित्यनिश्चयात्तदुपस्यतादार्ढ्यार्थं मुखतो
वागादीनामुपास्यत्वमपाकर्तुमुत्तरपन्थ इत्यर्थः । विद्वा इति विचार्य
क्रमेणापोह्यन् इति सम्बन्धः । उत्तरवाक्येष्वन्तरव्याख्यानमनपेक्षितं
पूर्व्येण समानत्वादित्याह । समान इति ॥ अवशिष्टवाक्यैकदेश-
पक्षणार्थमादिपदम् ॥ ननु प्राणादीनां पाप्मविद्धत्वादनुपास्यत्वेऽपि
त्वगादीनां तद्विद्धत्वेनानुपास्यत्वाद्भवनामुख्यस्यैव प्राणस्योपास्यत्वं ना-
वसीयते तत्राह । अनुक्ता इति ॥ उक्तानामनुक्तोपलक्षणत्वे षड्हा-
रण्यकश्रुतिं संवादयति । एवमुक्तत्विति ॥ अथ हेत्यादि मुख्यप्राण-
विषयवाक्यमुत्थाप्य व्याकरोति । आसुरेणेत्यादिना ॥

पूर्ववद्वागादिष्वेवेति यावत् । षड्विंश विदारकैर्लोहविशेषैरि-
त्यर्थः । अश्रुतस्य लोपस्यालोपादाने हेतुमाह । सामर्थ्यादिति ॥ तस्य

रुद्धीयमुपासाञ्चक्रिरे तद्वासुराः पाप्मना विवि-
 धुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनौयं चादर्शनौयं च
 पाप्मना ह्येतद्विद्वम् ॥४॥ अथ ह श्रोत्रमुद्धीयमुपा-
 साञ्चक्रिरे तद्वासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनो-
 भयं ऋणोति श्रवणीयञ्चाश्रवणीयञ्च पाप्मना
 ह्येतद्विद्वम् ॥५॥ अथ ह मन उद्धीयमुपासाञ्चक्रिरे
 तद्वासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं सङ्क-
 ल्यते सङ्कल्पनीयञ्चासङ्कल्पनीयञ्च पाप्मना ह्येत-
 द्विद्वम् ॥ ६ ॥ अथ ह यएवायं मुख्यः प्राणस्तमु-
 द्धीयमुपासाञ्चक्रिरे तद्वासुरा ऋत्वा विदध्वं-
 सुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत ॥७॥

पासाञ्चक्रिरे तं वासुराः पूर्ववदृत्वा प्राप्य विदध्वंसुर्विनष्टा
 अभिप्रायमात्रेण । अकृत्वा किञ्चिदपि प्राणस्य कथं विनष्टा
 इत्यत्र दृष्टान्तमाह । यथा लोके अश्मानमाखणं न शक्यते
 खनितुं कुहालादिभिरपि टङ्कैश्चेत्तुं न शक्योऽखण एवा-
 खणस्तमृत्वा । सामर्थ्याल्लोष्टः पांशुपिण्डः श्रुत्यन्तराञ्चा-
 श्मनि क्षिप्तोऽश्मभेदनाभिप्रायेण तस्याश्मानः किञ्चिदप्यकृत्वा
 स्वयं विध्वंसेत विदीर्येतैव विदध्वंसुरित्यर्थः ।

तस्य ध्वंसनयोग्यत्वात् ध्वंसेतस्य कर्त्तृमेकत्वादित्यर्थः । तर्हि यस्य कस्य-
 चिदेवंविधस्य सम्भवादसं लोष्टमृत्वेनेत्याशङ्क्य यथाश्मानमृत्वा लोष्टो
 विध्वंसेतेति वृद्धदारण्यकश्रुतेस्तस्यैवात्र मृद्वणिमित्याह । श्रुत्यन्त-
 राज्ञे वि ॥

एवं यथाश्मानमाखण्डत्वा विध्वंसत एव
 हैव स विध्वंसते य एवंविदि पापं कामयते
 यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ॥८॥

एवं विशुद्धोऽसुरैरधर्षितत्वात्प्राण इति । एवंविदः
 प्राणाभूतस्येदं फलमाह । यथाश्मानमित्येष एव दृष्टान्तः ।
 एवं हैव स विध्वंसते विनश्यति । कोऽसावित्याह । य एवं-
 विदि यथोक्तप्राणविदि पापं तदनर्हं कर्तुं कामयते इ-
 च्छति यथाप्येनमभिदासति हि नस्ति प्राणविदं प्रत्याक्रोश-
 ताडनादि प्रयुक्ते सोऽप्येवमेव विध्वंसत इत्यर्थः । यस्मात् स
 एष प्राणवित् प्राणाभूतत्वादश्माखण इवाश्माखणोऽधर्ष-
 णीय इत्यर्थः । ननु नासिक्योऽपि प्राणो वाय्वात्मा यथा
 मुख्यस्तत्र नासिक्यः प्राणः पाप्मना विद्धः प्राण एव सन्न
 मुख्यः कथम् । नैष दोषो नासिक्यस्तु स्थानकरणवैगुण्या-
 दिद्वौ वाय्वात्मापि सन् मुख्यः स्थानदेवताबलीयस्त्वान्न
 विद्ध इति युक्तम् ॥

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां सिद्धमर्थं निगमयति । एवमिति ॥ इति
 प्राणस्य विशुद्धत्वात्तदुपासनं कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ फलवचनमवतार्य
 व्याकरोति । एवं विद इत्यादिना ॥ प्राणवित्प्रतिस्पर्द्धिनो विनाशे
 हेतुमाह यस्मादिति ॥ नासिक्यप्राणस्य मुख्यप्राणस्य च वायुविका-
 रत्वेन प्राणत्वाविशेषात्पाप्मना वेधावेधौ तुल्यावेव स्यातामिति शङ्कते ।
 नन्विति ॥ स्थानविशेषसम्बन्धासम्बन्धाभ्यां द्वयोरपि पाप्मवेधावेध-
 व्यवस्था युक्तेति परिहरति । नैष दोष इति ॥ स्थानावस्थावच्छिन्ने
 करणे वैगुण्यं विषयविशेषासक्तत्वं तस्मात्तद्रूपस्य नासिक्यप्राणस्यापि
 विद्धता स्यादिति यावत् । तदसम्भवाद्द्विशेषसम्बन्धप्रयुक्तवैगुण्यायोगा-
 दित्येतच्छिष्टमुक्तमुपपन्नम् ॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहत-
पाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्-
प्राणानवति ।

यथा वास्यादयः शिन्नावत्पुरुषाश्चयाः कार्यविशेषं कु-
र्वन्ति नान्यहस्तगतास्तद्वदोषवद्प्राणसचिवत्वाद्विद्धाप्राण-
देवता न मुख्यः । यस्मान्न विद्धोऽसुरैर्मुख्यस्तस्मान्नैवैतेन
सुरभि दुर्गन्धि वा विजानाति ध्राणेनैव तदुभयं विजा-
नाति लोकः । अतश्च पाप्मकार्योद्दर्शनादपहतपाप्माऽप-
हतो विनाशितोऽपनोतः पाप्मा यस्मात्सोऽयमपहतपा-
प्मा ह्येषविशुद्ध इत्यर्थः । यस्माञ्चात्मभरयः कल्याणा-
द्यामङ्गवत्पाद्प्राणादयो न तथात्मभरिर्मुख्यः किं तर्हि स-
र्वार्थः । कथमित्युच्यते तेन मुख्येन यदश्नाति यत्पिबति
लोकस्तेनाशितेन पीतेन चेतरेण ध्राणादीनवति पालयति ।

स्थानसम्बन्धविशेषात् । प्राणप्राणस्य पाप्मविज्ञत्वं तदभावाच्च
मुख्यप्राणस्य तद्विज्ञत्वमित्येतद्वृत्तान्तेन स्पष्टयति । यथेत्यादिना ।
न मुख्यो दोषवद्प्राणसचिवत्वाभावादिति शेषः ॥ प्राणदेवता विद्धा
प्राणदेवता तु न विद्धेत्यत्र गमकत्वेनानन्तरवाक्यं व्याचष्टे । यस्मादिति ।
मुख्यप्राणस्य पाप्मबोधभावमुपसंहरति । अतश्चेति ॥ पाप्मकार्य-
मासङ्गस्तस्य प्राणेऽनुपलम्भादित्यतः शब्दस्यैवार्थं हि शब्देनोक्तम् ॥ पाप्मा-
वेधं विशुद्धत्वे हेतूक्त्य मुख्यप्राणविशुद्धिसुपसंहरति । ह्येष इति ॥
तस्य विशुद्धत्वे हेतुनन्तरमाह । यस्माच्चेति ॥ अतो विशुद्ध इत्युत्तरत्र
सम्बन्धः ॥ सर्वार्थत्वं प्राणस्य प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति । कथमित्या-
दिना ॥ प्राणादीत्यादिशब्देन कार्यमप्युच्यते ॥

एतसु एवान्ततोऽवित्त्वोक्तामति व्याददात्ये-
वान्तत इति ॥ ६ ॥

तेन हि तेषां स्थितिर्भवतीत्यर्थः । अतः सर्वम्भारिः प्रा-
णोऽतो विशुद्धः । कथं पुनर्मुखाशितपीताभ्यां स्थिति-
रेषां गम्यत इति । उच्यते । एतं मुख्यं प्राणं मुख्यप्राण-
वृत्तिम् । अन्नपाने इत्यर्थः । अन्ततोऽन्ते मरणकालेऽवि-
त्त्वोक्तामति । प्राणादिप्राणसमुदाय इत्यर्थः । अ-
प्राणो हि न शक्नोत्याशितुं पातुं वा । तेन तदोक्तान्तिः
प्रसिद्धा प्राणादिकलापस्य । दृश्यते ह्युक्तान्तौ प्राणस्याशि-
शिषा । अतोव्याददात्येवास्य विदारणं करोतीत्यर्थः । तद्व-
न्नालाभे उक्तान्तस्य लिङ्गम् ॥

तेनैतास्तृप्यन्तीति श्रुत्यन्तरमाश्रित्याह । तेन हीति ॥ प्राण-
वृत्तिहेतुभ्यामन्नपानाभ्यां सङ्घातस्थितिरतः शब्दार्थः । सर्वार्थत्वं द्वि-
तीयस्यातः शब्दस्यार्थः । मुख्यप्राणोपयुक्तत्वादन्नपानानां सङ्घातस्थिति
हेतुत्वमित्यत्र प्रश्नपूर्वकं लिङ्गं दर्शयति । कथमित्यादिना ॥ वृत्तिमेव
विशिनष्टि । अन्नपाने इति ॥ अन्वहसुपयुज्यमानेऽन्नपाने प्राणस्थि-
तिहेतु इति यावत् । प्राणस्योच्चक्रमिषायात्मनि सङ्घातः स्वयमशन-
पाने कृत्वा स्यात्स्थिति इत्याशङ्क्याह । अप्राणे हीति ॥ तदा प्राणो-
च्चक्रमिषावस्यायामिति यावत् । ननुक्तान्यवस्यायामशिशिषाद्यभा-
वादेव सङ्घातस्योक्तान्तिर्न त्वशनाद्यभावाच्च तत्र प्रमाणाभावादत आह ।
दृश्यते हीति ॥ तदिति मुख्यव्यादानमुच्यते । अन्नपहणं पानोपलक्षणार्थम् ॥

तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्रे एतमु एवा-
ङ्गिरसं मन्यन्ते ।

तं हाङ्गिरासं मुख्यं प्राणं ह आङ्गिरा इत्येवगुणमु-
द्गीथमुपासाञ्चक्रे उपासनं कृतवान् वको दालभ्य इति
वक्ष्यमाणेन सम्बध्यते । तथा वृहस्पतिरित्यायस्य इति
चोपासाञ्चक्रे वक इत्येवं सम्बन्धं कृतवन्तः केचित् । एतमु
एवाङ्गिरसं वृहस्पतिमायास्यं प्राणं मन्यन्ते इति वचनाद्
भवत्येवं । यथाश्रुतासम्भवे सम्भवति तु यथाश्रुतमपि चोद-
नायामपि श्रुत्यन्तरवत् । तस्माच्छतर्चिन इत्याचक्षते एत-
मेव सन्तमपि ।

विशुद्धिगुणकमुख्यप्राणात्मोद्गातृव्योद्गीथावयवभूतमोङ्काराख्यम-
णरसपासमित्युक्तं इदानीं तत्रैवाङ्गिरसवृहस्पत्यायस्यगुणत्रयविधाना-
र्थसुत्तरपत्त्युत्थापयति । तं हेति ॥ तत्र वृत्तिकाराभिप्रेतं सम्बन्धं
दर्शयति । तं मुख्यमिति ॥ पराभिप्रेतसम्बन्धे गमकमाह । अमिति ।
अव्यवहितसम्बन्धसम्भवे व्यवहितसम्बन्धकल्पना न युक्तेति परिहरति
भवत्येवमिति ॥ ऋषीणामङ्गिरोवृहस्पत्यादिशब्दैरुपदेशेऽपि गुणत्रय-
विशिष्टप्राणोपासनं न विरुध्यतेऽतश्च प्रधानानामबाधे प्राणोपासकाना-
मृषीणामुपदेशो न त्यागमर्हत्यङ्गिरोवृहस्पत्यादिशब्दैर्भ्योऽपि । प्रथम-
प्रतिपद्वान्द्विषीन्विज्ञाय यौगिकवृत्तिप्रतिपत्तव्यगुणमात्रप्रतिपत्त्यनुपपत्ते-
रित्यर्थः । प्राणोपासकानामृषीणामभिधानमैतरेयकमुत्था द्रष्टव्यम् ।
श्रुत्यन्तरवदिति । तदेव स्पष्टयति । तस्मादिति ॥ शतर्चिनो नाम
प्रथममण्डलद्वयं ऋषयः । एष च प्राणो यस्मात्पुरुषं सङ्गाताख्यं शत-
वर्षाण्यभिगतवान् तस्मादेतमेव प्राणं सन्तमपि शरीरस्थितमपि शतर्चि-
नमन्वाख्यं वदन्तीति योजना ॥

अङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

तथा मध्यमा गृह्यमदो विश्वामित्रो वामदेवोऽतिरि-
त्यादिऋषीनेव प्राणमापादयति श्रुतिः । तथैतानष्टृषीन्
प्राणोपासकानङ्गिरोबृहस्पत्यायास्यान् प्राणं करोत्यभेदवि-
ज्ञानाय । प्राणो ह पिता प्राणो मातेत्यादिवच्च । तस्मा-
दपिरङ्गिरा नाम प्राण एव सन्नात्मानमाङ्गिरसं प्राणमुङ्गी-
यमुपासाञ्चक इत्येतत् । यस्मात्सोऽङ्गानां प्राणः सन् रस-
स्तेनासावाङ्गिरसः ।

यतर्चिन्-शब्दबहुभयविषयाणि शब्दान्तराण्यपि सन्तीत्याह ।
तथेति ॥ आद्यं मण्डलमुक्त्वा मध्यमानां मण्डलानां दृष्टारो माध्यमा
ऋषयस्तेऽपि प्राणस्तस्य स्वात्मनि मध्ये सर्वजगद्विधारकत्वात् । गृह्यम-
दस्तु द्वितीयमण्डलदर्शी । स्वापकाले वागादीनां गिरणात्प्राणो गृह्यः
रेतोविसर्गकारणं मदहेतुत्वात् । अपानो मदः प्राणोपानात्मकत्वात्
प्राणोऽपि तथोच्यते । तृतीयमण्डलदर्शी विश्वामित्रः प्राणोऽपि तथा
व्यपदिश्यते तस्य हि विश्वं भोक्तृजातं स्थितिहेतुतया स्निग्धमासीत् ।
वामदेवस्तु चतुर्थमण्डलदृष्टा प्राणोऽपि तच्छब्दवाच्यस्तस्य वागादिदेवता
सम्भजनियत्वात् । पञ्चममण्डलदृष्टाऽतिरित्युच्यते प्राणोऽपि तथैव
कथ्यते । तस्य पाप्मनोऽनर्थरूपानुप्रति सर्वत्रात्तृत्वात् । आदिपदेन
भरद्वाजादिपदानि गृहीतानि ॥ दृष्टान्तमेवं व्याख्याय दार्ष्टान्तिक-
माह । तथेति ॥ किमित्यङ्गिरःप्रभृतीन्प्राणं करोति श्रुतिरत आह ।
अभेदेति ॥ तथा च सप्रमे प्राणस्य साव्यात्मं वक्ष्यन्ते तथात्रापि तस्य
तत्तद्दृष्टिरूपत्वं विवक्षितमित्याह । प्राणो हेति ॥ अत्यवहितसम्बन्ध
सम्भवे फलितं वाक्यार्थं कथयति । तस्मादिति ॥ प्राणस्याङ्गिरस्त्वं
व्युत्पादयति । यस्मादिति ॥

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्र
 एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्धि बृहती
 तस्या एष पतिः ॥ ११ ॥ तेन तं हायास्य-
 मुद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त
 आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥ तेन तं ह वको
 दाल्भ्यो विदाञ्चकार ।

तथा वाचो वृहत्याः पतिस्तेनासौ बृहस्पतिः । तथा
 यद्यस्मादास्यादयते निर्गच्छति तेनायास्यः । ऋषिः प्राण
 एव सन्नित्यर्थः । तथान्योऽप्युपासक आत्मानमेवाङ्गिरसा-
 दिगुणं प्राणमुद्गीथमुपासीतेत्यर्थो न केवलमङ्गिरःप्रभृत-
 य उपासाञ्चक्रिरे । तं ह वको नाम दाल्भ्यस्यापत्यं दाल्भ्यो
 विदाञ्चकार यथा दर्शितं प्राणं विज्ञातवान् ॥

अङ्गिरः शब्दवृहस्पतिशब्दोऽप्युभयत्र नेतव्य इत्याह । तथेति ॥
 प्राणस्य बृहस्पतित्वं साधयति । वाच इति ॥ अङ्गिरोवृहस्पतिशब्द-
 दायास्यशब्दोऽप्युभयत्र दूषव्य इत्याह । तथेति ॥ तस्योभयत्र वृत्तिं विश-
 दयति । यद्यस्मादिति । यस्मादायास्यादयते तेनायास्यः प्राणः स एवात्मी-
 पासकत्वाद्दक्षिणपि तथेति योजना ॥ यथोक्तानाम्बुमीषामेवोक्तगुणकमुपा-
 सनं नाम्नेषां विशेषवचनमादित्याशङ्क्याह । तथेति ॥ विशेषस्य न शेष-
 निवर्तकत्वं प्रदर्शनार्थत्वादित्यर्थः ॥ यथोक्तोपासनस्य त्रिषु नियमाभावे
 गमकं दर्शयति । न केवलमिति ॥

स ह नैमिषीयानामुज्ञाता बभूव स ह स्रैभ्यः
 कामानागायति ॥ १३ ॥ आगाता ह वै का-
 मानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुज्जीथमु-
 पास्त इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥ २ ॥ तृतीयस्य द्वितीयः
 खण्डः ॥

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुज्जीथ-

विदित्वा च स ह नैमिषीयानां सत्विणामुज्ञाता बभूव ।
 स च प्राणविज्ञानसामर्थ्यादेभ्यो नैमिषीयेभ्यः कामाना-
 गायति स्म ह आगीतवान् किलेत्यर्थः । तथान्योऽप्युज्ञाता
 आगाता ह वै कामानां भवति य एवं विद्वान् यथोक्तगुणं
 प्राणमक्षरमुज्जीथमुपास्ते तस्यैतद्वटं फलमुक्तम् । प्राणात्म-
 भावस्त्वद्वटम् । देवो भूत्वा देवानप्येतीति श्रुत्यन्तरात्सिद्ध-
 मेवेत्यभिप्रायः । इत्यध्यात्ममेतदाश्रयविषयमुज्जीथोपासनमि-
 त्युक्तोपसंहारोऽधिदैवतोज्जीथोपासने वक्ष्यमाणे बुद्धिस-
 माधानार्थः ॥ २ ॥

अथानन्तरं अधिदैवतं देवताविषयमुज्जीथोपासनं प्रस्तु-
 तमित्यर्थोऽनैकधोपास्यत्वादुज्जीथस्य य एवासावादित्य-

सम्प्रति विहितोपासनस्य दृष्टफलमादेष्टुं पातनिकां करोति । विदि-
 त्वेति ॥ भूमिकां कृत्वा विवक्षितमुपास्तिफलं कथयति । तथेति । दृष्ट-
 मिति विशेषणादभीष्टं फलान्तरमाचष्टे । प्राप्तेति ॥ आत्मविषयं शरी-
 रवर्त्ति प्राणगोचरमिति यावत् ॥ उपसंहारस्य प्रयोजनमाह । अधि-
 दैवतेति ॥ २ ॥

अनन्तरमाध्यात्मिकप्राणद्व्योज्जीथोपासनवचनादिति शेषः ॥ किमिति
 देवताविषयमुज्जीथोपासनं प्रस्तुयते तत्राह । अनेकधेति ॥ प्राणरूपे-

मुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उ-
द्यन्स्तमोभयमपहन्तापहन्ता ह वै भयस्य
तमसोभवति य एवं वेद ॥ १॥समान उ एवा-

स्तपति तमुद्गीथमुपासीतादित्यदृष्ट्योद्गीथमुपासीतेत्यर्थ-
स्तमुद्गीथमित्युद्गीथशब्दोऽक्षरवाची सन् कथमादित्ये वर्त्तत
इति । उच्यते । उद्यन्नुद्गच्छन्वैष प्रजाभ्यः प्रजार्थमुद्गायति
प्रजानामन्वोत्पत्तार्थम् । न ह्यनुद्यति तस्मिन्वृद्धादेः पक्तिः
स्यादत उद्गायतीवोद्गायति ॥ १ ॥

यथैवोद्गाताऽन्वार्थं अत उद्गीथः सवितेत्यर्थः । किञ्चोद्य-
न्वैशं तमस्तज्जञ्च भयं प्राणिनामपहन्ति तमेवंगुणं सविता-
यो वेद सोऽपहन्ता नाशयिता ह वै भयस्य जन्मस-

णादित्यादिरूपेण चोद्गीथस्योपास्यत्वाद्देवताविषयतदुपास्तिप्रस्तावो-
क्त एवेत्यर्थः ॥ आदित्यादिमतयज्ञेत्यादिन्यायेन वाक्यार्थं कथयति ।
आदित्यदृष्ट्येति ॥ तमादित्यमुद्गीथं मुपासीतेत्यादित्यशब्दस्योद्गीथ-
शब्दस्य च सामानाधिकरण्यमयुक्तं मुद्गीथशब्दस्य प्रकरणं क्ष-
रवाचिन्वादादित्यशब्दस्य च ज्योतिर्विषयत्वाद्भिन्नार्थयोरेव शब्द-
योः सामानाधिकरण्यायोगादिति शङ्कते । तमुद्गीथमिति ॥ आ-
दित्ये यद्यपि नोद्गीथ-शब्दो कृत्वा वर्त्तितुमर्हेति तथापि गौण्या
च तत्र तत्र वृत्तेः सामानाधिकरण्यसिद्धिरित्युत्तरमाह । उच्यत इति ।
प्रजार्थमुद्गायतीत्येतदेव स्पष्टयति । प्रजानामिति । अन्वोत्पत्तार्थमुद्गा-
यतीति पूर्वेण सूच्यम् ॥ तदेव व्यतिरेकद्वारा साधयति । न हीति ॥
आदित्यस्यान्वार्थमागानमतः शब्दार्थः । न तस्योद्गातुरिव प्रत्यक्षमुद्ग-
न-सुपलब्धमित्याशङ्क्याह । उद्गायतीवेति ॥

उपसंभिवोपपादयति तथेति ॥ अथात्मनेऽन्वाद्युमागयेदित्युत्पत्त्यन-
ये यथास्वार्थमुद्गाताऽऽ गायतीत्यवगतं तथाऽऽदित्योऽपि प्रजानामन्वार्थमा-

यञ्चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममा-
चक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एत-
मिमममुञ्चोद्गीथमुप्रासीत ॥२॥

रणादिलक्षणस्यात्मनस्तमसश्च तत्कारणस्याज्ञानलक्षणस्य
भवति । यद्यपि स्थानभेदात्प्राणादित्यौ भिन्नाविव लक्ष्येते
तथापि न स तत्त्वभेदस्तयोः । कथं समान उ एव तुल्य एव
प्राणः सवित्रा गुणतः सविता च प्राणेन । यस्मादुष्णोऽयं
प्राणः उष्णश्चासौ सविता । किञ्च स्वर इतीमं प्राणमाचक्षते
कथयन्ति तथा स्वर इति प्रत्यास्वर इति चामुं सवितारम् ।
यस्मात्प्राणः स्वरत्येव न पुनर्भूतः प्रत्यागच्छति ॥

गायतोत्तर्यः । उद्गीथशब्दस्यादित्ये सम्भवं परावृत्त्य फलितमाह । अत
इति ॥ आदित्यद्वयोद्गीथोपासनमुपपाद्य फलोक्तिं व्याचष्टे । किञ्चे-
त्यादिना ॥ एवंगुणं तमस्तज्ज भयनिवर्त्तकत्वगुणसहितमिति यावत् ।
नन्वध्यात्ममधिदैवतमिति स्थानभेदात्प्राणादित्योर्भिन्नत्वात् ॥ भिन्नमेव
तयोरुपासनमुपादेयमत आह । यद्यपीति ॥ प्राणादित्ययोः स्वरूपभेदा-
भावं प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति । कथमित्यादिना ॥ उ शब्दोऽप्यर्थः ।
स्थानभेदतो भेदमनुजानाति गुणतः साम्यं साधयति । यस्मादिति ॥
नामतः साम्यं सङ्गिरते । किञ्चेति ॥ सवित्रवत्प्राणेऽपि प्रत्यास्वरशब्द-
प्रवृत्तिमाशङ्क्याह । यस्मादिति ॥ स्वरत्येव गच्छत्येवेति यावत् । तस्मि-
न्नेव स्थूलदेहे न प्रत्यागच्छति तस्मात्प्राणेऽस्वरशब्दप्रवृत्तिरिवेत्यर्थः ॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति
स प्राणो यदपानिति सोऽपानः । अथ यः

सविता त्वस्तमित्वा पुनरप्यहन्वहनि प्रत्यागच्छति । अतः
प्रत्यास्वरोऽस्माद्गुणतो नामतश्च समानमितरेतरं प्राणा-
दित्यौ । अतः सतत्त्वाभेदादेतं प्राणमिमममुच्चादित्यमुद्गी-
थमुपासीताथ खल्विति । प्रकारान्तरेणोपासनमुद्गीथस्यो-
च्यते व्यानमेव वक्ष्यमाणलक्षणम् । प्राणस्यैव वृत्तिविशेष-
मुद्गीथमुपासीत । अधुना तत्सतत्त्वं निरूप्यते । यद्वै पुरुषः
प्राणिति मुखनासिकाभ्यां वायुं वह्निर्निःसारयति स प्रा-
णाख्यो वायोवृत्तिशेषो यदपानित्यपश्वासिति ताभ्यामेव
अन्तराकर्षति वायुं सोऽपानोऽपानाख्या वृत्तिः ॥

सवितर्यपि तर्हि तच्छब्दप्रवृत्तिरेवेत्याशङ्क्याह । सवितात्विति ॥
आदित्यस्यास्तं मतस्य प्रत्यहमेकतैवागतिदर्शनात्तस्मिन्प्रत्यास्वरशब्द-
स्यपि प्रवृत्तिरस्तीत्यर्थः । अतः प्राणादित्ययोरुक्तं साम्यं निगमयति ।
अस्मादिति ॥ अन्योन्यसाम्यकृतं फलमाह । अत इति ॥ प्राणादित्यो-
वेकीकृत्य तद्वच्छ्रोत्रोपावयवभूतमोक्षाराख्यमक्षरसुपाख्यमित्यर्थः । अथा-
ध्यात्मिकमाधिदैविकञ्चोद्गीथोपासनं प्रस्तुत्य तदेव समस्यैकीकृत्योक्तं
तथा च वक्तव्याभावात् किमुत्तरेण अन्येनेत्याशङ्क्याह । ॥ १ ॥ ध्यात्मिकमेवोद्गीथो-
पासनमनुसृत्याह । अथेति ॥ कोऽसौ व्यानो यद्वच्छ्रोत्रोपासनमनुप-
दिदिन्नितमत आह । वक्ष्यमाणलक्षणमिति ॥ पक्षान्तरं व्यावर्त्तयति ।
प्राणस्यैवेति ॥ वक्ष्यमाणलक्षणमित्युक्तं व्यक्तीकरोति । अधुनेति ॥ तद्वि-
रूपणार्थमादौ प्राणापानौ निरूपयति । यद्वा इत्यादिना ॥ ताभ्यामेव
मुखनासिकाभ्यामित्येतत् स्यातामित्येवं प्राणापानौ ॥ व्यानस्य तु किमा-
यातमिति शङ्कित्वा तन्स्वरूपं दर्शयति । तत इत्यादिना ॥

प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा
वाक् । तस्मादप्राणन्नपानन्वाचमभिव्याहर-
ति ॥ ३ ॥

ततः किमित्युच्यते अथ य उक्तञ्चक्षणयोः प्राणापानयोः
सन्धिसंयोरन्तरावृत्तिविशेषः स व्यानो यः साङ्ख्यादिशा-
स्त्रप्रसिद्धः श्रुत्या विशेषनिरूपणान्नासौ व्यान इत्यभिप्रायः ।
कस्मात्पुनः प्राणापानौ हित्वा महताऽऽयासेन व्यानस्यैवो-
पासनमुच्यते । वीर्यवत्कर्महेतुत्वात् । कथं वीर्यवत्कर्महेतु-
त्वमित्याह । यो व्यानः सा वाक् । व्यानकार्यत्वाद्वाचः ।

यस्माद्व्याननिर्वर्त्तना वाक् तस्मादप्राणन्नपानन् प्राणापा-
नव्यापारावकुर्वन् वाचमभिव्याहरत्युच्चारयति लोकः ।

सन्धिमेव स्फुटयति ॥ तयोरिति प्राणापानयोर्द्व्योरभावावस्थायाम्
मध्ये च वायोर्द्व्योर्व्यतिविशेषो बोद्धव्यः स व्यानश्चार्थ इत्यर्थः । सन्धिः-
स्वात्ममर्म्मादेश इति व्यान इति साङ्ख्यायोगाश्चाहुस्तान् प्रत्याह । यः सा-
ङ्ख्यादिति । साङ्ख्यानां योगानाम् शास्त्रे प्रसिद्धो यो वायोर्द्व्योर्व्यतिविशेषः
स्वात्ममर्म्मादेशो नासौ व्यानः श्रुत्या विशेषनिरूपणादिति योजना ।
व्यानस्य प्राणापानसापेक्षत्वात्तयोरन्यतरस्योपासनमेवोचितं न व्यानो-
पासनमिति मन्वानश्चोदयति ! कस्मादिति ॥ महताऽऽयासेन न व्यान-
सतत्त्वनिरूपणेनेति यावत् ॥ ताभ्यां वैशिष्ट्यमुपेत्य परिहरति । वीर्य-
वदिति ॥ व्यानस्यैवोपासनमिति शेषः । तदेव प्रश्नद्वारा प्रपञ्चयति ।
कथमित्यादिना ॥ कथं व्यानस्य वीर्यवत्कर्म प्रसिद्धं प्रतिज्ञायते कार्य-
कारणाभावादित्याह । व्यानेति ॥

वाचो व्याननिर्वर्त्तने लिङ्गं दर्शयति । यस्मादिति ॥ या वागित्यादि-
वाक्यानामर्थं संक्षिपति । तथेत्यादिना ॥ अतो यानीत्यादि व्याचष्टे ।

या वाक्सर्त्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुचमभिव्याह-
रति यर्त्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम
गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपान-
न्नुद्गायति ॥४॥ अतो यान्यन्यानि वीर्य्यवन्ति
कर्म्माणि यथाग्नेर्मन्यनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष
आयमनमप्राणन्ननपान्स्तानि करोत्येतस्य हेतो-

तथा वाग्विशेषाच्चक्षुःश्रुत्स्थश्च साम सामाव्यवञ्चोद्गीथम-
प्राणन्ननपानन् व्यानेनैव निर्वर्त्तयतीत्यभिप्रायः । न केवलं
वागाद्यभिव्याहरणमेवातोऽस्मादन्यान्यपि यानि वीर्य्यवन्ति
कर्म्माणि प्रयत्नादधिकनिर्वर्त्त्यानि यथाग्नेर्मन्यनमाजेर्म-
र्यादायाः सरणं धावनं दृढस्य धनुष आयमनमाकर्षणम-
प्राणन्ननपानंस्तानि करोति । अतो विशिष्टो व्यानः
प्राणादिप्रवृत्तिभ्यः । विशिष्टस्योपासनं ज्यायः फलवत्त्वाद्वा-
जोपासनवत् ॥

न केवलमिति ॥ व्यानेन निर्वर्त्तयतीति पूर्व्वेण सम्बन्धः । यान्यन्यान्यपि
यथोक्तानि कर्म्माणि ताति लोको व्यानेनैव करोतीत्युत्तरत्वं सम्बन्धः ॥
प्रयत्नादिक्यनिर्वर्त्त्यानि कर्म्माण्येवोदाहरति । यथेति ॥ यथा तानि
कर्म्माणि तथान्यान्यप्येवंप्रकाराणीति योजना ॥ व्यानस्य वीर्य्यवत्कार्य-
हेतुत्वं फलितमाह । अत इति ॥ वैशिष्ट्येऽपि किं स्यादिति चेत्त-
दाह । विशिष्टस्येति ॥

व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥५॥ अथ खलूद्गीथा-
क्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन

एतस्य हेतोरेतस्मात्कारणाद्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत
नान्यद्वृत्तान्तरं कर्म वीर्यवत्तरत्वं फलम् । अथाधुना खलू-
द्गीथाक्षराण्युपासीत भक्त्यक्षराणि मा भूवन्नित्यतो विशि-
नष्टि उद्गीथ इति । उद्गीथनामाक्षराणीत्यर्थो नामाक्षरोपास-
नेऽपि नामवत एवोपासनं कृतं भवेदमुकमिच्छा इति यद्वत् ।
प्राण एवोददित्यस्मिन्नक्षरे प्राणवृष्टिः । कथं प्राणस्योत्प-
त्तित्वाह । प्राणेन ह्युत्तिष्ठति मर्त्ये प्राणस्यामाददृग्ना-
दतोऽख्युदः प्राणस्य च सामान्यम् । वाग्मी । वाचो ह गिर
इत्याचक्षते शिष्टाः ॥

वैशिष्ट्यफलमुपसंहरति । एतस्येति ॥ फलवत्त्वादित्युक्तमुपास्तिफलं
स्पष्टयति । कर्मेति ॥ व्यानदृष्ट्योद्गीथोपासनस्याङ्गाववद्वत्वादिति शेषः ।
उद्गीथोपासनप्रसङ्गेनोद्गीथाक्षरोपासनं प्रस्ताति । अथेति ॥ विशेषण
तात्पर्यं दर्शयति । भक्तीति ॥ उद्गीथाक्षराण्युपासीतेत्युक्ते भक्त्यक्षरा-
ण्युपास्यानि प्राप्तानि तानि मा भूवन्निति यतो मन्यते श्रुतिस्ततो विशे-
षणं करोतीत्यर्थः ॥ विशेषणश्रुतिं व्याकरोति । उद्गीथेति ॥ नामा-
क्षरोपासनमुद्गीथोपासनस्याकिञ्चित्करमित्याशङ्क्याह । नामेति ॥ यथा
लोके कृष्णमिश्रादिवाचकशब्दप्रयोगे वाच्यस्य पुरुषविशेषस्योपासनं गम्यते
तथेहापीत्यर्थः ॥ नामाक्षरोपासने नामवत्तदुपासनेऽपि तदुपासनमेव
कथमित्याशङ्क्य विभजते । प्राण एवेति ॥ प्राणस्योदः सादृश्यं प्रत्यपूर्व-
कमाह । कथमित्यादिना ॥ गिरित्यस्मिन्नक्षरे वाग्दृष्टः कर्त्तव्येत्याह ।
वाग्मीरिति ॥ वाचो गिरश्च सादृश्यं दर्शयति । वाचो हेति ॥

ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षते
 अन्नं धमन्ने हीदं सर्वं स्थितम् ॥ ६ ॥
 द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी यमादित्य एवो-
 द्यायुर्गीरग्निस्थं सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीः

तथान्नं धमन्ने हीदं सर्वं स्थितमतोऽस्त्यन्नस्य धाक्षरस्य च
 सामान्यम् । त्रयाणां अत्युक्तानि सामान्यानि तानि तेनानु-
 रूपेण शेषेष्वपि द्रष्टव्यानि द्यौरेवोदुच्चैः स्थानात् । अन्तरिक्षं
 गीर्गिरणाद् लोकानाम् । पृथिवी यं प्राणिस्थानात् । आदित्य
 एवोदूर्द्धत्वात् । वायुर्गीर्गन्यादीनां गिरणात् । अग्निस्थं
 याज्ञीयकर्मावस्थानात् । सामवेद एवोत्स्वर्गसंस्तुतत्वात् ।
 यजुर्वेदो गीर्यजुषा प्रत्तस्य हविषो देवतानां गिरणात् ।

उद्गीरक्षरयोः प्राणवाग्दृष्टिरिव धमित्यस्त्रिचक्षरेऽद्वयद्विः कार्य-
 त्याह । तथेति ॥ यकाराक्षरयोरेवेक्षितं सादृश्यं दर्शयति । अन्ने हीति ॥
 प्राण एवोदित्यादौ सादृश्यं अत्युक्तं । द्यौरेवोदित्यादौ तु नोक्तम् ।
 तथा च तत्र सादृश्याभावे कथं दृष्टीकरणमित्याशङ्क्याह । त्रयाणामिति ॥
 अन्तरिक्षमाकाशस्तदन्नः प्रतिष्ठा लोकास्तेन गीर्णा इवेति भत्याह ।
 गिरणादिति ॥ अग्न्यादीनां गिरणादिति संवर्गविधायी द्रष्टव्यम् ॥
 सामवेदो वै स्वर्गो लोक इति स्वर्गलोकत्वेन सामवेदस्य संस्तुतत्वादिति
 हेतुमाह । स्वर्गेति ॥ यजुषा स्वाहास्वधादिनेति यावत् । आध्यात्म-
 मधिलोकमधिदैवमधिदेवद्वयं नामाक्षरोपासनसंज्ञा तत्फलोक्तिमवतार्य
 व्याकरोति ॥ उद्गीथेति ॥

ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहः
अन्नचानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गी-
यात्तराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

ऋग्वेदस्थस्य स्फुटत्वात्मानः । उद्गीयात्तरोपासनफल
मधुनाच्यते दुग्धे दोग्ध्यस्मै साधकाय । का सा वाक् कां दोहं
कोऽसौ दोह इत्याह । यो वाचो दोहः । ऋग्वेदादिशब्द-
साध्यं फलमित्यभिप्रायस्तद्वाचो दोहस्तं स्वयमेव वाग्दोग्धि
आत्मानमेव दोग्धि किञ्चान्नवान् प्रभूतान्नोऽन्नादश्च दीप्ता-
ग्निर्भवति य एतानि यथोक्तानि एवं यथोक्तगुणान्युद्गीयात्त-
राणि विद्वान् सन्नुपास्ते उद्गीथ इति ॥

यो वाचो दोह इत्यत्र षष्ठी कर्मणि दृष्टव्या । तमेव वाग्दोहं प्रक-
टयति । ऋग्वेदादीति ॥ तत्साध्यं फलं साधोनोच्चारणक्षमत्वं तदनाया-
सेनास्य सम्भवतीत्यर्थः । तदिति प्रकृतफलपरामर्शः । षष्ठी पूर्ववत् ।
तस्मिन्नि दोहोक्तिः । वाच एव दोहे कर्मत्वं कर्तृत्वञ्चेत्याह । आत्मान-
मेवेति ॥ यो दोग्धा सा वागेव सा चात्मानमेव तं दोग्धीति योजना ।
यथोक्तानि प्राणवाग्वादिरूपत्वे नोक्तानीति यावत् । यथोक्तगुणान्यु-
त्थानगिरणस्थित्यादिधर्मजाणीत्यर्थः । उद्गीयात्तराणीत्युक्तं विशेष-
णानुवादेन स्फुटयति । उद्गीथ इतीति ॥ उद्गीथ इत्येवं रूपस्य
नान्नोऽच्चारणीति यावत् । वागादिसृष्टिफलकनुपासनमुपदिश्य
फलसृष्टिद्वयेन प्रकारेण भवति तत्प्रकारं ज्ञानं सर्वकास्थोपासनशेषभूतं
प्रासङ्गिकं विधीयत इत्याह । अथ खल्विति । वागादिसृष्टिफलको-
पासनानन्तर्यमथशब्दार्थः । वक्ष्यमाणोपासनानां सर्वकास्थोपासनाशे-
षत्वदीतनर्थं खल्वित्युक्तम् ॥

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरूपसरणानीत्युपासीत
 येन साम्ना स्तोष्यन् स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥८॥
 यस्यामृचि तामृचं यदार्घ्यं तमृचिं यां देवता-
 मभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥९॥ येन
 छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन
 स्तोष्यमाणः स्यात् तं स्तोममुपधावेत् ॥१०॥

अथ खलु इदानीमाशीःसमृद्धिराशिषः कामस्य समृद्धि-
 र्यथा भवेत्तदुच्यत इति वाक्यशेषः । उपसरणान्युपसर्त्तं
 व्यान्युपगन्तव्यानि धेयानीत्यर्थः । कथमित्युपासीत एवमु-
 पासीत तद्यथा येन साम्ना विशेषेण स्तोष्यन् स्तुतिं करि-
 ष्यन् स्याद्भवेदुद्गाता तत्सामोपधावेदुपसर्त्तरेचिन्त्येदुत्प-
 त्तादिभिः । यस्यामृचि तत्साम तामृचं उपधावेद्देवता-
 दिभिः । यदार्घ्यं साम तद्वर्धिम् । यां देवतामभिष्टोष्यन्
 स्यात्तां देवतामुपधावेत् । येन छन्दसा गायत्र्या वा स्तो-
 ष्यन् स्यात्तच्छन्द उपधावेत् । येन स्तोष्यमाणः स्यात् स्तोमेन ।

प्रासङ्गिकत्वं दर्शयति । इदानीमिति॥ कामशब्दः फलविषयः । तच्छब्दः
 प्रकारज्ञानपरांश उच्यते विधीयते इत्यर्थः॥ ध्यानप्रकारं प्रत्यपूर्वकं
 विशदयति । कथमित्यादिना ॥ इतिशब्दार्थमभिनयति । एवमिति
 एवं शब्दार्थमुदाहरणनिष्ठतया स्पष्टयति । तद्यथेति । उत्पत्त्यादि-
 भिरित्यादिशब्देन छन्दोदेवतादिगृह्यते देवतादिभिरित्यादिपदेनार्घ्य-
 यादिग्रहः । गायत्र्यादिनेत्यादिपदसुष्णिगतुल्यं हृत्यादिसंयमार्थं
 विष्टतञ्जदश सप्तदश एकविंश इति प्रसिद्धः सोमयागे स्तोमः ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तांदिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥
 आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्न-
 प्रमत्तोऽभ्यासो ह यदस्मै स कामः समृद्धोत
 यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥
 ३ ॥ तृतीयस्य तृतीयः खण्डः ॥

सोमाङ्गफलस्य कर्तृगामित्वादात्मनेपदं स्तोष्यमाण
 इति । तं स्तोममुपधावेत् । यां दिशं स्तोष्यमाणः स्यात्तां
 दिशमुपधावेदधिष्ठातादिभिः । आत्मानमुद्गाता स्व-
 रूपं गोतनामादिभिः सामादीन् क्रमेण स्वच्चात्मानम-
 न्ततोऽन्ते उपसृत्य स्तुवीत । कामं ध्यायन्नप्रमत्तः
 खरोण्यञ्जनादिभ्यः प्रमादमकुर्वन्स्ततोऽभ्यासः क्षिप्रमेव
 ह यद्यत्वास्मा एवंविदे स कामः समृद्धोत समृद्धिं

आत्मनेपदप्रयोगप्रतिपन्नमर्थमाह । सोमाङ्गेति ॥ यत्र कर्तृ-
 गमि फलं तत्वात्मनेपदं प्रयुज्यते प्रकृते च स्तोष्यमाण इत्यात्मनेपदं
 दृश्यते । तस्मादेतत्फलस्य कर्तृगामित्वं गम्यते अन्यथा पूर्वोत्तर-
 योरिव परस्मैपदप्रयोगप्रसङ्गादित्यर्थः । यां दिशमभीत्याभिव्याष्येत्यर्थः ।
 स्तोष्यन्देवताविशेषमिति शेषः । अधिष्ठातृशब्देनेन्द्रादयो गृह्यन्ते ।
 आदिपदं तत्तद्दिगवस्थितासाधारणधर्मसंग्रहार्थम् । आत्मानं स्वरूपं
 गोवादिभिरुपसृत्योद्गाता स्तुवीतेति सम्बन्धः । नामादिभिरित्यादि-
 शब्देन वर्णान्त्रमादिग्रहणम् । अन्तत इत्यस्यार्थमाह । सामादीनिति ।
 पूर्वोक्तान् सामादीन् सर्वास्तुक्तेन क्रमेण धात्वा तदवसाने स्वात्मानमपि
 सञ्चिन्त्यापेक्षितफलमनुसन्दधानः खरादिभ्यः प्रमादमकुर्वन्नुद्गाता स्तुवी-
 तेति योजना । यत्र कर्म्मण्ययमुद्गाता यथोक्तरीत्या स्तोता भवति तत्र

ॐमित्येतदक्षरमुपासीतोमिति ह्युद्गायति त-
स्योपव्याख्यानम् ॥१॥ देवा वै ऋत्योर्विभ्यतस्तयीं
विद्यां प्राविशन्स्ते

गच्छेत्कोऽसौ यत्कामः सन् स्तुवीतेति द्विरुक्तिराद-
रार्था ॥ ३ ॥

ॐमित्येतदित्यादिप्रकृतस्याक्षरस्य पुनरुपादानम् ।
उद्गीथाक्षराद्युपासनान्तरितत्वादित्यत्र प्रसङ्गो माभूदित्येव-
मर्थं प्रकृतस्यैवाक्षरस्याऋताभयगुणविशिष्टस्योपासनं विधा-
तव्यमित्यारम्भः । ॐमित्यादि व्याख्यातम् । देवा वै
ऋत्योर्भारकाद्विभ्यतः किं कृतवन्त इत्युच्यते । तयीं विद्यां
तयीविहितं कर्म प्राविशन् प्रविष्टवन्तो वैदिकं कर्म
प्रारब्धवन्त इत्यर्थः । तन्मृत्योस्त्राणं मन्यमानाः ॥

क्षिप्रमेवास्मै स सकामः समृद्धिं गच्छेत् यत्कामः सन् यः स्तुवीतेत्यन्वयः ।
इतिशब्दः प्रासङ्गिकोपासनसमाख्यार्थः ॥ ३ ॥

प्रासङ्गिकं हित्वा प्रकृतमनुसन्वत्ते । ॐमित्येतदित्यादीति ॥ पुन-
रुपादानस्य तात्पर्यमाह । उद्गीथेति ॥ आदिशब्देन पूर्वोक्तान्यु-
पासनानि गृह्यन्ते । उद्गीथस्य तैर्व्यवहितत्वात्प्रकरणविच्छेदशङ्कायाम् ।
ततोऽन्यस्मिन्नर्थे प्रसङ्गः स्यात् स माभूदित्येवमर्थं पुनरुपादानमित्यर्थः ।
देवा वै ऋत्योरित्यादेस्तात्पर्यमाह । प्रकृतस्येति ॥ अक्षरव्याख्यान-
प्राप्तावनुवादभागं प्रत्याह ॥ ॐमित्यादीति ॥ देवासुरा ह वै यत्ने-
त्यत्र व्याख्याता देवाः भारकादासुरात्प्राभनः सकाशादिति यावत् ॥
कोऽयं कर्मणि प्रवेशो नाम तत्वाह । वैदिकमिति ॥ तदिति वैदिकं
कर्मोच्यते ते ऋन्दोभिरित्यादि व्याचष्टे । किञ्चेति ॥

छन्दोभिरच्छादयन्त्यदेभिरच्छादयन्स्तच्छन्द-
सां छन्दस्त्वम् ॥२॥ तानु तत्र मृत्यु र्यथा मत्स्य-
मुदके परिपश्येदेवं पर्य्यपश्यद्दृचि सान्नि यजुषि ।

किञ्च ते कर्मण्यविनियुक्तैः छन्दोभिर्मन्त्रैर्जपहोमादि
कुर्वन्त आत्मानं कर्मान्तरेष्वच्छादयन् छादितवन्तः ।
यद्यस्मादेभिर्मन्त्रैराच्छादयन्तस्तस्माच्छन्दसां मन्त्राणां
छान्दनाच्छन्दस्त्वं प्रसिद्धमेव । तांस्तत्र देवान् कर्मपरान्मृत्यु-
र्यथा लोके मत्स्यघातको मत्स्यमुदके नातिगम्भीरे परि-
पश्येद्दृचिशोदकस्त्रावोपायसाध्यं मन्यमान एवं पर्य्यपश्यद्दृष्ट-
वान् मृत्युः । कर्मक्षयोपायसाध्यान् देवान् मेने इत्यर्थः ।
कासौ देवान्ददर्शेत्युच्यते । दृचि सान्नि यजुषि । ऋग्यजुः-
सामसम्बन्धिकर्मणीत्यर्थः ॥

नहि सर्वे मन्त्राः सर्वत्र विनियुज्यन्ते । तथा चैकस्मिन् कर्मणि
अनुष्ठीयमाने विनियुक्तान् मन्त्रान् हित्वा कर्मान्तरेष्ववशिष्टैर्जपादि
कुर्वन्तः स्वात्मानं देवाश्चादितवन्तः । तस्मान्न मृत्युवश्यता तेषामित्यर्थः ॥
तेषां छन्दोभिश्चादितत्वे छन्दसा छन्दस्त्वप्रकारमभिनयति । तस्मा-
दिति ॥ कर्मानुतिष्ठतां देवानां मृत्युवश्यता न व्यावृत्तेत्याह । तानिति ॥
तत्रेति वैदिककर्मप्रारम्भोक्तिः । उ शब्दोऽप्यर्थः । यथोक्तकर्मपरानपि
तान्मृत्युः पर्य्यपश्यदिति सम्बन्धः ॥ कर्मणां मृत्युपदगोचरत्वं दृष्टान्ते-
नाह । यथेति ॥ दार्ष्टान्तिकभगव्य विवक्षितमर्थं गृह्णाति । मृत्यु-
रिति ॥ दार्ष्टान्तिके जुद्रोदकस्थानीयं किं स्यादिति प्रश्नपूर्वकं दर्शयति ।
कासावित्यादिना ॥ ऋगादीनां नित्यत्वे न क्षयाभावाच्च जुद्रोदकस्थानी-
यतेत्यशङ्क्य विवक्षितमर्थमाह । ऋगिति ॥ कर्मणश्च कृतकत्वेन फलतः
स्वरूपतश्च क्षयिता प्रसिद्धेति भावः ॥ मृत्युपरिहारोपायमुपदिशति ॥

ते नु वित्त्वोर्द्धा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव
 प्राविशन् ॥३॥ यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्वे वा-
 तिस्वरत्येव० सामैवं यजुरेष उ स्वरौ यदेत-
 दक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता
 अभया अभवन् ॥ ४ ॥

ते नु देवा वैदिकेन कर्मणा संस्कृता शुद्धाग्निः
 सन्तो ऋत्योश्चिकीर्षितं विदितवन्तः । विदित्वा च तदूर्द्धा
 व्यावृत्ताः कर्मभ्यः ऋचः साम्नो यजुषः ऋजुगुःसामसंस्कृ-
 त्कर्मणः अभ्युत्थायेत्यर्थः । तेन कर्मणा ऋत्युभयापगमं प्रति
 निराशास्तदपास्याहताभयगुणमक्षरं स्वरशब्दितं प्रावि-
 शन्नेव प्रविष्टवन्तः । ॐकारोपासनपराः संवृत्ताः । एव-
 शब्दोऽवधारणार्थः सन् समुच्चयप्रतिषेधार्थः । तदुपासन-
 पराः संवृत्ता इत्यर्थः । कथं पुनः स्वरशब्दवाच्यत्वमक्षरस्ये-
 त्युच्यते । यदा वै ऋचमाप्नोत्योमित्वे वातिस्वरत्येवं सामैवं

ते नु देवा इत्यादिना कर्मभ्यः सकाशादूर्द्धा व्यावृत्ता इत्यर्थः ।
 सर्वकर्मसङ्ग्रहार्थं कर्मभ्यः इति बहुवचनम् । अवैदिककर्मत्यागस्य
 कर्मिष्वपि सिद्धत्वाद्वैदिककर्मत्यागार्थं विशिनष्टि । ऋच इति ॥ कर्मत्याग-
 मात्वातृकतकृत्यताशङ्कां वारयति । तेनेति ॥ किन्तदक्षरं तदाह ।
 ओङ्कारेति ॥ उदात्तादिरूपत्वभावादक्षरस्य न स्वरशब्दत्वमित्याशङ्क्य
 परिहरति । कथमित्यादिना ॥ ऋचमाप्नोत्यध्ययनेन स्वाधीनं करोती-
 त्यर्थः । अतिस्वरत्यतिशयेनादरधियोच्चारयतीति यावत् ॥ ऋग्यजुःसाम्नां

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरं
स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता
देवास्तदमृतो भवति ॥ ५ ॥ तृतीयस्य चतुर्थः
खण्डः । ६ ॥

यजुः । एष एव उ स्वरः । कोऽसौ यदेतदक्षरमेतदमृतम-
भयं तत्प्रविश्य यथागुणमेवामृता अभयाश्चाभवन्देवाः ।

स योऽन्योऽपि देवदेवैतदक्षरमेवममृताभयगुणं विद्वान्
प्रणौति स्तोति उपामन्मेव चान् स्तुतिरभिप्रेता स तदै-
वैतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति तत् प्रविश्य च राज-
कुलं प्रविष्टानामिव राज्ञोऽन्तरङ्गवहिरङ्गतावन्न परस्य
ब्रह्मणोऽन्तरङ्गवहिरङ्गताविशेषः । किन्तु हि यदमृता देवा
येनामृतत्वेन यदमृता अभूवन् तेनैवामृतत्वेन विशिष्टस्तद-
मृतो भवति न न्यूनता नाप्यधिकता अमृतत्व इत्यर्थः ।

प्रत्येकमोङ्कारोच्चारणद्वारेणैवाभिदर्शनादित्यतिशयार्थः । उ शब्दोऽ-
पि पर्यायः । सम्प्रतिपक्षस्वरवदिति दृष्टान्तार्थः ॥

अमृतमभयं तथाविधब्रह्मप्रतीकत्वादित्यर्थः । तत् प्रविश्य ब्रह्मबुद्ध्या
तत्त्वज्ञानं कृत्वेत्यर्थः ॥ भवतु देवानामेवममृताकान्तु किमायातमित्याशङ्क्याह ।
स योऽन्योऽपीति ॥ राजमृदं प्रविष्टस्य विशेषदर्शनादक्षरं प्रविष्टस्यापि
फले विशेषः स्यादित्यशङ्क्याह । तत् प्रविश्येति ॥ अमृतत्वेन विशिष्टा
इति शेषः ॥ ४ ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स
उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव
ॐमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥

प्राणादित्यदृष्टिविशिष्टस्योद्गीथस्योपासनमुक्तमेवानूद्य
प्रणवोद्गीथयोरेकत्वं कृत्वा तस्मिन् प्राणरश्मिभेदगुणवि-
शिष्टदृष्ट्याऽक्षरस्योपासनमनेकपुत्रफलमिदानीं वक्तव्यमि-
त्यारभ्यते । अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो बह्वृचानाम् । यश्च
प्रणवस्तेषां स एव छान्दोग्य उद्गीथशब्दवाच्योऽसौ वादित्य
उद्गीथ एष प्रणवः प्रणवशब्दवाच्योऽपि स एव बह्वृचानां
नान्य उद्गीथ आदित्यः कथं उद्गीथाख्यमक्षरमोमित्ये तदेष्ट
हि यस्मात् स्वरन्नुच्चारयन्नेकार्थत्वाद्वाहनाम् । अथवा
स्वरन् गच्छन्नेति अतोऽसावुद्गीथः सविता ॥

खण्डनरस्य तात्पर्यमाह । प्राणादित्येति ॥ प्रणवस्योद्गीथस्यैकत्वं
कृत्वा तस्मिन् सत्यध्यात्मं प्राणदृष्ट्याधिदैवतमादित्यदृष्ट्या च विशिष्टस्यो-
द्गीथस्य यदुपासनमुक्तं तदेवानूद्य निन्दित्वा प्राणानां रश्मीनां च भेद
एव गुणस्तद्विशिष्टदृष्ट्या तस्यैवोद्गीथावयवस्याक्षरस्यानेकपुत्रफलमुपासन-
मनेन यन्मेन वक्तव्यमित्युत्तरो यन्मः सम्प्रति प्रस्तूयत इत्यर्थः । अमृता-
मयगुणकाक्षरोपासनानन्तर्यमथशब्दार्थः । प्रणवोद्गीथयोरेकत्वे वैदिक-
प्रसिद्धिप्रदर्शनार्थं खल्वित्युक्तम् । तयोरेकत्वमुक्त्वा आदित्यदृष्ट्योद्गीथोपा-
स्तिमुक्तमनुवदति । अस्माविति ॥ उद्गुगीथादित्ययोरेकत्वं प्रअपूर्वक-
मुपपादयति । उद्गुगीथ इत्यादिना ॥ उच्च रयन्नेतीति सम्बन्धः ॥ स्वर-
तेर्गत्यर्थत्वात्कथमुच्चरयन्नित्युच्यते तत्राह । अनेकार्थत्वादिति ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमे-
कोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मोऽस्त्वं
पर्यावर्त्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम्॥२॥
अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपा-
सीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

तमेतमु एवाहमभ्यगासिषमाभिमुख्येन गीतवानस्या-
दित्यरश्मभेदं कृत्वा ध्यानं कृतवानस्मीत्यर्थेन तस्मात्
कारणान्मम त्वमेकोऽसि पुत्र इति ह कौषीतकिः कौषीतक-
स्यापत्यं कौषीतकिः पुत्रमुवाचोक्तवान् । अतो रश्मीनादि-
त्यस्य भेदेन त्वं पर्यावर्त्तयात्पर्यावर्त्तयेत्यर्थः । त्वं योगा-
देवं बहवो वै ते तव पुत्रा भविष्यन्तीत्यधिदैवम् । अथानन्त-
रमध्यात्ममुच्यते । य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीते-
त्यादि । तथा पूर्ववदोमिति ह्येष प्राणोऽपि स्वरन्नेत्यो-
मिति ह्यनुज्ञां कुर्वन्निव वागादिप्रवृत्तार्थमेतीत्यर्थः ।

गच्छन् सविता प्राणिनां प्रवृत्त्यर्थमोमित्यनुज्ञां कुर्वन्निव गच्छति
तस्मादेङ्कारत्वं सवितरित्याह । अथवेत्यादिना ॥ आदित्यदृष्टोद्गी-
थमुपदिष्टमनूद्य निन्दति । तमेतमिति ॥ निन्दाफलं दर्शयति । अत
इति ॥ पर्यावर्त्तयादिति प्रथमपुरुषे श्रूयमाणे किमिति मध्यमपुरुषो
व्याख्यायते तत्राह । त्वं योगादिति ॥ युष्मद्युपपदे मध्यमपुरुषविधा-
नादित्यर्थः ॥ रश्मिभेदगुणदृष्टिविशिष्टोद्गीथोपासनस्य फलं कथयति ।
एवमिति ॥ वक्ष्यमाणेऽध्यात्मबुद्धिसमाधानार्थं मुक्तम् ॥ देवताविषयं
दर्शनमुपसंहरति । इत्यधिदैवतमिति ॥ अध्यात्मप्राणदृष्टोद्गीथोपा-
स्तिमुक्तमनुवदति । अथेत्यादिना । कथं प्राणोद्गीथयोरेकत्वमित्या-
शङ्गाह । तथेति ॥ यथा प्राणिनां प्रवृत्त्यर्थमोमित्यनुज्ञां कुर्वन्निवादित्यो
गच्छतीत्युक्तं तद्वदिति यावत् ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेको
ऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणं भूमा-
नमभिगायताह्वो मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

न हि मरणकाले सुमूर्धोः समीपस्थाः प्राणस्योद्धरणं
शृण्वन्तीति । एतस्मान्मात्यादादित्येऽथोद्धरणमनुज्ञाभावं
द्रष्टव्यम् । एवमु एवाहमभ्यगासिषमित्यादि पूर्ववदेव ।
अतो वागादीन् मुख्यं प्राणं भेदगुणविशिष्टमुद्गीथं पश्यन्
भूमानं मनसाऽभिगायतात् । पूर्ववदवर्त्तयेत्यर्थः । बहवो
वै मे मम पुत्रा भविष्यन्तीत्येवमभिप्रायः सन्वित्यर्थः ।
प्राणादित्येकत्वोद्गीथदृष्टेरेकपुत्रत्वफलदोषेणापोदितत्वाद-
ग्निप्राणभेददृष्टेः कर्त्तव्यता चोद्यते ऽस्मिन् काण्डे बद्ध-
पुत्रत्वार्थम् ॥

उक्तमेव व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति । न हीति ॥ सुमूर्धमसोप-
त्तिनो बन्धवो मरणकाले प्राणस्य वागादिप्रवृत्त्यर्थमनुज्ञाकरणं नैव जा-
नन्ति । तथा च जीवदवस्थायासोमिति तदनुज्ञावशादेव वागादीनां
प्रवृत्तिरालक्ष्यते ॥ तस्मात्प्राणस्यानुज्ञाभावमोद्धरणमित्यर्थः । प्राणादि-
त्ययोरध्यात्माधिदैवतयोरुद्गीथत्वाविशेषात्प्राणवदादित्येऽप्यनुज्ञाभावमो-
द्धरणमवधेयमित्याह । एतस्मान्मात्यादिति ॥ प्राणोऽथोक्तामुद्गीथो-
पास्तिं निन्दित्वा विवक्षितामुपास्तिमुपन्यस्यते । एतमु एवेति ॥ भूमानं
बहुत्वोपेतमिति यावत् । मध्यमपुरुषे तातआदेशस्य वैकल्पिकत्वेऽपि
प्रथमपुरुषशङ्काया दुरन्तं व्यावर्त्तयति । पूर्ववदिति ॥ एकत्वदृष्टिनि-
न्दाद्वारा प्रधानोपासनं सफलमुपसंहरति । प्राणेत्यादिना ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स
उद्गीथ इति होत्वपदनाङ्गैवापि दुरुद्गीथमनु-
समाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥ तृतीयस्य
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अथ खलु य उद्गीथ इत्यादिप्रणवोद्गीथैकत्वदर्शनमुक्तं
तस्यैतत्फलमुच्यते । होत्वपदनाङ्गो यत्स्थः शंसति तत्
स्थानं होत्वपदनं होत्वात्कर्मणः सम्यक् प्रयुक्तादित्यर्थः ।
न हि देशमात्रात्फलमाहर्तुं शक्यं किन्तु एवापि दुरु-
द्गीतं दुष्टमुद्गीतमुद्गीतं कृतं उद्गीत्वा स्वकर्मणि क्षतं कृतमि-
त्यर्थस्तदनुसमाहरत्यनुसन्धत्त इत्यर्थः । चिकित्सयेव धातु-
वैषम्यशमीकरणमिति ॥ ५ ॥

पूर्वात्तरयोरन्ययोरसङ्गतिमाशङ्क्य तात्पर्यप्रदर्शनपूर्वकमुत्तर-
ग्रन्थमवतार्य व्याकरोति । अथेत्यादिना ॥ ननु यथोक्तं स्थानं हो-
त्वपदनं किं नेष्यते तत्राह । न होति ॥ होत्वात्कर्मणो यत्फलमाद्दि-
यते तत्राप्यपूर्वकमविशेषतो दर्शयति । किन्तदित्यादिना ॥ निपातद्वय-
मवधारणातिशयफलकं क्रियापदेन सम्बध्यते । अपि शब्दस्तु निष्ठ न-
न्तरभावितया नेतव्यः ॥ दुष्टमुद्गीतमेव स्पष्टयति । उद्गीत्वाति ॥
कथमन्यनिष्ठात्कर्मणोऽप्यत्र फलमाहर्तुं शक्यमित्याशङ्क्याह । चिकित्स-
येति । उद्गीत्वा प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यात्प्रसादिकं स्वक-
र्मणि प्राप्तं क्षतं होत्वात् कर्मणः सम्यक् प्रयुक्तात्प्रणवात्प्रतिसन्धा-
तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यधूट् साम
तस्मादृच्यधूट् साम गीयते इयमेव साऽग्निरमस्त-

अथेदानीं सर्वफलसम्पत्तार्थमुद्गीयस्योपासनान्तरं विधि-
त्यते । इयमेव पृथिवीवृष्टिः । ऋचि पृथिवीवृष्टिः कार्या ।
तथाग्निः साम । साम्नाग्निवृष्टिः । कथं पृथिव्यग्नोर्ऋक्सामत्व-
मिति । उच्यते । तदेतदग्न्याख्यं सामैतस्यां पृथिव्याऽप्य-
धूटमधिगतमुपरिभावेन स्थितमित्यर्थः । ऋचीव साम ।
तस्मादत एव कारणादृच्यधूटमेव साम गीयते इदानी-
मपि सामगैः । यथा च ऋक्सामनी नात्यन्तभिन्नेऽन्योन्यं
तथैतौ पृथिव्यग्नी ।

इयमेवेत्यदिसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह । अथेति ॥ पुत्रादौ ऋक्-
देशविषयोपासनोपदेशानन्तरमवसरे प्रोक्ते ज्योतिषोमादविधिरास्य सम-
यैश्वर्यप्राप्त्यर्थमधिदैवाध्यत्मविभागेनोद्गीयविषयमेव पूर्वमुपासनमस्मिन्
अन्ये विधातुमिष्टमित्यर्थः ॥ तत्र तदङ्गभूतमुपासनमादौ विदधाति ।
इयमेवेति ॥ पृथिव्याऽग्नौ वृष्टिरत्र नेष्टा कस्माङ्गस्य संस्तुतव्यत्वादित्यभि-
प्रेत्याह । ऋचीति ॥ ऋचि यथा पृथिवीवृष्टिरनन्तरवाक्ये विहिता
तथाग्निः सामेत्यत्राग्निवृष्टिः साम्ना विधीयते पूर्ववदित्याह । तथेति ॥
ऋक्त्वं पृथिव्याः सामत्वज्ञानेन प्रसिद्धमिति शङ्कते । कथमिति ॥ ऋक्-
सामत्वसिद्धिरित्युत्तरमाह । उच्यत इति ॥ तयोराधाराधेयभावे गमकं
दर्शयति । तस्मादिति ॥ ऋचि पृथिवीवृष्टिः साम्ना चाग्निवृष्टिरित्यत्र
हेतुनन्तरमाह । यथा चेति ॥

त्साम । १ । अन्तरिक्षमेवर्ग्वीयुः साम तदेतदे-
 तस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीय-
 तेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम । २ । द्यौरे
 वर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम
 तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते द्यौरेव साऽऽदित्योऽ-
 मस्तत्साम । ३ । नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदे-
 तस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम
 गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥४॥
 अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्ग्य यन्नीलं

कथमियमेव पृथिवी सा सामनामार्द्धशब्दवाच्या इत-
 रार्द्धशब्दवाच्योऽग्निरमस्तदेतत्पृथिव्यग्निद्वयं सामैकशब्दा-
 भिधेयत्वमापन्नं साम । तस्मान्नान्योन्यं भिन्नं पृथिव्यग्नि-
 द्वयं नित्यसंक्षिप्तञ्ज्ञामनी इव । तस्माच्च पृथिव्यग्न्योः
 ऋक्ज्ञामत्वमित्यर्थः । सामाक्षरयोः पृथिव्यग्निद्विविधा-

पृथिव्यग्न्योरत्यन्तभेदाभावं प्रअपूर्वकं प्रकटयति । कथमित्यादिना ॥
 कर्माङ्गयोः सह प्रयोगादृक्सामयोरन्योन्यमव्यभिचाराच्चात्यन्तभेदस्तथा
 पृथिव्यग्न्योरप्येकशब्दवाच्यत्वाच्चात्यन्तं सिद्धतेत्यर्थः ॥ तयोरत्यन्तभेदाभावे
 फलितमाह । तस्माच्चेति ॥ पृथिवी साशब्दवाच्या स्वीत्वादग्निरमः
 पुंस्त्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ पञ्चान्तरसुत्याप्याङ्गीकरोति । सामाक्षरयोरिति ॥
 कथं पुनर्नक्षत्रपर्याये तदेतदेतस्यामित्यादि वाक्यम् । न हि नक्षत्रेषु चन्द्र-
 मसः स्थितिरत आह । नक्षत्राणामिति ॥ नक्षत्राधिपत्यात्तदुपरिभावेन

परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम
तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । ५ । अथ यदेवै-
तदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं
तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः

नार्यमियमेव साग्निरम इति केचित् । अन्तरिक्षमेवर्वायुः
सामेत्यादि पूर्ववत् । नक्षत्राणामधिपतिश्चन्द्रमाः । अतः
स साम । अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः शुक्ला दीप्तिः
सैवर्क् । अथ यदादित्ये नीलं परः कृष्णं परोऽतिशयेन
काष्णं तत्साम । तद्भेदकान्तसमाहितदृष्टे दृश्यते । अत-
एवेते भाःशुक्लकृष्णत्वे सा चामश्च साम । अथ य एषो
ऽन्तरादित्ये आदित्यस्यान्तर्मध्ये हिरण्यमयो हिरण्यमय
इव हिरण्यमयो नहि सुवर्णविकारत्वं देवस्य सम्भ-

चन्द्रमसः स्थितेरित्यतः शब्दार्थः ॥ नक्षत्रसहितं चन्द्रमसं परावृष्टं स शब्दः ।
अङ्गोपासनानि कानिचिदुक्ता तादृगेवोपासनान्तरमाह । अथेति आ-
दित्यस्य मण्डलात्मनो यद्रूपं शुक्लं दृश्यते ऋचि तद्वृष्टिः कर्त्तव्येत्यर्थः ॥

तदेव रूपं विशिनष्टि । भा इति ॥ तामेव व्याचष्टे । शुक्ला दीप्ति-
रिति ॥ ऋचि यथा पूर्वोक्तरूपदृष्टिस्तथा साग्नि वक्ष्यमाण-
रूपदृष्टिरनुष्ठेयेत्याह । अथेति ॥ नन्वादित्ये शैक्लवदतिशयं काष्णं
नास्माभिरनुभूयते तत्वाह । तद्गीति ॥ एकान्तेन समाहिता शास्त्रसंस्कृता
यस्य दृष्टिस्तस्यादित्ये निरतिशयं काष्णं दृश्यते तथा च तद्वृष्टिः साग्नि
स्तिष्टेत्यर्थः ॥ अथ यदेवैतदित्यादेस्तात्पर्यमाह । अत एवेति ॥ अङ्गोपा-
सनानि समाध्यानान्तरमाधिदैविकी प्रधानोपासनं विवक्षुरपास्यस्वरूपमु-
पन्यस्यति । अथेत्यादिना ॥ किमिति हिरण्यमयपदमुपमार्थं व्याख्या-
यते ॥ हिरण्यविकारत्वमेवात्र विवक्षितं किं न स्यादित्याशङ्क्याह ।

पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्र-
णखात्सर्व एव सुवर्णः । ६ । तस्य यथा कथासं
पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष

वति ऋक्षामगेष्णत्वापहतपाप्मत्वासम्भवात् । नहि सौवर्णे
ऽचेतने पाप्मादिप्राप्तिरस्ति येन प्रतिविध्येत चाक्षुषे चा-
ग्रहणात् । अतो लुप्तोपम एव हिरण्यमयशब्दो ज्योतिर्मय
इत्यर्थः ॥ ८ ॥

उत्तरेष्वपि समाना योजना । पुरुषः पुरि शयनात्पू-
रयति वा स्वेनात्मना जगदिति दृश्यते निवृत्तचक्षुर्भिः समा-
हितचेतोभिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनापेक्षैस्तेजस्विनोऽपि श्मश्रुके
शादयः कृष्णाः स्युरित्यतो विशिनष्टि । हिरण्यश्मश्रुर्हि-
रण्यकेश इति ॥ ज्योतिर्मयान्येवास्य श्मश्रूणि केशाश्चेत्यर्थः ।

न हीति ॥ अपहतपाप्मत्वासम्भवं साधयति । न हीत्यादिना ॥ पाप्मा-
दीत्यादिपदं तत्कार्यत्वसङ्ग्रहार्थम् । किञ्च चाक्षुष्यास्ये पुरुषे सुवर्ण-
विकारस्याग्रहणाद्गौणमेव हिरण्यमयपदमित्याह । चाक्षुषे चेति ॥ न च
तत्वाध्यातिदेशिकं तदुग्रहम् ऋक्षामगेष्णत्वादिना तादृशेन विरोधात्
तस्माद्गौणमेव हिरण्यमयपदमित्युपसंहरति । अत इति ॥

हिरण्यश्मश्रुरित्यादिविशेषणेष्वपि तुल्यं गौणत्वमित्याह । उत्त-
रेष्वपीति ॥ गत्वादित्यादिसङ्ख्ये पुरुषो नास्माभिर्दृश्यते तत्वाह । निवृत्त-
चक्षुर्भिरिति ॥ विशिष्टाधिकारिणामादित्वपुरुषदर्शनमुपपादयति ।
ब्रह्मचर्यादीति ॥ सर्व एव सुवर्ण इति विशेषणादक्षोरपि सुवर्णत्वप्राप्ते
प्रत्याह । तस्येति ॥ विशेषमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति । कथमित्यादिना ॥

सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः
पाप्मभ्यो य एवं वेद । ७ ।

आप्रणखात् प्रणखोनखायं नखाग्रेण सह सर्वः सुवर्ण इव
भारूप इत्यर्थः । तस्यैवं सर्वतः सुवर्णवर्णस्याप्यक्ष्णोर्विशेषः
कथं तस्य यथा कपेर्मर्कटस्याः कप्यासः । आसेरुपवेश-
नार्थस्य करणे घञ् कपिष्टान्तो येनोपविशति । कप्या-
स इव पुण्डरीकमत्यन्ततेजस्वेवमस्य देवस्याक्षिणी ॥

उपमितोपमत्वान्नहीनोपमा तस्यैवंगुणविशिष्टस्य गौण-
मिदं नामोदिति । कथं गौणत्वम् । स एष देवः सर्वेभ्यः
पाप्मभ्यः पाप्मना सह तत्कार्येभ्य इत्यर्थः । य आत्मापहत-
पाप्मेत्यादि वक्ष्यति । उदित उत् इत उद्गत इत्यर्थोऽतोऽ

यथा कप्यासवद्भवस्थितं पुण्डरीकं तथा तस्याक्षिणी इति योजना । आस-
शब्दनिष्पत्तिप्रकारं सूचयति । आसेरिति ॥ घञन्तस्य शब्दस्य विवक्षित-
मर्थं कथयति । कपीति ॥ तस्य करणत्वं स्फुटयति । येनेति ॥ कपिः स
कपिष्टान्तः कप्यास इति शेषः ॥ पदार्थसङ्का वाक्यार्थमाह । कप्यास
इवेति ॥

निहीनोपमया देवस्य चक्षुषो व्यपदिशता तयोरपि निहीनत्वं व्य-
दिष्टं स्यादित्याशङ्क्याह । उपमितेति ॥ कप्यासेनोपमितं पुण्डरीकं
तेनोपमानेनोपमितत्वाच्चक्षुषोर्न निहीनोपमानप्रयुक्तं निहीनत्वमित्यर्थः ॥
यथोक्तस्यादित्यपुरुषस्य क्षेत्तत्त्वशङ्कां व्यावर्त्तयितुं नाम व्यपदिशति ।
तस्येति ॥ नाम्नो गौणत्वं शङ्काद्वारा व्युत्पादयति । कथमित्यादिना ॥ तस्य
न सर्वपाप्मोदयस्तत्कार्यभाक्त्वादित्याशङ्क्याह ॥ पाप्मनेति ॥ आदित्य-
क्षेत्तत्त्वेऽपि सर्वपाप्मोदयः सम्भवति । न ह वै देवान्पापं गच्छतीति श्रुते
रित्याशङ्क्य परमात्मविषयवाक्यशेषमुदाहरति । य आत्मेति ॥ उक्तार्थ

तस्यर्क् च साम च गेष्यौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वे-
वोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चासुष्मात्पराञ्चो

सावुन्नामा तमेव गुणसम्पन्नमुन्नामानं यथोक्तेन प्रकारेण
यो वेद सोऽप्येवमेवोदेत्युद्गच्छति सर्व्वेभ्यः पाप्मभ्यः । ह
वै इत्यवधारणार्थो निपातो । उदेत्येवेत्यर्थः ॥

तस्योद्गीथत्वं देवस्यादित्यादीनामिव विवक्षित्वाह ।
तस्यर्क् च साम च गेष्यो यथियाद्गुक्तं नक्षत्रे पर्व्वणी । स-
र्व्वीत्मा हि देवः परापरलोककामेशित्वादुपपद्यते । यथि-
व्यग्न्याद्युक्तामगेणात्वं सर्व्वयोनित्वाच्च । यत एवमुन्नामा चा-
मात्रकृत्नामगेण्यथ तस्मादुक्तामगेणात्वप्राप्तमुद्गीथत्वमुच्यते

योगोऽतःशब्दार्थः ॥ उपास्यं परमात्मानमुपन्यस्य तदुपासनमिदानीं सफल-
मुपन्यस्यति । तमेव गुणसम्पन्नमिति ॥ यथोक्तेन प्रकारेणोद्गामानमिति
सम्बन्धः । कथं परस्योपासनमित्यपेक्षायामुद्गीथे सम्पादयेति दर्शयति ।
तस्येत्यादिना ।

यथाऽऽदित्यादीनामुद्गीथे सम्पाद्योपासनमत्र विवक्ष्यते तथा पर-
मात्मनोऽपि तत्र सम्पाद्योपासनं विवक्षितत्वात् सर्व्वर्क् सामात्मत्वमाह
तस्येत्यादिवाक्यमित्यर्थः ॥ मण्डलावच्छिन्नस्य पुरुषस्य कथं नृगादिगेष्यत्व-
मित्याशङ्क्याह । सर्व्वीत्मेति ॥ परस्य स्वारस्येन सर्व्वीत्मत्वादाध्यानार्थं
मण्डलावच्छेदादुपपन्ननृगादिगेष्यत्वमित्यर्थः ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह ।
परापरेति ॥ सर्व्वीत्मत्वं साधयति । सर्व्वयोनित्वादिति ॥ सर्व्वकारण-
त्वेन सर्व्वीत्मत्वाद्गगादिगेष्यत्वं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ तस्मादुद्गीथ इति वाक्यं
योजयति । यत इति । प्राप्ते सति तस्मादुद्गीथ इत्यनेन वाक्येनोद्गीथत्वं
परोक्षेण नाम्ना देवस्योच्यत इति योजना ॥ किमिति ॥ परोक्षनाम्ना
देवो व्यपदिश्यत इत्याशङ्क्य परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विपइति

लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥५॥
तृतीयस्य षष्ठः खण्डः ॥

परोक्षेण परोक्षप्रियत्वाद्देवस्य तस्मादुद्गीय इति । तस्माच्चेव
हेतोरुद्गायतीत्युद्गाता । यस्माद्धेतस्य यथोक्तस्योन्मानो
गाताऽन्तौ अतो युक्ता उद्गातेति नामप्रसिद्धिरुद्गातुः ॥

स एष देव उन्नामा ये चामुष्मादादित्यात्पराङ्मः परा-
गच्छनादूर्द्धा लोकास्तेषां लोकानाश्चेष्टे न केवलमीशित्व-
मेव च शब्दाद्वारयति च । सदाधारस्थिवीं द्यामुते-
मामिदित्यादिमन्त्रवर्णात् । किञ्च देवकामानामिष्ट इत्ये-
तदधिदैवतं देवताविप्रवं देवस्योद्गीयस्य स्वरूपमुक्तम् ॥ ६ ॥

श्रुत्यन्तरमाश्रित्वाह । परोक्षप्रियत्वादिति ॥ उन्नामत्वे देवस्योद्गातु-
रुद्गातृत्वप्रसिद्धिं प्रमाणयति । तस्मादिति ॥ तच्छब्दार्थं स्फुटयति ।
यस्मादिति ॥ प्रकृतस्योन्मानो देवस्यागनादित्यतः शब्दार्थः । उद्गातु-
रुद्गातेति नामप्रसिद्धिरिति युक्तमिति योजना । सर्वपाप्मोऽयं उद्गातृत्वे
चान्यत्रासम्भवात् ॥ आदित्यान्तर्गतो देवः परात्मेत्युक्तं तत्त्वं हेत्वन्तर-
माह । स एष इति ॥ देवकामानामादित्यानुपरित-लोकेष्वपिडातारो
ये देवास्तेषां कामाः काम्यमानफलविशेषास्तेषामिति यावत् । न हि नि-
रङ्गं लोककामेशित्वं परस्मादन्यत्र सम्भवत्येव सर्वेश्वर इति श्रुतेरिति-
भावः । आधिदैविकोपाख्यानान्तर्यमथशब्दार्थः ॥ ऋषि वाग्दृष्टिः साम्नि
प्राणदृष्टिश्च कर्त्तव्येत्यत्र हेतुमाह । अधरेति ॥ कथमृक्षसामयोरिव
वाक्प्राणयोरधरोपरिस्थानत्वं तत्राह । प्राण इति ॥ स्थानमात्रत्वं व्या-
वर्त्तयति । सहेति ॥ भोक्तारं व्यावर्त्तयति । आत्मेति ॥ आयात्मनः
सामत्ये हेतुमाह । तत्स्थत्वादिति ॥ अजुषि आयात्मनः स्थितत्वादृषि
सामवदित्यर्थः ।

अथाध्यात्म्यं वागेवर्कं प्राणः साम तदेतस्या-
 मृच्यधूढं साम तस्मादृच्यधूढं साम गीयते
 वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम । १ । चक्षुरेवर्गात्मा
 साम तदेतदेतस्यामृच्यधूढं साम तस्मादृच्यधूढं
 साम गीयते । चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत् साम । २ ।
 ओत्रमेवर्जनः साम तदेतदेतस्यामृच्यधूढं साम
 तस्मादृच्यधूढं साम गीयते । ओत्रमेव सामनो
 ऽमस्तत्साम । ३ । अथ यदेतदक्षः शुक्लं भाः
 सैवर्गय यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेत-
 स्यामृच्यधूढं साम तस्मादृच्यधूढं साम गीयते
 अथ यदेवैतदक्षः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं
 परः कृष्णं तदमस्तत्साम । ४ । अथ य एषोऽ

अथाधुनाध्यात्म्यमुच्यते । वागेवर्कं प्राणः साम अधरो-
 परिस्थानत्वसामान्यात् । प्राणो घ्राणमुच्यते सह वायुना
 वागेव सा प्राणोऽम इत्यादि पूर्ववत् । चक्षुरेवर्कं आत्मा
 साम आत्मेति ज्ञायात्मा तत्स्थत्वात्साम ओत्रमेवर्जनः साम
 ओत्रस्याधिष्ठातृत्वान्ननसः सामत्वम् ॥

आधिदविकोपाख्यानन्तर्यमथशब्दार्थः ॥ अचि वाग्दृष्टिः साऽग्नि
 वाग्दृष्टिश्च कर्तव्येत्वं हेतुमाह । अधरेति ॥ कथमृक् सामयोरिव
 वाक्प्राणयोरधरोपरिस्थानत्वं तत्माह । प्राण इति ॥ प्राणमात्रत्वं
 व्यावर्त्तयति । सहेति ॥ भोक्तारं व्यावर्त्तयति । आत्मेति । ज्ञाया-
 त्वनः सामत्ये हेतुमाह । तत्स्थत्वादिति । चक्षुषि ज्ञायात्मनः स्थितत्वा-
 दचि सामवदित्यर्थः ॥

न्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्वक्तृत्वात् तदुक्तं
तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं
यावमुष्य गेषणै तौ गेषणौ यन्नाम तन्नाम । ५ ।

अथ यदेतदक्षः शुक्लं भाः सैवर्क् अथ यन्नीलं परः
क्षणमादित्य इव इक्ष्वाक्ष्यधिष्ठानं तत्त्वाम । अथ य एषो-
ऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते पूर्ववत् सैवर्गध्यात्रं वागाद्या
ष्टथिव्याद्या चाधिदैवतम् । प्रसिद्धा च ऋक् पादवद्वाऽऽरा-
त्रिका । तथा सामोक्त्यसाहचर्याद्वा स्तोत्रं साम ऋक्कृतं
उक्त्यादन्यत् । तथा यजुः स्वाहा-स्वधा-वषडादि । सर्वमेव
वाग्यजुस्तत्त्व एव ।

आध्यात्मिकाणि कानिचिदङ्गोपासनान्युक्त्वानन्तरं प्रकारान्तरेणा-
ङ्गोपासनमेव किञ्चिदुपदिशति । अथेति ॥ अङ्गोर्यदेतद्रूपं शुक्लं दृश्यते
ऋचि तद्वटिः कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ तदेव रूपं विशिनष्टि । भा इति ॥ ऋचि
पूर्वोक्तरूपवद्विषयमात्ररूपवद्विरपि सान्नि कर्त्तव्येत्याह । अथेति ॥
यथादित्यमण्डले समधिगम्यमतिकृष्णरूपमुक्तं तथा चक्षुःष्वपि इक्ष्वाक्षे-
रधिष्ठानं तादृश्यमुपलभ्यते तद्वटिः सान्नि कर्त्तव्येत्यर्थः । आध्यात्मिक-
प्रधानोपासनशेषत्वेनाङ्गोपासनान्युक्त्वानन्तरं प्रधानोपासनाविषयं दर्श-
यति । अथेति ॥ दृश्यत इति प्रयोगाच्छायात्माऽव्यमित्याशङ्काह । पूर्व-
वदिति ॥ यथा पूर्वस्मिन्नाधिदैविके वाक्ये समाहितचेतोभिरादित्य-
पुरुषस्य दृश्यत्वमुक्तं तथा चाक्षुषपुरुषस्यापि विशिष्टाधिकारिभिरेव दृश्य-
त्वमेव व्यमित्यर्थः । कथारमपक्षे वाक्यशेषविरोधमभिप्रेत्याह । सैवेति ॥
येनृग्वया व्याख्याता सा सर्वा स एव पुरुष इत्यर्थः ॥ ऋच्युक्तां न्ययं
सामान्यतिदिशति । तथेति ॥ यत्किञ्चित्त्वाम तत्सर्वं स एव पुरुष
इत्यर्थः ॥ ऋक्सामयजुषोरर्थान्तरमाह । उक्थेति ॥ ऋक्साम यद्वदिति
दृष्टान्तस्तथाशब्दार्थः ॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे

सर्वात्मकत्वात्सर्वयोनित्वाच्चेति ह्यवोचाम ऋगादि-
प्रकरणात् । तद्वच्चेति तयो वेदाः । तस्यैतस्य चाक्षुषस्य
पुरुषस्य तदेवरूपमतिदिश्यते । किन्तद्यदमुष्यादित्यपुरुषस्य
हिरण्यमय इत्यादि यदधिदैवतमुक्तं यावमुष्य गेषौ पर्वणी
तावेवास्यापि चाक्षुषस्य गेषौ । यज्ञामुष्य नामोदित्युद्गीथ
इति च तदेवास्य नामस्थानभेदात् रूपगुणनामातिदेशादी-
शित्वविषयभेदव्यपदेशाच्चादित्यचाक्षुषयोर्भेद इति चेत् ।
न । अमुना अनेनैवेत्येकस्योभयात्मप्राप्तपुपपत्तेः । द्विधा-
भावोनोपपद्यत इति चेत् । वक्ष्यति हि स एकधा भ-
वति द्विधा भवति इत्यादि । न । चेतनस्यैकस्य निरवयवत्वा-

कथञ्चनः स्यात्सर्वं परस्येत्याशङ्क्याह । सर्वात्मकत्वादिति ॥ ब्रह्म-
ण्डस्य परमात्मविषयं व्यावर्त्तयन् प्रकरणादित्युक्तन्यायेन तयो वेदाः स
एव पुरुष इत्युपसंहरः ॥ आयात्मनो जडस्य व्यावर्त्तयर्थं रूपातिदेशं दर्शयति ।
तस्येति ॥ किन्तदादित्यपुरुषस्य रूपमित्यपेक्षायामाह । हिरण्यमय इत्या-
दीति ॥ इतश्च नायं आयात्मेत्याह । यावमुष्येति ॥ नामातिदेशोऽप्येत-
सुपोद्बलयतीत्याह । यच्चेति ॥ आदित्यचाक्षुषयोरुपास्योभेदादुपास-
नापि भिद्येति शङ्कते । स्थानेति ॥ आदित्यमण्डलं चक्षुषेति स्थाने
भिद्येते रूपं हिरण्यमयो हिरण्यप्रसञ्चुरित्यादिऋगादिगेषात्वादिर्गुणः ।
उदित्यादि नाम तेषामतिदेशस्तस्यैतस्य तदेव रूपमित्यादिः । ये चासु-
ह्यात्मराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् । ये चैतस्माद-
र्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेत्यध्यात्मम् । इत्ययमीशित्ववि-
षयो भेदव्यपदेशः । अतश्चैतयोर्भेदादुपासनमपि भिन्नमेवेत्यर्थः ॥

मनुष्यकामानाञ्चेति तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं
ते गायन्ति तस्मात्त धनसनयः । ६ ।

द्विधाभावानुपपत्तिः । तस्मादध्यात्माधिदैवतयोरेकत्वमेव ।
यत्तु रूपाद्यतिदेशो भेदकारणमवोचो न तद्भेदावगमाय ।
किं तर्हि स्थानभेदाद्भेदाशङ्का माभूदित्येवमर्थः । स एष
चाक्षुषः पुरुषो ये चैतस्मादाध्यात्मिकादात्मनोऽर्वाच्चोऽर्वा-
गता लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यसम्बन्धिनाञ्च कामानां तत्त-
स्माद्य इमे वीणायां गायन्ति गायकास्त एतमेव गायन्ति ।
यस्मादीश्वरं गायन्ति तस्मात्ते धनसनयो धनलाभयुक्ता
धनवन्त इत्यर्थः ॥

नोपास्यभेदादुपासनाभेदोऽस्तीति दूषयति । नेति ॥ उपासक-
स्तावदुपासनाऽऽदित्यात्मना परावो लोकान्देवकामांश्चाप्नोति । स एवानेन
चाक्षुषरूपेणावाचीनलोकान्मनुष्यकामांश्चाप्नोतीति श्रूयते । न चैकस्य
वस्तुतोऽभिन्नोभयरूपत्वप्राप्तिरुपपद्यते । तस्माद्भेदकल्पना न युक्त्यर्थः ॥
उभयात्मकत्वमेकस्यापि विद्यामाहात्म्याद्देवभावोपगमादुपपन्नमिति श-
ङ्कते । द्विधेति ॥ एकस्य विद्यावशादनेकरूपत्वे वाक्यशेषं प्रमाणयति ।
वक्ष्यति होति ॥ एकस्यानेकशरीरपरिग्रहेऽपि न स्वरूपभेदोपपत्तिरिति
परिहरति । न चेतनस्येति ॥ एकत्वसाधकसङ्गावस्तच्छब्दार्थः ॥ परोक्तं
भेदकमनुवदति । यत्त्विति ॥ भेदकारणमित्यस्मादुपरिष्ठादिति शब्दो
दूष्यः ॥ दूषयति । न तदित्यादिना ॥ तदित्यतिदिश्यमानरूपाद्युक्तम् ।
आधिदैविकपुरुषवदध्यात्मिनेऽपि पुरुषे निरतिशयेऽर्थश्रवणाच्च तयो-
रैक्यमित्याह । स एष इति ॥ तयोर्भेदाभावे हेत्यन्तरमाह । तत्तस्मा-
दिति ॥ ईश्वरस्यैव प्रागुक्त हेतोगानविषयत्वयोग्यत्वादित्यर्थः ॥ तच्छब्दार्थं
स्फुटयति । यस्मादिति ॥ स्थानभेदेन यथोक्तोपासनवतः फलोत्पत्त्यर्थं पात-

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स
गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो
लोकास्तांश्चाप्नोति देवकामांश्च । ७ । अथाने-
नैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति मनु-
ष्यकामांश्च तस्मादु हैवंविदुज्जाता ब्रूयात् । ८ ।
कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे य
एतदेवं विद्वान्साम गायति साम गायति । ८ ।
तृतीयस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान् यथोक्तं तदेवमुज्जीयं विद्वान् साम
गायति उभौ स गायति चाक्षुषमादित्यञ्च तस्यैवं विदः फल-
मुच्यते । सोऽमुनैवादित्येन स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो
लोकास्तांश्चाप्नोति आतित्यान्तर्गतदेवो भूत्वेत्यर्थो देवका-
मांश्च । अथानेनैव चाक्षुषेणैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोका-
स्तांश्चाप्नोति मनुष्यकामांश्च चाक्षुषो भूत्वेत्यर्थः । तस्मादु
हैवं विदुज्जाता ब्रूयाद्यजमानं कमिष्टन्ते तव काममागाया-
नीति । एष हि यस्मादुज्जाता कामागानस्योज्जानेन कामं

निकां करोति । अथेति ॥ एतत्सामेति सम्बन्धः ॥ एवं विद्वानित्येतदेव
विभजते । यथोक्तमिति ॥ विद्वानित्यस्मादुपरिष्ठादयशब्दः सम्बध्यते ॥
सोऽमुनैव लोकान् कामांश्चाप्नोतीति सम्बन्धः ॥ आप्तिप्रकारं विवृणोति ।
स एष इति ॥ उपाख्यवदुपासकस्यापि कुतो निरतिशयमैश्वर्यम् । न हि
द्वयोर्निरङ्कुशमैश्वर्यं युक्तमित्याशङ्क्याह । आदित्येति ॥ अमुनैवादित्ये-
नेत्युक्तेनैवात्र व्यक्तीकृतम् । अयशब्दस्तथापय्यावचाक्षुषो भूत्वाऽनेनैव चा-
क्षुषेणैवेति सम्बन्धः ॥ उक्तफलस्य याजमानत्वं दर्शयति । तस्मादिति ॥

तयो होङ्गीथे कुशलावभूवुः शिलकः शाला-
वत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति
ते होचुरुङ्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोङ्गीथे कथां
वदाम इति ॥ १ ॥

सम्पादयितुमीष्टे समर्थ इत्यर्थः । कोऽसौ य एवं विद्वान्
साम गायति साम गायति । द्विरुक्तिरुपामनमभाभार्था ॥ ७ ॥

अनेकधोपास्यत्वादक्षरस्य प्रक्रान्तरेण परोवरीयस्व-
गुणकनमुपामनान्तर्गमानिनाय । इतिहामस्तु सुखाव-
बोधनार्थः । तयस्त्रिसङ्ख्याकाः । ह इति ऐतिह्यार्थः । उङ्गीथे
उङ्गीथज्ञानं प्रति कुशला निपुणा वभूवुः कस्मिंश्चिद्देशे काले
च निमित्ते वा समेतानामित्यभिप्रायः । न हि सर्वस्मिन्
जगति तयाणामेव कौशलमुङ्गीथादिविज्ञाने । श्रूयन्ते ह्युप-
स्तिजानश्रुतिकैकेयप्रभृतयः सर्वज्ञकल्पाः । के ते तय इत्याह ।
शिलको नामतः शलावतोऽपत्यं शालावत्यः । चिकितयन-
स्यापत्यं चैकितायनः । दाल्भ्यगोत्रो दाल्भ्यो ह्यामुधायणो

तच्छब्दार्थमेव कथयति । एष हीति ॥ उद्गातारं विशिनष्टि । कोऽमा-
विति ॥ उङ्गीथे परस्य सम्पाद्योपासनं विभागेनोक्तमुपसंहरति । द्विरु-
क्तिरिति ॥ ७ ॥

अध्यात्माधिदैवततत्त्वाभेदावच्छिन्नपरमात्मदृष्ट्योङ्गीथोपासनम-
खिलपात्रापगमफलसक्तम् ॥ सम्प्रति स्थानभेदावच्छेदं कृत्वा परोवरी-
यस्वगुणकपरमात्मदृष्ट्योङ्गीथोपासनं परोवरीयस्वप्राप्तिफलकमानोतवा-
नाम्नाय इति प्रकरणतात्यर्थमाह । अनेकधेति ॥ तर्हि विवक्षितमुपा-
सनमेवोच्यतां किमाख्यायिकेत्याशङ्क्याह । इतिहासमिति ॥ इति-
हासः पूर्ववृत्तम् । इतिहस्य भाव ऐतिह्यम् । समेतानामिति निर्द्धारणे

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो
जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रेवदतां ब्राह्मणयोर्वदतो-
र्वाच ॥ श्रोष्यामीति । २ । स ह शिलकः शाला-
वत्यञ्चै कितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छा-
नीति पृच्छेति होवाच । ३ ।

वा प्रवाहणो नामतो जीवलस्यापत्यं जैवलिरित्येते त्रय-
सो होचुरन्योन्यमुद्गीये वै कुशजानिपुणा इति प्रसिद्धाः स्मः ।
अतो हन्त यद्यनुमतिर्भवतामुद्गीये उद्गीथज्ञाननिमित्तां कथां
विचारणां पक्षप्रतिपक्षोपन्यासेन वदामो वादं कुर्म इत्यर्थः

तथाच तद्विद्यसंवादे विपरीतग्रहणनाशोऽपूर्वविज्ञानोप-
जमः संशयनिवृत्तिश्चेति । अतस्तद्विद्यसंयोगः कर्त्तव्य इति
चेतिहासप्रयोजनं दृश्यते हि शिलकादीनां । तथेत्युक्त्वा ते
समुपविविशुर्होपविष्टवन्तः किल । तत्र राज्ञः प्रागल्भ्योप-

पत्तो । ननु सर्वस्विद्विगतिं त्वयाणामेवोद्गीयादिज्ञाने कौशलमिति किं
नोच्यते किमिति तेषां मध्ये त्वयाणामेव तस्मैपुण्यं प्रतिज्ञायते तत्राह ।
न हीति ॥ अमुष्य प्रसिद्धस्यापत्यमासुष्यायणो द्वयोरासुष्यायणः द्वासुष्या-
यणः । तत्र मम चायमिति परिभाषया धर्मतः परिगृहीत इति यावत् ॥

किमर्थो वादारम्भ इत्यत आह । तथा चेति । प्रवृत्ते वादे तस्मिन्
विषयित्वेऽर्थे विद्या येषां तैः सह संवादे दृष्टमेव फलमित्यर्थः । इति-
शब्दस्य प्रयोजनमित्येतेन सम्बन्धः । वादारम्भस्य दृष्टफलत्वे फलितमाह ।
अत इति ॥ इतिहासस्तु सुखावबोधार्थं इत्युक्तेन समुच्चयार्थसंकारः । कथं
यथोक्तफलं दृष्टमित्याशङ्क्याह । दृश्यते हीति ॥ शिलकादीनां तद्विद्य-
संयोगे विपरीतधीध्वंसादिकं फलमिति शेषः । तलेति निर्द्धारणार्था
सप्तमी । राज्ञः प्रागल्भ्योपपत्तेरित्युक्तं तस्य राजत्वे हेत्वभावादित्या-

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच । ४ । अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच अमुष्य लोकस्य का गतिरिति

पत्तेः । स ह प्रवाहणो जैर्बलिस्वाचेतरौ भगवन्तौ पूजावन्तावग्रे पूर्वं वदताम् । ब्राह्मणयोरिति लिङ्गाद्राजाऽसौ युवयोर्ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामि । अर्थरहितमित्यपरे वार्चमिति विशेषणात् । उक्तयोः स ह शिलकः शालावत्य-
 शैकितायनं दालुभ्यमुवाच । हन्त यद्यनुमंस्यसे त्वा त्वां पृच्छानीत्युक्त इतरः पृच्छेति होवाच लब्धानुमतिराह ॥

का साम्नो गतिः । प्रकृतत्वादुद्गीथस्य । उद्गीथो क्षत्रोपा-
 स्यत्वेन प्रकृतः । परोवरीयांसमुद्गीथमिति च वक्ष्यति । गति-
 राश्रयः परायणमित्येतत् । एवं पृष्ठो दालुभ्य उवाच
 स्वर इति । स्वरात्मकत्वासाम्नो यो यदात्मकः स तद्वति

शङ्कशाह । ब्राह्मणयोरिति ॥ पक्षान्तरं विशेषणसामर्थ्यादुत्थाप्याङ्गी-
 करोति । अर्थेऽपि ॥ राज्ञा यथोक्तेन प्रकारेणोक्तयोर्ब्राह्मणयोर्मध्ये
 शालावत्यो दालुभ्यं प्रत्युवाचेति सम्बन्धः । साम्नो गतिरित्यन्वयः ॥

साम्न्यद्वयमाह । प्रकृतत्वादिति । तस्य पूर्वोत्तरपन्थयोः प्रकृतत्वं
 प्रकटयति । उद्गीथो होति ॥ गतिशब्दस्य क्रियाविषयत्वं व्यावर्त्तयति ।
 आश्रय इति ॥ औपचारिकमाश्रयं निरस्यति । परायणमित्येतदिति ॥
 स्वरो ध्वनिभेदः स कथमुद्गीथस्य गतिरित्याशङ्कशाह । स्वरात्मकत्वा-

न स्वर्गं लोकमति नयेदिति होवाच स्वर्गं वयं
लोकं सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसंस्ताव हि
सामेति ॥ ५ ॥ त ए ह शिलकः शालावत्यश्चै-

तदाश्रयश्च भवतीति युक्तं तदाश्रय इव घटादिः । स्वरस्य
का गतिरिति प्राण इति होवाच । प्राणनिष्पाद्यो हि
स्वरस्तस्मात्स्वरस्य प्राणो गतिः । प्राणस्य का गतिरित्य-
न्वमिति होवाच । अन्नावष्टम्भो हि प्राणः । श्रुयति वै
प्राण ऋतेऽन्नादिति हि श्रुतेः । अन्नं दामेति च । अन्नस्य
का गतिरित्याप इति होवाच । अश्वम्भवत्वादनस्य । अपां
का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच ॥

अमुष्मात्लोकादृष्टिः सम्भवति । अमुष्य लोकस्य का गति-
रिति पृष्टो दाल्भ्य उवाच । स्वर्गममुं लोकमतीत्याश्रयान्तर
माम न नयेत् कश्चिदिति होवाच आह । अतो वयमपि
स्वर्गं लोकं सामाभिसंस्थापयामः । स्वर्गलोकप्रतिष्ठं साम

दिति ॥ तदाश्रयतया तदाश्रयत्वेन तत्तादात्म्याद्भवति स्वरस्तस्य गतिरि-
त्यर्थः ॥ साम्नः स्वरात्मकत्वेऽपि कथं तद्वृत्तित्वमित्याशङ्क्य घटान्तेन परि-
हरति । यो यदात्मक इति ॥ प्राणस्यान्नावष्टम्भकत्वे बाजरुनेयश्रुतिं
प्रमाणयति । श्रुयतीति ॥ वत्सस्थानीयस्य प्राणस्यान्नं दाम बन्धनमिति
च श्रुतेरित्यर्थः । ता अन्नमसृजन्तेति श्रुतेरन्नस्याश्वम्भवत्वं द्रष्टव्यम् ॥

कथमपामसौ लोको गतिस्तवाह । अमुष्मादिति ॥ इति पृष्टो
दाल्भ्य उवाच । हेति सम्बन्धः ॥ तत्र छन्दसि कालनियमाभावमभिप्रेत्य
क्रियापदं व्याकरोति । आहेति ॥ यद्यपि परो नास्याश्रयान्तरं प्रतिपद्यते
तथापि त्वया तद्वाच्यमेवेत्याशङ्क्याह । अत इति ॥ अतःशब्दार्थमेव स्तो-

कितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते
दाल्भ्यसामयस्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्य-
तीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥६॥ हन्ताहमेतद्-

जानीम इत्यर्थः । स्वर्गसंस्तावं स्वर्गवेन संस्तवनं संस्तावो
यस्य तस्मात् स्वर्गसंस्तावं हि यस्मात्स्वर्गो वै लोकः साम
वेद इति श्रुतिः । तमितरः शिल्पकः शास्त्रावलम्ब्यैकितायनं
दाल्भ्यमुवाच । अप्रतिष्ठितमस्मिन् परोवरीयस्तेनास-
माप्तगतिः मामेत्यर्थः । वै इत्यागमं स्मारयति किलेति च
दाल्भ्य ते तव सान । यस्त्वमहिष्णुः मामविदेत्तेतस्मिन्
काले ब्रूयात्कश्चिद्विपरीतविज्ञानम् अप्रतिष्ठितं साम प्रति-
ष्ठितमित्येवं वादापराधिनं मूर्धा शिरस्ते विपतिष्यति वि-
स्यष्टं पतिष्यति इति । एवमुक्तस्यापराधिनस्तथैव तद्विपतेन
संशयो न त्वहं ब्रवीमीत्यभिप्रायः । ननु मूर्ध्वपाताहं नेहप-

रयति । स्वर्गेति । तस्मात्स्वर्गलोकप्रतिष्ठं सापेति पूर्वेषु सम्बन्धः ॥ स्वर्गसंस्तावं
सामेत्यत्र प्रमाणमाह । स्वर्ग इति ॥ उपदेशपारम्पर्यमागमः ॥ यत्कृतकं
तद्विनित्यमिति स्वर्गस्यान्वत्त्वाच्च परायणत्वं सम्भवतीत्याशयेनाह ।
किलेति ॥ यथोक्तं न्यायं सूचयतीति शेषः ॥ न्यायागमाभ्यामप्रतिष्ठितं
सामेत्यपमंहरति । दाल्भ्येति ॥

स्वर्गप्रतिष्ठितं सामेति ज्ञाने दोषं दर्शयति । यस्त्विति ॥ अह-
हिष्णुर्मित्यावचनमसहमानः सन्निति यावत् । एतस्मिन्काले मित्या-
वचनावस्थायामित्यर्थः । विपरीतं विज्ञानं यस्य स तथोक्तस्तं प्रति इति
वियुक्तः ॥ तदेव विपरीतज्ञानमभिनयति । अप्रतिष्ठितमिति ॥ साम
प्रतिष्ठितमिति विपरीतज्ञानं प्रति कश्चिद्ब्रूयादिति सम्बन्धः । तदीय-

गवत्तो वेदानीति विद्वीति होवाचामुष्य लोकस्य
का गतिरित्ययं लोक इति होवाच अस्य लोकस्य
का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमति नयेदिति

राधं कृतवानतः परेणानुक्तस्यापि पतेन्मूर्द्धा न चेदपराधु-
क्तस्यापि नैव तत्पततु । अन्यथा अकृताभ्यागमः कृतनाशश्च
स्याताम् । नैव दोषः । कृतस्य कर्मणः शुभाशुभस्य फलप्राप्ते-
देवकान्तिनिमित्तापेक्षत्वात् ॥ तत्रैवं सति मूर्द्धपातनि-
मित्तस्याप्यज्ञानस्य पराभिव्याहारनिमित्तापेक्षत्वमिति ।
एवमुक्तो दाल्भ्य आह हन्ताहमेतद्गवत्तो वेदानि
यत्प्रतिष्ठं मामेत्युक्तः प्रत्युवाच शलावत्यो विद्वीति
होवाच । अमुष्य लोकस्य का गतिरिति पृष्ठो दाल्भ्येन

वचनमेव दर्शयति । एवमिति ॥ स तथा कथयतु मम तु किं स्यादित्या-
शङ्काह । एवमुक्तस्येति ॥ तथैव विदुषः शापवाक्यानुसारेणेति यावत् ॥
तदिति शिरोनिरुक्तिः ॥ शापदानाय प्रवृत्तस्त्वयमिति शङ्कां वारयति ।
न त्विति ॥ मूर्द्धपातोपन्यासानर्थक्यमाशङ्कते । न त्विति ॥ अपराधा-
भावेऽपि परोक्तिवशः मूर्द्धपाते दोषमाह । अन्यथेति ॥ सति चापरा-
धनि परोक्तिवैधुर्यान्मूर्द्धपाताभावे दोषं कथयति । अकृतेति ॥ अप-
राधस्य मूर्द्धपातहेतोरपि सहकार्यमेक्षत्वादभिव्य हरणं नानर्थक्यमित्यु-
त्तरमाह । नैव दोष इति ॥

कर्मणः शुभादेराचरितस्य निमित्तापेक्षया फलहेतुत्वेऽपि प्रकृते-
ऽपराधनि कुतो व्याहरणामेक्षेत्याशङ्काह । तत्रेति ॥ तत्र शुभादौ
कर्मण्येव निमित्तापेक्षया फलप्रदे सतीत्यर्थः । इति पराभिव्याहरण-
मर्थवदिति शेषः ॥ हन्तेत्यादि व्याकरोति । एवमिति ॥ कथममुष्य
लोकस्यैतल्लोकप्रतिपत्तत्वं तदाह । अयं लोक इति ॥ आदिशब्दः अद्वादि-

होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकं सामाभिसंस्थाप-
यामः प्रतिष्ठा संस्थाव हि सामेति॥७॥तं ह
प्रवाहणो जैबलिस्त्वाचान्तवद्वै किल ते शालावत्यव
साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धाते विप्रतिष्यतीति मूर्धा

शालावत्योऽयं लोक इति होवाच । अयं हि लोको याग-
दानहोमादिभिरमुं लोकं पृथ्यतीति । अतः प्रदानं देवा
उपजीवन्तीति हि श्रुतयः । प्रत्यक्षं हि सर्वभूतानां धरणी
प्रतिष्ठेति । अतः साम्नोऽप्ययं लोकः प्रतिष्ठैवेति युक्तम् । अस्य
लोकस्य का गतिरित्युक्तं आह शालावत्यः । न प्रतिष्ठां
इमं लोकमतीत्य न नष्टेत्साम कश्चित् ॥ अतो वयं प्रतिष्ठां
लोकं सामाभिसंस्थापयामः । यस्मात् प्रतिष्ठासंस्थावं
हि प्रतिष्ठात्वेन संस्तुतं सामेत्यर्थः । इयं वै रथन्तर-
मिति च श्रुतिस्त्वमेवमुक्तवन्तं ह प्रवाहणो जैबलिस्त्वा-

संप्रहर्षः ॥ तत्रैव श्रुतिं प्रमाणयति । अत इति ॥ अस्मात्तेनात्प्रदीय-
मानं चरुपुरोडाशाद्यग्निहोत्रोपजीवन्ति देवा इति श्रौती प्रसिद्धिरि-
त्यर्थः ॥ भवतु परं लोकं प्रति प्रतिष्ठात्वमस्य लोकस्य तथापि कथमयं लोकः
साम्नः प्रतिष्ठेत्यशङ्क्याह । प्रत्यक्षं हीति ॥ पृथिव्याः सर्वाणि भूतानि
प्रति प्रतिष्ठात्वे प्रजितमाह । अत इति ॥ साम्नोऽपि सर्वाणिर्भावा-
दित्यर्थः ॥

तथापि प्रतिष्ठान्तरं त्वया वाच्यमित्याशङ्क्याह । अतो वयमिति ॥
यस्मादेतल्लोकप्रतिष्ठात्वेन संस्तुतं साम तस्मादिदं साम प्रत्येतमेव लोकं
प्रतिष्ठां जानीम इति योजना ॥ कथं प्रतिष्ठात्वेन सामत्वाविशेषात्
पृथिव्यां साम स्तुतमित्याशङ्क्याह । इयमिति ॥ इयं वै रथन्तराद्वा-
च्यस्य सामविशेषस्य पृथिवीत्वेन स्तुतत्वादङ्गीयस्यापि सामत्वाविशेषात्

ते विप्रतेदिति हन्ताहमेतद्भगवन्तो वेदानीति
विद्मोति होवाच॥८॥ तृतीयस्याष्टमः खण्डः॥८॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच
सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्प-
द्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्ये वैभ्योज्याया-
नाकाशः परायणम्॥१॥ स एष परो वरीयानुद्गीथः

चान्तवहै किल ते शालावत्य सामेत्यादि पूर्ववत् । ततः
शालावत्य आह हन्ताहमेतद्भगवन्तो वेदानीति विद्मि इति
होवाच ॥ ८ ॥

इतरोऽनुज्ञात आह अस्य लोकस्य का गतिरिति आ-
काश इति होवाच प्रवाहणः । आकाश इति च पर आत्मा-
आकाशो वै नामेत्याकाशशब्दश्रुतेः ॥ तस्य हि कर्म
भूतोत्पादकत्वम् । तस्मिन्नेव हि भूतप्रलयः । तत्तेजो-
ऽसृजत । तेजःपरस्यां देवतायामिति हि वक्ष्यति । सर्वा-
णि ह वै इमानि भूतानि स्यावरजइमानि आका-
शप्रथिव्यात्मत्वं सम्भाव्यत इत्यर्थः । हन्ताहमेतदित्यत्वानन्तं सामेतदित्यु-
च्यते ॥ आकाशशब्दवाच्यस्य भूताकाशविषयत्वं व्यावर्त्य परमात्मविषयत्वं
वाक्यशेषवशाद्दर्शयति आकाश इति चेति ॥ किञ्च परस्यात्मनः सर्वभूतो-
त्पादकत्वं कर्मेति वेदान्तमर्थ्यादा तदिहाकाशे श्रुतम् ॥

तथा च परमात्मैवाकाशशब्द इत्याह । तस्य हीति ॥ किञ्च पर-
स्मिन्नेव भूतानां प्रलयः स चाकाशे श्रुतस्तस्मात्पर एवात्माकाश इत्याह ।
तस्मिन्नेवेति ॥ सर्वोत्पादकत्वं परस्य कर्मेत्यत्र भानमाह । तत्तेजोऽसृज-
तेति ॥ परस्मिन्नेव लयो भूतानामित्यत्रापि भानमाह । तेज इति ॥
अबहु परस्यात्मनः सर्वोत्पादकत्वं कर्म तथापि किमायातमाकाशस्येति

स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परो-
वरीयसोऽहं लोकान् जयति य एतदेवं विद्वान्प्र-
रोवरीयाः समुद्गीयमुपास्ते ॥२॥ तः हैतमति-

शादेव समुत्पद्यन्ते । तेजोवलादिक्रमेण सामर्थ्यादाकाशं
प्रत्यक्षं यन्ति प्रलयकाले तेनैव विपरीतक्रमेण हि यस्मा-
दाकाश एवैभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ज्यायान्महत्तरोऽतः
सर्वेषां भूतानां परायणं प्रतिष्ठा त्विह कालेष्वित्यर्थः ।
यस्मात्परम्परं वरीयः वरीयसोऽप्येषः परश्च परोवरीयानु-
द्गीयः परमात्मसम्पन्न इत्यर्थः । अत एव स एषोऽनन्तोऽवि-
द्यमानान्तस्तमेतं परोवरीयांसं परमात्मभूतमनन्तमेवं

चेत्तत्वाह । सर्वाणीति ॥ कथमयं क्रमो लभ्यते । अविशेषेण हि ततः
सर्वोत्पत्तिः श्रुतेत्याशङ्क्याह । सामर्थ्यादिति ॥ आत्मन आकाशः सम्भूत-
स्तत्तेजोऽस्तजतेत्यादिश्रुतिवलादित्यर्थः ॥ तथापि कथमाकाशे सर्वभूत-
ल्यस्तत्वाह । आकाशं प्रतीति ॥ विपर्ययेण तु क्रमोऽत इति न्याये-
नाह । विपरीतेति ॥ आकाशस्य परमात्मत्वे हेतुनन्तरमाह । यस्मादिति ॥
परायणत्वमपि तत्रैव लिङ्गमित्याह । अत इति ॥ आकाशस्त्वङ्महादिति
न्यायेनाकाशस्य परमात्मत्वमुक्तमिदानीं तस्योद्गीये सम्पादितस्य परोवरी-
यत्वं गुणमुपदिशति । यस्मादिति ॥ उत्तरमुत्तरं श्रेष्ठार्थांश्चैवोऽय-
मित्येतत् ॥

सामभावस्य कथमयं गुणः स्यादित्याशङ्क्याह । परमात्मेति ॥ आ-
काशस्य परमात्मत्वे लिङ्गान्तरमाह । अत एवेति ॥ परमात्मसम्पत्तत्वा-
दिति यावत् । आकाशो हि प्रकृतोद्गीये सम्पादितोऽनन्तः श्रुतः । न
चानन्यं ब्रह्मणोऽन्यत्र युक्तम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतेः । तस्मा-
दाकाशो ब्रह्मेत्यर्थः । सम्प्रत्याकाशशब्दितस्य परस्योद्गीये सम्पादितस्य
परोवरीयत्वगुणविशिष्टस्योपासितं विदधाति । तमेतमिति ॥ परम्परमुप-

धन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्तोवाच यावत्त
 एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्य-
 स्तावदस्मिंल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥ तथासु-
 ष्मिंल्लोके लोक इति स य एतमेवं विद्वानुपास्ते
 परोवरीय एव हास्यास्मिंल्लोके जीवनं भवति
 तथासुष्मिंल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥
 ४ ॥ ६ ॥ तृतीयस्य नवमः खण्डः ॥

विद्वान् परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते तस्यैतत्फलमाह ।
 परोवरीयः परम्परं विशिष्टतरं जीवनं हास्य विदुषो भवति
 दृष्टं फलमदृष्टञ्च परोवरीयस उत्तरोत्तरविशिष्टतरानेव
 ब्रह्माकाशान्तांल्लोकाञ्चयति य एतदेवं विद्वानुद्गीथमुपास्त ॥
 किञ्च तमेतमुद्गीथं विद्वानतिधन्वा नामतः शुनकस्यापत्यं
 शौनक उदरशाण्डिल्याय शिष्यायैतमुद्गीथदर्शनमुक्तोवाच ।
 यावत् ते तव प्रजायां प्रजासन्ततावित्यर्थः । एतमुद्गीथं
 त्वत्सन्ततिजा वेदिष्यन्ते चास्यन्ते तावन्तं कालं परोवरीयो
 ह एभ्यः प्रसिद्धेभ्यो लौकिकजीवनेभ्य उत्तरोत्तरविशि-
 ष्टतरं जीवनतेभ्यो भविष्यति । तथादृष्टेऽपि परलोके
 सुष्मिन्परोवरीयांल्लोको भविष्यतीत्युक्तवान् शाण्डिल्या-

युं परोति यावत् । तस्मादेवमुपासोतेति भावः ॥ विधिषेधमर्थवादं दर्शयति
 किञ्चेति ॥ इतश्चात्र विधिरस्तीत्येतत्तेभ्यस्तत्सन्ततिजा ये यथोद्गीथे वेदि-
 तारस्तदर्थमित्यर्थः । तथा दृष्टविशिष्टतरजीवनवदित्यर्थः । अदृष्टेऽपीति

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिका सह जाययोपस्तिर्ह
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥१॥ स हेभ्यं
कुल्माषान् खादन्तं विभिन्ने तः होवाच ।

यातिधन्वा शौनकः । स्यादेतत्फलं पूर्वेषां महाभाग्या-
नां नैदंयुगीनानामित्याशङ्कानिदृत्तये आह । स यः कश्चि-
देतदेवं विद्वानुद्गीथमेतर्ह्युपास्ते तस्याप्येवमेव परोवरीय
एव हास्यास्त्रिलोके जीवनं भवति तथामुष्मिल्लोके लोक
इति ॥ ८ ॥

उद्गीथोपासनप्रसङ्गेन प्रस्तावप्रतिहारविषयमप्युपासनं
कर्त्तव्यमिति दमारभ्यते । आख्यायिका तु सुखावबोधार्था ।
मटचीहतेषु मटच्योऽशनयस्ताभिर्हतेषु नाशितेषु कुरुष-
स्येष्वित्यर्थः । ततो दुर्भिन्ने जाते आटिका अनुपजातयो-
धारादिस्त्रीव्यञ्जनया सह जाययोपस्तिर्ह नामतश्चक्र-
स्यापत्यं चाक्रायणः । इभो हस्ती तमर्हतीतीभ्यः ईश्वरो

वेदः ॥ स य एतमित्याद्युत्तरवाक्यं शङ्कोत्तरत्वेनोत्पाद्य व्याचष्टे । स्यादि-
त्यादिना ॥ अस्मिन्नुगे भवन्तीत्यैदंयुगीनास्तेषामैदंयुगीनानां लोकः परो-
वरीयानिति शेषः । पुनरुक्तिरुद्गीथोपास्तिसप्तत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथोद्गीथोपासनाख्यानानेकधोक्तत्वाद्भक्त्यान्वयवशेषात्प्रपाठकपरि-
समाप्तिरेव युक्तित्याशङ्क्याह । उद्गीथेति । इदमाख्यानं परा-
वृत्त्यते ॥ प्रस्तावादुपासनं विवक्षितं चेत्तदेवोच्यतां किमनया कथ-
येत्याशङ्क्याह । आख्यायिका त्विति ॥ मटच्यो मर्दनहेतवोऽशनयः
पाषाणवृष्टयो वा ततः शस्त्रनाशादित्येतत्त्वतः स्वरसद्वारोऽपि न व्यभि-
चारश्चेति दर्शयितुमाटिक्येति विशेषणम् । प्रद्राणकपदस्य क्रिया

नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिताइति
२ । एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ
हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति
होवाच । ३ । न स्वितेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा
अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म

हस्वारोहो वा तस्य ग्राम इभ्यग्रामस्तस्मिन्प्रद्राणकोऽन्ना-
लाभात् । द्राकुत्सायां गतौ । कुत्सितां गतिं गतोऽन्यावस्थान्
प्राप्त इत्यर्थः । उवाच उपितवान् दस्युर्द्विहृहनाश्रित्य ।
मोऽन्वार्थमटन्विभं कुल्हापान् कुत्सितान्द्रापां खादन्तं
भक्षयन्तं यदृच्छयोपलभ्य विभिन्ने याचितवान् । तमुपस्ति-
ह उवाचेभ्यः । नेतोऽस्मान्मया भक्ष्यमाणादुच्छिष्टराशेः
कुल्हापा अन्ये न विद्यन्ते । यच्च ये राशौ मे मम उप-
निहिताः प्रक्षिप्ता इमे भाजने किं करोमोत्युक्तः प्रत्युवा-

पदेन सम्बन्धः । कुत्सितगतिप्राप्तौ हेतुरन्नालाभादिति ॥ प्रद्रा-
णकशब्दार्थं धातुपन्यासद्वारा कथयति । द्राकुत्सायामिति ॥ यद-
ृच्छया सहस्येत्यर्थः ॥ नेत इति वाक्योपादानं तद्व्याकरोति । अस्मा-
दिति ॥ यदित्वव्ययं वद्धवचनानाम् । उपनिहिताः कुल्हापा इति
शेषः । तेषां स्वल्पमे भाजने प्रक्षिप्ता इति योजना । हन्त कुल्हापा
भक्षितास्येत्यर्थः ॥ किं प्रत्युवाचेत्याकाङ्क्षापूर्वकमाह । किमित्यादिना
अनुपानाभावेऽपि तुल्यं जीवनराहित्यमित्याशङ्क्याह । काम इति ॥

अन्योच्छिष्टकुल्हापभक्षणस्येव दन्त्याः श्रुतेस्तात्पर्यमाह । अत-
श्चेति ॥ चाक्रायणस्य विदुषोऽभक्षभक्षणदर्शनादिति यावत् । एता-
मवस्थां प्राप्तस्य जीवितसन्देहभाषस्येत्यर्थः । विद्याधर्म्यशेषतो
ज्ञानादिप्रयुक्तत्वातिं मपक्षस्येत्येतत् । स्वात्मोपकारे परोपकारे च

उदयानमिति । ४ । सह खादित्वाऽतिशेषान्
जायाया आजहर साग्र एव मुनिक्षा बभूव

चोपस्तिः । एतेषामेतानित्यर्थः । मे मह्यं देहीति होवाच ।
तान् स इभ्योऽस्मा उपस्तरे प्रददौ प्रदत्तवान् । अनुपानीयं
समीपस्थमुदकं च । हन्त गृहाणानुपानमिच्छुः, प्रत्युवाच ।
उच्छिष्टं मे समेदमुदकं पीतं स्याद्यदि पास्यामीत्युक्तवन्तं
प्रत्युवाचेतरः । किं न खिदेते कुल्माषा अप्युच्छिष्टा इत्युक्त
आहोप्रतिर्न वै अजीविष्यं न जीविष्यामीमान् कुल्माषात-
खादन्नभक्षयन्निति होवाच । काम इच्छातो मम उदक-
पानं लभ्या इत्यर्थः । अतश्चैतामवस्थां प्राप्तस्य विद्याधर्म-
यशोवतः स्वामपरोपकारसमर्थस्यैतदपि कर्म कुर्वतो
नागःस्यर्थ इत्यभिप्रायः । तस्यापि जीवितं प्रत्युपायान्तरे
अजुगुप्सिते सति जुगुप्सितमेतत्कर्म दोषाय । ज्ञानावले-
पेन कुर्वतो नरकपातः स्यादेवेत्यभिप्रायः ॥

प्रद्राणकश्चन्द्रश्रवणात्तांश्च स खादित्वाऽतिशेषान् नि-
ष्टान् जायायै कारुण्यादाजहर । साटिक्चग्र एव कुल्माष-

सामर्थ्यं निप्रहानुप्रहशक्तिमन्त्वमेतत्कर्म जीवनमात्रकारणं कृतसित-
ञ्चेष्टितमित्यर्थः ॥ उच्छिष्टेदकपानप्रतिषेधस्तुतेरभिप्रायमह । तस्या-
पीति ॥ एतत्कर्मेत्यभक्ष्यभक्ष्योक्तिः ॥ ननु ज्ञानिनो यथेष्टचेष्टावानु-
ज्ञायते । भवम् । सर्वज्ञानुमतिश्चेत्यादिन्ययविरोधादित्याह ।
ज्ञानेति ॥

तस्मिन्नभिप्राये लिङ्गं दर्शयति । प्रद्राणकेति चाक्रायणे प्रद्राणक
प्रयोगात्परमापदभाषकः सन्कुल्माषानुच्छिष्टान् अनुभक्षितवानिति

तान्प्रतिगृह्य निदधौ । ५ । स ह प्रातः सञ्जि-
हान उवाच यदताऽन्नस्य लभेमहि लभेमहिधन
मात्रां राजाऽसौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यै-
र्दृणीतेति । ६ । तं जायोवाच हन्त य त इम
एव कुल्माषा इति तान् खादित्वाऽसुं यज्ञं

प्राप्तेः सुभिक्षा शोभनभिक्षा लब्धान्ना इत्येतद्भूव संवृत्ता ।
तथापि स्त्रीस्वाभावादनवज्ञाय तान् कुल्माषान्पत्युर्हस्तात्
प्रतिगृह्य निदधौ निक्षिप्रवती । स तस्याः कर्म जानन्
प्रातरुपकाले सञ्जिहानः शयनं निद्रां वा परित्यजन्नुवाच ।
पत्न्याः शृण्वन्त्याः यद्यदि वतेति खिद्यमानोऽन्त्य स्तोकं
लभेमहि । तद्भुक्तान् समर्थो गत्वा लभेमहि धनमात्रां धन-
स्याल्पम् । ततोऽस्माकं जीवनं भविष्यतीति ॥ धनलाभे च

प्रतिभाति । तथा च ज्ञानिनी यथेष्टाक्षरणे प्रमाणाभावादनेकप्रमाण-
विरोधान्न नामावत् विवक्षित इत्यर्थः । स्त्रीस्वाभाव्यं पत्युः राजाकरणम् ।
तस्याः कर्म कुल्माषाणां परिरक्षणम् ॥ यक्ष्यतीति कस्माच्चोक्तं तत्राह ।
यजमानत्वादिति ॥ राज्ञो यजमानत्वाद्यागफलस्यात्मगाभित्वाद्यव्यत-
त्यात्मनेपदं प्रयुक्तमित्यर्थः ॥ अन्येषामुपद्रुत्वसम्भवे कुतस्त्वामेव राजा
मानयिष्यतीत्याशङ्क्याह । स चेति ॥ हन्तेत्यद्वेषलाभे देवं धन-
लब्धिद्वारा जीवहेतुरित्यर्थः । राज्ञो यज्ञस्तत्वेत्युच्यते ॥ उद्गातरेकत्वे
कुतो बह्वक्तिरित्याशङ्क्याह । उद्गातृगुह्यमिति ॥ सुवन्त्यस्मिन्निति
मप्रभ्या सखाददेशो निर्देश्यते ॥ किमर्थमामन्वयं तदाह । अभिसुखी
करणायेति ॥ विदुषः समीपे देवतामविद्वान्प्रस्तोषसि चेन्मुर्धा ते
विपतिष्यतीत्यप्ये सन्वयः ॥ नन्वविद्वन्दिन्दाया विपत्तिरित्यादिद्वत्-
समीपवचनमकिञ्चित्करमिति चेन्नेत्याह । तत्परोक्षेऽपीति ॥ तस्यैव-

धिततमेयाय । ७ तत्रोज्ञातृनास्तावि स्तोष्यमा-
णानुप्रोपविवेश स ह प्रवोस्ततारमुवाच । ८ ।
प्रस्तोतर्यातवता प्रस्तावमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वान्-
प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । ८ । एव-
मेवोज्ञातारमुवाचोज्ञातर्या देवतोज्ञीयमन्वायत्ता

कारणमाह । राजासौ नातिदूरस्थाने यज्यते । यजमान-
त्वान्तस्यात्मनेपदम् । स च राजा मा मां पातमुपलभ्य सर्वै-
रार्त्विज्यैर्ऋत्विक्कर्मभिर्ऋत्विक्कर्मप्रयोजनायेत्यर्थो वृणीते-
त्येवमुक्तवन्तं जायोवाच । हन्त गृहाण हे पते इम एव ये
मह्वस्तविनिक्षिप्तास्त्वया कुल्लाषा इति । तान् स्वादित्याम् यज्ञं
राज्ञो विततं विस्तारितं ऋत्विग्भिरेयाय । तत्र च गत्वोज्ञातृ
नुज्ञातृपुरुषानागत्य आस्तु न्यस्मिन्निति आस्तावस्तस्मिन्ना-

विद्वान्प्रस्तोतोष्यते ॥ माभूत्कर्ममात्रविदां कर्मण्यधिकार इति
चेन्नेत्याह । तच्चेति ॥ तेनोभौ कुरुत इत्यादिश्रुताविति शेषः ॥ अग्नि-
दुषामपि कर्माधिकारे हेत्वन्तरमाह । दक्षिणेति ॥ तदेव व्यतिरेकद्वारा-
स्फोरयति । अग्निधिकारे चेति ॥ तस्यैव सप्तयज्ञफलत्वादित्यर्थः ।
ननु दक्षिणमार्गस्य वापीकूपतडागादिवार्त्तकर्मप्रयुक्तत्वाद्देदिककर्मणि
विद्वानेवाधिक्रियते नेत्याह । न चेति ॥ यज्ञेन दानेन लोकाञ्जयतीति
देदिककर्मनिष्ठानामज्ञानामेव दक्षिणमार्गश्रवणादिति हेतुमाह । यज्ञे-
नेति ॥ इतश्चाविदुषां विद्वत्समीपे कर्माधिकारो नास्तीत्याह । तथोक्त-
स्येति ॥ देवताविज्ञानशून्यस्य न मूर्धा विपतिष्यतीत्यनेन प्रकारेण
मयोक्तस्य मूर्धा व्यपतिष्यदिति विशेषश्रवणाद्द्विद्वत्समीपे तदनुज्ञात्मन-
रेण कर्म कुर्वतोऽपराधित्वात्तस्य कर्मण्यधिकार एवेत्यर्थः ॥ विद्वत्-
समीपे पुनरविदुषोऽपि कर्मण्यधिकारोऽस्तीत्याह । न सर्वत्रेति । अग्निहो-

ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ।
 १० । एवमेव प्रतिहर्त्तारमुवाच प्रतिहर्त्तर्या
 देवता प्रतिहारमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वान्प्रति-
 हरिष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ते ह समा-
 रतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ॥ ११ ॥ दशमः
 खण्डः । १० ॥

स्तावे श्लोष्यमाणानुपोपविवेश समीप उपविष्टस्तेषामित्यर्थः ।
 उपविश्य स ह प्रस्तोतारमुवाच । हे प्रस्तोतरित्यामन्त्र्याभि-
 मुखीकरणाय प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावं प्रस्तावभक्ति-
 मनुगताऽन्वायत्ता ताञ्चेदेवतां प्रस्तावभक्तेरविद्वान् सन्
 प्रस्तोष्यसि विदुषो मम समीपे तत्परोक्षेऽपि चेद्विपतेत्तस्य
 मूर्द्धा कर्ममात्रविदामपि अनधिकार एव कर्मणि स्यात् ॥
 तच्चानिष्टमविदुषामपि कर्मदर्शनात् । दक्षिणमार्गश्च्युतेष्व ।
 अनधिकारे चाविदुषामुत्तर एवैको मार्गः श्रूयेत । न च
 स्मात्तत्कर्मनिमित्त एव दक्षिणः पथः । यज्ञेन दानेनेत्या-

त्वादौ श्रौते कर्मणि स्मार्त्तेषु च बापीकूपतडागादिकर्मस्वध्ययनजपा-
 दिषु च विदित्यग्निधिमन्त्रेणापि सर्व्वस्मिन् काले कर्ममात्रविदो नाधि-
 कारोऽस्तीत्यशक्यं वक्तुमित्यर्थः ॥ तत्र हेतुमाह । अनुज्ञेति । भगवन्तं वा
 अहं विविदिषाणीत्यादिना राक्षसं स्वकीयकर्मनिर्वर्त्तने प्रार्थनादर्शनादेत
 एव मया समतिष्ठता स्तुवतामिति चानुज्ञोपलम्भादस्यैवाविदुषामपि
 कर्मण्यधिकार इत्यर्थः ॥ उक्तमर्थमुपसंहरति । कर्ममात्रेति ॥ विदित्य-
 मीमे तदनुज्ञासम्बद्धा नास्ति कर्म्मोत्पन्नमित्येतद्विगमयितुमिति शब्दः ॥

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं
विविदिषाणीत्युपस्तिरस्मि चाक्रायण इति हो-
वाच । १ । स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः
सर्वैरात्विज्यैः पर्यैशिषं भगवतो वा अहम-

दिश्रुतेः । तथोक्तस्य मयेति च विशेषणाद्विद्वत्समक्षमेव
कर्मण्यनधिकारो न सर्वत्राग्निहोतृस्मात्तत्कर्माध्यापनादिषु
च । अनुज्ञायास्तत्र दर्शनात् । कर्ममात्रविदामप्यधिकारः
सिद्धः कर्मणीति । मूर्द्धा ते विपतिष्यतीत्येवमेवोद्गातारं
प्रतिहर्त्तारमुवाचेत्यादि समानमन्यत् । ते प्रस्तोतादयः
कर्मभ्यः समारता उपरताः सन्तो मूर्द्धपातभयात्तूष्णीमासा-
ञ्चक्रिरे अन्यच्चाकुर्वन्तः । अर्थित्वात् ॥ १० ॥

अथानन्तरं ह एनमुपस्तिं यजमानो राजोवाच । भग-
वन्तं वै पूजावन्तं अहं विविदिषाणि वेदितुमिच्छामीत्युक्त
उपस्तिरस्मि चाक्रायणस्तवापि ओतपथमागतो यदति

मूर्द्धा ते विपतिष्यतीत्येतदन्तं प्रस्तोतृविषयं वाक्यं व्याख्यातमित्यनुवदति ।
मूर्द्धेति ॥ तूष्णीमित्यर्थस्यार्थमाह । अन्यच्चेति ॥ तत्र हेतुमाह । अर्थि-
त्वादिति ॥ तत्तद्देवताविषय विज्ञानार्थित्वेन कर्मान्तरमकुर्वन्त्याक्रायणा-
भिमुखाः स्थिता इत्यर्थः ॥ १० ॥

अथ हैनमित्यादि व्याकरोति । अथेति ॥ प्रस्तोतृप्रवृत्तीनां तूष्णी-
भावादिति शेषः ॥ चाक्रायणस्य वधनमङ्गीकरोति । सत्यमिति ॥ अङ्गी-
कारमेव स्फोरयति । एवमिति ॥ आत्विज्यैरित्यस्य व्याख्यानं ऋत्विक्-
कर्मभिरिति । तदर्थमिति यावत् ॥ यदि सामात्विज्यार्थमनुसंहितवानसि
किमितीमानन्यानुवृत्तवानित्याशङ्क्याह । अस्मिष्येति ॥ एवं गते किम-

वित्तगान्यानवृषि । २ । भगवाँस्तेव मे सर्वे-
 रात्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः
 स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या
 इति तथेति ह यजमान उवाच । ३ । अथ
 हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्ताव-

होवाचोक्तवान् । स ह यजमान उवाच सत्यमेवमहं भगवन्तं
 बद्धगुणमश्रौषं सर्वैश्च ऋत्विक्कर्मभिरात्विज्यैः पर्य्येशिषं
 पर्य्येषणं कृतवानस्मि । अन्विष्य भगवतो वा अहमवित्तग-
 ऽलाभेनान्यानिमानवृषि वृतवानस्मि । अद्यापि भगवांस्तेव
 मे मम सर्वैरात्विज्यैर्ऋत्विक्कर्मार्थमस्वित्युक्तस्तथेत्याहो-
 र्षस्तः । किन्त्वथैवं तर्ह्येत एव त्वया पूर्वं वृता मया समति-
 सृष्टाः मया सम्यक् प्रसन्नेनानुज्ञाताः सन्तः स्तुवताम् । त्वया
 त्वेतत्कार्यम् । यावत्तु एभ्यः सर्वेभ्यो धनं दद्याः प्रयच्छसि
 तावन्मम दद्या इत्युक्तस्तथेति ह यजमान उवाच । अथ हैन-
 मौपस्थं वचः श्रुत्वा प्रस्तोतोपससादोषस्तिं विनयेनोपज-

धुना कर्त्तव्यमित्याशङ्क्याह । अद्यापीति ॥ चाक्रायणानुमतिं श्रुत्वा
 किमिदमिति व्याकुलितेषु प्रस्तोतृप्रभृतिषु ब्रूते । किन्त्विति ॥ उभया-
 नुमत्यपेक्षयाऽऽनन्तर्यमथशब्दः । ममालाभेनामीषां वृतत्वस्य निवृत्त्यव-
 स्थायामित्याह ॥ तर्हीति ॥ अनुज्ञाताः सन्तः प्रस्तुतिं कुर्वतामित्याह ।
 स्तुवतामिति ॥ अस्त्येवं तदर्थं पुनर्मया किं विधेयमित्याशङ्क्याह । त्वया
 त्विति ॥ यजमानं प्रत्युपस्तिप्रोक्तं वचः श्रुत्वानन्तरमेवमुपस्तिं प्रस्तोता
 त्यक्त्वा व्याकुलत्वं शिष्यत्वेनोपसृज्यमानित्याह । अथेति ॥ उपगतिप्रकार-

मन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्ध्ना ते
 विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देव-
 तेति । ४ । प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा
 इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणम-
 भ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वामत्ता ताञ्चेद-
 विद्वान्प्रस्तोष्यो मूर्ध्ना ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति
 । ५ । अथ हैनमुज्जातोपससादोज्ञातर्या देव-
 तोज्ञीथमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वानुज्ञास्यसि मूर्ध्ना

गाम । प्रस्तोतर्या देवतेत्यादि मा मां भगवानवोचत् पूर्वम् ।
 कतमा सा देवता या प्रस्तावभक्तिमन्वायत्तेति पृष्ठः प्राण
 इति होवाच । युक्तं प्रस्तावस्य प्राणो देयतेति । कथं
 सर्वाणि स्थावरजङ्गमानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्रलय-
 काले प्राणमभितक्षयित्वा प्राणात्मनैवोज्जिहते प्राणादे-
 वोद्गच्छन्तीत्यर्थ उत्पत्तिकाले । अतः सैषा देवता प्रस्ताव-
 मन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वान् त्वं प्रस्तोष्यः प्रस्तावनं प्रस्तावभक्तिं

मभिनयति । प्रस्तोतरिति ॥ प्रतिवचनमादाय प्रशब्दसामान्यं नृहीत्वा
 तात्पर्यमाह । पृष्ठ इति ॥ कथमिह प्राणशब्दार्थो निश्चीयतामित्या-
 शङ्क्य, त एव प्राण इति न्यायेनाह । कथमिति ॥ प्राणात्मनैव संविश-
 न्तीति पूर्वेषु सम्बन्धः । प्राणशब्दार्थस्य परमात्मत्वेन निश्चीयतत्वमतः
 शब्दार्थश्चेच्छब्दार्थो यदोत्पुक्तः । अथा तथोक्तस्य मूर्ध्ना ते विपतिष्यतीत्येव-
 मुक्तस्य तव तत्काले स्थापराभावस्यायां मूर्ध्ना व्यपतिष्यदेवेति योजना ।
 प्रमादस्य महत्त्वतया परिहृतत्वादित्यतः शब्दार्थः ।

ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति । ६ । आदित्य इति होवाच सर्वाणीह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तंगायन्ति सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वानुदगास्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति । ७ । अथ हैनं प्रतिहर्त्तोपससाद प्रतिहर्त्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति । ८ । अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा

कृतवानसि यदि मूर्द्धा शिरस्ते व्यपतिष्यद्विपतितमभविष्यत्तथोक्तस्य मया तत्काले मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति । अतस्त्वया साधु कृतम् । मया निषिद्धः कर्मणो यदुपरममकार्षीरित्यभिप्रायः । तथोद्गाता पप्रच्छ कतमा सोद्गीथभक्तिमनुगता, न्वायत्ता देवतेतिष्ट आदित्य इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आदित्यमुच्चैः सन्तंगायन्ति शब्दयन्ति स्तुवन्तीत्यभिप्रायः । उच्छब्दसामान्यात्प्रशब्दसामान्यादिव प्राणोऽतः सैषा देवतेत्यादि पूर्ववत् । एवमेवाथ हैनं प्रतिहर्त्तोपससाद कतमा सा देवता प्रतिहारमन्वा-

यथा प्रशब्दसामान्यात्प्राणः प्रस्तोतव्येत्युक्तं तथादित्योद्गीथयोरुच्छब्दसामान्यादुद्गीथदेवता आदित्य इत्याह । उच्छब्देति ॥ उक्तसामान्यपरामर्शोऽतः शब्दः । सर्वमेव प्रस्तोतवदुद्गातवञ्चेत्यर्थः । कतिगम्यां प्रस्तोद्गीथदेवतयोर्विज्ञानानन्तर्यमथशब्दार्थः । कथमन्नस्य प्रतिहारत्वं

इमानि भूतान्यन्त्रमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति
सैषा देवता प्रतिहारमन्त्रायत्ता ताञ्चेददि-
द्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य
मयेति तथोक्तस्य मयेति । ८ । एकादशः
खण्डः । ११ ।

अथातः शौव उद्गीथस्तद्वको दाल्भ्यो ग्लावो
वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्ववाज । १ । तस्मै स्वा

यत्ता इति पृष्ठोऽन्त्रमिति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि
भूतान्यन्त्रमेवात्मानं प्रति सर्वतः प्रतिहरमाणानि जीवन्ति ।
सैषा देवता प्रतिशब्दसामान्यात्प्रतिहारभक्तिमनुगता ।
समानमन्यत् । तथोक्तस्य मयेति । प्रस्तावोद्गीथप्रतिहार-
भक्तीः प्राणादित्यान्त्रद्वयोपासीतेति समुदायार्थः । प्राणा-
द्यापत्तिः कर्मसमृद्धिर्वा फलमिति ॥ ११ ॥

अतीते खण्डेऽन्त्रानामिनिमित्ता कथावस्थोक्तोच्छिष्ट-
पर्युपितभक्षणलक्षणा सा मा भूदित्यन्त्रलाभायाधानन्तरं

तदाह । सर्वाणीति । ताञ्चेददिविद्वानित्याद्यन्यदित्युच्यते । तथोक्तस्य
मयेत्येतदन्त्रमिति शेषः ॥ कीदृशुपासनमस्मिन् प्रकरणे विवक्षितमित्या-
शङ्काह । प्रस्तावेति ॥ उपास्तित्वस्य फलं दर्शयति । प्राणादिति ॥ ११ ॥

पूर्वोत्तरखण्डयोः सङ्गतिं दर्शयन्नुपासनान्तरं प्रस्ताति । अतीत-
इति ॥ अन्नानामस्यापेक्षित्यभनः शब्दार्थः ॥ प्रकारान्तरेणोद्गीथोपासनसङ्ग-
कामस्य प्रस्तुत्य प्रतिपत्तिर्मात्रार्थमाख्यायिकामादत्ते । तत्रेति ॥ न

श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्तं
नो भगवानागायतु अशनायाम वा इति । २ ।

श्वैवः श्वभिर्दष्ट उद्गीथ उद्गानं सामातः प्रस्तथते । तत्र
किल वको नामतो दल्भस्यापत्यं दाल्भ्यो ग्लावो वा नामतः
मित्रायाश्चापत्यं मैत्रेयो । वाशब्दश्चार्थः । द्यामुष्यायणो
क्षमौ । वस्तुविषये क्रियास्त्रिव विकल्पानुपपत्तेः । द्विनाम
द्विगोत्र इत्यादि हि स्मृतिः । दृश्यते च उभयतः पिरण्ड-
भाक्तम् । उद्गीथे बहुचित्तवाट्टपावनादराद्वा वाशब्दः
स्वाध्यायार्थः । स्वाध्यायं कर्तुं ग्रामाद्वहिरुद्ग्राजोद्गतवान्

केवलं दल्भस्यापत्यं किन्तु मित्रायाश्चेति चार्थः । न च सा दल्भस्य पत्नी
इति युक्तम् । तथा सति मैत्रेयपदस्य वैयर्थ्यात् । पत्यन्तरापत्यत्वव्याह-
न्यर्थमिति चेन्न । प्रयोजनाभावात् । नन्वत्र वाशब्दात् द्वावपि विवक्षित-
ताविति चेन्नेत्याह । वाशब्द इति । कथं पुनर्दल्भस्यापत्यं वक्तुर्दभार्था-
मित्रायाश्चापत्यं भवितुमुत्सृज्यते तत्राह । द्यामुष्यायणो हीति ॥ चैकिता-
यनो दाल्भ्य इत्यत्रोक्तमेतदिति सूचयितुं हि शब्दः । उदितानुदितहोम-
वकोपाञ्चिदृष्ट्या वकोऽसावन्येषां ग्लाव इत्येकस्मिन्नपि विकल्पो भवि-
ष्यति नेत्याह । वस्तुविषय इति ॥ कथं पुनर्विना मानमेकस्यैव द्विनाम-
त्वाद्युद्गीक्रियते तत्राह । द्विनामेति ॥ इत्यादिवाक्यं स्मृतिरूपं धर्मशास्त्रे
प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ द्विगोत्रत्वमेकस्य लौकिकेऽपि प्रसिद्धमित्याह । दृश्यते चेति ॥
यतः सुतो जायते येन चायं धर्म्मतो गृह्यते तयोरुभयोरित्याह । उभयत
इति ॥ उभयोरप्यसौ ऋक्थो पिरण्डदाता च धर्म्मत इति स्मरन्तीत्यर्थः ।

दाल्भ्यादयो मैत्रेय इत्युद्गीकृत्याह । उद्गीथ इति । तदुपास्तौ
तात्पर्यं स्मृत्पावनादरे हेतुः । तस्मादपित्वयस्मृतिद्वयं वा विवक्षितमित्यर्थः ।

तान्होवाचेहैव मा प्रातरूपसमीयातेति तद्

विविक्तदेशस्थोदकाभ्यासम् । उद्ब्रज प्रतिपा नयाञ्चकारेति
चैकवचनाग्लिङ्गादेकोऽसाष्टपिः । श्वोद्गीथकालप्रतिपा-
लनादृषेः स्वाध्यायकरणमन्त्रकामनयेति लक्ष्यत इत्य-
भिप्रायतः स्वाध्यायेन तोषिता देवता ऋषिर्वा श्वरूपं
गृहीत्वा श्वा श्वेतः सन् तस्मै ऋषये तदनुग्रहार्थं प्रादुर्बभूव
प्रादुश्चकार तमन्ये शुक्लं श्वानं क्षुल्लकाः क्षुद्रकाः श्वान
उपसमेत्योचुरुक्तवन्तोऽन्वं नोऽस्मभ्यः भगवानागायत्वा-
गानेन निष्पादयत्वित्यर्थः । मुख्यप्राणवागादयो वा प्राण-
मन्त्रभुजः स्वाध्यायपरितोषिताः सन्तोऽनुगृह्णीयुरेनं
श्वरूपमादायेति युक्तमेवं प्रतिपत्तुम् । अशनायाम वै बुभु-

पक्षान्तरद्योतनार्थो वाशब्दः । श्रौतो वाशब्दः स्तर्हि किमर्थमिति शङ्का
पाठादन्यत्र तस्य फलमित्याह । वाशब्द इति ॥ मैत्रेयान्तवाक्यं व्याख्याय
स्वाध्यायमित्यादि व्याचष्टे । स्वाध्यायमिति । यदुक्तमृषिरेको वकादि-
शब्दैरुच्यते इति तत्र लिङ्गमाह । उद्ब्रजेति ॥ शुनामुद्गीथः श्वोद्गीथ-
स्तत्कालस्य प्रतिपालनं प्रतिक्षणरूपेर्दृश्यते तेषाञ्चोद्गीतमन्त्रार्थं तदपेरपि
स्वाध्यायकरणं तदर्थमित्याह । श्वोद्गीथेति ॥ यथोक्तार्थवाचिशब्दाभावे-
ऽपि सामर्थ्यादयमर्थो भवतीत्याह । अभिप्रायत इति ॥ तस्मा इत्यादि
व्याचष्टे । स्वाध्यायेनेति ॥ क्षुल्लकाः क्षुद्रकाः शिशव इति यावत् । श्वेतश्च
कश्चिदपि देवता वा । अन्ये च श्वानो देवता ऋषयो बेलुक्तम् ॥

सम्प्रति विवक्षितं पत्रमाह । मुख्येति ॥ तमूचुरिति सम्बन्धः ॥
तामेव विशिनष्टि । प्राणमन्त्रेति ॥ मुख्यप्राणसहितवागादियङ्गे हेतु-

वको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्च-
कार ॥ ३ ॥ ते ह यथैवैदं वहिष्यमानेन
स्तोष्यमाणाः संरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृष्टे
ह समुपविश्य हिञ्चक्रुः । ४ । ॐमदार्मो

क्षिताः स्मो वै इत्येवमुक्तवन्तः । स श्वा श्वेतान् क्षुल्ल-
कान् शुन इहैवास्मिन्नेव देशे मा मां प्रातःकाल उपसमी-
यातेति । दैर्घ्यं छान्दसं समीयातेति प्रमादपाठो वा ।
प्रातःकालकरणं तत्काल एव कर्त्तव्यार्थम् । अन्नदस्य वा
सवितुरपराङ्मेनाभिमुख्यात्तत्रैव ह वको दाल्भ्यो ग्लावो
वा मैत्रेय ऋषिः प्रतिपालयाञ्चकार प्रतीक्षणं कृतवा-
नित्यर्थः ॥

ते श्वानस्तत्रैवागत्य ऋषेः समक्षं यथैवेह कर्मणि वहि-
ष्यमानेन स्तोत्रेण स्तोष्यमाणा उद्गातपुरुषाः संरब्धाः

भाह । स्वाध्यायेति ॥ अन्यथा वाक्यमनिर्द्धारितं स्यादिति भावः । किमि-
त्यन्नं भवद्भगो मया सम्पाद्यते । न हि भवतामभोक्तृणां तेन कृतमस्ती-
त्यःशङ्क्य त्वद्विषयेतनद्वारेणास्माकमपि भोगसिद्धेर्भैवमित्याह । अशना-
याम वा इत्यादिना ॥ किमिति प्रातःकालप्रतीक्षणं कृतं तत्राह । प्रात-
रिति । उद्गानस्येति शेषः ॥ प्रातःकालप्रतीक्षणकरणे कारणान्तरभाह ।
अन्नदस्येति ॥ तस्य वृष्टिद्वाराक्षदत्वमेष्टव्यम् ॥ तद्वेत्यादि व्याचष्टे ।
तत्तत्रेति ॥ ऋषेरन्नकामत्वमितोऽवगतम् ॥

ते हेत्यादि व्याकरोति । ते श्वान इति । समक्षमासृष्टपुरिति
सम्बन्धः । उद्गातपुरुषा इत्यध्वर्युप्रसूता यजमानपर्यन्ता गृह्यान्ते अन्यो-

पिबामो॑ दैवो वरुणः प्रजापतिः सविता२ऽ-
न्नमिहा२ऽहरदऽन्नपते२ऽन्नमिहाहरा२ऽह-
रो३मिति । ५ । द्वादशः खण्ड ॥ १२ ॥

संलग्नाः अन्योऽन्यमेव सर्पन्ति । एवं मुखेनान्योन्यस्य पुच्छं
गृहीत्वा आसहपुराहप्रवन्तः परिभ्रमणं कृतवन्त इत्यर्थः ।
त एवं संख्य समुपविश्योपविष्टाः सन्तो हिञ्चकुर्हिङ्कारं
कृतवन्तः । ओमदामो॑ पिबामो॑ । देवो द्योतनात् । वरुणो
वर्षणाज्जगतः । प्रजापतिः पालनात्प्रजानाम् । सविता प्रस-
वित्वात्सर्वस्यादित्य उच्यते । एतैः पर्यायैः स एवम्भूत आ-
दित्योऽन्नमस्रभ्यमिहाहरत् आहरत्विति । त एवं हिं कृत्वा
पुनरप्युचुः । स त्वं हे अन्नपते । स हि सर्वस्यान्नस्य प्रसवि-
त्वात्पतिः । न हि तत्पाकेन विना प्रसूतमन्नमणुमात्रमपि
जायते प्राणिनाम् । अतोऽन्नपतिः । हेऽन्नपते ऽन्नमस्रभ्य-
मिहाहरेति । अभ्यास आदरार्थः । ॐमिति ॥ १२ ॥

ऽन्यसंलग्नाः सर्पन्तीति शेषः ॥ हिङ्काररूपमाह । ओमित्यादिना ॥
त्रिवारभोङ्कारो गानार्थसञ्चारितः । अदाम अशनं करवाम । पिबाम
पानं करवामेत्येतत् । इति शब्दो हिङ्कारसमाख्यर्थः ॥ अत्र प्रसवित्व-
मादित्यस्य साधयति । न ह्येति ॥ इहेति प्रकृतदेशोक्तिः । ओंकारः
सवित्प्रार्थनामन्त्रसमाख्यर्थः । भक्तिविषयोपास्तिसमाख्यर्थमिति पदम् ॥ १२ ॥

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकार-
अन्द्रमा अथकारः ।

भक्तिविषयोपासनं सामावयवसम्बन्धमित्यतः सामावय-
वान्तरस्तोभाक्षरविषयाण्युपासनान्तराणि संहतान्युपदि-
श्यन्ते । अनन्तरं सामावयवसम्बद्धत्वाविशेषादयं वा वायमेव
लोको वा हाउकारः स्तोभो रथन्तरे साम्नि प्रसिद्धः । इयं
वै रथन्तर इति । अस्मात्सम्बन्धसामान्याद्वाउकारस्तोभो-
ऽयं लोक इत्येवमुपासीत । वायुर्हाइकारः । वामदेव्ये सामनि
हाइकारः प्रसिद्धः । वाय्वस्यसम्बन्धश्च वामदेव्यस्य साम्नो

ननु भक्तिसम्बन्धानामुपासनानां ज्ञातत्वात्प्रसक्तस्येत्यादि वक्तव्ये
किमनन्तरस्यण्डेनेत्याशङ्काह । भक्तीति ॥ इत्यतोऽस्मात्प्रसङ्गादिति
यावत् । ऋगक्षराणि गीयन्ते तद्वतिरिक्तानि वाच्यन्तानि गीतिसि-
द्धानि स्तोभाक्षराणि परिभाष्यन्ते तानि च कर्मापूर्वनिवृत्तिद्वारेण
फलवत्त्वादुपास्यानि तदुप्राप्तिविधिपरमुत्तरवाक्यमित्यर्थः ॥ वक्ष्यमाणो-
पासनानां प्रत्येकं स्वातन्त्र्यं नास्तीत्याह । संहतानीति ॥ तेषामनन्तर-
सुपदेशे हेतुमाह । सामावयवेति ॥ न चैवंविधस्तोभो नास्तीति वाच्य-
मित्याह । रथन्तर इति ॥ तथापि कथं पृथिवीदृश्या यथोक्तस्तोभस्योपा-
स्यत्वं तत्वाह । इयं रथन्तर इति ॥ इयं रथन्तर इत्यत्र पृथिव्या रथन्त-
रत्वं श्रुतम् । प्रस्तुतश्च स्तोभो रथन्तरेऽस्तीत्युक्तम् । तथा च यथोक्तात्सम्बन्ध-
रूपात्सादृश्यात्पृथिवीदृश्या हाउकार उपास्य इत्यर्थः ॥ कथं पुनर्वायुदृश्या
हाइकारस्योपास्यत्वं तत्वाह । वाय्वस्यसम्बन्धेति ॥ हाइकारो वामदेव्ये-
साम्नि प्रसिद्धः । तस्य च वायोरुपास्य सम्बन्धः । योनिर्भूतनेष्ठावतीना-
मेषां वायुः पृथेक्यवर्त्तत ततो वामदेव्यं सामाभवदिति श्रुतेः । तस्माद्य-

आत्मेहकारोऽग्निरीकारः । १ । आदित्य
 उकारः निहव एकारो विश्वे देवा औहो-
 इकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या
 वाग्विराट् । २ । अनिरुक्तस्तयोदशस्तोभः
 सञ्चारो हुंकारः । ३ ।

योनिरिति । अस्मात्सामान्याद्वाइकारं वायुदृष्ट्योपासीत ।
 चन्द्रमा अथकारः । चन्द्रदृष्ट्याऽथकारमुपासीत । अन्ने
 हीदं स्थितं अन्नात्मा चन्द्रः । यकाराकारसामान्यात् ।
 आत्मा इहकारः । इहेति स्तोभः । प्रत्यक्षो ह्यात्मा
 इहेति व्यपदिश्यते । इहेति च स्तोभः । तस्मात्सामान्यादग्नि-
 रीकार इति । ईनिधानानि चाग्नेयानि सर्वाणि सामानीति ।
 अतस्तस्मात्सामान्यादादित्य उकारः । अञ्चैरुर्द्धं सन्तमादित्यं

योक्ताहामदेव्य सामसम्बन्धसामान्याद्वायुदृष्ट्या इहकारमुपासीत-
 त्यर्थः ॥

कथमथकारस्य चन्द्रदृष्ट्योपासनं तत्राह । अन्ने हीति ॥ तथा च
 यकारसामान्याद्यथोक्तोपास्तिसिद्धिरिति शेषः । यकारवदकारसामा-
 न्याच्च चन्द्रदृष्ट्याऽथकारमुपासीतेत्याह । यकारेति ॥ अथकारे तावद्युक्तो-
 ऽकारोऽस्मात्तन्नि चन्द्रमस्यपि सोऽस्तीति तद्युक्तं यथोक्तमुपासनमित्यर्थः ।
 प्रथममप्रत्यक्षः पश्चात्प्रत्यक्षोभवन्निति शेषः । तस्मात्सामान्यमिहेति व्यपदिश्य-
 मानत्वम् । तस्मादात्मदृष्टिरिहेति स्तोभे कर्त्तव्येत्याह । तस्मात्सा-
 मान्यादिति ॥ अग्निदृष्टिरीकाराख्ये स्तोभाक्षरे कर्त्तव्येत्यत्र हेतु-
 माह । ईनिधानानीति ॥ ईकारो निधीयते येषु सामसु तान्या-
 ग्नेयानि प्रसिद्धानि । तथा च तेष्वग्निरीकारं हेतुभयोर्भावादस्मात्सा-
 दृष्ट्यादीकारमग्निदृष्ट्योपासीतेत्यर्थः ॥ अकारमादित्यदृष्ट्या कथमुपा-

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवान-
न्नादो भवति य एतामेव॥ साम्नामुपनिषदं वेदो-
पनिषदं वेद इति ॥ ४ ॥ तृतीयस्य त्रयोदशः
खण्डः ॥ १३ ॥ इति छान्दोग्योपनिषद्ब्राह्मणे प्रथमः
प्रपाठकः समाप्तः ॥ १ ॥

गायन्तीत्युकारश्चायं शोभः । आदित्यदैवत्ये साम्नि शोभ
इत्यादित्य ऊकारः ॥ निहव इत्याह्वानमेकारः शोभः ।
एहीति चाह्वयन्तीति तत्त्वामान्यात् । विश्वे देवा औहोइ-
कारो वैश्वदेव्ये साम्नि शोभस्य दर्शनात् । प्रजापतिर्हि-
ङ्कारः । अनिरुक्त्याङ्घ्रिङ्कारस्य चाव्यक्तत्वात् । प्राणः स्वरः ।
स्वर इति शोभः । प्राणस्य च स्वरहेतुत्वसामान्यात् । अन्नं
या । या इति शोभोऽन्नम् । अन्नेन हीदं यातीतस्तत्त्वामा-

सीतेत्याशङ्क्याह । उच्चैरिति ॥ ऊकारादित्ययोर्विधान्तरेण सादृश्यमाह ।
आदित्येति ॥ एकारसामान्याङ्घ्रिहवद्विरेकारे शोभे कार्येत्याह । निहव
इत्यादिना ॥ औहोइकारस्य विश्वेदेवद्व्योपासौ हेतुमाह । वैश्वदेव्य
इति ॥ प्रजापतिद्व्यङ्घ्रिङ्कारोपास्यत्वे हेतुः । अनिरुक्तादिति ॥ नील-
पीतदिक्पेण निरुक्त्यविषयत्वात्प्रजापतेरित्यर्थः । अव्यक्तत्वाद्द्रुपादि-
रहितत्वादित्यर्थः । प्राणस्य चेति चकारात्स्वरस्य चेत्यर्थः ॥ स्वरहेतुत्वं
तन्निर्दिष्टकत्वेन तदात्मकत्वम् । वाक्यं व्याचष्टे । या इतीति ॥ अन्नद्वयि
इति शोभे कर्त्तव्येत्यत्र हेतुमाह । अन्नेनेति ॥ विराड्द्विर्वागिति शोभे
कार्येत्यत्र हेतुमाह । वैराज इति ॥ अनिरुक्तः कारणात्मा ॥ तस्या-
निरुक्तत्वं साधयति । अव्यक्तत्वादिति ॥ स चानेकधा कार्यरूपेण रुद्ध-

न्यादागिति स्तोभो विराडन्व देवताविशेषो वा । वैराजे
 सान्नि स्तोभदर्शनात् । अनिरुक्तोऽव्यक्तत्वादित्दं चेदद्येति
 निर्वृत्तुं न शक्यत इत्यतः सञ्चरो विकल्पमानस्वरूप इत्य-
 र्थः । कोऽसावित्याह । ऊङ्कारः । अव्यक्तो ह्ययमतोऽनिरुक्त-
 विशेष एवोपास्य इत्यभिप्रायः । स्तोभाच्चरोपासनाफलमाह ।
 दुग्धेऽस्यै वाग्दोहमित्याद्युक्तायेम् । य एतामेवं यद्योक्तल-
 क्षणां सान्नां सामावयवस्तोभाच्चरविषयामुपनिषदं दर्शनं
 वेद तस्यैतद्योक्तं फलमित्यर्थः ॥ द्विरभ्यासोऽध्यायसमा-
 प्त्यर्थः । सामावयवविषयोपासनाविशेषपरिसमाप्त्यर्थ इति-
 शब्दः ॥ १३ ॥ इति श्रीमद्भोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंस-
 परिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ छान्दोग्यो-
 पनिषद्विवरणे प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ १ ॥

रतीति सञ्चरः । ऊङ्कारोऽपि शाखाभेदेन विकल्पमानस्वरूपस्त्ववेद-
 शब्दायं वावेत्यारभ्य गग्यमानस्ततश्च कारणदृष्ट्या ऊङ्कारमुपासी-
 र्थः ॥ उक्तमेवोपपादयति । अव्यक्तो ह्येति ॥ तत्र विकल्पमानत्वं हेतुः ।
 नैतानि व्यस्तान्युपासनानि प्रत्येकं फलाश्रवणात् । समस्तं पुनरेकमिद-
 मुपासनमेकफलत्वादित्यभिप्रेत्याह । स्तोभाच्चरेति ॥ उपनिषदं वेदोप-
 निषदं वेदेत्याहत्तेस्तात्यर्थमाह । द्विरभ्यास इति ॥ प्रथमप्रपाठक-
 व्याख्यानसमाप्ताविति शब्दः ॥ १३ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकशु-
 क्तानन्दपूज्यपादशिष्यभगवानन्दज्ञानकृतायां छान्दोग्यभाष्यटीकायां
 प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

ॐ ॥ समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु
यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसा-
मेति ॥१॥ तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति सा-
धुनैनमुपागादित्येव तदाहुः साम्नैनमुपागादित्य-

ओमित्येतदक्षरमित्यादिना सामावयवविशेषमुपासन-
मनेकफलमुपदिष्टम् । अनन्तरञ्च स्तोभाक्षरविषयमुपासन-
मुक्तम् । सर्वथापि सामैकदेशसम्बद्धमेव तदिति । अथे-
दानीं समस्ते साम्नि समस्तसामविषयाण्युपासनानि वक्ष्या-
मीत्यारभते श्रुतिः । युक्तं ह्येकदेशोपासनानन्तरमेकदेश-
विषयमुपासनमुच्यत इति । समस्तस्य सर्वावयवविशिष्टस्य
पाञ्चभक्तिकस्य साप्तभक्तिकस्य चेत्यर्थः । खल्विति वाक्यालङ्का-
रार्थः । साम्न उपासनं साधु । समस्ते साम्नि साधुदृष्टिवि-

ओं पूर्वोत्तरप्रपाठकयोः सङ्गतिं दर्शयति । ओमित्येतदित्यादिना ॥
सर्वथापि सामावयवविषयत्वे स्तोभाक्षरविषयत्वे चेत्यर्थः । इतिशब्दो
हेत्यर्थः ॥ यस्मादेकदेशविषयाण्युपासनानि वृत्तानि तस्मात्तानि समस्त-
विषयाणि वक्तव्यानीत्यर्थः । एकदेशोपास्तव्यं ख्यानन्तर्यमथशब्दार्थः ॥
कथमुक्तवक्ष्यमाणोपासनयोरिदं पौर्व्यापर्थं तत्राह । युक्तं ह्येति ॥
समस्तस्योपासनं साध्विति वचनादवयवोपासनं निन्दितत्वादननुष्ठेय-
मित्याशङ्क्याह । समस्त इति ॥ अर्थादस्ति निन्देति शङ्कते । नन्विति ॥
पूर्वत्वापि साधुत्वस्य विद्यमानस्यैव विशेषणत्वेनानुपादानाच्चाद्यादपि
निन्देति परिहरति । न साध्विति ॥ यस्मात्खल्वित्यादिव्याख्यातं पातनि-
कामाह । साधुशब्द इति ॥ वाक्यसवताश्च व्याचष्टे । कथमित्यादिना ॥

साधुनैः सुपागादित्येव तदाहुः ॥२॥ अथोताप्या-
हुः साम नो वतीति यत्साधु भवति साधु वतीत्येव
तदसाधु साम नो वतीति यदसाधु भवत्यसाधु

विपरित्याज्य पूर्वोपासनमिन्दार्थत्वं साधु शब्दस्य । ननु लोके
पूर्वजाविद्यमानं साधुत्वं समस्तं साम्नाभिधीयते । न साधु
सामेत्युपास इत्युपसंहारात् । साधुशब्दः शोभनवाची ।
कवमवगम्यत इत्याह । यत्पुनः लोके साधुशोभनमनवद्यं
प्रसिद्धं तस्मात्सामेत्यावक्षते कुशलाः । यदसाधु विपरीतं
तदसामेति ।

तत्तत्रैव साध्वसाधुविवेककरणे उताप्याहुः । साम्ना एनं
राजानं सामन्तस्योपागादुपगतवान् । कोऽसौ । यतोऽसा-
धुत्वप्राप्तप्राशङ्का स इत्यभिप्रायः । शोभनाभिप्रायेण साधु-
नैः सुपागादित्येव तत्तत्राहुः लाजिका बन्धनाद्यसाधुकार्य-
मपश्यन्तः । यत् पुनर्विपर्यये बन्धनाद्यसाधुकार्यं पश्यन्ति
तत्तत्साम्नैः सुपागादित्यसाधुनैः सुपागादित्येव तदाहुः ॥२॥

किं पुनरेवं विवेककरणे कारणमित्याशङ्क्याह । तत्तत्रेति ॥ विवेक-
करणोपायभेदविकल्पार्थकृतेत्युभयत्र पदं साम्नैः नमित्यादिना साधुने-
त्यादिवाक्यस्य पौनरुक्त्यमाशङ्क्य व्याख्याव्याख्येयभावात् नैवमित्याह ।
शोभनेति ॥ शोभनकार्यदर्शने सतीति यावत् ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह ।
बन्धनादिति ॥ असाम्नैत्यादि व्याचष्टे । यत्रेति ॥

कार्यगम्यं साधुत्वमसाधुत्वञ्चोक्ता स्वानुभवगम्यं तदुपपन्नमिति ।
अथेति ॥ कार्यास्तस्य साधुत्वादिविवेकानन्तर्यमयशब्दार्थः ॥ स्वसंवेदं
साधुत्वमसाधुत्वञ्चेति शेषः ॥ तत्र साधुत्वं स्वानुभवसिद्धमित्येतदुत्पा-

वतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥ स य एतदेवं विद्वान्साधु
सामेत्युपास्तेभ्यः शो ह यदेन साधवो धर्मा
आ च गच्छेयुरूपचनमेयुः ॥ ४ ॥ चतुर्थस्य प्रथमः
खण्डः ॥ १ ॥

अथोतायाहुः स्वसंवेद्यं सामं नोऽस्माकं वतेत्यनुकम्पयतः
मंरुत्तमित्याहुः । एतत्तैरुक्तं भवति यत्साधु भवति साधु
वतेत्येव तदाहुः । विपर्यये जातेऽसाम नोवतेति । यद-
साधु भवत्यसाधु वतेत्येव तदाहुः । तस्मात्सामसाधुशब्दयो-
रेकार्थत्वं सिद्धम् ।

अतः स यः कश्चित्साधुसामेति साधुगुणवत्सामेत्युपास्ते
समस्तं सामसाधुगुणवद्विद्वांसस्यैतत्फलमभ्याशो ह क्षिप्रं
यदिति क्रियाविशेषणार्थमेनमुपासकं साधवः शोभनधर्माः
श्रुतिस्मृत्यविरुद्धा आ च गच्छेयुरागच्छेयुश्च न केवल-
मागच्छेयुरूपचनमेयुरूपचनमेयुश्च भोग्यत्वेनोपतिष्ठेयुरि-
त्यर्थः ॥ १ ॥

दयति । सामेति ॥ यत्साध्वित्यादिवाक्यस्य पूर्वेषु यौनरुक्त्वमाशङ्क्यते ।
एतदिति ॥ असामेत्यादि व्याचष्टे । विपर्यय इति ॥ वतेत्याहुः रिति
सम्बन्धः ॥ किन्तैरुक्तं भवति तदाह यदसाध्विति ॥ साधुशब्दः शोभनवाची-
त्युक्तमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ तयोरेकार्थत्वमतः शब्दार्थः ॥ उपासकमेव
मिश्रितं । समस्तमिति ॥ आगच्छेयुरिति यत्तत्त्वप्रमेवेति क्रियावि-
शेषणत्वं यदित्यस्य दूष्टव्यम् ॥ १ ॥

लोकेषु पञ्चविधं मामोपासीत पृथिवी हि- ङ्गारः ।

कानि पुनस्तानि साधुदृष्टिविशिष्टानि समस्तानि
सामान्यपास्यानि ति । इमानि तान्युच्यन्ते लोकेषु पञ्चविध-
मित्यादीनि । ननु लोकादिदृष्ट्या तान्युपास्यानि साधु
दृष्ट्या चेति विरुद्धम् । न । साध्वर्थस्य लोकादिकार्येषु
कारणस्यानुगतत्वात् । नृदादिवह्ण्टादिविकारेषु । साधु-
शब्दवाच्योऽर्थो धर्मो ब्रह्म वा सर्वथापि लोकादिकार्येष्वनु-
गतम् । अतो यथा यत्र घटादिदृष्टिर्नृदादिदृष्ट्यनुगतैव
सा । तथा साधुदृष्ट्यनुगतैव लोकादिदृष्टिः । धर्मादि-
कार्यत्वालोकादीनाम् ॥

यद्यपि कारणत्वमविशिष्टं ब्रह्मधर्मयोः । धर्म एव साधु-
शब्दवाच्य इति युक्तं साधुकारी साधुभवेतीति । धर्माव-

एकस्योभयदृष्टिविषयत्वमयुक्तम् ॥ नहि पटे दृष्टिगोचरः सन् पटदृष्टे-
रपि गोचरः स्यादिति शङ्कने । नन्विति ॥ एकस्मिन्नपि प्रस्तुतं दृष्टिद्वय-
मविरुद्धमिति समाधत्ते । न साध्वर्थस्येति ॥ यथा घटादिषु नृदाद्यनुगतं
तथा साधुशब्दार्थस्य कारणस्य लोकादिषु कार्येष्वनुगतत्वात्तद्वदौ साधु-
दृष्टेरनुगमाम् दृष्टिद्वयस्यैकत्वं विरोधोऽस्त्यर्थः ॥ तदेव स्फुटयति ।
साधुशब्देति ॥ साध्वर्थस्य लोकेष्वनुगतिरपिशब्दार्थः । यत्नेति देव-
दत्तोक्तिः । सा घटादिदृष्टिस्तत्वेति शेषः ॥

ननु साधुशब्दार्थो धर्मोऽर्थोऽस्तीति कारणत्वम् । तथा चात्र साधु-
शब्दार्थो न व्यवस्थितः सदन्यायज्ञानेकार्थत्वमित्याशङ्गाह । यद्य-

पथे साधुशब्दप्रयोगात् । ननु लोकादिकार्येषु कारणस्या-
नुगतत्वादर्थप्राप्तैव तद्वदिरिति साधु सामेत्युपास्त इति न
वक्तव्यम् । न । शास्त्रगम्यत्वात्तद्वदः । सर्वत्र हि शास्त्रप्रा-
पिता एव धर्मा उपास्या न विद्यमाना अप्यशास्त्रीयाः ।
लोकेषु पृथिव्यादिषु पञ्चविधं पञ्चभक्तिभेदेन पञ्चप्रकारं
साधु समस्तं सामोपासीत । कथम् । पृथिवी हिङ्गारः ।
लोकेष्विति या सप्तमी तां प्रथमात्वेन विपरिणम्य पृथिव्या-
दिदृष्ट्या हिङ्गारे पृथिवी हिङ्गार इत्युपासीत ॥

पीति ॥ धर्म एवेत्यत्र तथापीति च वक्तव्यम् । ब्रह्मणि तु परमानन्दे
साधुशब्दो भक्त्या गमयितव्यः । न च धर्मस्य निमित्तकारणत्वाच्च कार्यानु-
गतिरिति वाच्यम् । कर्मापूर्वसहितदधिपयःप्रभृत्यवयवसमुदायस्य धर्म-
त्वात् तत्परिणामत्वाच्च कार्यस्य । तत्र तदनुगतिसिद्धेरिति द्रष्टव्यम् ॥
अपूर्वत्वाभावेन विधिमाक्षिपति । नन्विति ॥ कारणानुगमस्यानुमानिक-
त्वेऽपि तद्वदित्वमपूर्वमेवेति परिहरति । न शास्त्रगम्यत्वादिति ॥
यश्चायं दर्शो न स चोदनार्थ इति न्यायेनोक्तं विदुषोति । सर्वत्रेति ।
लोकेष्वित्यादिवाक्ये पञ्चविधसामदृष्ट्या लोकानामुपास्यत्वप्रतीतेरत्रापि
हिङ्गारदृष्ट्या पृथिव्या ध्येयत्वे प्राप्ते प्रत्यक्षः । लोकेष्विति ॥ लोकाः
पञ्चविधं सामोपासीतेति विभक्तिविपरिणामेन प्रथमवाक्यार्थपर्यवसा-
नान् तदनुसारेणात्रापि पृथिवीदृष्ट्या हिङ्गारे ध्येये सति पृथिवी
हिङ्गार इति पृथिवीदृष्टिमारोप्य हिङ्गारमुपासीतेति द्वितीयवाक्यं
पर्यवस्यतीत्यर्थः । लोकसम्बद्धा सप्तमी हिङ्गारादिषु तत्सम्बद्धा च
द्वितीया लोकेषु नेतव्या । तथा च लोकविषया सप्तमी श्रुतिर्हिङ्गारा-
दिषु तत्सम्बद्धा च द्वितीया लोकेषु व्यत्यस्य पृथिव्यादिदृष्टिं हिङ्गा-
रादिषु कृत्वोपासीतेति पञ्चान्तरमाह ॥

अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीय आदित्यः प्रतिहारो
द्यौर्निधनमित्यूङ्क्षे ॥ १ ॥ अथाष्टत्तेषु द्यौर्हिङ्कार
आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीयोऽग्निः प्रतिरि-

व्यत्यस्य वा सप्तमीं श्रुतिं लोकविषयां हिङ्कारादिषु
पृथिव्यादिदृष्टिं कृत्वोपासीत । तत्र पृथिवी हिङ्कारः । प्राथ-
म्यसामान्यात् । अग्निः प्रस्तावः । अग्नौ हि कर्माणि प्रसू-
यन्ते । प्रस्तावश्च भक्तिः । अन्तरिक्षमुद्गीयः । अन्तरिक्षं हि
गगनम् । गकारविशिष्टमुद्गीयः । आदित्यः प्रतिहारः ।
प्रतिप्राण्यभिमुखत्वान्मां प्रति मां प्रतीति । द्यौर्निधनम् ।
दिवि निधीयन्ते हि इतो गता इत्यूङ्क्षे ॥ ऊर्द्धं गतेषु लो-
कदृष्ट्या सामोपासनम् ॥

अथाऽऽष्टत्तेष्ववाङ्मुखेषु पञ्चविधमुच्यते सामोपासनम् ।

अव्यत्यस्येति ॥ ब्रह्मादितृत्कर्षादिति न्यायेन पञ्चदशसङ्ख्या प्रतिपद्य-
वाच्ये । तत्रेति ॥ उक्तरीत्याऽन्योपासने प्रस्तुते सतीति यावत् ॥ अध्या-
सस्य सादृश्यनिबन्धनत्वाद्भक्तसादृश्याभावेऽपि यथा कथञ्चित्कल्पनीयं
मत्वाह । प्राथम्येति ॥ लोकेषु पृथिव्याः सामस्य च हिङ्कारस्य प्राथम्यमस्ति
तस्मात्सामान्यादिति यावत् ॥ अग्निदृष्ट्या प्रस्तावोपासने प्रस्तावत्व-
सामान्यमाह । अग्नौ होति ॥ अन्तरिक्षदृष्ट्योद्गीयोपासने गकारसम्बन्ध-
सादृश्यं दर्शयति । अन्तरिक्षं होति ॥ आदित्यदृष्ट्या प्रतिहारोपासने
प्रतिप्राण्यसामान्यं हेतुमाह । प्रतिप्राण्येति ॥ द्युदृष्ट्या निधनोपासने
निधनत्वसामान्यमाह । दिवीति ॥ उक्तमुपासनस्य पञ्चसंहरति । इत्यूङ्क्षे-
ष्विति ॥

अथाऽऽष्टत्तेष्विति वाक्यं व्याकरोति । अथेति ॥ पृथिवीमुख्येषु दुप-
र्यन्तेषु पञ्चविधसामोपासनकथनानन्तर्यमथशब्दार्थः ॥

क्षमुद्गीयोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥२॥
 कल्पस्ते हास्यै लोका ऊर्द्धाश्चाष्टत्ताश्च य एतदेवं
 विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ ३ ॥ द्वितीयः
 खण्डः ॥ २ ॥

गत्यागतिविशिष्टा हि लोकाः । यथा ते तथादृष्ट्यैव
 सामोपासनं विधीयते यतोऽतं आष्टत्तेषु लोकेषु । द्यौर्हि-
 ष्कारः प्राथम्यात् । आदित्यः प्रस्तावः । उदिते हि आदित्ये
 प्रसूयन्ते कर्माणि प्राणिनाम् । अन्तरिक्षमुद्गीयः पूर्ववत् ।
 अग्निः प्रतिहारः । प्राणिभिः प्रतिहरणादग्नेः । पृथिवी-
 निधनम् । तत आगतानामिह निधनात् ।

उपासनफलं कल्पन्ते समर्था भवन्ति हास्यै लोका
 ऊर्द्धाश्चाष्टत्ताश्च गत्या गतिविशिष्टा भोग्यत्वेन व्यवतिष्ठन्त
 इत्यर्थः । य एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं समस्तं साधु

पूर्वोत्तरपथयोर्भयो विरोधं शङ्कित्वा परिहरति । गत्यागतीति ॥
 यथा वा ते गतिविशिष्टास्तथादृष्ट्यैव हिङ्कारादुपासनं विहितम् । यथा
 चागतिविशिष्टास्ते तथादृष्ट्यैव तदुपासनं विधीयते । तथा च शास्त्रानु-
 सारेण क्रियमाणयोरुपासनयोर्न विरोधोऽस्तीत्यर्थः ॥ द्विविधोपास्तवि-
 षयसन्दर्भयोर्विरोधाभावमनूद्य फलितमुपासनं दर्शयति । यत इति ॥
 द्युलोकदृष्ट्या हिङ्कारस्योपास्यत्वे हेतुमाह । प्राथम्यादिति ॥ आष्टत्तौ
 द्युलोकस्थारम्भे च हिङ्कारस्य प्राथम्यं द्रष्टव्यम् ॥ आदित्यदृष्ट्या प्रस्ता-
 वस्योपास्यत्वे हेतुमाह । उदित इति । पूर्ववदिति गकारसामान्यं विव-
 क्षितम् ॥ अग्निदृष्ट्या प्रतिहारोपास्तौ हेतुमाह । प्राणिभिरिति ॥ प्रति-
 हरणमितस्ततो नयनं ॥

वृष्टौ पञ्चविधः सामोपासीत पुरोवातो हि-
 द्वारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो
 विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥१॥ उद्गृह्णाति
 तन्निधनं वर्षति हास्यै दर्शयति ह य एतदेवं
 विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधः सामोपास्ते ॥२॥ ॥३॥

गमित्युपास्त इति सर्वत्र योजना पञ्चविधे सप्तविधे
 च ॥ २ ॥

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत । लोकस्थितेर्दृष्टिनिमित्त-
 त्यादानन्तर्यं पुरोवातो हिद्वारः पुरोवाताद्युद्गृह्णान्ता
 हि वृष्टिः । यथा साम हिद्वारादिनिधनान्तं अन्तःपुरो-
 वातो हिद्वारः । प्राथम्यात् । मेघो जायते स प्रस्तावः ।
 प्रावृषि मेघोपजनने वृष्टेः प्रस्ताव इति हि प्रसिद्धिः ।
 वर्षति स उद्गीथः । श्रैष्ठ्यात् । विद्योतते स्तनयति स प्र-
 त्तहारः प्रतिहृतत्वात् । उद्गृह्णाति तन्निधनं समाप्तिनामा

साध्वितिपदं सर्वत्र द्रष्टव्यमित्याह । इति सर्वत्रेति ॥ सर्वत्रेत्यस्य
 वशाख्या । पञ्चविधे इत्यादि ॥ २ ॥

ननु लोकदृष्ट्या सामोपास्यान्तरं किमिति दृष्टिदृष्ट्या तदुपास्तिरूप-
 न्यस्यते तत्राह । लोकस्थितेरिति ॥ पुरोवातदृष्ट्या हिद्वारोपासने
 हेतुमाह । पुरोवातादिति ॥ उद्गृह्णं वर्षेयसंहरणम् ॥ अतःशब्दार्थ-
 माह । प्राथम्यादिति ॥ मेघजन्यदृष्ट्या प्रस्तावोपासने हेतुमाह । प्रावृ-
 षीति ॥ वर्षणदृष्ट्योद्गीथोपासने हेतुमाह । श्रैष्ठ्यादिति ॥ विद्योतनस्त-
 नयितृदृष्ट्या प्रतिहारोपासने कारणमाह । प्रतिहृतत्वादिति ॥ विद्युतां
 स्तनयितृनाञ्च प्रतिहृतत्वं विप्रकीर्णत्वं तेन प्रतिशब्दसादृश्याद्विद्योत-

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत मेघो
यत् समुन्नवते स हिङ्गारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः
प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रति-
हारः समुद्रो निधनम् ॥१॥ न हाप्सु प्रैत्यप्सु-
मान् भवति य एतदेवं विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्च-
विधं सामोपास्ते ॥ २ ॥ ॥ ४ ॥

न्यात् । फलमुपासनस्य वर्षति हास्मा इच्छातः । तथा वर्ष-
यति इ असत्यामपि वृष्टौ य एतदित्यादि पूर्ववत् ॥३॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत । वृष्टिपूर्वकत्वात्सर्वा-
सामपामानन्तर्यम् । मेघो यत्समुन्नवते एकीभावेनेतरेतरं
घनीभवति मेघो यदा उद्गतो वा तदा समुन्नवत इत्युच्यते ।
मेघस्तदाऽपामारिन्मः स हिङ्गारः । यद्वर्षति प्रस्तावः ।
आपः सर्वतो व्याप्तुं प्रस्तुताः । प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथः ।
श्रेयात् । याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः प्रतिहारसामान्यात् ।

नादिदृष्ट्या कर्त्तव्या प्रतिहारोपास्तिरित्यर्थः । उद्गृह्यणदृष्ट्या निधनो-
पासने निदानमाह । समाप्नोति ॥ वर्षति पर्याये तदनुमन्तृत्वमकिञ्चि-
त्करमित्याशङ्क्याह । असत्यामपीति ॥ ३ ॥

किमिति वृष्टिदृष्टेरनन्तरमपि वृष्टिः साम्नि लिप्यते तस्माह । वृष्टि-
पूर्वकत्वादिति ॥ मेघसमुन्नवदृष्ट्या हिङ्गारमारम्भसामान्यादुपासीतेत्याह ।
मेघ इति । वर्षदृष्ट्या प्रस्तावस्योपास्यत्वे हेतुमाह । आप इति ॥ प्राच्यो
नद्यो गङ्गाद्याः । प्रतीच्यस्तु नर्मदाद्या इति भेदः । तर्हि गङ्गादाव-

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत वसन्तो हिङ्गारो
 ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो
 हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥ कल्पन्ते हास्मा ऋतव
 ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्ऋतुषु पञ्चविधं
 सामोपास्ते ॥ २ ॥ ५ ॥

समुद्रो निधनम् । तन्निधनत्वादपाम् । न हाप्सु प्रैति ।
 नेच्छति चेत् । अप्सुमान् भवति फलम् ॥ ४ ॥

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत । ऋतुव्यवस्थाया यथो-
 क्ताग्निमित्तत्वादानन्तर्यम् । वसन्तो हिङ्गारः प्राथम्यात् ।
 ग्रीष्मः प्रस्तावः । यवादिसङ्ग्रहः प्रस्तूयते हि प्राह उर्थम् ।
 वर्षा उद्गीथः प्राधान्यात् । शरत्प्रतिहारो रोगिणां ऋता-
 नाञ्च प्रतिहरणात् । हेमन्तो निधनं निवाते निधानात्
 प्राणिनां फलं कल्पन्ते च ऋतुव्यवस्थानुरूपं भोग्यत्वेना ।
 स्मा उपामकार्त्तवः । ऋतुमानार्त्तवैर्भोगैश्च सम्पन्नो भव-
 तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

मेवितमपि मरणं न स्यादिति चेत्तत्राह । नेच्छति चेदिति ॥ असा-
 पासको मरुस्थलोऽपि यथेच्छसुदकवान्भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

किमिति सखिलदृष्टान्तरऋतुदृष्टिः सामान्यरोष्यते तत्राह । ऋतु-
 व्यवस्थाया इति ॥ ऋतुव्यवस्थानुरूपं तत्र क्रियाविशेषणम् ॥ कस्यचिदनु-
 पासितरपि क्रमेण तत्तद्वत्फलभोगभागितोपपत्तेर्नेदमुपासनात्तुरूपं फल-
 मित्याशङ्काह । ऋतुमानिति ॥ सम्पन्नो सर्वदा स्वेच्छावशादिति शेषः ॥ ५ ॥

पशुषु पञ्चविधं सामोपासीताजा हिङ्गारो
 अवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो
 निधनम् ॥ १ ॥ भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्
 भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधं सा-
 मोपास्ते ॥ २ ॥ ॥ ६ ॥

पशुषु पञ्चविधं सामोपासीत । सम्यग्दृष्टेष्टुषु पशव्यः
 काल इत्यानन्तर्यः । अजा हिङ्गारः प्राधान्यात्प्राथम्याद्वा ।
 अजः पशूनां प्रथम इति श्रुतेः । अवयः प्रस्तावः साह-
 चर्यदर्शनादजावीनाम् । गाव उद्गीथः श्रैष्ट्यात् । अश्वाः
 प्रतिहारः प्रतिहरणात्पुरुषाणाम् । पुरुषो निधनं पुरुषा-
 श्रयत्वात्पशूनाम् । फलं भवति हास्य पशवः पशुमान् भवति ।
 पशुफलैश्च भोगत्यागादिभिर्युज्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अतद्व्यनन्तरं सान्निः पशुदृष्टारोपकारणमाह । सम्यगिति ॥ अजा-
 दृष्ट्या हिङ्गारोपासने हेतुद्वयमाह । प्राधान्यादित्यादिना ॥ अजः या
 यज्ञसम्बन्धात्प्राधान्यम् । प्राथम्यन्त प्रथमपाठादिति द्रष्टव्यम् । प्राङ्गणो
 मनुष्याणामजः पशूनां तस्मात्ते सुख्या सुष्ठतो ह्युच्यन्तेति श्रुतिमजा-
 प्राधान्ये प्रमाणयति । अज इति ॥ तस्माज्जाता अजावय इति श्रुते-
 रजानामवीनाश्च साहचर्यं हिङ्गारप्रस्तावयोश्च साहचर्यं प्रसिद्धम् । पशु-
 मान् भवतीत्यस्य पूर्वेषु पौनरुक्त्यं परिहरति । पशुफलैश्चेति । ६ ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत
प्राणो हिङ्कारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुर्हृद्गीयः श्रोत्रं प्रति-
हारो मनो निधनं परोवरीयाऽसि वैतानि ॥१॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत । परम्परं
परोवरीयस्त्वगुणवत्प्राणदृष्टिविशिष्टं सामोपासीतेत्यर्थः ।
प्राणो प्राणो हिङ्कारः । उत्तरोत्तरवरीयसां प्राथम्यात् ।
वाक्प्रस्तावः । वाचा हि प्रस्तूयते सर्वम् । वाग्वरीयसी
प्राणादप्राप्तमप्युच्यते । वाचा प्राप्तस्यैव तु गन्तव्यं ग्राहकः
प्राणः । वाचो बह्वतरविषयं प्रकाशयति । चक्षुरतो वरीयो
वाच उद्गीयः श्रेष्ठ्यात् । श्रोत्रं प्रतिहारः । प्रतिहृतत्वात् ।
वरीयश्चक्षुषः सर्वतः श्रवणात् । मनो निधनम् । मनसि हि
निधीयन्ते पुरुषस्य भोग्यत्वेन सर्वेन्द्रियाहृतविषयाः ।
वरीयस्त्वं च श्रोत्रान्मनसः सर्वेन्द्रियविषयव्यापकत्वात् ।
अतीन्द्रियविषयोऽपि मनसो गोचर एवेति यथोक्तहेतुभ्यः

पशुप्रसूतपयोदृतादिनिमित्तत्वात्प्राणस्थितेस्तद्वच्चानन्तरं प्राणदृष्ट्या सा-
मोपासितं प्रस्तौति । प्राणोऽस्त्विति ॥ प्राणशब्दस्य मुख्यप्राणविषयत्वं व्याव-
र्त्तयति । प्राण इति ॥ मुख्यप्राणादुत्तरेषां वरीयस्त्वासम्भवात्तस्य सर्व-
श्रेष्ठताया निङ्कारितत्वात्परम्परं वरीयसां वागादीनां मध्ये प्रथमभा-
वित्वेनोक्तत्वादप्राण एवात्र प्राणशब्द इत्यर्थः ॥ कथं प्राणाद्वाचो वरी-
यस्त्वं तत्वाह । वाचेति ॥ अप्राप्तत्वं व्यवहितत्वम् ॥ चक्षुषो वरीयस्त्वं
साधयति । वाच इति ॥ शब्दस्येति यावत् । वाचः शब्दात्प्रकाशादित्यर्थः ॥
उद्गीयत्वे चक्षुषो हेतुमाह । श्रेष्ठ्यादिति ॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह
लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं
परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥
२ ॥ ७ ॥

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधं सामोपा-
सीत यत्किञ्च वाचो ऊं इति स हिङ्कारो यत्प्रेति
स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १ ॥

परोवरीयांसि प्राणादीनि वै एतानि । एतद्व्या विशिष्टं
यः परोवरीयः सामोपास्ते परोवरीयो हास्य जीवनं
भवतीति उक्तार्थमिति तु पञ्चविधस्य साम्न उपासनसुक्त-
मिति सप्तविधे वक्ष्यमाणविषये बुद्धिसमाधानार्थम् । निर-
पेक्षो हि पञ्चविधे वक्ष्यमाणे बुद्धिं समाधित्सति ॥ ७ ॥

अथानन्तरं सप्तविधस्य समस्तस्य साम्न उपासनं साधि-
दमारभ्यते । वाचीति सप्तमी पूर्ववत् । वाग्दृष्टिविशिष्टं
सप्तविधं सामोपासीतेत्यर्थः । यत्किञ्च वाचः शब्दस्य ऊं
इति यो विशेषः स हिङ्कारो हकारसामान्यात् । यत्प्रेति
शब्दरूपं स प्रस्तावः प्रसामान्यात् । यदा इति स आदिः ।
आकारसामान्यात् । आदिरित्योङ्कारः । सर्वादित्वात् ।

मनसो वरीयस्त्वे हेतुनरमाह । अतोन्निवेति ॥ इति वरीयस्त्वमिति
पूर्वेषु सन्बन्धः । अप्राप्तमप्युच्यते वाचेत्यादयो यथोक्तहेतवः ॥ उक्तोप-
संहारविरहेऽपि वक्ष्यमाणे बुद्धिसमाधानं किं न स्यादित्याशङ्क्याह ।
निरपेक्षो ह्येति ॥ ७ ॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो
 यदुपेति स उपद्रवो यन्त्रीति तन्निधनम् ॥ २ ॥
 दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो
 भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधः सामो-
 पास्ते ॥ ३ ॥ ॥ ८ ॥

अथ खल्वमुमादित्यः सप्तविधः सामोपासीत
 सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण
 समस्तेन साम ॥ १ ॥

यदुदिति स उद्गीथः । उत्पूर्वत्वादुद्गीथस्य । यत्प्रतीति स
 प्रतिहारः । प्रतिसामान्यात् । यदुपेति स उपद्रव उपोप-
 क्रमत्वादुपद्रवस्य । यन्त्रीति तन्निधनं । निश्चयसामान्यात् ।
 दुग्धेऽस्मा इत्याद्युक्तार्थम् ॥ ८ ॥

अवयवभावे साम्नि आदित्यदृष्टिः पञ्चविधेषु उक्ताः प्रथमे
 चाध्याये । अथेदानीं खल्वमुमादित्यं समस्ते साम्नावयव-

अधिकसङ्ख्याज्ञानस्याल्पसङ्ख्याज्ञानपूर्वकत्वात्पञ्चविधोपासनानन्तरं सप्त-
 विधोपासनं प्रसीति ॥ अथेति ॥ पूर्ववक्तोक्तोऽस्ति वत्सप्रसी च नेत-
 व्यर्थः ॥ वाक्शब्देन शब्दसामान्यसुच्यते तत्सप्रथा प्रविभक्तसामावय-
 वेष्वायोपासनं कर्त्तव्यमिति वाक्यार्थमाह । वाग्दोहोति ॥ यत्किञ्च
 वाच इति वाक्योपादानं तस्यार्थमाह । शब्दस्येति ॥ ८ ॥

वाग्दोहरनन्तरमादित्यदृष्टिर्विधीयते । तस्य वाङ्मयत्वात् । न च तद्वि-
 धानं युक्तम् ॥ पूर्वमप्यादित्यदृष्टिविशिष्टोपासनस्योपदिष्टत्वादित्याश-
 ङ्गाह । अवयवभावे इति ॥ तस्य सामत्वे हेतुं पृच्छति ॥ कथमिति ॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति
विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात् हिङ्कारस्तदस्य पञ्चमो
ऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिङ्कुर्वन्ति हिङ्कारभाजिनो

विभागशोऽथस्य सप्तविधं सामोपासीत । कथं पुनः सामत्व-
मादित्यस्येत्युच्यते । उद्गीथ हेतुवदादित्यस्य सामत्वे हेतुः ।
कोऽसौ सर्वदासमो वृद्धिद्वयाभावात्तेन हेतुना सामादित्यो
मां प्रति मां प्रतीति तुल्यां बुद्धिसुत्यादयति । अतः सर्वेण
समोऽतः साम समत्वादित्यर्थः । उद्गीथभक्तिसामान्यवचनादेव
लोकादिपूक्तसामान्याद्विङ्कारादित्वं गम्यत इति हिङ्का-
रादित्ये कारणं नोक्तम् । सामत्वे पुनः सवितुरनुक्तं
कारणं न सुबोधमिति समत्वमुक्तम् । तस्मिन्नादित्येऽवय-
वविभागश इमानि वक्ष्यमाणानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्ता-
न्यनुगतान्यादित्यमुपजीव्यत्वेनेतिविद्यात् । कथं तस्या-

सर्वदेत्यादिवाक्यसुत्तरत्वेनादत्ते । उच्यत इति ॥ उद्गीःसन्मादित्यं गा-
यन्तीत्यादित्योद्गीथत्वे हेतुः श्रुत्योक्तः । तथा सामत्वेऽपि तस्य हेतु-
रुच्यत इत्यर्थः ॥ तमेव प्रश्नपूर्वकं विप्रश्नोति । कोऽसाविति ॥ नोदेत
नास्तमेनेत्यादिदशनादित्यर्थः ॥ मां प्रतीत्यादि व्याचष्टे । मां प्रतीति ॥
अन्यशब्दस्यान्यत्ववृत्तिर्नान्तरेण किञ्चिन्मिसित्तमित्यादित्यस्य सामत्वे हेतु-
रुच्यते चेद्देहानां हिङ्कारादित्येऽपि कृतो तिमिसित्तं श्रुत्या नोक्तमित्या-
शङ्क्याह । उद्गीथेति ॥ आदित्यस्योद्गीथेन सहोद्गीतं सामान्यं श्रुत्योक्तम् ।
तदनुसारेणास्मदुक्तप्राथम्यादिसामान्यं यथा पृथिव्यादिषु हिङ्कारादित्वं
गम्यते तथादित्यप्रभेदानामपि हिङ्कारादित्वं शक्यावगम्यमिति श्रुत्या
तेषां सङ्गातेनोक्तं कारणमित्यर्थः ॥ तर्हि सामत्वेऽपि कारणेनोद्गीथे-

ह्येतस्यसाम्नः ॥ ३ ॥ अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्ता-
वस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुति-
कामाः प्रशंसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य

दित्यस्य यत्पुरोदयाङ्घ्र्यरूपं सं हिङ्कारो भक्तिस्तदेदं
सामान्यम् । यत्तस्य हिङ्कारभक्तिरूपं तदस्यादित्यस्य
साम्नं पशवो गवादयोऽन्वायत्ता अनुगतास्तद्भक्तिरूपमुप-
जीवन्तीत्यर्थः ॥

यस्मादेवं तस्मात्ते हिङ्कुर्वन्ति पशवः प्रागुदयात् । तस्मा-
द्भिङ्कारभाजिनो ह्येतस्यादित्याख्यस्य साम्नस्तद्भक्तिभजन-
शीलत्वाद्धि ते एवं वर्त्तन्ते । अथ यत्प्रथमोदिते सवितरूपं
तदस्यादित्याख्यसाम्नः स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्ताः
पूर्ववत् । तस्मात्ते प्रस्तुतिं प्रशंसां कामयन्ते । तस्मात्प्रस्ताव-

सम्भवः वक्तव्यं कारणमित्याशङ्काह । सामन्त्वे पुनरिति ॥ भवत्
तत्र निमित्तमिति यावत् ॥ समः सर्वेष्वेत्युक्तं व्यक्तीकरोति । तस्मादिति ॥
वेदनप्रकारं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति । कथमित्यादिना ॥ धर्मरूपत्वं सुख-
करत्वात् धर्मकार्यात्मकं रूपमिति यावत् । तद्वद्वा हिङ्कारोपासने
प्राथम्यं हेतुः ॥

पशवो यथोक्तमादित्यरूपमुपजीवन्तीत्यत्र किं प्रमाणं तदाह । यस्मा-
दिति ॥ तेषां हिङ्कारं साधयति । तस्मादित्यादिना ॥ तद्भक्तिभजन-
शीलत्वादित्यस्मात्प्रागेव तस्यादित्यस्य सम्भवः । सवितरि प्रथमोदिते
वति यत्तस्य रूपं तद्वद्वा प्रस्तावस्योपास्यत्वे पूर्वस्मादानन्त्यं हेतुः ।
यथोदयात्प्राचीनरूपं पशुभिरुपजीव्यन्ते तथेत्याह । पूर्ववदिति ॥
उदयात्प्राचीनमादित्यरूपं मनुष्या उपजीवन्तीत्यत्र लिङ्गमाह । तस्मा-
दिति ॥ प्रत्यक्षपरोक्षभावेन प्रस्तुतिप्रशंसयोर्भेदः । गोशब्दाध्यानां रक्षी-

साम्नः ॥ ४ ॥ अथ यत्सङ्गववेलायां स आदित्य
स्तदस्य वयांस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षे-
ऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि
ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥ अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने
स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्त-
माः प्राजापत्या नामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य

भाजिनो ह्येतस्य साम्नः । अथ यत्सङ्गववेलायां गवां
रश्मिनां सङ्गमनं सङ्गवो यस्यां वेलायां गवां वत्सैः सह सङ्ग-
ववेला तस्मिन्काले यत्सावित् रूपं स आदिर्भक्तिविशेष
ओङ्कारस्तदस्य वयांसि पक्षिणोऽन्वायत्तानि ॥

यत एवं तस्मात्तानि वयांसि अन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यनाल-
म्बनान्यात्मानमादायात्मानमेवात्मनत्वेन गृहीत्वा परि-
पतन्ति गच्छन्त्यत आकारसामान्यादादिभक्तिभाजीनि
ह्येतस्य साम्नः ॥ अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने ऋजुमध्यन्दिने
इत्यर्थः । स उद्गीथभक्तिस्तदस्य देवा अन्वायत्ताः । द्योतना-

नां जगत्सङ्कलेन सङ्गमनं सम्बन्धगमनमित्यर्थः । वत्सैः सङ्गमनमिति
सम्बन्धः । सङ्गवकालीनमादित्यरूपमारोषादिभक्तेरोङ्कारसोपास्यत्वे इ-
योराकारसामान्यं हेतुः । पक्षिणां ययोक्तमादित्यरूपसुपजीव्यमित्यत्र
हेतुमाह ।

यत इति ॥ ऋजुमध्यन्दिने यदादित्यस्य रूपं तद्वद्भोक्त्रीयोपासने श्रेष्ठं
हेतुः । तत्कालीनादित्यरूपस्य देवोऽपजीव्यत्वे हेतुमाह । द्योतनेति ॥
तथापि तस्य देवैरुपजीव्यत्वं कथमिति चेत्तत्राह । तस्मादिति ॥ अथ

सान्नः ॥ ६ ॥ अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागप-
राह्णात्प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्त-
स्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो
ह्येतस्य सान्नः ॥ ७ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात् उपद्रव-
स्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा

तिशयात्तत्काले । तस्मात्ते सत्तमा विधिष्टतमाः प्रजापत्यानाम् ।
प्रजापत्यपत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य सान्नः ॥ अथ
यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णाद्यदूर्ध्वं सवितुः स प्रतिहार-
स्तदस्य गर्भा अन्वायत्ताः । अतस्ते सवितुः प्रतिहारभक्ति-
रूपेणोर्ध्वं प्रतिहृताः सन्तो नावपद्यन्ते नाधः पतन्ति द्वारे
सत्यपीत्यर्थः । यतः प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य सान्नो गर्भा ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात् स उपद्रवस्तदस्या-
रण्याः पशवोऽन्वायत्ताः । तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा भीताः कञ्च-

यदूर्ध्वमिति वाक्यमादाय व्यचष्टे । मध्यन्दिनादिति ॥ तदुदया प्रति-
हारोपासने प्रतिशब्दसाम्यं हेतुस्तस्मिन् काले सवितुरस्तं गिरिं प्रति
हरणाद्यथोक्तमादित्यरूपं गर्भैरुपजोषमित्यत्र गमकमाह । अत इति ॥
ऊर्ध्वं योनेरुपरिष्टाज्जठरं प्रतीत्यर्थः । यतो गर्भाः पूर्वोक्तविशेषणवन्तो-
ऽत इति यावत् ॥

तद्वहारं पतनद्वारं तत्र तत्कालीनादित्यदृष्टोपद्रवमुपासीत तस्य तदा-
स्ताचलं प्रत्युपद्रवणादित्याह । अथेति ॥ अरण्यानां पशूनां यथोक्त-

कक्षंश्चममित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य
 सान्नः ॥ ८ ॥ अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं
 तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तन्निदधति निध-
 नभाजिनो ह्येतस्य सान्न एवं खल्वमुपादित्यं
 सप्तविधं सामोपास्ते ॥ ९ ॥ ॥ ९ ॥

अथ खल्वात्मसम्भितमतिमृत्यु सप्तविधं सा-

मरणं खल्वं भयशून्यमित्युपद्रवन्त्युपगच्छन्ति दृष्टोपद्रव-
 भाजिनो ह्येतस्य सान्नः ॥ अथ यत्प्रथमास्तमितेऽदर्शनं
 जिगमिषति सवितरि तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्ता-
 स्तस्मात्तन्निदधति पितृपितामहप्रपितामहरूपेण दर्भेषु
 निक्षिपन्ति तांस्तदर्थं पिण्डान्वा स्थापयन्ति । निधनं सन्ध-
 न्वात्रिधनभाजिनो ह्येतस्य सान्नः पितरः । एवमवयवशः
 सप्तधा विभक्तं खल्वमुपादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते यस्तस्य
 तदापत्तिः फलमिति वाक्यशेषः ॥ ९ ॥

मृत्युरादित्यः । अहोरात्रादिकालेन जगतः प्रमापयि-
 त्वत्तस्यातितरणायेदं सामोपासनमुपदिश्यते । अथ खल्व-

रूपोपजीवनमुपपादयति । तस्मादिति ॥ अन्नं गन्तं गुहेति यावत् ।
 तत्सवितरूपमितिशेषः । तद्दृष्ट्या निधनोपासने समाप्तिरसामान्यं हेतुः ।
 यथोक्तमादित्यरूपं पितृभिरुपजीव्यमित्यत्र गमकमाह । तस्मादित्या-
 दिना । तत्र तत्राथशब्दस्तदुपासनानन्तर्यार्थो व्याख्येयः ॥ एवं खल्वित्या-
 दिवाक्यमपेक्षितं पूरयन् व्याकरोति । एवमिति ॥ ९ ॥

अथ खल्वात्मसम्भितमित्यादेस्तात्पर्यमाह । मृत्युरिति ॥ अनन्तरमि-

मोपासीत हिङ्गार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति
 त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥ आदिरिति द्व्यक्षरं प्रति-
 हार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥
 उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं
 त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमिति शिष्यते त्र्यक्षरं
 तत्समम् ॥ ३ ॥ निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति

नन्तरं । आदित्यष्टत्युविषयसामोपासनस्यात्मरुम्भितं स्वावय-
 वतुल्यतया मितं परमात्मतुल्यतया वा रुम्भितं अतिष्ठत्यु
 ष्टत्युजयहेतुत्वात् । यथा प्रथमेऽध्याये उद्गीथभक्तिनामा-
 चाराण्युद्गीथ इत्युपास्यत्वेनोक्तानि । तथेह साम्नः सप्तविध
 भक्तिनामाचाराणि समाहृत्य त्रिभिस्त्रिभिः समतया सामत्वं
 परिकल्प्योपास्यत्वेनोच्यते । तदुपासनं ष्टत्युगोचराक्षरसङ्ख्या-
 सामान्येन ष्टत्युं प्राप्य तदतिरिक्ताक्षरेण तस्यादित्यष्टत्यो-
 रतिक्रमणायैव सङ्क्रमणं कल्पयति । अतिष्ठत्यु सप्तविधं
 सामोपासीत ष्टत्युमतिक्रान्तमतिरिक्ताक्षरसङ्ख्येति अति-
 ष्टत्युसाम् । तस्य प्रथमभक्तिनामाचाराणि हिङ्गार इत्ये-

त्यस्यापेक्षितं निश्चयति । आदित्येति । स्वगन्धेन सामोच्यते । तस्यावयवा
 हिङ्गारादवस्तुभावाचाराणां त्रित्वेन त्रित्वेन तुल्यतया मितं सामेत्यर्थः ॥
 यथा परमात्मावयवो ष्टत्युर्गोचराक्षरहेतुस्तथेदमुपासनमपीत्यर्थान्तरमाह ।
 परमात्मेति । कीदृगोपासनं विवक्षितमित्यपेक्षायां सदृष्टान्तमुत्तरमाह ।
 यथेत्यादिना ॥ उद्गीथ इत्युद्गीथभक्तिनाम तदक्षराणीति द्वावत् ॥
 सामत्वं तेषां नामाचाराणां मित्यध्याहार्यम् । तदुपासनं तेषामचाराणा-

तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥
 एकविंशत्यादित्यमाप्नोत्येकविंशो वा इतोऽसा-
 वादित्यो द्वाविंशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं

तत् । अक्षरं भक्तिनाम प्रस्ताव इति च । भक्तेस्त्यक्षर-
 मेव नाम । तत् पूर्वेण सममादिरिति द्वाक्षरं सप्तवि-
 धस्य सान्नः सङ्ख्या पूरणे । ओङ्कार आदिरित्युच्यते । प्रति-
 हार इति चतुरक्षरम् । तत इह एकमक्षरमवच्छिद्या-
 द्वाक्षरयोः प्रक्षिप्यते । तेन तत्सममेव भवत्युद्गीथ इति अक्षर-
 मुपद्रव इति चतुरक्षरं विभिन्नभिः समं भवत्वक्षरमति-
 शिष्यतेऽतिरिच्यते । तेन वैषम्ये प्राप्ते सान्नः समत्वकरणा-
 याह । तदेकमपि सदक्षरमिति त्यक्षरमेव भवति । अत-
 स्तत्समं निधनमिति त्यक्षरं तत्सममेव भवति ॥

एवं त्यक्षरसमतया सामत्वं सम्प्राप्य यथा प्राप्तान्येवा-
 क्षराणि सङ्ख्यायन्ते । तानि ह वा एतानि सप्तभक्तिनामा-

मादित्यादि दृष्ट्योपासनमित्यर्थः । नृत्यमोचराक्षरसङ्घैकविंशतित्वलक्षणा
 सास्येकानेकेष्वक्षरेषु तस्यामान्येन तेष्वक्षरेष्वदित्यदृष्ट्या नृत्यमादित्य-
 मित्यर्थः । अतिक्रमाय तत्पावनमुपासनमिति शेषः ॥ अतिनृत्यं नृत्यो-
 रत्ययहेतुत्वादित्यक्तमेव स्पष्टयति । नृत्यमिति ॥ नामाक्षराणि कथ्य-
 न्त इति शेषः । आद्यक्षरयोरादिभक्तिनामाक्षरयोरिति यावत् । तेन
 प्रक्षेपेन तदादिभक्तिनाम प्रतिहारनाम्ना तुल्यमेवेत्यर्थः ॥

ननु यथोक्तरीत्या चतुर्विंशत्यक्षराणि तत्कथं तानि ह वा एतानि
 द्वाविंशतिरक्षराणीति तत्राह । एवमिति ॥ आदित्यस्याङ्गाङ्गोका-
 दैकविंशत्ये नृत्तान्तरं प्रमाणमिति । द्वादशेति ॥ हेमन्तशिथिरावेकी-

तद्विशोकम् ॥ ५ ॥ आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो
हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वा-
नात्मसम्भ्रतमतिमत्यु सप्तविधः सामोपास्तेसामो-
पास्ते ॥ ६ ॥ ॥ १० ॥

क्षराणि द्वाविंशतिस्तत्त्रैकविंशत्यक्षरसङ्ख्यायाऽऽदित्यमाप्नोति
ऋत्युम् । यस्मादेकविंश इतोऽस्मात्लोकादसावादित्यः सङ्ख्याया ।
द्वादशमासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका अभावादित्य एक-
विंश इति श्रुतेरिति शिष्टेन द्वाविंशेनाक्षरेण परं
ऋत्योरादित्याज्जयत्याप्नोतीत्यर्थः ॥ यच्च तदादित्यात्परं
किन्तत् । नाकं कमिति सुखं तस्य प्रतिषेधोक्तं तन्न भव-
तीति नाकं कमेवेत्यर्थः ॥ अऋत्यु विषयत्वात्तदुःखस्य विशोकं
च तद्विगतशोकं मानसदुःखरहितमित्यर्थः । तदाप्नोती-
त्युक्तस्यैव पिण्डितार्थमाहैकविंशतिसङ्ख्यायादित्यस्य जय-
माप्नोति । परो हास्य एवं विद आदित्यजयान्मृत्युगोचरा-
त्परो जयो भवति द्वाविंशत्यक्षरसङ्ख्यायेत्यर्थः ॥ य एतदेवं

कृत्य पञ्चर्त्तव इत्युक्तं आदित्यस्याक्षोरात्वाभ्यां पौनःपुन्येन ऋत्युहेतु-
त्वमस्मिन्नलोके दृश्यते । तदयं लोको ऋत्युविषयत्वात्तदुःखात्मकस्तदभाव इ-
व ब्रह्मलोकः सुखात्मक इति मत्वाह । ऋत्युविषयमिति ॥ पूर्वेषोत्तरस्य
पौनःपुन्यमाशङ्क्याह । उक्तस्य वेति ॥ व्यङ्ख्यातस्यैव ग्रन्थस्य समुदा-
यार्थः सङ्क्षिप्य बुद्धिसौकर्याय मननरूपग्रन्थेनोच्यते । तत्र पौनःपुन्यमि-
त्यर्थः । जयमनुपरोजयो भवतीति सम्बन्धः ॥ परो हास्येत्युपात्तं

मनोहिङ्कारोवाक्यस्तावच्चक्षुरङ्गीयः श्रोत्रं प्रति-
हारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥१॥

विद्वानित्यादि उक्तार्थं तस्यैतद्यथोक्तं फलमिति द्विरभ्यासः
सामविध्यसमाप्त्यर्थः ॥ १० ॥

विना नामग्रहणं पञ्चविधस्य सप्तविधस्य च साम्न उप-
सनमुक्तम् । अथेदानीं गायत्रादिनामग्रहणपूर्वकं विशि-
ष्टफलानि सामोपासनान्तराख्यन्ते । यथाक्रमं गायत्रा-
दीनां कर्मणि प्रयोगस्तथैव मनो हिङ्कारो मनसः सर्व-
करणप्रवृत्तीनां प्राथम्यात् । तदानन्तर्याद्वाक् प्रस्ताव-
श्चक्षुरङ्गीयः श्रैष्ट्यात् । श्रोत्रं प्रतिहारः प्रतिहृतत्वात् ।
प्राणो निधनं यथोक्तानां प्राणे निधानात्स्वापकात् । एत-
द्गायत्रं साम प्राणेषु प्रोतम् ॥

वाक्यं व्याकरोति । एवं विद इति ॥ फलमिति शेष इति यावत् ।
सामविध्यं सप्तविधत्वं तदुपेतसामोपासनस्य समाप्त्यर्थोऽभ्यास इत्यर्थः ॥१०॥

ननु पञ्चविधस्य सप्तविधस्य च साम्नो ध्यानं व्याख्यातम् । तथा च
प्रातर्विषये वक्तव्याभावादलमनन्तरपन्थेनेत्याशङ्क्य पूर्वोत्तरपन्थयोरर्थ-
भेदमाह । विनेत्यादिना ॥ गायत्रं रथनन्तरमित्यादि नामग्रहणेन
विशिष्टानि विशिष्टफलानि चेत्त्वर्थः ॥ कथं पुनर्वक्ष्यमाणेषूपपासनेषु
निर्देशक्रमसिद्धिस्तत्माह । यथाक्रममिति ॥ यावद्व्यक्रममात्रस्य तेषां
कर्मणि प्रयोगः कर्मणासिद्धेस्तेनैव क्रमेण तदुपासनोक्तिरित्यर्थः ॥
तत्राप्राणस्य क्रियाज्ञानयोः संरम्भात् प्राणस्य प्रधानत्वात्तद्व्याख्या गाय-
त्रोपासनादौ दर्शयति । मनो हिङ्कार इत्यादिना ॥ प्राणं तर्हि
वागन्तेतित्यादिश्रुत्या स्वापकात् प्राणे वागादीनां निधनमवधेयं प्रोतं
प्रगतं प्रतिष्ठितमिति यावत् ॥

स य एवमेतद्भावचं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्
तद्व्रतम् ॥ २ ॥ ११ ॥

अभिमन्यति स हिङ्गारो धूमो जायते स प्रस्ता-
वो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार

गायत्र्याः प्राणसंस्तुतत्वात्स य एवमेतद्भावचं प्राणेषु
प्रोतं वेद प्राणी भवति अविकलकरणो भवतीत्येतत् ।
सर्वमायुरेति । यतं वर्शाणि सर्वमायुः पुरुषस्येति श्रुतेः ।
ज्योग्जीवति जीवति । महान्भवति प्रजादिभिर्महांश्च
कीर्त्या । गायत्रोपासकस्यैतद्व्रतं भवति यन्महामनास्वक्षुद्र-
चित्तः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

अभिमन्यति स हिङ्गार प्राथम्यात् । अग्नेर्धूमो जायते
स प्रस्ताव आनन्तव्यात् । ज्वलति स उद्गीथो इविःमन्त्र-
न्वाच्छ्रैश्च ज्वलनस्य । अङ्गारा भवन्ति स प्रतिहारोऽङ्गाराणां

गायत्रस्य प्राणेषु प्रतिष्ठितत्वे हेतुमाह । गायत्र्या इति ॥ प्राणो
वै गायत्रीति हि श्रुतिः । अविदुषोऽपि प्राणित्वसिद्धेर्नेदं विद्याफल-
मित्याशङ्काह । अविकलेति ॥ कथं पुनर्नानाजनीनं सर्वमायुरेको ध्याता
गन्तुमलमित्याशङ्काह । यतमिति ॥ यतायुर्वै पुरुष इति श्रुतेरित्यु-
च्यते । अथोक्त्यदो निपातः । स चोज्वलनार्थः । उज्वलः स्वपरोप-
कारसमर्थ इति यावत् ॥ ११ ॥

समयप्राणवतो मन्त्रनकर्तृत्वसम्भवात्प्राणहृद्भवनन्तरं मन्त्रनादिदृष्टिमव-
तारयति । अभिमन्यतोत्यादिना ॥

उपशाम्यति तन्निधनं सशाम्यति तन्निधन-
मेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥ स य एवमेतद्रथन्तर-
मग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमा-
युरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भ-
वति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्मुग्निमाचामेन्न निष्ठी-
वेत्तद्वतम् ॥ २ ॥ १२ ॥

प्रतिष्ठतत्वात् । उपशमः सावशेषत्वादग्नेः संशमो निःशे-
षोपशमः समाप्तिसामान्यान्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ।
मथ्यने ह्यग्निर्गीयते । स य इत्यादिपूर्वब्रह्मवर्चसी वृत्त-
स्वाध्यायनिमित्तं तेजो ब्रह्मवर्चसम् । तेजसु केवलन्वि-
ड्भावः । अन्नादो दीप्ताग्निर्न प्रत्यङ्मुग्नेरभिमुखो नाचा-
मेन्न भक्ष्येत्किञ्चिन्न निष्ठीवेत्क्षेपानिरसनञ्च न कुर्यात्तदु-
वतम् ॥ १२ ॥

उपशमः संशमश्चेत्यर्थभेदाभावात् पुनरुक्तिमाशङ्क्य सावशेषनिरवशेष-
त्वाभ्यां विशेषमाह । उपशम इति ॥ कथं पुनः रथन्तरसाम्नोऽग्नौ
प्रतिष्ठितत्वम् । न हि तत्र किञ्चिद्विभक्त्युपलभ्यत इत्य आह । मन्थने
हीति ॥ मन्थनं निमित्तीकृत्याग्नेरत्यक्तौ रथन्तरसाम्नोद्गीयमानत्वदर्श-
नादग्नौ तस्य प्रतिष्ठितत्वसिद्धिरित्यर्थः । नन्वत्र ब्रह्मवर्चसीति फलश्रुतं
बृहदुपासने तु तेजसी भवतीति वक्ष्यते । न च ब्रह्मवर्चसतेजसोर्भेद-
स्तथा च बृहद्रथन्तरोपासनयोर्न फलवैषम्यमत आह । वृत्तेति ॥ १२ ॥

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्तावः
स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रतिस्वी सह शेते स
प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति
तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१॥ स य एव-
मेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति मि-
थुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जी-

उपमन्त्रयते सङ्केतं करोति प्राथम्यात् हिङ्कारः ।
ज्ञपयते तोषयति स प्रस्तावः । सहशयनमेकपर्यङ्के गमनं
स उद्गीथः श्रैश्चात् । प्रतिस्वी गमनं स्त्रीयोऽभिमुखीभावः
स प्रतिहारः कालं गच्छति मैथुनेन पारं समाप्तिं गच्छति ।
तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं । वाय्वम्बुमिथुनसम्ब-
न्धात् । स य इत्यादिपूर्ववत् । मिथुनी भवत्यविधुरो भव-
तीत्यर्थः । मिथुनान्मिथुनात्प्रजायत इत्यमोघरेतस्त्व-

उत्तराधरारणिस्थानीययोः स्त्रीपुरुषयोरवाच्यकर्माणि प्रवृत्तयोर्म-
न्यनसामान्यान्मन्यनादिदृष्ट्यनन्तरं मेधुनदृष्टिं विदधाति ॥ उपमन्त्रयत
इत्यादिना ॥ पुरुषो हि पशुकर्माणि स्त्रियं वस्त्रादिना प्रीणयति ।
तस्मिन् प्रारम्भसामान्यात्प्रस्तावदृष्टिरित्याह । ज्ञपयत इति ॥ कुतो
वामदेव्यस्य साम्नो मिथुने प्रोतत्वं तत्राह । वाय्वम्बुमिथुनेति ॥ वायो-
रपाञ्च मिथुनं तथा सम्बन्धाद्वामदेव्योत्पत्तेरुक्तत्वात्तस्य मिथुने प्रति-
ष्ठितत्वं युक्तमित्यर्थः ॥ न काञ्चनेतिवाक्यमादाय व्याचष्टे ॥ काञ्चिद-
पीति पराङ्मनां नोपगच्छेदिति सूत्रतिविरोधमाशङ्क्याह । वामदेव्येति ॥
विधिनिषेधयोः सामान्यविशेषविषयत्वेन व्यवस्थानिर्द्देशेति भावः । किञ्च
य.स्त्वप्रामाण्यादत्र धर्म्मोऽवगम्यते न काञ्चन परिहरेदिति च शास्त्राव-

वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कौत्तरा न
काञ्चन परिहरेत्तद्वतम् ॥ २ ॥ १३ ॥

उद्यन्हिङ्कार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गी-
थोऽपराङ्गः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतदृहदा-
दित्ये प्रोतम् ॥ १॥ स य एवमेतदृहदादित्ये प्रोतं
वेद तेजस्वान्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जी-
वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कौत्तरा
तपन्तं न निन्देत् तद्वतम् ॥ २ ॥ १३ ॥

मुच्यते । न काञ्चन काञ्चिदपि स्त्रियं स्वात्मतत्त्वप्राप्तां न
परिहरेत्समागमार्थिनीं । वामदेव्यसामोपासनाङ्गत्वेन
विधानात् एतस्मादन्यत्र प्रतिषेधस्मृतयो वचनप्रामाण्याच्च
धर्मावगतेन प्रतिषेधशास्त्रेणास्य विरोधः ॥ १३ ॥

उद्यन्सविता स हिङ्कारः प्राथम्याद्दर्शनस्य । उदितः
प्रस्तावः प्रस्तवनहेतुत्वात्कर्माणां । मध्यन्दिन उद्गीथः
श्रैष्ट्यात् । अपराङ्गः प्रतिहारः पखादीनां गृहान् प्रति-
हरणात् । अस्तं निधनं रात्रौ गृहे निधानात्प्राणि-
नाम् । एतदृहदादित्ये प्रोतं वृहत् आदित्यदैवत्यत्वात् ।
स य इत्यादि पूर्ववत् । तपन्तं न निन्देत्तद्वतम् ॥ १४ ॥

गतत्वादवाच्यमपि कर्मा धर्मो भवितुमर्हति ॥ तथा च श्रौतेऽर्थे दुर्व-
लायाः स्मृतेन प्रतिषिद्धितेत्याह । वचनेति ॥ यथोक्तोपासनावतो ब्रह्म-
चर्यनियमाभावो व्रतत्वेन विरक्षितस्तच्च प्रतिषेधशास्त्रविरोधाच्चेति
भावः ॥ १५ ॥

आदित्यस्य प्रजाप्रसवहेतुत्वात्तदेतर्मेधुनः अग्न्यन्तरमादित्यदृष्टित्या-
ययति । उद्यन्धित्यादिना ॥ १४ ॥

अम्बाणि सम्प्लवन्ते स हिङ्गारो मेघो जायते स
प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति
स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वै रूपं पर्जन्ये
प्रातम् ॥१॥ स य एवमेतद्वै रूपं पर्जन्ये प्रातं वेद
विरूपांश्च सुरूपांश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति
ज्योर्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्-
कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥ ॥ १५ ॥

वसन्तो हिङ्गारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः
शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजस्तुषु
प्रातम् ॥१॥ स य एवमेतद्वैराजस्तुषु प्रातं वेद
विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मार्चसेन सर्वमायु-

अम्बाण्यम्भरणान्मेघ उदकसेतृत्वादुक्तार्थमन्यदेतद्वैरूपं
नाम साम पर्जन्ये प्रातं अनेकरूपत्वात् । अम्बादिभिः पर्ज-
न्यस्य विरूपांश्च सुरूपांश्च अजाविप्रभतीन् पशूनवरुन्धे
प्राप्नोतीत्यर्थः । वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ १५ ॥

वसन्तो हिङ्गारः प्राथम्यात् । ग्रीष्मः प्रस्ताव इत्यादि-
पूर्ववत् । एतद्वैराजस्तुषु प्रातं वेद विराजति ऋतुव-

आदित्यः जायते दृष्टिरिति ऋतेरादित्यकार्यत्वात्पर्जन्यस्यादित्यहृद्य-
नन्तरं पर्जन्यदृष्टिं दर्शयति । अम्बाणीति ॥ कथं वैरूपं साम तस्मिन्
प्रतिष्ठितं तत्वाह । अनेकेति ॥ १५ ॥

पर्जन्यायत्तत्वाहृत्यवस्थायास्तद्वैरूपनन्तरदृष्टिमाचष्टे वसन्त इत्या-
दिना ॥ वैराजस्य साम्नां युक्तं ऋतुषु प्रातम् तेषां स्वधर्मैर्विराजनादि-

रेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्यर्त्तून् निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥ १६ ॥

पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो
दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्य्यो
लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥ स य एवमेताः शक्य्यो लोकेषु
प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जी-
वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
लोकान् निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥ १७ ॥

द्युत्तं च आत्तं वैधर्म्यैर्विराजन्त एवं प्रजादिभिर्विद्वानित्युक्त-
मन्यत् । ऋतून् निन्देत्तद्व्रतम् ॥ १६ ॥

पृथिवी हिङ्कार इत्यादि पूर्ववत् । शक्य्य इति नित्यं
बहुवचनं । रेवत्य इव लोकेषु प्रोताः । लोकी भवति
लोकफलेन युज्यत इत्यर्थः । लोकान् निन्देत्तद्व्रतम् ॥ १७ ॥

त्याह । एतदिति । यद्वा ऋतूनामक्षोत्पत्तिनिमित्तत्वाद्विराडात्मन-
सात्मत्वाजस्य तेषु प्रतिष्ठितत्वात्तद्वारा वैराजसपि साम तेषु प्रोतमिति
भावः ॥ १६ ॥

ऋतुषु सम्यग्वृत्तेषु लोकस्थितेः प्रसिद्धत्वादतद्विद्युन्तरं लोकवृत्तिमाह ।
पृथिवीति ॥ कथं शक्य्य इत्येकस्यैव साम्नो नामधेयम् । बहुवचनाद्भि-
बहूनि सामानि प्रतीयन्ते तत्राह । शक्य्य इतीति ॥ नित्यबहुवचन-
त्वसुभयत्वं तुल्यमिति द्योतनाय बहुवचनं दृष्टान्तयति । रेवत्य इवेति ॥
महानात्म्येषु ऋतु शक्य्यो गोयन्ते । तासांश्चापो वै महानात्म्योरित्यद्वि-
सम्बन्धः ऋतः । अस्तु लोकाः प्रतिष्ठिता इति श्रुतम् । तथा च अस्मात्स-
म्बन्धाद्धोकेषु शक्य्यः प्रतिष्ठिता इत्याह । लोकेष्विति ॥ १७ ॥

अजा हिङ्गारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथो-
ऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु
प्रोताः ॥१॥ स य एवमेता रेवत्यं पशुषु प्रोता
वेद पशुमान् भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्
निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥ १६ ॥

लोम हिङ्गारस्त्वक्प्रस्तावो मांसमुद्गीथोऽस्थि
प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु
प्रोतम् ॥१॥ स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं
वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहृर्कति सर्वमायुरेति
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्

अजा हिङ्गारो इत्यादि पूर्ववत् । पशुषु प्रोताः पशून्
निन्देत्तद्व्रतम् ॥ १८ ॥

लोम हिङ्गारो देहावयवानां प्रायस्यात् । त्वक् प्रस्ताव
श्चानन्तर्यात् । मांसमुद्गीथः श्रेष्ठ्यात् । अस्थि प्रतिहारः
प्रतिहतत्वात् । मज्जा निधनं । एतद्यज्ञायज्ञीयं नाम साम
देहावयवेषु प्रोतमङ्गी भवति समग्राङ्गो भवतीत्यर्थो नाङ्गेन

पशूनां लोककार्यत्वाङ्गोक्तद्व्यनन्तरं पशुदृष्टिस्तुपम्यस्यति । अजेति ॥
रेवत्य इति सामनामधेयं पूर्ववन्नित्यवस्तुवचनान्तम् । पशवो वै रेवती-
रिति स्वत्यन्तरमाश्रित्याह । पशुष्विति ॥ १८ ॥

पशुविकारपयोदध्यादिना पुष्टिरङ्गानां दृष्टेति पशुदृष्ट्यनन्तरमङ्गोदृष्टि-

कीर्त्त्या संवत्सरं मज्जो नाश्रीयात्तद्वतं मज्जोना-
श्रीयादिति वा ॥ २ ॥ १८ ॥

अग्निर्हिङ्कारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो
नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देव-
तासु प्रोतम् ॥ १ ॥ स य एवमेतद्राजनं देवतासु
प्रोतं वेदैतासामिव देवतानां सलोकतां सा-
र्ष्टितां सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जी-

हस्तपादादिना विह्वर्त्तति न कुटिलीभवति पङ्क्तुः कुनि
वेत्यर्थः । संवत्सरं संवत्सरमात्रं मज्जो मांसानि नाश्री-
यान्न भक्षयेत् । वज्रवचनं मत्स्योपलक्षणार्थम् । मज्जो
नाश्रीयात्सर्वदैवै नाश्रीयादिति वा तद्वृत्तम् ॥ १८ ॥

अग्निर्हिङ्कारः प्रथमस्थानत्वात् । वायुः प्रस्ताव आनन्त-
र्यसामान्यात् । आदित्य उद्गीथः श्रैष्ट्यात् । नक्षत्राणि प्रति-
हार प्रतिवृत्तत्वात् । चन्द्रमा निधनं कर्मिणां तन्निधनात् ।
एतद्राजनं देवतासु प्रोतं देवतानां दीप्तिमत्त्वात्

भाङ्ग ॥ लोमेति ॥ रसो वै यज्ञायज्ञीयमिति श्रुतेरक्षरसविकारेण
लोमादीनां सम्बन्धाद्यज्ञायज्ञीयं सामाङ्गेषु प्रतिष्ठितमित्याङ्ग । एत-
दिति ॥ कुणिः इत्यश्वरहितः ॥ १८ ॥

अग्न्यादीनामङ्गेषु प्रतिष्ठितत्वादङ्गद्वयान्तरमग्न्यादिदृष्टित्वाप-
यति । अग्निरित्यादिना ॥ राजनस्य साम्नो देवतासु प्रोतत्वे हेतु-
भाङ्ग । देवतानामिति ॥ फलविकल्पार्थं वायुद्वयत्वाच्च त्वे कथं वाक्यं
स्यादित्याद्यङ्गभाङ्ग । सलोकतां वेत्यादीति ॥ कथं पुनरेकस्मिन्नुपासने
फलत्वं विकल्पते तत्राङ्ग । भावनेति ॥ ननु फलत्वमत्र कस्यचित्-

वति महान्प्रजया पशुमिर्भवति महान्कीर्त्या
ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥ २० ॥

तृतीयो विद्या हिङ्गारस्तथ इमे लोकाः स प्रस्तावो
ऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयांसि

विद्वत्फलमेतासामेवाग्न्यादीनां देवतानां सलोकतां समा-
नलोकतां सार्ष्टितां समानद्वित्वं सायुज्यं सयुग्भावमेकदे-
हदेहितमित्येतत् । वाशब्दोऽत्र लुप्तो । द्रष्टव्यः । सलोकतां
वेत्यादिभावनाविशेषतः फलविशेषोपपत्तेर्गच्छति प्राप्नोति ।
समुच्चयानुपपत्तेश्च । ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् । एते वै
देवाः प्रत्यक्षं यद्वाह्येणा इति श्रुतेर्ब्राह्मणनिन्दा देवनिन्दै-
वेति ॥ २० ॥

तृतीयो विद्या हिङ्गार । अग्न्यादिसाम्न आनन्तर्यं तृतीय-
विद्याया अग्न्यादिकार्यत्वश्रुतेः । हिङ्गारः प्राथम्यात्मकं कर्त्त-
व्यानाम् । तथ इमे लोकास्तत्कार्यत्वादनन्तरा इति
प्रस्तावः । अग्न्यादीनामुद्गीथत्वं अथ्यात् । नक्षत्रादीनां

मिथ्यतां किमिति वाशब्दं गृहीत्वा विकल्पयते तत्राह । समुच्चयेति ॥
न हि मिथो विरुद्धं फलत्वयमेकत्वं समुच्चयं शक्यमतो विकल्पसिद्धि-
रित्यर्थः ॥ ननु देवतादृष्ट्या राजनस्य साम्नोऽध्यानाद्देवता न निन्देदिति
वक्तव्ये कथमन्यथोच्यते तत्राह । एत इति ॥ २० ॥

अग्न्यादिदृष्टानन्तरं तृतीयविद्यादृष्टिविधाने कारणमाह । अग्न्या-
दीति ॥ यदग्न्याद्यात्मकं सामोपास्यसक्तं तस्यादानन्तर्यमुपास्यायास्तृतीयो-
विद्याया युज्यते । ऋग्वेदेऽग्न्येयं जुर्वेदो वायोरादित्यात्मकसवेद इति

मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितर-
स्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥१॥ स य एव-
मेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वं ह भवति ॥२॥

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि तेभ्यो न
ज्यायः परमन्यदस्ति ॥३॥ यस्तद्वेद स वेद सर्वं

प्रतिष्ठतत्वात्प्रतिहारत्वं । सर्पादीनां धकारसामान्यान्नि-
धनत्वमेतत्सामनामविशेषाभावात्सामसमुदायः सामशब्दः
सर्वस्मिन्प्रोतम् । त्वयीविद्यादि हि सर्वम् । त्वयीविद्यादिदृष्ट्या
हिङ्कारादिसामभक्तय उपास्याः । अतः तेष्वपि सामोपासनेषु
येषु येषु प्रोतं यद्यत्साम तदृष्ट्या तदुपास्यमिति । कर्मा-
ङ्गानां दृष्टिविशेषेणाज्यस्य संस्कार्यत्वात्सर्वविषयसामविदः
फलं सर्वं भवति सर्वेश्वरो भवतीत्यर्थः ॥

निरूपणरितसर्वभावे हि दिक्स्थेभ्यो बलिप्राप्त्युपपत्तेस्त-
देतस्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रोऽप्यस्ति । यानि पञ्चधा पञ्च-
प्रकारेण हिङ्कारादिविभागैः प्रोक्तानि त्रीणि त्रीणि
त्वयीविद्यादीनि तेभ्यः पञ्चत्विकेभ्यो ज्यायो महत्तरं परञ्च
व्यतिरिक्तमन्यदस्त्वन्तरं नास्ति न विद्यत इत्यर्थः । तत्रैव

सुते । त्वय्यास्तत्कार्यत्वावगमादित्यर्थः । तत्कार्यत्वाच्चयीसाध्यकर्म्म-
फलत्वादित्यर्थः ॥ कथं सर्वस्मिन् प्रोतमित्युक्तं त्वयीविद्यादौ प्रोतमिति
वक्तव्यत्वादत आह । त्वयीविद्यादीति ॥ कथं पुनरत्र त्वयीविद्यादि-
दृष्ट्या साम्नो ध्येयत्वं गम्यते तत्राह । त्वयीति ॥ न चास्यां प्रतिज्ञायां
पूर्वेण सन्दर्भेण विरोधश्चासङ्गतीत्याह । अतीतेष्वपीति ॥ तत्र
हेतुमाह ॥ कर्माङ्गानामिति । दर्शपूर्णमासाधिकारे पत्यवेक्षितमाज्यं

सर्वा दिशो बलिमन्त्रै हरन्ति सर्वमन्त्रोत्पत्तासीत
तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥ २१ ॥

विनर्हिसाम्नो दृणे पशव्यमित्यग्नेरङ्गीथोऽनिरुक्तः
प्रजापतेनिरुक्तः सोमस्य ऋदुः स्रक्ष्णं वायोः स्रक्ष्णं

हि सर्वस्यान्तर्भावः । यस्तत्पुत्रोक्तं सर्वात्मकत्वं साम वेद
सर्वं स सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः । सर्वा दिशः सर्वदिक्स्था
अस्या एवम्बिदे बलिं भोगं हरन्ति प्रापयन्तीत्यर्थः ।
सर्वमन्त्रि भवामीत्येवमेतस्मान्नोपासीत तस्यैतदेव व्रतम् ।
द्विरुक्तिः सामोपासनसमाप्त्यर्था ॥ २१ ॥

सामोपासनप्रसङ्गेन गानविशेषादिसम्पदुद्गातुरूपदि-
श्यते । फलविशेषसम्बन्धाद्विनर्हि विशिष्टो नर्हः स्वरविशेष
ऋषभकूजितसमोऽस्यासीति विनर्हि गानमिति वाक्यशेषः ।
तच्च साम्नः सम्बन्धि पशुभ्यो हितं पशव्यमग्नेरङ्गिदै-
वत्वञ्चोङ्गीथ उद्गानं । तदङ्गमेनं विशिष्टं दृणे प्रार्थय इति

भवतीति दृष्टिविशेषणमाज्यं संस्क्रियते । तथा सामभेदानां दृष्टिविशेषण-
त्वाविशेषात्तेषां कर्माङ्गानां तत्सदङ्गदृष्ट्या संस्क्रियत्वाव्यादित्यर्थः ॥

अथ यथा श्रुतं सर्वोत्पत्तिमेव किं न स्यादत आह । निरुपचरितेति ॥
सर्वविषयसामविदः सर्वेश्वरत्वमित्यत्र मन्त्रं संवादयति । तदेतच्छि-
द्विति ॥ परमित्यस्यैव व्याख्यानमन्यदिति ब्रह्मन्तराभावे हेतुमाह ।
तत्रैवेति ॥ सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वञ्च तच्छब्दार्थः ॥ २१ ॥

सामोपासनं समाप्त्ये त्विह सरपय्येनेत्याशङ्क्याह । सामेति ॥ अदि-
शब्देन सरादवोवर्णां ऋद्धान्ते ॥ किमित्यङ्गातुर्यथोक्तोपासिरूप्यते

बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य
तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणन्त्वेव वर्जयेत् । १ । अ-
मृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेस्वधां पितृभ्य
आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं
यजमानायान्द्रमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा

कश्चिद्यजमान उद्गाता वा मन्यते । अनिरुक्तोऽमुकसम
इत्यविशेषितः प्रजापतेः प्रजापतिदैवत्यः स गानविशेषः ।
अनिरुक्तात्प्रजापतेर्निरुक्तः सृष्टः । सोमस्य सोमदैवत्यः स
उद्गीक्ष इत्यर्थः । मृदु जलान् गानं वायोर्वायुदैवत्यं तत्
जलान् बलवच्च प्रयत्नाधिक्योपेतम् । इन्द्रस्यैन्द्रं तद्गानं क्रौञ्चं
क्रौञ्चपक्षिनिनादसमम् । बृहस्पतेर्बर्हस्पत्यं तदपध्वान्तं
भिन्नकांस्यस्वरसमम् । वरुणस्यैतद्गानम् । तान्सर्वानेवोप-
सेवेत वारुणन्त्वेवैकं वर्जयेत् ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानि साधयानि । स्वधां पितृभ्य
आगायान्याशां मनुष्येभ्य आशां प्रार्थनां प्रार्थितमित्येतत् ।
तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्द्रमात्मने

तत्वाह । फलेति ॥ मृत्युपरिहारादिफलविशेषस्तत्त्वव्यादेशः । उपा-
स्तिरनुष्ठेयेत्यर्थः ॥ पशुभ्यो हितमस्य वचनाम्वयितव्यम् ॥ वाक्यस्थिति-
शब्द व्याचष्टे । इति कश्चिदिति ॥ इत्यविशेषितः । अनेन प्रकारेणाय-
मिति विशेषितो व्यवच्छिद्य ज्ञातो न भवतीत्यर्थः ॥ तस्यप्रजापत्यत्वे
हेतुमाह । अनिरुक्त इति ॥ नीलपीतादिभिर्निश्चित्वावचनादित्यर्थः ॥

स्वरविशेषज्ञानपूर्वकसुज्ञानकाले ध्यातव्यार्थमाह । अमृतत्वमिति ॥

ध्यायन्नप्रमत्तः सुवीत॥२॥ सर्वे स्वरा इन्द्रस्या-
 त्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा
 मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रः शरणं
 प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् । ३ ।
 अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिः शरणं प्रप-
 न्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनः
 स्पर्शेषूपालभेत मृत्युः शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा
 प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् । ४ ।

मह्यमागायानीत्येतानि मनसा चिन्तयन्ध्यायन्नप्रमत्तः
 स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्यः सुवीत । सर्वे स्वरा अकारादय
 इन्द्रस्य बलकर्माणः प्राणस्यात्मानो देहावयवस्थानीयाः ।
 सर्व ऊष्माणः शपसहादयः प्रजापतेर्विराजः कश्यपस्य
 वात्मानः । सर्वे स्पर्शाः कादयो व्यञ्जनानि मृत्योरात्मान-
 स्तमेवं विदमुज्जातारं यदि कश्चित्स्वरेषूपालभेदस्वरस्य या
 दुष्टः प्रयुक्त इत्येवमुपालब्ध इन्द्रं प्राणमीश्वरं शरणमाश्रयं
 प्रपन्नोऽभूवं स्वरान्प्रयुञ्जानोऽहं स इन्द्रो यत्तव वक्तव्यं
 त्वा त्वां प्रति वक्ष्यति स एव देव उक्तारं दास्यतीत्येनं
 ब्रूयात् ॥ यद्येनमूष्मसु तद्यैवोपालभेत प्रजापतिं शरणं
 प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यति सञ्जूर्मयिष्यतीत्येनं ब्रूयात् ।

स्वरोष्मव्यञ्जनादिभ्य इत्यादिशब्देन स्थानप्रयत्नादि सङ्ग्रहः ॥ केना-
 व्याप्तिप्रस्योद्गातुद्विज्ञानकाले प्रतिहारज्ञानाय स्वरादिदेवताज्ञानसुपस्थ-
 सति । सर्वे स्वरा इति ॥ शपसहादय इत्यादिशब्दस्तदवान्तरभेदाभि-

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं
ददानीति सर्व उष्माणोऽग्रस्ता निरस्ता विवृता
वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे
स्पर्शा लेशेनाभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं
परिहराणीति ॥ ५ ॥ २२ ॥

अथ यद्येनं स्वर्गेऽप्युपास्यते मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूव स त्वा
प्रति धत्तयति भस्मीकरिष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥

यत इन्द्राद्यात्मानः स्वरादयोऽतः सर्वे स्वरा घोषवन्तो
वक्तव्या बलवन्तस्तथाहमिन्द्रे बलं ददानीं बलमाददा-
नीति । तथा सर्व उष्माणोऽग्रस्ता अन्तरप्रवेशिता अनिरस्ता
अवहिराक्षिप्ता विवृता विवृतप्रयत्नोपेताः प्रजापते-
रात्मानं परिददानीं प्रयच्छानीति । सर्वे स्पर्शा लेशेन
शनकैरनभिनिहिता अनभिनिक्षिप्ता वक्तव्या मृत्योरात्मानं

प्रायः । यत्तव वक्तव्यमित्यस्मादूर्ध्वं तच्छब्दो द्रष्टव्यः । तथैव स्वरेष्विवेति
यावत् ॥

देवताज्ञानबलेनोद्भावा न प्रमत्तेन भवितव्यं स्वरादीनामन्यथोच्चार-
णं देवताभेदप्रसङ्गादतः स्वराद्युच्चारणे तात्पर्यं कर्तव्यमित्युद्भावारं
शिक्षयति । यत इति ॥ प्रयोगकाले चिन्तनीयमर्थं कथयति । तथेति ॥
यथोक्तरीत्या स्वराणां प्रयोगावस्थायामित्यर्थः । आददानीति चिन्तये-
दिति शेषः । तथेत्युच्यतां प्रयोगावस्थामिति यावत् ॥ विवृतप्रयत्नोपेताः
प्रयोक्तव्या इति शेषः ॥ तत्रापि ध्यातव्यं दर्शयति । प्रजापतेरिति ॥
अतिदूतोच्चारणेन वस्तुन्तरे यथाभिलिप्तो न भवति तथा प्रयुज्यमानत्व-
मनभिलिप्तत्वं । मृत्योरात्मानमिति वाक्योपादानं तस्य तात्पर्यमाह ।
बालानिवेति ॥ यथा लोकः जनकैर्जलादिभ्यो बालानुपरिहरति तथा

तयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ।

बालानिव शनकैः परिहरद्भिर्हृत्योरात्मानं परिहरा-
णीति ॥ २२ ॥

ओङ्कारस्योपासनविध्यं तयो धर्मस्कन्धा इत्याद्या-
रभ्यते । नैवं मन्त्रव्यं सामावयवभूतस्यैवोङ्गीयादिलक्षणस्यो-
ङ्कारस्योपासनात्फलं प्राप्यत इति । किं तर्हि यत्सर्वैरपि
सामोपासनैः कर्मभिश्चाप्राप्यं तत्फलमश्नुतत्वं केवलादो-
ङ्कारोपासनात्प्राप्यत इति तत्सुत्यर्थं सामप्रकरणे तदु-
पन्यासः । तयस्विंशसङ्ख्याका धर्मस्य स्कन्धाः । धर्मस्कन्धा
धर्मप्रविभागा इत्यर्थः । के त इत्याह । यज्ञोऽग्निहोवा-
दिः । अध्ययनं सनियमस्य ऋणादेरभ्यासः । दानं वहिर्वेदि-
ययाशक्तिद्रव्यसंविभागोऽभिज्ञमाणेभ्यः । इत्येष प्रथमो

ऋत्योरात्मानमहं परिहराणीति ध्यात्वा स्वर्शानां प्रयोगः कर्तव्य-
इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अधिकृताधिकारान्यङ्गावबद्धान्युपासनान्युक्तानि । सम्प्रति स्वत-
न्त्राधिकारगोचरभोङ्कारोपासनं विधातुमारभते । ओङ्कारेति ॥ अङ्गा-
वबद्धोपासनाधिकारे यथोक्तस्वतन्त्रोपासनविधाने कोऽभिप्रायः श्रुतेरि-
त्याशङ्क्याह । नैवमिति ॥ न स्वतन्त्रस्य तस्योपासनादित्येवकारार्थः । कथं
तर्हि मन्त्रव्यमित्यपेक्षायामाह । किन्तुहीति ॥ सनियमस्य प्राङ्मुखादि-
नियमसहितस्य पुरुषस्येति यावत् । अभ्यासश्चाकरणं विचारो जपः
शिवेभ्यो दानमाहन्तिचेति पञ्चविधः ॥ वेद्यां यद्दीयते तस्य यज्ञाङ्गत्वात्
पृथक् फलवत्त्वं नास्तीति भन्वानो विचिन्तयन्ति । वहिर्वेदीति ॥ ऋहस्येन
तदात्मनेत्यर्थः । कथं ऋहस्यस्य प्राथम्यं ब्रह्मचारिणस्तथात्वादित्याश-
ङ्क्याह । एक इत्यर्थ इति ॥ उक्तव्याख्याने वाक्येष्वेवमस्य गमकत्वमाह ।

प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी
तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादन्सर्व एते
पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥२॥

धर्मस्कन्धः । गृहस्थसमवेतत्वात्तन्निवर्त्तकेन गृहस्थेन निर्दि-
श्यते प्रथम एक इत्यर्थो द्वितीयतृतीयश्रवणात् ॥ नाद्यर्थ-
स्तप एव । द्वितीयस्तप इति कृच्छ्रचान्द्रायणादि तद्वा-
स्तापसः परिव्राड्वा न ब्रह्मसंस्थः । आश्रमधर्ममात्रसंस्थे
ब्रह्मसंस्थस्य त्वमृतत्वश्रवणात् । द्वितीयो धर्मस्कन्धः । ब्रह्म-
चार्य्याचार्य्यकुले वस्तु शीलमस्येत्याचार्य्यकुलवासी । अत्यन्तं
यावज्जीवमात्मानं नियमैराचार्य्यकुले ऽवसादयन्क्षपय-
न्देहं तृतीयो धर्मस्कन्धः । अत्यन्तमित्यादिविशेषणान्वैष्टिक
इति गम्यते । उपकुर्वाणस्य स्वाध्यायग्रहणार्थत्वान्न पुण्यलो-
कत्वं ब्रह्मचर्य्येण । सर्व एते तयोऽप्याश्रमिणो यथोक्तैर्धर्मैः
पुण्यलोका भवन्ति । पुण्यो लोको येषां त इमे पुण्यलोका

द्वितीयेति ॥ प्राथम्यमेव प्रथमशब्दस्य नार्थो ब्रह्मचारिप्राथम्यप्रसिद्धिवि-
रोधादित्याह । नाद्यर्थ इति ॥ कीदृशत्वं परिव्राड्गृह्यते तत्राह ।
नेति ॥ कुतो ब्रह्मसंस्थो न गृह्यते तत्राह । ब्रह्मसंस्थस्येति ॥ वानप्र-
स्थपक्ष्मसंस्थस्य परिव्राजोऽपि प्रदर्शनार्थं ॥ ब्रह्मचारित्यादिवाक्यस्य
नैष्ठिकविषयत्वं विशेषणसामर्थ्याद्दर्शयति । अत्यन्तमित्यादिति ॥ अथोप-
कुर्वाणस्यात्र ब्रह्मचारित्वाविशेषात्किमित्युपादानं न भवेत्तत्राह । उप-
कुर्वाणस्येति ननु ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्य्येण पुण्यलोको न श्रूयते तत्राह ।
सर्व इति ॥ कथमाश्रमिणां पुण्यलोकत्वविशेषवतां तदात्मत्वमुच्यते तत्राह ।
पुण्य इति ॥ आश्रमिणु प्रदर्शमानेषु किं परिव्राट् संस्थो न

आश्रमिणो भवन्ति । अवशिष्टस्वनुक्तः परिव्राट् ब्रह्मसंस्थो
ब्रह्मणि सम्यगवस्थितः सोऽमृतत्वं पुण्यलोकविलक्षणममर-
णभावमात्यन्तिकमेति नापेक्षिकं देवादमृतत्ववत् ॥

पुण्यलोकात्पृथगमृतत्वस्य विभागकरणात् । यदि च
पुण्यलोकातिशयमात्रममृतत्वमभिव्यञ्जितः पुण्यलोकत्वा-
द्विभक्तं नावक्ष्यत् । विभक्तोपदेशत्वादात्यन्तिकममृतत्वमिति
गम्यते । अत्र चाश्रमधर्मफलोपन्यासः प्रणवसेवास्तुत्यर्थं न
तत्फलविध्यर्थम् । स्तुतये च प्रणवसेवाया आश्रमधर्मफलवि-
धये चेति हि भिद्येत वाक्यम् । तस्मात् स्मृतिप्रसिद्धाश्रमफ-
लानुवादे प्रणवसेवाफलममृतत्वं ब्रुवन्प्रणवसेवां स्तौति ॥

प्रदर्शयते तत्राह । अवशिष्टस्त्विति ॥ कुतो हि पुण्यलोकवैलक्षण्यम-
मृतत्वस्येत्याशङ्क्योक्तं । आत्यन्तिकमिति ॥

तस्यापेक्षितत्वाभावे हेतुमाह । पुण्यलोकादिति ॥ अत्र त्वस्य
पुण्यलोकात्पृथग्विभागकरणान्ततोऽन्यत्वादात्यन्तिकत्वमिद्विरिति योजना ॥
उक्तमेवार्थं व्यतिरेकमुखेन साधयति । यदि चेत्यादिना ॥ अहंशब्दस्य
यथाश्रुतं मुख्यमर्थं गृहीत्वा परब्रह्मात्मना साक्षात्कारवतो निरङ्कुशम-
मृतत्वमुक्तं प्रकरणालोचनया तु प्रणवप्रतीके ब्रह्मोपासनस्य क्रमेणा-
मृतत्वं भेदबुद्धेरनपायाद्दूष्यं । कर्मिणां मन्त्रवत्फलत्वाभिधानेन तस्मिन्दया
ब्रह्मसंस्थतास्तुतिदर्शनात्तस्यास्य विध्यर्थत्वादमृतत्वकामो ब्रह्मसंस्थः स्या-
दित्येकार्थपरत्वदेकमिदं वाक्यमित्याह । अत्र चेदित्यादिना ॥ स्तुतये
फलसिद्धये चेदं वाक्यं किं न स्यादित्याशङ्क्याह । स्तुतये चेति ॥ अर्थक-
त्वादिकवाक्यं तद्वेदे तद्वेदनियमादित्यर्थः । किं परं तर्हीदं वाक्यं तत्राह ।
तस्मादिति ॥ स्तुतिसिद्धेति स्तुतेः स्तुत्यर्थानुवादत्वे वैपरीत्यात्तदनुमितिः
स्तुतिसिद्धेति योज्यं । स्तुतिमेव दृष्टान्तावष्टम्भेन स्पष्टयति ॥

यथा पूर्ववर्मणः सेवा भक्तपरिधानमात्रफला राज-
वर्मणस्तु सेवा राज्यतुल्यफलेति तद्वत् । प्रणवश्च तत्सत्यं परं
ब्रह्म तत्प्रतीकत्वात् । एतद्वैवाचरं परमित्याद्याम्नायात् ।
काठकेऽप्युक्तं तत्सेवातोऽमृतत्वम् । अत्राहुः केचिच्चतु-
र्धर्माश्चमिणामविशेषेण स्वकर्मानुष्ठानात्पुण्यलोकेत्येवोक्ता
ज्ञानवर्जितानां सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति । नात्र
परिव्राडवशेषितः । परिव्राजकस्यापि ज्ञानं यमा निय-
माश्च तप एवेति । तप एव द्वितीय इत्यत्र तपः शब्देन
परिव्राट्तापसौ गृहीतौ ॥ अतस्तेषामेव चतुर्धा यो
ब्रह्मसंस्थः प्रणवसेवकः सोऽमृतत्वमेतीति । चतुर्धामधि-
कृतत्वाविशेषात् । ब्रह्मसंस्थत्वे प्रतिषेधाच्च । स्वकर्मच्छिद्रे

यथेत्यादिना ॥ इतिशब्दोऽध्वाहृतस्तुतये इत्यनेन सम्बध्यते ॥ ननु
ब्रह्मतत्त्वसेवातोऽमृतत्वं भवति न प्रणवसेवातस्तत्किमिति तस्य स्तुतिरित्या-
शङ्क्याह । प्रणवश्चेति ॥ तत्र प्रमाणं दर्शयन् फलितमाह । एतद्वैवेति ॥
स्वव्याख्यानं वर्जितदोषमुक्त्वा ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीत्यत्र वृत्तिकारीयं
व्याख्यानमुत्थापयति । अत्रेति ॥ ये स्वत्वाश्चमिणस्तत्परो ज्ञानवर्जितास्तेषां
सर्वेषामप्यविशेषेण स्वाश्रमविहितधर्मानुष्ठानेन पुण्यलोका भवन्तीत्य-
तोक्ता । न तु पूर्वस्मिन् अन्ये परिव्राडनुक्तः सन्नवशेषितोऽस्तीति यो-
जना ॥ ननु पूर्वस्मिन् अन्ये वाचकपदं परिव्राजो नोपलभ्यते तथाचासा-
ववशेषितस्तत्वाह । परिव्राजकस्यापीति ॥ ज्ञानं यमा नियमाश्चोपायभूता
इति यावत् ॥

परिव्राडपि पूर्वत्वाभिहितश्चेद्ब्रह्मसंस्थवाक्यस्य कोऽर्थः स्यादित्या-
शङ्क्याह ॥ अत इति ॥ परिव्राजकस्यानवशिष्टत्वेन चतुर्धामुपदिष्टत्वा-
विशेषोऽतः शब्दार्थः । सामान्यनिर्देशे हेतुमाह । चतुर्धामिति ॥ अप्रति-
षेधाच्चेति शब्दः । नन्वाश्रमान्तराणां कर्म्मार्थत्वात्तत्रैव व्यापृतत्वाच्च ब्रह्म-

च ब्रह्मसंस्थतायाः सामर्थ्योपपत्तेः । न च यववराहादि-
शब्दवद्ब्रह्मसंस्थशब्दः परिव्राजके रूढः । ब्रह्मणि संस्थिति-
निमित्तमुपादाय प्रवृत्तत्वात् । न हि रूढिशब्दे निमि-
त्तमुपाददते । सर्वेषाञ्च ब्रह्मणि स्थितिरुपपद्यते । यत् यत्
निमित्तमस्ति ब्रह्मणि संस्थितिरस्य तस्य निमित्तवतो
वाचकं सन्तं ब्रह्मसंस्थशब्दं परिव्राजके विषये सङ्कोच-
कारणाभावान्निरोद्धमयुक्तम् ॥

न च पारिव्राज्याश्रमधर्ममात्रेणाष्टतत्त्वम् । ज्ञानानर्थ-
क्यप्रसङ्गात् पारिव्राज्यधर्मयुक्तमेव ज्ञानमष्टतत्त्वसाधन-

संस्थायां सामर्थ्यमस्ति परिव्राजकस्य तु निर्व्यापारस्य ब्रह्मसंस्थता मुकरो-
त्यत आह । स्वकर्मेति ॥ ननु परिव्राजके ब्रह्मसंस्थशब्दो रूढो गवादि-
शब्दवत् । तन्न । असावाश्रमान्तरमाश्रन्दति तत्राह । न चेति ॥ निमित्त-
भादय प्रवृत्तत्वेऽपि किमिति रूढिर्न स्यादित्याशङ्क्याह । न हीति ॥
नन्वेव शब्दो नैमित्तिकोऽपि परिव्राजकमात्रमधिकरोति । तत्रैव निमि-
त्तस्य सत्त्वात्तत्राह । सर्वेषाञ्चेति ॥ ननु पङ्कजादिशब्दा निमित्तमानीत्ये-
तावता नेन्दीवरादौ वर्त्तन्ते किन्तु तामरसादिमात्रं विषयीकुर्वन्ति । तथा
ब्रह्मसंस्थशब्दो निमित्तवत्त्यपि षट्कस्यादावनवस्थितः परिव्राजकमेव
परं गोचरयेदत आह । यत्नेति ॥ ब्रह्मसंस्थशब्दं निरोद्धमयुक्तमिति
सम्बन्धः ॥

रूढिपक्षे दोषान्तरमाह । न चेति ॥ धर्मसंहितस्य ज्ञानस्य
ज्ञानसंहितस्य वा धर्मस्याष्टतत्त्वसाधनत्वाच्च ज्ञानानर्थक्यमित्याशङ्क्या-
द्यपक्षमनुवदति । पारिव्राज्येति ॥ पारिव्राज्यधर्मोऽथैवेति नायं
नियमो षट्कस्यादिधर्माणामप्याश्रमधर्मत्वेन तुल्यत्वात्तद्विशिष्टज्ञान-
मष्टतत्त्वहेतुरित्यपि वक्तुं मुकरत्वादित्याह । नाश्रमेति ॥ द्वितीयं
दूषयति । धर्मो वेति ॥ यदि परिव्राजकधर्मो ज्ञानविशिष्टो
सक्तिहेतुरित्युच्यते तदैतदपि सक्तिहेतुत्वं सर्व्याश्रमधर्माणां

मिति चेन्न। आश्रमधर्मात्वाविशेषात्। धर्मी वा ज्ञानविशि-
ष्टोऽश्नतत्त्वसाधनमित्येतदपि सर्वाश्रमधर्माणामविशिष्टम्।
न च वचनमस्ति परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मोक्षो नान्ये-
षामिति। ज्ञानान्मोक्ष इति च सर्वोपनिषदः सिद्धान्तः।
तस्माद्य एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रमविहितकर्मवता सोऽश्नतत्त्व-
मेतीति न कर्मनिमित्तविद्याप्रत्यययोः। विरोधात्॥

कर्मादिकारकक्रियाफलभेदप्रत्ययवत्त्वं हि निमित्तमुपा-
दाधेदं कुर्विदं मा कार्पोरिति कर्मविधयः प्रवृत्ताः। तच्च
निमित्तं न शास्त्रकृतम्। सर्वप्राणिषु दर्शनात्। सदेकमेवा-
द्वितीयमात्मैवेदं सर्वं ब्रह्मैवेदं सर्वमिति शास्त्रजन्यः प्रत्ययो
विद्यारूपः स्वाभाविकं क्रियाकारकफलभेदप्रत्ययं कर्म
विधिनिमित्तमनुपपद्य न जायते। भेदाभेदप्रत्यययो-

ज्ञानविशिष्टानामविशिष्टम्। तथा च न हृदिपक्षेऽपि परि-
व्राजकस्यैव ज्ञानान्मुक्तिरित्यर्थः। इतश्च परिव्राजकस्यैव मुक्तिभाक्त्वमसि-
द्धमित्याह। न चेति॥ मा तर्हि कस्यचिदपि मुक्तिर्भूयादिति तत्राह।
ज्ञानादिति॥ ब्रह्मसंस्थवाक्यार्थसुपसंहरति। तस्मादिति॥ परिव्राज-
कस्यैवाश्नतत्त्वमित्यनियमाज्ज्ञानादेव तदिति नियमादित्यर्थः॥ ब्रह्म-
संस्थः। समुच्चयानुवायेति उत्तिकारमतं निराकरोति॥ न कर्मेति॥
कर्मनिमित्तप्रत्ययस्य शुद्धब्रह्मात्मना साक्षात्कारस्य च भियो विरोधाच्च
समुच्चयसिद्धिरिति॥

वस्तुसङ्ग्रहाय विवृणोति। कर्मादीति॥ कर्मविधयो निषिद्धान्नेति
दृष्टव्यम्। तथापि प्रत्ययत्वाविशेषात्कारकाकारकविधिनिषेधयोर्न विरो-
धोऽस्तीत्याशङ्क्याह। तच्चेति॥ प्रत्ययत्वेऽपि शास्त्रीयः शस्त्रेयतया विद्या-
विद्याभावेन विरोधोऽस्तीत्यर्थः॥ सति विरोधे किं स्यादत्राह। स्वाभा-

विरोधात् । न हि तैमिरिकद्विचन्द्रादिभेदप्रत्ययमनुपसृष्ट्य
तिमिरापगमे चन्द्राद्येकत्वप्रत्यय उपजायते । विद्याविद्या-
प्रत्यययोर्विरोधात् । तत्रैवं सति यं भेदप्रत्ययमुपादाय
कर्मविधयः प्रवृत्ताः स यस्योपमर्दितः सदेकमेवाद्वितीयं
तत्सत्यं विकारभेदोऽवृत्तमित्येतद्वाक्यप्रमाणजनितेनैकत्वप्र-
त्ययेन यः सर्वकर्मभ्यो निवृत्तो निमित्तनिवृत्ते स च निवृ-
त्तकर्मा ब्रह्मसंस्थ उच्यते स च परिव्राडेवान्यस्यासम्भ-
वात् ॥ अन्यो हि अनिवृत्तभेदप्रत्ययः सोऽन्यत्पश्यन् शृण्व-
न्मन्वातो विजानन्निदं कृत्वेदं प्राप्नुयामिति हि मन्यते । त-
स्यैवं कुर्वतो न ब्रह्मसंस्थता वाचारम्भणमात्रविकारावृता-
भिसन्धिप्रत्ययवत्त्वात् । न चासत्यमिति । उपमर्दिते भेद-

विक्रमिति ॥ विद्यारूपः प्रत्यय इतिपूर्वेण सम्बन्धः ॥ तत्रोक्तमेव हेतुं
आरयति । भेदेति ॥ तत्र लोकप्रसिद्धमुदाहरणमाह । न ह्रीम् ॥ भेदा-
भेदप्रत्यययोर्विद्याविद्यात्मनोर्विरोधेन समुच्चयासम्भवात्तदुजायी ब्रह्म-
संस्थो न भवति चेत्कस्तर्हि ब्रह्मसंस्थः स्यादत्राह । तत्रेति ॥ उक्तरीत्या
समुच्चयायोगे सतीति यावत् ॥

अन्यस्य गृहस्थादेर्ब्रह्मसंस्थतासम्भवमुक्तं साधयति । अन्यो ह्येति ॥
वाचारम्भणमात्रे विकारेऽवृत्ते शरीरादौ ब्राह्मणोऽहमित्याद्यभिसम्भान-
रूपो मित्याभिनवेशात्मको यः प्रत्ययस्तद्वत्त्वादिति हेत्वर्थः । ननु ब्रह्म-
विदोऽपि संस्कारवशाद्धेतस्यत्याभिनवेशपूर्वकं कर्म्मप्रवृत्तिसम्भवात् ब्रह्म-
संस्थता मुप्रतिपाद्येत्यत आह । न चेति ॥ असत्यमिदमिति विवे-
केन सत्यत्वाभिनवेशे शिथिलीकृते पुनः सत्यत्वाभिनवेशेन न प्रवृत्ति-
रूपपद्यते । आभासरूपा तु भेदबुद्धिर्न कर्म्मप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । अद्वैत-
ज्ञानवतो निमित्तनिवृत्त्या कर्म्मनिवृत्तिरवश्यम्भाविनीत्युक्तम् ॥ विपक्षे-

प्रत्ययेः सत्यामिदमनेन कर्त्तव्यं मयेति प्रमाणप्रमेयबुद्धिरु-
 त्पद्यते । आकाशे इव तलमलबुद्धिविवेकिन उपमर्दितेऽपि
 भेदप्रत्यये कर्मभ्यो न निवर्त्तते चेत्प्रागिव भेदप्रत्ययोपमर्द-
 नादेकत्वप्रत्ययविधायकं वाक्यमप्रमाणीकृतं स्यादभक्ष्यभ-
 क्षणादिप्रतिषेधवाक्यानां प्रामाण्यवद्भूतमेकत्ववाक्यस्यापि
 प्रामाण्यम् । सर्वोपनिषदां तत्करत्वात्कर्मविधीनामप्रामाण्य-
 प्रसङ्ग इति चेत् । न । अनुपमर्दितभेदप्रत्ययवत्पुरुषविषये
 प्रामाण्योपपत्तेः स्वप्नादिप्रत्यय इव प्राक्प्रबोधाद्विवेकि-
 नामकरणात्कर्मविधिप्रामाण्योच्छेद इति चेन्न । काव्यवि-

दोषमाह । उपमर्दितेऽपीति ॥ एकत्वप्रत्ययजनकं शास्त्रं न भवत्येव
 प्रमाणपूर्वप्रवृत्तभेदप्रत्ययविरोधादिति मतमाशङ्क्याह । अभक्ष्येति ॥
 यथा न कलङ्गं भक्षयेदित्यादि शास्त्रं पूर्वप्रवृत्तकलङ्गादिभक्ष्यप्रत्यय-
 विरोधेऽपि प्रमाणं रागादिदोषात्तस्य प्रत्ययस्याप्रमाणत्वात्तथैव भेद-
 प्रत्ययस्याविद्योत्यत्वात्प्रामाण्यासम्भवात्तद्विरोधेऽप्यद्वैतशास्त्रस्य युक्तमेव
 प्रामाण्यमित्यर्थः ॥

कार्यपरत्वादद्वैते तात्पर्याभावात्कुतस्तच्छास्त्रस्य प्रामाण्यमित्याश-
 ङ्क्याह । सर्वोपनिषदामिति ॥ उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादिषड्विधतात्पर्य-
 लिङ्गदर्शनादद्वैते तात्पर्यं तासामवसीयते तद्युक्तं अद्वैतशास्त्रस्य स्वार्थे
 प्रामाण्यमित्यर्थः ॥ भेदालम्बनकर्मविधिविरोधाच्चाद्वैतशास्त्रं स्वार्थे-
 मानमिति शङ्कते । कर्मविधीनामिति ॥ यथा स्वप्नप्रत्ययो गन्धर्वनगरादि-
 प्रत्ययस्य प्राक्तन्यज्ञानादज्ञं पुरुषमधिकृत्य प्रमाणम् । तथा कर्मविधी-
 नामप्यविदुषि पुरुषे प्रामाण्यसम्भवाच्चाद्वैतशास्त्रस्य तद्विरोधोऽस्तीति
 परिहरति । नानुपमर्दितेति ॥ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन इति
 श्रुतेः । तत्त्वदर्शिनं कर्मभ्यः सकाशादुपरमे सत्यम्येऽप्युपरस्यन्ते ॥ तथा च
 कर्मविधिविरोधतादवस्थमिति शङ्कते । विवेकिनामिति ॥ प्रकृतिपरवश-
 त्वाद्धोकस्य नासौ विवेकी प्रवृत्तिमनुवर्त्तते । प्रकृतिं खान्ति भूतानि

अनुच्छेददर्शनात् । न हि कामात्मता न प्रशस्त्येवं
विज्ञानवद्भिः काम्यानि कर्माणि नानुष्ठीयन्त इति काम्य-
कर्मविधय उच्छिद्यन्तेऽनुष्ठीयन्त एव कामिभिरिति ।
तथा ब्रह्मसंस्थैर्ब्रह्मविद्भिर्नानुष्ठीयन्ते कर्माणीति न
तद्विधय उच्छिद्यन्तेऽब्रह्मविद्भिर्नानुष्ठीयन्त एवेति । परि-
व्राजकानां भिक्षाचरणादिवदुत्पन्नैकत्वप्रत्ययानामपि गृह-
स्थादीनामग्निहोतादिकर्मानिष्ठितिरिति चेन्न । प्रामाण्य-
चिन्तायां पुरुषप्रवृत्तेरदृष्टान्तत्वात् । न हि नाभिचरेदि-
ति प्रतिषिद्धमप्यभिचरणं कश्चित्कुर्वन्तृष्ट इति शत्रौ हेषर-
हितेनापि विवेकेनाभिचरणं क्रियते । न च कर्मविधिप्रवृत्ति

नियङ्कः किं करिष्यतीति श्रुतेः ॥ ततो ब्रह्मविदां नैष्कर्म्येऽपि न कर्म-
विधीनामप्रामाण्यप्रसिद्धिरित्युत्तरमाह ॥ न काम्येति तदेव प्रपञ्चयति ।
न हीति ॥ इति नोच्छिद्यन्त इति शेषः ॥

अस्तु प्रकृते किमायातं तदाह । तथेति ॥ अनुष्ठीयन्त एवेति । तस्मिन्ना-
मनुच्छिन्निरिति वाक्यशेषः ॥ अहं तवादिनोऽवश्यम्भाविनी कर्मनिष्ठति-
रित्युक्तं दृष्टान्तेन विषटयज्ञाशङ्कते । परिव्राजकानामिति ॥ अहं तयो-
स्त्वभावलोचनायां भिक्षाटनादिप्रवृत्तिरप्यघटमानैवेति सन्धानः समाधत्ते ।
न प्रामाण्येति ॥ समुच्चयस्य प्रामाणिकत्वनिरूपणायां प्रत्ययाभाससमूहस्य
प्रवृत्त्याभासस्य नोदाहरणत्वं । अग्निहोतादिप्रवृत्तेरप्याभासत्वे प्रामा-
णिकसमुच्चयमिद्वान्तर्हानिरतो नैतज्ज्ञोद्यमित्यर्थः ॥ एतदेव दृष्टान्ते न स्पष्ट-
यति । न हीति ॥ तद्द्विवेकीनां कर्म क्रियमाणं दृष्टमिति विवेकिभि-
रपि तन्न क्रियते । भिक्षा-नादिप्रवृत्त्याभासस्य प्रामाणिकोऽग्निहोतादि-
प्रवृत्तेर्नोदाहरणमिति शेषः । इतश्च नेदमुदाहरणमित्याह । न चेति ॥
अग्निहोतादावपि प्रवर्तकसंज्ञीति शङ्कते । इहापीति ॥

निमित्ते भेदप्रत्यये बाधितोऽग्निहोतादौ प्रवर्त्तकं निमित्त-
मस्ति । परिव्राजकस्येव भिक्षाचरणादौ बुभुक्षादिप्रवर्त्त-
कम् । इहाऽप्यकरणे प्रत्यवायभयं प्रवर्त्तकमिति चेत् । न भेद-
त्ययवतोऽधिकृतत्वात् । भेदप्रत्ययवाननुपमर्दितभेदबुद्धि-
र्विद्यया यः स कर्मण्यधिकृत इत्यवोचाम । यो ह्यदिकृतः कर्मणि
तस्य तदकरणे प्रत्यवायो न निवृत्ताधिकारस्य गृहस्थस्येव
ब्रह्मचारियो विशेषधर्माननुष्ठाने । एवं तर्हि सर्वः स्वाश्रमस्य
उत्पन्नैकप्रत्ययः परिव्राडिति चेत् । न । स्वस्वामित्वभेदबु-
द्ध्या निवृत्तेः । कर्म्मार्थत्वाच्चेतराश्रमाणाम् । अथ कर्म कुर्वीयेति
श्रुतेः । तस्माच्च स्वस्वामित्वाभावाद्भिन्नतुरेक एव परिव्राट् न

अकरणकृतं प्रत्यवायाख्यं भयमविवेकिनो विवेकिनो वेति विकल्पप्र-
सङ्गीकरोति । न भेदेति ॥ कर्मणि भेदबुद्धिमतोऽधिकृतत्वेऽपि तस्य तद-
करणे किं स्वादित्यामङ्ग्राह । यो हीति ॥ द्वितीयं दूषयति । न निवृ-
त्तेति ॥ विवेकिनो निवृत्ताधिकारस्य प्रत्यवायाप्राप्ता कर्मसु प्रवर्त्तकाभा-
वात्कर्मभ्यो निवृत्तिरूपं पारिव्राज्यच्चेदतिप्रसङ्गस्तर्हीति शङ्कते । एवं त-
र्हीति ॥ कर्मसाधनं स्वयशोपवीतादि त्वज्यते न वा । त्वज्यते चेन्न स्वाश्रम-
धर्मः । ततो यशोपवीताद्यान्तरेण गार्हस्थ्य्यादिभावासम्भवात् । न त्वज्यते
चेन्न पारिव्राज्यऽप्राप्तिः ॥ साधनसंप्रहस्य साध्यार्थत्वादिति परिहरति ।
स्वस्वामित्वेति ॥ इतश्चाश्रमान्तरेषु न पारिव्राज्यमित्याह । कर्म्मार्थत्वादिति ॥
जायापुत्रवित्तसम्पत्त्यामन्त्र्यं श्रुतावयवशब्दार्थः ॥ गृहस्थादिषु स्वाश्रम-
स्येभ्येव पारिव्राज्यस्य दुर्वचत्वे फलितमाह । तस्मादिति ॥ विवेकवशाद्-
शोपवीतादौ स्वशब्दार्थे स्वामित्वबुद्ध्याभावादिति यावत् ॥ यस्तु परिव्राज-
कस्य निवृत्ताधिकारस्य प्रत्यवायानभिप्राप्तिरिति तत्त्वानिष्टापत्तिमाश-
ङ्कते । एकत्वेति ॥ तद्विषयप्रत्ययस्य विधेरुत्पादकं तत्त्वमस्मादिवाक्यम् ।
तज्जनितेनैकत्वविषयेषु प्रत्ययेनेति यावत् । तथाच यथेष्टचेष्टाप्रसङ्ग-

गृहस्थादिः। एकत्वप्रत्ययविधिजनितेन प्रत्ययेन विधिनि-
मित्तभेदप्रत्ययस्योपमर्दितत्वाद्यमनियमाद्यनुपपत्तिः परि-
व्राजकस्येति चेत्। न। बुभुक्षादिनैकत्वप्रत्ययात्। प्रत्यावित-
स्योपपत्तेर्निवृत्त्यर्थत्वात्। न च प्रतिषिद्धसेवाप्राप्तिः। एकत्व-
प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्। न हि रालौ कूपे कण्टके
वा पतिते ददितेऽपि सवितरि पतिततस्मिन्नेव। तस्मात्सिद्धं
निवृत्तकर्मा भिक्षुक एव ब्रह्मसंस्थ इति। यत्पुनरुक्तं सर्वेषां
ज्ञानवर्जितानां पुण्यलोकतेति। सत्यमेतत्। यज्ञोक्तं तपः-
शब्देन परिव्राडप्युक्त इत्येतत्। तदसत् ॥

कस्मात्परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थता सम्भवात्। स एव ह्यव-
शेषित इत्यवोचाम। एकत्वविज्ञानवतोऽग्निहोतादिवत्तपो

रिति शेषः। ज्ञानिनो वैधर्म्यादि नास्ति तद्वृत्तितु संस्कारवशादि-
त्याशयेनाह। बुभुक्ष इति ॥ यो हि दृष्टेन दोषेण तच्च ज्ञानात्कृत-
व्युत्तिमासादितस्तस्य संस्कारवशाद्यमानियमाद्यनुपपद्यते। तस्य दोष-
कृतत्वप्रव्युत्तिपसूतानियतचेष्टानिवृत्त्यर्थत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वात्। तथाच न
यथेष्टचेष्टापत्तिरित्यर्थः। इतश्च विदुषो वैधर्म्यवशादेऽपि यथेष्टचेष्टा नास्ती-
त्याह न चेति ॥ अविदुषोऽपि न यथेष्टचेष्टा विदुषस्तु सा कुतस्तेति दृष्टा-
न्नेन स्फुटयति। न हीति ॥ अन्येषां ब्रह्मसंस्थतासम्भवे फलितमुपसंहरति।
तस्मादिति ॥ परोक्तमनुयाजीकरोति। यत्पुनरिति ॥ उक्तमर्थान्तरमनु-
वदति। यज्ञेति ॥ किं परिव्राजकस्य ज्ञानहीनस्याश्रममात्रनिष्ठस्य तपः-
शब्देनोपादानमाहोस्त्रिज्ञानवतोऽपीति विकल्पग्राह्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं
दूषयति। तदसदिति ॥

ज्ञानवतोऽपि तपस्वित्वात्तपःशब्देनोपादानमुचितमिति शङ्कित्वा
प्रत्याह। कस्मादित्यादिना ॥ तपःशब्देन नासौ गृहीत इति शेषः ॥ तस्य

निरुत्तेश्च । भेदबुद्धिमत एव हितपःकर्त्तव्यता स्यात् । एतेन
 कर्मच्छिद्रे ब्रह्मसंस्थतासामर्थ्यम् । अप्रतिषेधश्च प्रत्युक्तः । तथा-
 ज्ञानवानेव निरुत्तकर्म्मा परिव्राडिति ज्ञानवैयर्थ्यं प्रत्युक्तम् ।
 यत्पुनरुक्तं यववराहादिशब्दवत्परिव्राजके च रूढो ब्रह्म-
 संस्थशब्द इति तत्परिहृतमेतत् । तस्यैव ब्रह्मसंस्थता-
 सम्भवान्नान्यस्येति । यत्पुनरुक्तं रूढशब्दानिमित्तं नोपाद-
 दत इति । तत्तद्गृहस्थवत्तत्परिव्राजकादिशब्ददर्शनात्
 गृहस्थितिपरिव्राज्यतत्त्वणादिनिमित्तोपादाना अपि गृह-
 स्थपरिव्राजका वाश्रमविशेषे विशिष्टजातिमति च गृहस्थ
 इति परिव्राजक इति च तद्वेति रूढा दृश्यन्ते शब्दाः ।
 न यत्र यत्र तानि निमित्तानि तत्र तत्र वर्तन्ते ॥ सिद्धभा-

च ज्ञानवतोऽविशिष्टत्वं प्रागेवोपदिष्टमित्याह । स एवेति ॥ इदञ्च परम-
 हंसपरिव्राजको न तपःशब्देन परागृह्य इत्याह । एकत्वेति ॥ तदेव स्मर-
 यति । भेदेति ॥ यत्तु कर्मच्छिद्रे गृहस्थादेरपि ब्रह्मसंस्थतासामर्थ्यमिति तत्र-
 त्याह । एतेति ॥ अनिरुत्तभेदप्रत्ययस्य ब्रह्मसंस्थतासम्भवेनेति यावत् ॥
 सामर्थ्यं प्रत्युक्तमिति सम्बन्धः ॥ यत्तु चतुर्णामपि ब्रह्मसंस्थताया अप्रति-
 षेध इति आह । अप्रतिषेधश्चेति ॥ एकत्वोपदेशेन भेदप्रत्ययनिरासाद्-
 निरुत्तभेदप्रत्ययस्यार्थाद्वैक्यसंस्थता प्रतिषिद्धेत्यर्थः ॥ परिव्राज्यभावे-
 णागृह्यतत्वे ज्ञानवैयर्थ्यमुक्तं परिहरति । तथेति ॥ चोद्यान्तरमनूद्योक्तं
 परिहारं आरथति । यत्पुनरुक्तमिति ॥ तत्र रूढोऽयं शब्द इति शेषं
 प्रश्नस्या सूचयति । चोद्यान्तरमनूद्य दूषयति । यत्पुनरित्यादिना ॥
 आदिपदेन पङ्कजादिशब्दा गृह्यन्ते ॥ उक्तं प्रपञ्चयति । गृहस्थित्वेति ॥
 रूढापीति प्रकृतव क्योपादानं प्रकृते परमहंसे परिव्राजके ब्रह्मसंस्थपद-
 मित्यात्र हेतुमाह । सुख्येति ॥ इतश्च पारमहंस्यमेव आतमित्याह । आतयेति ॥

वात् । तथेहापि ब्रह्मसंस्थयद्वौ तिवृत्तसर्वकर्मतत्त्वाधनप-
रिव्राडैकविषयेऽत्याश्रमिणि परमहंसाख्ये वृत्त इह भवितु-
मर्हति । मुख्यतत्त्वफलश्रवणात् । अतश्चेदमेवैकं वेदोक्तं
पारिव्राज्यम् । न यज्ञोपवीतविदण्डकमण्डलादिपरिग्रह-
वान्मुण्डोऽपरिग्रहोऽसङ्ग इति च । श्रुतिरत्याश्रमिभ्यः परमं
पवित्रमित्यादि च श्वेताश्वतरीये । न स्तुतिर्न नमस्कार
इत्यादिस्मृतिभ्यश्च । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पार-
दर्शिनः । तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञः अव्यक्तलिङ्ग इत्यादिस्मृति-
भ्यश्च । यत्तु साङ्ख्यैः कर्मत्यागोऽभ्युपगम्यते । क्रियाकारक-
फलभेदबुद्धेः सत्यत्वाभ्युपगमात् । तन्मृषा । यच्च बौद्धैः शून्य-

एवकारार्थं कथयति ॥ न यज्ञोपवीतेति ॥ इतिशब्दः सत्साधनप्रकरणतया-
विधनुत्यभावप्रदर्शनार्थः ॥ ब्रह्मसंस्थयद्वयस्य परमहंसविषयत्वे अत्यन्तरं
संवादयति । श्रुतिरिति ॥ अत्याश्रमिभ्यः पूर्व्याश्रमत्वयमतीत्युक्तं
त्यक्त्वा स्थितेभ्यः परमहंसपरिव्राजकेभ्य इति यावत् । परमं पवित्रं
निरतिशयपरिपुङ्गुकारणं परमपुरुषवसाधनं सत्यगुप्तानं प्रोवाचेत्यर्थः ।
श्रुतिभ्यश्च यथोक्तपारिव्राज्यं सिद्धतीति शेषः ॥ अनाश्रितमनारम्भनि-
त्यादि वाक्यसङ्गर्हाद्यमादिपदं । कर्मणो बन्धहेतुत्वं तच्छब्दार्थः ॥ लिङ्गस्य
धर्मकारणत्वरहितत्वं तस्मादित्युक्तं । अलिङ्गो धर्मध्यानिवराहितः ।
धर्मज्ञो यथावद्वर्णाश्रुताता । अधर्मज्ञ इति वा पाठः । धर्मवि-
चारनिवारहितसत्तासारत्वप्रत्ययवानित्यर्थः । अलिङ्ग इत्युक्तेऽना-
श्रितित्वमाशङ्क्य । अव्यक्तेति ॥ न व्यक्तं दम्भेन गृहीतं लिङ्गमाश्र-
मित्वमस्यास्तीत्यव्यक्तलिङ्गः । किम्वदम्भेन श्रुतिस्मृत्युक्तप्रकारेण तदस्या-
स्तीत्यर्थः । आदि पदं त्वज धर्ममधर्महेत्यादि पृथीतुम् अत्रापि पूर्वपदा-
न्वयः । ननु कर्मनिवृत्तिसुपदिशता त्वया साङ्ख्यमतमेवाश्रितं । तेनापि

ताभ्युपगमादकर्तृत्वमभ्युपगम्यते । तदप्यसत् । तदभ्युपगन्तुः
सत्त्वाभ्युपगमात् । यज्ञाच्चैरलमतया अकर्तृत्वाभ्युपगमः सो-
ऽप्यसत्कारकबुद्धेरनिवर्त्तितत्वात्प्रमाणेन । तस्माद्देवान्त-
प्रमाणजनितैकत्वप्रत्ययवत् एतत्कर्मनिवृत्तिलक्षणं पारि-
व्राज्यं ब्रह्मसंस्थित्वञ्चेति सिद्धम् । एतेन गृहस्थस्यैकत्वविज्ञाने
सति पारिव्राज्यमर्थसिद्धम् । नन्वग्न्युत्सादनदोषभाक् स्या-
त्परिव्रजन् । वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुदासयत

शरीरादि व्यापारोपरमहारा ध्याननिष्ठायाः स्वीकृतत्वान्त्वाह ।
यत्त्विति ॥ न हि तन्मते कूटस्थान्मधीबलेन नैष्कर्म्यं युक्तम् । क्रियाकार-
कादिबुद्धेरविवेकस्य च सत्यत्वेन ज्ञानमात्रापनोद्यत्वायोगात् । न च
सर्वव्यापारोपरमसम्भवो मनोबुद्धादीनां । तच्छीलत्वात् । नहि कश्चित्-
श्चक्षुषीत्यादि सृष्टेः । अतः साङ्ख्यवदो मिथ्यैवेत्यर्थः । ननु बौद्धे-
नापि नैरात्म्यमिच्छता नैष्कर्म्यमिदं तथाच कर्मत्यागमुपदिशता त्वयापि
तन्मतमेवानुमोदितं नेत्याह । यज्ञेति ॥ तदभ्युपगन्तुरित्यत्राकर्तृत्वं
तच्छब्दार्थः । दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयान्त्यजेदिति सृष्टेः ॥ आल-
स्योपपन्नैरक्षैरकर्तृत्वमुपेयते ॥ भवतापि कर्म त्यजता तन्मतमाहतमित्या-
शङ्क्याह । यज्ञाच्चैरिति ॥ अकर्तृत्वाभ्युपगम इति श्लेढः । ते हि मोहादेव
कर्म त्यजन्तो न तत्फलं लभन्ते । स कृत्वा राजसन्न्यागं नैव त्याग-
फलं लभेदिति सृष्टेः । वयं तु प्रमत्तवशादेव कर्म त्यजन्तो
न व्यामोहमदपक्षमाद्रियामहे । तस्माच्चैष्कर्म्यं सृष्टिसृष्टिप्रसि-
द्धमप्रत्याख्येयमिति भावः ॥ पक्षान्तरे नैष्कर्म्योक्तैरमूलत्वे स्थिते फलित-
मुपसंहरति । तस्मादिति ॥ यत्तु कैश्चिदैकाग्रस्यमाश्रितं तत्प्रत्यादिशति ।
एतेनेति ॥ एकत्वविज्ञानेन भेदप्रत्ययस्योपमर्दितत्वोपपादनेनेति यावत् ।
एकत्वविज्ञानं परोक्षं विवक्षितम् । अपरोक्षस्य पारिव्राज्यमन्तरेण-
योगात्तस्योपरतिशब्दितस्य शमादिबन्धनत्वश्रुतेरिति द्रष्टव्यम् ॥ गृह-
स्थस्य पारिव्राज्यश्रुतिविरोधं शङ्कते । नन्विति ॥ ऐकात्म्यमेव सत्यं हेत-
मसत्यमिति विवेके जाते सत्यग्न्यदेरवस्तुत्वाध्यवसायात्तदनिनिवेशशैथि-

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्य-
स्त्वयी विद्या सम्प्राप्तवत्तामभ्यतपत्तस्या अभित-
प्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्राप्तवन्त भूर्भुवः स्वरि-
ति ॥ ३ ॥ तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐङ्कारः

इति श्रुतेः । न देवेनैवोत्सादितत्वादुत्पन्न एव हि स एक-
त्वदर्शने जाते । अपागादग्नेरग्नित्वमिति श्रुतेः अतो न
दोषभागृहस्यः परिव्रजन्निति ।

यत्संस्थोऽद्यतमेति तन्निरूपणाग्रमाह । प्रजापतिर्विराट्
कश्यपो वा लोकानुद्दिश्य तेषु सारजिष्ठक्षयाऽभ्यतपद-
भितापं कृतवान् ध्यानं तपः कृतवानित्यर्थः । तेभ्यो
ऽभितप्तेभ्यः सारभूता त्वयी विद्या सम्प्राप्तवत् प्रजापतेर्म-
नसि प्रत्यभादित्यर्थः । तामभ्यतपत् । पूर्ववत्तया
अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्राप्तवन्त भूर्भुवः स्वरिति

ल्यान्न तत्त्यागे दोषप्राप्तिरिति दूषयति । न देवेति ॥ सम्यग्ज्ञाने सत्य-
ग्न्यदेशस्त्वत्वे मानमाह । अपागादिति ॥ ऋहस्यस्यापि विवेकवतो
वैराग्यद्वारा युक्तं पारिव्राज्यमित्याह । अत इति ॥ इतिशब्दो ब्रह्मसंस्थ-
याक्यव्याख्यानसमाप्त्यर्थः ॥

किन्नरक्षेत्राकाङ्क्षायामाह । यत्संस्थ इति ॥ लोकानामभितो दग्ध-
तयाभितापप्रतिभासं व्यवच्छिनसि । ध्यानमिति ॥ दूवात्मात्वाभावे कथं
प्रस्रवणं त्वयाः स्यादित्याशङ्क्याह । पूर्ववदिति ॥ त्वयी विद्या सारजि-
ष्ठक्षयाऽऽलोचितवानित्यर्थः । कथं तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वमित्याशङ्क्य
महत्तरत्वादित्याह । कीदृशमित्यादिना ॥ तत्र ब्रह्मशब्दप्रवृत्तौ हेत्वन्तरं

सम्प्राप्तवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्शानि सन्तृ-
 षान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृषा ॐकार एवे
 दए सर्वमोङ्कार एवेदए सर्वम् ॥४॥ २३ ॥

व्याहृतयः । तान्यक्षराण्यभ्युपगम्योऽभितप्तेभ्यः सारभूत
 ॐकारः सम्प्राप्तवत्तद्ब्रह्म । कीदृशं किंरूपमित्याह ।
 तद्यथा । शङ्कुना पर्शनालेन सर्वाणि पर्शानि पद्मावयव-
 जातानि सन्तृषानि निबद्धानि व्याप्तानीत्यर्थः । एवमोङ्का-
 रेण ब्रह्मणः । परमात्मनः प्रतीकभूतेन सर्वा वाक् शब्दजातं
 सन्तृषा अकारो वै सर्वा वागित्यादि श्रुतेः । परमात्म-
 विकारस्य नामधेयमात्रमित्यत ॐकार एवेदए सर्वमिति
 द्विरभ्यास आदरार्थः । लोकादिनिष्पादनकथनमप्योङ्कार-
 स्तुत्यर्थमिति ॥ २३ ॥

सुचयति । परमात्मन इति ॥ ओङ्कारावयवस्याकारस्यापि सर्ववाग्व्याप्तिरस्ति
 किञ्च ब्रह्मव्यमोङ्कारस्तेति मन्वानः श्रुत्यनुरसुदाहरति अकार इति ॥
 ओमितोदं सर्वमित्यादिवाक्यमादिपदार्थः ॥ ओङ्कारव्याप्तत्वे ऽपि वाग्-
 जातस्य न तस्य सर्वात्मत्वमाकाशादिपरमात्मविकारस्य पृथगेव विद्य-
 मानत्वादित्याशङ्क्याह । परमात्मेति ॥ सकलमपि जगत्परमात्मविकार-
 त्वात्तदतिरेकेण नास्ति । स च प्रकृतादेङ्काराद्यातिरिच्यते । एतद्
 सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कार इति श्रुतेः । तस्माद्युक्तमोङ्कारस्य
 सर्वात्मत्वमित्यर्थः । ओङ्कारं सर्वात्मकं ब्रह्मरूपमुपासीतेति विधिसमाख्यर्थ
 मिति शब्दः ॥ किमित्योङ्कारस्य लोकादिद्वारा निष्पत्तिरुच्यते तत्राह ।
 लोकादीति ॥ स्तुतिरुपास्यर्था । यत्स्तूयते तद्विधीयत इति स्थितेः ।
 तथा च शङ्कुमोङ्कारोपासनममृतत्वफलमिति शब्दः ॥ २३ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यदसूनां प्रातःसवनं
रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनमादित्यानाञ्च विश्वे-
षाञ्च देवानां तृतीयसवनम् । १ । क्व तर्हि

सामोपासनप्रसङ्गेन कर्मगुणभूतत्वात्त्रिर्गोह्वारं पर-
मात्मप्रतीकत्वायामृतत्वहेतुत्वेन महीकृत्य प्रकृतस्थैव यज्ञ-
स्याङ्गभूतानि सामहोममन्त्रोत्थानान्यपदिदित्वाह ॥ ब्रह्म
वादिनो वदन्ति । यत्प्रातःसवनं प्रसिद्धं तदसूनाम् ।
तैश्च प्रातःसवनसम्बन्धो ऽयं लोको वशीकृतः सवनेशनैः ।
तथा रुद्रोमाध्यन्दिनेशनैरन्तरिक्षलोकोः । आदित्यैश्च
विश्वेर्देवैश्च तृतीयसवनेशनैस्तृतीयो लोको वशीकृतः ।
इति यजमानस्य लोकोऽन्यः परिशिष्टो न विद्यते ।
अतः क्व तर्हि यजमानस्य लोको यदर्थं यजते । न क्वचि-
ज्जोकोऽस्तीत्यभिप्रायः । लोकाय वै यजते यो यजत इति

प्रासङ्गिकं हित्वा प्रकृतमनुसन्धत्ते । सामेति ॥ पञ्चविधं सप्रविधञ्च
यज्ञाङ्गीभूतं साम तस्योपासनवचनादोह्वारस्य तद्गुणस्य सुतरामेव कर्म-
गुणत्वे यामि ततस्तं व्यावर्त्तेय ब्रह्मप्रतीकत्वात्कैवल्यहेतुत्वेन तमेव मही-
कृत्य प्रस्तुतयज्ञाङ्गभूतमादिविज्ञानावधानं यस्मिन्तत्प्राप्तमित्यर्थः ॥

सामहोममन्त्रोत्थानसामादिज्ञानविधित्वया तदपरिज्ञाने दोषमाह ।
ब्रह्मैत्यादिना ॥ तेषां प्रातःसवनेशनस्येऽपि यजमानस्य का हानिरित्या-
शङ्क्याह । तैश्चेति । यथा पृथिवीलोको वसुभिस्तथेति यावत् । अन्तरिक्ष-
लोको वशीकृत इति पूर्वेण सम्बन्धः । तृतीयो लोको द्युलोकाश्च ॥
असु तत्तद्देवानां तत्तत्कर्मवशीकारस्तथापि यजमानस्य लोकिन्वे किमा-
यातमित्याशङ्क्याह । इति यजमानस्येति ॥ परिशिष्टलोकाभावोऽतः य-

यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं
 कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥ २ ॥ पुरा प्रातरनु-
 वाकस्योपाकरणज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख
 उपविश्य स वासवꣳ सामाभिगायति ॥ ३ ॥
 लोकद्वारमपावार्णू २३३ पश्येम त्वा वयꣳ रा
 ३३३३३३ ३ आ २३३ जा ३ यो ३ आ १२४५

श्रुतेः । लोकाभावे च स यो यजमानस्तं लोकस्वीकरणोपायं
 सामहोममन्त्रोत्थानलक्षणं न विजानीयात्तोऽज्ञः कथं
 कुर्याद्यज्ञं न कथञ्चन तस्य कर्तृत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ॥
 सामादिविज्ञानस्तुतिपरत्वान्नाविदुषः कर्तृत्वं कर्ममात्रविदः
 प्रतिषिध्यते । स्तुतये च सामादिविज्ञानस्याविद्वत्कर्तृत्वप्रति-
 षेधाय चेति चेद्भिद्येत वाक्यं । आद्ये चौषस्थे काण्डेऽ-
 विदुषोऽपि कर्मास्तीति हेतुमवोचाम । अथैतद्वक्ष्यमाणं
 सामाद्युपायं विद्वान् कुर्यात् ॥

किन्तु द्वेष्टमित्याह । पुरा पूर्वं प्रातरनुवाकस्य शस्त्रस्य

व्यर्थः । तर्हि देहपातादूर्ध्वमित्येतत् ॥ लोकापेक्षां विनापि विधिवशा-
 द्वागो भविष्यतीत्याशङ्क्याह । लोकावेति ॥ लोकत्वस्य वशाद्यधीनतया
 यजमानानधीनत्वे तस्य तदधीनत्वार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानमित्याशङ्क्याह ।
 लोकाभावे चेति ॥ अज्ञो यज्ञं स्वर्गादिस्थाधनीभूतं कथं कुर्यादित्याक्षेपा-
 दविद्वत्कर्मानुष्ठाननिन्दारं वाक्यमित्याशङ्क्याह । सामादेति ॥ अथेदं
 वाक्यं स्तुत्यर्थे निषेधार्थं च भविष्यति नेत्याह । स्तुतये चेति ॥ इतश्चावि-

इति ॥४॥ अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते
लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यज-
मानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥ अथ यजमानः
परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिषमित्युक्त्वो-
त्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातःसवनं सप्रयच्छन्ति

प्रारम्भाज्जघनेन गार्हपत्यस्य पश्चादुदङ्मुखः सन्नुपविश्य
स वासवं वदद्देवत्यसामाभिगायति ॥ लोकद्वारमस्य पृथि-
वीलोकस्य प्राप्तये द्वारमपात्रणु हे अग्ने तेन द्वारेण
पश्येन त्वा त्वां राज्यायेति ॥ अयान्तरं जुहोत्यनेन मन्त्रेण
नमोऽग्नये प्रह्वीभूतास्तुभ्यं वयं पृथिवीक्षिते पृथिवीनिवा-
साय लोकक्षिते लोकनिवासाय पृथिवीलोकनिवासामये
त्यर्थः । लोकं मे मद्यं यजमानाय विन्द लभस्व । एष वै
मम यजमानस्य लोक एता गन्तास्मि ॥ अवास्मिन्
लोके यजमानोऽहमायुषः परस्तादूर्ध्वं मृतः सन्वित्यर्थः ।

इकह्वत्वं निरोद्धमयक्यमित्याह । आद्ये चेति ॥ सटवीह्वनेष्वित्यादौ
विदुषः सन्निधाने तदनुज्ञामनोणाविदुषः कर्म कर्तुमयुक्तं । प्रत्यवाय-
प्रसङ्गात् । तदसन्निधौ तु तेनापि क्रियमाणं कर्म न दुष्यतीत्युपपादित-
नित्यर्थः ॥ अथशब्दो हेत्यर्थः । सामाद्यविज्ञाने यस्माद्यज्ञाकरणमेव
प्राप्तं तस्मादित्यर्थः ॥ ज्ञातव्यं सामादि प्रश्नपूर्वकं विदुषोति । किलदि-
त्यादिना ॥ अप्रगीतमृगजातं शस्त्रं यत्रातःकाले शस्यते प्रातरनुवाकस्त-
स्येति यावत् । उवाकरणादित्यस्यार्थमाह । प्रारम्भादिति ॥ जघनेनेत्ये-
तद्व्याचष्टे । पश्चादिति ॥ स गार्हपत्यस्य पृष्ठत उदङ्मुखो स्थित्वा वसुदेव-
दाकं सामगानं कृतवानित्यर्थः । स वासवमित्यत्र सशब्दो यजमानविषयः ।

॥ ६ ॥ पुरा माध्यन्दिन्यसवनस्योपाकारणाज्ज-
घनेनाग्नीध्रैर्यस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रं
सामाभिगायति ॥ ७ ॥ लोकद्वारमपावर्ण २३३
पश्येम त्वा वयं वि रा ३३३३ ऊं आ ३३ जा
यो आ ३३३४ इति ॥ ८ ॥ अथ जुहोति नमो
वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय
विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥ अत्र
यजमानः परस्तादायुषः स्नाहाऽपजहि परिष-
मित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिन्यसवनं
सम्प्रयच्छन्ति ॥ १० ॥ पुरा तृतीयसवनस्योपा-

स्नाहेति जुहोति । अपजह्यपश्य परिषं लोकद्वारगल-
मित्येतं मन्त्रमुक्त्वोत्तिष्ठति । एवमेतैर्विभुभ्यः प्रातःसवन-
सम्बन्धो लोको निष्क्रीतः स्यात्ततस्ते प्रातःस्वनं वसवो
यजमानाय सम्प्रयच्छन्ति ॥

तथाग्नीध्रियस्य दक्षिणाग्नेर्धामनेनोदङ्मुख उपविश्य स
रौद्रं सामाभिगायति यजमानो रुद्रदैवत्यं वैराज्याय ॥

राज्याय त्वर्ह्यनेन त्वदुक्तया पृथिवीप्रवृत्तयोगायेत्यर्थः । पृथिव्यां क्षयति
पशतीति पृथिवीकिदग्निस्तस्मै पृथिवीक्षिते ॥ पृथिवील्लोके मया लब्धे
किं स्यादित्याशङ्क्याह । एष वै मम यजमानस्येति ॥ स्नाहाशब्दो मन्त्र-
समाख्यार्थो ह्योमद्योतकः ॥ सर्वेषु मन्त्रे ज्येष्ठैः सामहोममन्त्रोत्थानैरित्यर्थः ॥

यथा पृथिवील्लोकजयोपायो दर्शितस्तथा अन्तरिक्षलोकजयोपायोऽपि
प्रदर्शित इत्याह । तथेति ॥ अन्तरिक्षे वायवीत्यन्तरिक्षक्षित्यायुक्तस्मै

करणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स
 आदित्यं स वैश्वदेवं सामाभिगायति ॥ ११ ॥
 लोकद्वारमपावाणूँ २३३ पश्येम त्वा वयं स्व
 रा ३३३३ ऊँ आ २३३ जा ३ यो ३ आ ३४५
 इति ॥ १२ ॥ आदित्यमथ वैश्वदेवं लोकद्वारम-
 पावाणूँ २३३ पश्येम त्वा वयं साभा ३३३३ ऊँ
 ३ आ २३३ जायो ३ आ ३१११ इति ॥ १३ ॥
 अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च
 देवेभ्यो दिविक्षिण्यो लोकक्षिण्यो लोकं मे यज-
 मानाय विन्दत ॥ १४ ॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः

अन्तरिक्षक्षिते इत्यादि समानं ॥ तथाऽऽहवनीयस्योद-
 ङ्मुख उपविश्य स आदित्यदैवत्यं वैश्वदैवञ्च सामाभिगा-
 यति क्रमेण स्वाराज्याय साम्राज्याय दिविक्षिण्य इत्येवमा-
 दिसमानमन्यत् । विन्दताऽपहतेति बहुवचनमात्रं विशेषः ।
 याजमानन्देतत् । एतास्म्यत्र यजमान इत्यादि लिङ्गाद् ।
 एष ह वै यजमान एववित् । यथोक्तस्य सामादेर्विद्वान्यज्ञस्य

वायवे । यथा पृथिव्यन्तरिक्षवोरात्र्युपायस्तथाद्युकोकाष्ट्युपायोऽप्युच्यते
 इत्याह । तथेति ॥ स्वाराज्यमन्तरिक्षेऽतन्त्रं आदित्यानामिव स्वातन्त्र्य-
 मिह विवक्षितं ॥

किमिदं सामासात्त्विकमाहो याजमानिकमिति विवक्षया-
 म् ॥ याजमानमिति ॥ आदिपदेन लोकं मे यजमानावेति-

वरस्तादायुषः स्वाहाऽपहतपरिदामित्युक्तोत्ति-
ष्ठति॥ १५ ॥ तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृ-
तीयसवनं सम्प्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां
वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥ २४ ॥ इति
द्वितीयप्रपाठकः ॥ २

मात्रां यज्ञयाथात्म्यं वेद यथोक्तम् । य एवं वेद य एवं
वेदेति द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था ॥ २४ ॥ इति श्रीगोविन्द-
भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीम-
च्छङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्यविवरणे द्वितीयः प्रपा-
ठकः ॥ २ ॥

निर्देशो न्यह्यते ॥ सामादिज्ञानफलं कथयति । एष इति ॥ य एवं-
विदित्यस्य व्याख्या । यथोक्तस्येति । तथोक्तं सामादीत्येतदेवमित्युक्त-
प्रकारोक्तिस्तस्य यज्ञयाथात्म्यविदस्तदनुष्ठानद्वारा तत्फलं सम्भवतीत्यर्थः
॥ २४ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपाद-
शिष्यभगवदानन्दज्ञानकृतायां छान्दोग्योपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयः प्रपा-
ठकः समाप्तः ॥ २ ॥

तृतीयप्रपाठकप्रारम्भः ।

हरिः । ॐ । असौ वा आदित्यो देवमधु

॥ ॐ ॥ असौ वा आदित्य इत्याद्यध्यायारम्भे सम्बन्धो
ऽतीतानन्तराध्यायान्ते उक्तः । यज्ञस्य मातां वेदेति यज्ञ-
विषयाणि च सामहोममन्त्रोत्थानानि विशिष्टफलप्राप्तये
यज्ञाङ्गभूतानि उपदिष्टानि । सर्वयज्ञानाञ्च कार्यनिर्वा-
रूपः सविता महत्या श्रिया दीयते । स एष सर्वप्राणि-
कर्मफलभूतप्रत्यक्षं सर्वैरुपजीव्यते । अतो यज्ञस्य व्यपदेशा-
नन्तरं तत्कार्यभूतसवित्विषयमुपासनं सर्वपुरुषार्थेभ्यः
ऋतमं फलं विधास्यामीत्येवमारभते श्रुतिरसौ वा आ-
दित्यो देवमध्वित्यादि । देवानां मोदनामध्विव मध्वसा-

ओं श्रीगणेशाय नमः । कर्माङ्गावबद्धं विज्ञानं परित्यज्य कर्म-
फलस्यादित्यस्य स्वतन्त्रोपास्तिविध्यर्थमध्यायान्तरमारभमाणः सम्बन्धं
प्रतिजानोते । असाविति ॥ पूर्वोत्तरग्रन्थयोः सम्बन्धं प्रतिज्ञाते प्रकट-
यितुं वृत्तं कीर्त्तयति । अतोऽनेति ॥ विशिष्टफलं पृथिव्यादिलोकत्रयं
समनन्तरसन्दर्भस्य तात्पर्यं वक्तुं पातनिकां करोति । सर्वेति ॥ तस्य
प्रेषितत्वं सूचयति । महत्येति ॥ कथं पुनरादित्यस्य सर्वप्राणिकर्म-
फलभूतत्वमित्याशङ्क्य सर्वैरुपजीव्यतोपलब्धादिव्यह । स एष इति ॥
पातनिकां ज्ञत्वोत्तरग्रन्थमुत्थापयति । अत इति ॥ आदित्यस्य कर्म-
फलत्वादिति यावत् । तदुपदेशे हेतुनिरमाह । सर्वपुरुषार्थेभ्य इति ॥
ऋतमं फलं क्रमेण सुक्लिष्टलक्षणमस्यास्तीति तथोक्तम् । आदित्ये कर्म-
फलशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमुक्तं व्यक्तीकर्तुमाह । ब्रह्मादीनामेति ॥ चकारो
विद्वत्सङ्घर्षार्थः । ब्रह्मत्यादित्यस्येति सम्बन्धः । तस्य सर्वेषां यज्ञानां

तस्य द्यौरेव तिरस्त्रीनवशोऽन्तरिक्षमपूपो मरी-
चयः पुच्छाः ॥ १ ॥ तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता
एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः ।

वादित्यो वस्वादोनाञ्च मोदनहेतुत्वं वक्ष्यति सर्व्वयज्ञ-
फलरूपत्वादादित्यस्य । कथं मधुत्वमित्याह । तस्य मधुनो-
द्यौरेव भ्रमरस्येव मधुनास्तिरस्त्रीनश्चामी वंशश्चेति तिरस्त्री-
नवंशः । तिर्य्यग्गतेव हि द्यौर्लक्ष्यतेऽन्तरिक्षञ्च मध्वपूपो
द्युवंशे लग्नः सन् लखत इवातो मध्वपूपसामान्यादन्तरिक्षं
मध्वपूपो मधुनः सवितुराश्रयत्वात् । मरीचयो रश्मयो
रश्मिस्था आपो भौमाः सवित्ताकटाः । एता वा आपः
स्वराजो यन्मरीचय इति हि विज्ञायन्ते । ता अन्त-
रिक्षमध्वपूपस्थरश्मिप्रान्तर्गतत्वाद्भ्रमरबीजभूताः पुच्छा इव

फलरूपत्वादिति हेतुः । वस्वादयश्च कर्मफलभोक्तारस्तत्फलमादित्यं दृष्ट्वा
तद्व्यन्तीति युक्तमित्यर्थः ॥

आदित्यं मधुद्व्योपासीतेत्युक्तं तत्र प्रसिद्धमधुसाध्यमादित्यस्य सुत्वक्त-
माकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति । कथमित्यादिना ॥ दिवि तिरस्त्रीनवंश-
द्वद्यौ निमित्तमाह । तिर्य्यग्गतेति ॥ अन्तरिक्षनिवासिभिरुपरि विसा-
रितनयनैरिति शेषः ॥ अन्तरिक्षे मध्वपूपदृष्टिं कथयति । अन्तरिक्ष-
मिति ॥ मधुन इत्यभयत्वं सम्बन्धः ॥ मरीचयः पुच्छा इति वाक्यं व्या-
चष्टे । मरीचय इति ॥ आपो भूमेराकटा रश्मिस्थाः सन्तीत्यत्र प्रमाण-
माह । एता इति ॥ स्वराजः स्वतो भासमानस्य सवितुरिति यावत् ।
तासां पुच्छत्वं प्रकटयति । ता इति ॥ लोके हि भ्रमरबीजभूता पुच्छा
मध्वपूपच्छिद्रस्था दृश्यन्ते एता आपोऽन्तरिक्षतलक्षणमध्वपूपान्तर्गत-

ऋच एव मधुकृतः ऋग्वेद एव पुष्पं ता
अमृता आपः

हिता लक्ष्यन्त इति पुत्रा इव पुत्रा मध्वपूषणाद्यन्तर्गता
हि भ्रमरपुत्रास्तस्य सवितुर्मध्वाश्रयस्य मधुनो ये प्राञ्चः
प्राच्यां दिशि गता रश्मयस्ता एवास्य प्राञ्चः प्रागञ्चनान्म-
धुनो नाड्यो मधुनाड्य इव मध्वाधारच्छिद्राणीत्यर्थः ॥

तत्रैव एव मधुकृतो लोहितरूपं सवित्वाश्रयं मधु
कुर्वन्तीति मधुकृतो भ्रमरा इव यतो रसानादाय मधु
कुर्वन्ति तत्पुष्पमिव पुष्पऋग्वेद एव । तत्र ऋग्ब्राह्मण-
सुदायस्य ग्वेदाख्यत्वाच्छब्दमात्राच्च भोग्यरूपरसनिष्ठावा
सम्भवात् । ऋग्वेदशब्देनात्र ऋग्वेदविहितं कर्म । ततो हि
कर्मफलभूतमधुरसनिष्ठावसम्भवात् । मधुकरैरिव पुष्प-

श्लिष्टा भवन्ति ततश्चैतास्त्वप्सु भ्रमरबीजदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः । प्राची-
दिग्नेषादित्यरश्मिषु प्राचीनमधुनाड्योदृष्टिर्विधेयेत्याह । तस्येति ॥
मध्वाश्रयस्य लोहितादिरूपं मधु वक्ष्यमाणं तदाधारस्येत्यर्थः । ऋजु
मन्त्ररूपास्तु भ्रमरदृष्टिमारोपयति । तत्रेति ॥ प्रकृतं मधु सप्तम्यर्थः ।
तासां मधुकर्तृत्वं साधयति । लोहितेति ॥ ऋग्वेदविहिते कर्मणि
पुष्पदृष्टिं सम्पादयति । यत इति ॥ ऋचो मधुकृत इति मन्त्राणां पृथक्-
कृतत्वाद्ग्वेदः पुष्पमित्युग्वेदशब्देन ब्राह्मणसुदायस्य वक्ष्यत्वात्कथं ऋग्वे-
दविहिते कर्मणि तच्छब्देन लक्षिते पुष्पदृष्ट्याध्यासेऽपि कृतस्ततो मधु-
निष्पत्तिरित्याशङ्क्याह । ततो ऋति ॥ तदेवोपपादयति । मधुकरै-
रिति ॥ लोके तावदपः पुष्पाश्रयाः समुदायमधुकरैर्मधु निर्वर्त्यते तथेहापि
मधुकरस्यानीयेच्छब्दस्त्वस्मिन्नेदं विहितात्पुष्पस्यानीयात्कर्मणः सकाशादप्यो-
दृष्ट्वा मधु निष्पादयते तस्यात्कर्मणः स्वफलभूतमधुनिष्पत्तेरुपपत्तेरिति

स्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥ एतच्छ्वेदमभ्य-

स्थानीयाहृग्वेदविहितात्कर्मण आप आदाय ऋग्भिर्मधु
निर्वर्त्यते । कास्ता आप इत्याह ताः कर्मणि प्रयुक्ताः
सोमाज्यपयोरूपा अग्नौ प्रक्षिप्तास्तत्पाकाभिर्निर्हताः ।
अष्टतार्थत्वादत्यन्तरसवत्य आपो भवन्ति । तद्रसाना-
दाय ता वा एता ऋचः पुष्पेभ्यो रसमाददाना इव
भ्रमरा ऋच एतच्छ्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयमभ्यत-
पन्नाभितापञ्च कृतवत्य इव एता ऋचः कर्मणि प्रयुक्ताः ।
ऋग्भिर्हि मन्त्रैः शास्त्राद्यङ्गभावमुपगतैः क्रियमाणं कर्म
मधु निर्वर्त्तकं रसं मुञ्चतीत्युपपद्यते पुष्पाणीव भ्रम-
रैराचोष्यमाणानि । तदेतदाह तस्यग्वेदस्याभितप्तस्य ।
कोऽमौ रसो ऋक्षधुकराभितापनिःकृत इत्युच्यते । यशो
विश्रुतत्वं तेजो देहगता दीप्तिरिन्द्रियं सामर्थ्योपेतैरिन्द्रियै-
रवैकल्यं वीर्यं सामर्थ्यं बलमित्यर्थः । अन्नाद्यमन्त्रश्च तदाद्यश्च

स्थिन् पुष्पवृष्टिरित्यर्थः । तः अमृता आप इति वाक्यं प्रश्नपूर्वकं
व्याचष्टे । कास्ता इत्यादिना ॥ कर्मणि प्रत्युक्तत्वमभिनयति । अग्नौ-
विति ॥ अग्निपाकादिभिर्निर्हत्तव्यमपूर्वात्तत्वं परस्परया मुक्तार्थत्व-
ममृतार्थत्वम् । यद्वा रोहितरूपास्तनिर्वर्त्तकत्वं तदर्थत्वम् । उत्कृष्ट-
फलवत्त्वमत्यन्तरसवत्त्वम् ॥

ता वा एता इत्यादि व्याचष्टे । तद्रसानिति ॥ यथा हि पुष्पेभ्यो
भ्रमराः रसानाददानास्तान्त्वभितपन्ति तथेते मन्त्रास्तस्थिन् कर्मणि स्थि-
न् नम्रवानुसानादाय मधु निर्वर्त्तयन्तो यथोक्तं कर्माभितप्तं समालोचयन्ति

तपःस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य-
मन्नाद्यः रसोऽजायत ॥३॥ तद्यक्षरत्तदादित्य-
मभितोऽश्वयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहित-
रूपम् ॥ ४ ॥ १ ॥ अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता

येनोपयुज्यमानेनाहव्यहनि देवानां स्थितिः स्यात्तदन्नाद्य-
मेष रसोऽजायत यागादिलक्षणात्कर्मणः । यश आद्यना-
द्यपर्यन्तं तद्यक्षरद्विशेषेणाक्षरदगमत् । गत्वा च तदादि-
त्यमभितः पार्श्वतः पूर्वभागं सवितुरश्वयदाश्रितवदित्यर्थः ॥
अमुष्मिन्नादित्ये सञ्चितं कर्मफलार्थं मधु भोज्यामहे
इत्येवं हि यश आदिनक्षत्रप्राप्तये कर्माणि क्रियन्ते मनुष्यैः
केदारनिष्पादनमिव कर्षकैः । तत्प्रत्यक्षं प्रदर्श्यते अद्वा-
हेतोः । किन्तद्यदेतदादित्यस्योद्यतो दृश्यते रोहितं रूपम् ॥१॥
अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मय इत्यादि समानम् । यजुष्येव

स्मेत्यर्थः । कथं पुनर्मन्त्राणां भ्रमरस्थानीयानां पुष्पस्थानीयसङ्गवेदमित्थितं
कर्माभितप्तवतां फलवत्त्वमित्याशङ्काह । एता ऋच इति ॥ तासां
कर्मणि प्रयुक्तेऽपि किमायातं तदाह । ऋग्भिरिति ॥ अभितप्तस्य
रसोऽजायतेति सम्बन्धः ॥ तं प्रश्नपूर्वकं विशदयति । कोऽसाविति ॥
तच्छब्दार्थमाह । यश आदीति ॥ अथानुष्ठितकर्मजनितफलं कथमादि-
त्यमाश्रयतीत्याशङ्काह । अमुष्मिन्निति ॥ दटान्ते भोज्यामहे त्रीत्यादिजतितं
फलमित्यभिप्रायेण त्रीत्यादिप्रात्यर्थमिति शेषः । किन्तत्कर्मफलं यदादि-
त्यमाश्रित्य तिष्ठतीत्याशङ्काह । तत्प्रत्यक्षमिति ॥ कर्मफले प्रत्यक्षे तत्-
साधने कर्मणि कर्मिणां अद्वासिद्ध्यर्थमिति यावत् ॥ तदेव फलं प्रश्नपूर्वकं
विशदयति । किमित्यादिना ॥ १ ॥

मध्यन्तरं दर्शयति । अथेति ॥ वक्तव्यविशेषं कथयति । यजुषीति ॥

एवास्य दक्षिणा मधुनाद्यो यजूंष्येव मधुकृतो
यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥
तानि वा एतानि यजूंष्येतं यजुर्वेदमभ्य-
तपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यम-
नाद्यं रसोऽजायत ॥ २ ॥ तद्यच्चरत्तदादित्य-
मभितोऽभ्ययत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम्
॥ ३ ॥ २ ॥ अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता
एवास्य प्रतीच्यो मधुनाद्यः सामान्येव मधुकृतः
सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥
तानि वा एतानि सामान्येतं सामवेदमभ्य-
तपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य-
मनाद्यं रसोऽजायत ॥ २ ॥ तद्यच्चरत्त-

मधुकृतो यजुर्वेदविहिते कर्मणि प्रयुक्तानि । पूर्ववन्मधुकृत
इव । यजुर्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयं पुष्पमित्युच्यते । ता
एव सोमाद्या अमृता आपस्तानि वा एतानि यजूंष्येतं यजु-
र्वेदमभ्यतपन्नित्येवमादि सर्वं समानं मधु । एतदादित्यस्य
दृश्यते शुक्लं रूपम् ॥ २ ॥ अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मय

कथं तेषां मधुकृत्त्वं तदाह । पूर्ववदिति ॥ ऋग्वेदाणां ऋग्वेदविहिते
कर्मणि प्रयुक्तानां यथापूर्वं मधुकरत्वं सूक्तम् । तथा यजुषामपीत्यर्थः ॥
यजुर्वेदविहिते कर्मणि पुष्पदृष्टिमाचरे । यजुर्वेदेति ॥ ता अमृता आप
इत्यस्य पूर्ववद्वाख्यानमित्याह । ता एवेति ॥ यजुषां आदित्यसम्बन्धि मधु
प्रत्यङ्गं दर्शयति । एतदिति ॥ २ ॥

दादित्यमभितोऽश्वयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य
कृष्णं रूपम् ॥ ३ ॥ ३ ॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो
मधुनाद्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपु-
राणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥ ते वा
एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपः
स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यः

इत्यादि समानम् । तथा सान्नां मधु । एतदादित्यस्य कृष्णं
रूपम् ॥ ३ ॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मय इत्यादि समानम् । अथर्वाङ्गिर-
सोऽथर्वाङ्गिरमाद्य दृष्टा मन्त्रा अथर्वाङ्गिरसः कर्मणि
प्रयुक्ता मधुकृतः । इतिहासपुराणं पुष्पम् । तयोश्चेतिहास-
पुराणयोरश्वमेधे पारिप्लासु रात्रिषु कर्माङ्गत्वेन विनि-

हतोयं मधु कथयति । अथेति ॥ कृष्णं यजुषाञ्च मधुयथा कथितं
वथेति यावत् ॥ तस्य शास्त्रप्रत्यक्षत्वं दशेयति । एतदिति ॥ ३ ॥

चतुर्थं मधु दर्शयति । अथेति ॥ किन्तु कर्म इत्याशङ्क्याह । इतिहा-
सेति ॥ तद्व्याख्यानानामाङ्गिरसञ्च प्रसिद्धं ब्राह्मणं तद्विहितं कर्म पुष्पं
पुष्पस्थानीयमित्यर्थः ॥

यदा प्रसिद्धयोरितिहासपुराणयोरुपादानं तदापि न दूषणमित्याह ।
तयोश्चेति ॥ अश्वमेधे कर्मणि जामितापरिहारायै पारिप्लावो नानाविधो-
पाख्यानसमुदायो यत्र तत्पारिप्लावमाचक्षीतेति विधिवशादयुज्यते । तासु
रात्रिषु तस्यैव कर्मणोऽङ्गत्वेन मनुर्वेवसतो राजेत्वेवस्मकारयोरिति-
हासपुराणयोर्विनियोगस्य पूर्वतन्त्रे पारिप्लावार्थाधिकरणेनैव सिद्धत्वात्

रसोऽजायत ॥ २ ॥ तद्यच्चरत्तदादित्यमभितो
 ऽश्वयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परः कृष्णं रूपम्
 ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ येऽस्योर्द्धा रश्मयस्ता एवास्योर्द्धा मधु-
 नाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता
 अमृता आपः ॥ १ ॥ ते वा एते गुह्या आदेशा
 एतद्ब्रह्माभ्यतपःस्तस्याभितप्तस्य यश इन्द्रियं
 योगः मिद्धो मध्येतदादित्यस्य परः कृष्णं रूपमतिशयेन
 कृष्णमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ येऽस्योर्द्धा इत्यादि पूर्ववत् । गुह्या गोप्या रश्म्या
 एवादेशा लोकद्वारीयादिविषयः । उपमनानि च कर्माङ्ग-
 विषयाणि मधुकृतो ब्रह्मैव । शब्दाधिकारात् प्रणवाख्यं
 पुष्पम् ॥

समानमन्यत् । मध्येतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव समा-
 हितदृष्टेर्दृश्यते सञ्चलन्तीव । ते वा एते यथोक्ता रोहि-
 तादिरूपविशेषा रसानां रसाः । केषां रसानामित्याह ।

तत्सम्बन्धिकर्म पुष्पमित्यर्थः । अस्यापि मधुनः शास्त्रप्रत्यक्षताभाह ।
 मध्येतदिति ॥ ४ ॥

पञ्चमं मधु दर्शयति । अथेति ॥ लोकद्वारीयादिविषयो लोकद्वार-
 मपाटणं पश्येम त्वा वयमित्यादयः ॥ ब्रह्मशब्दार्थभाह । शब्दाधिकारा-
 दिति ॥ शब्दादिशब्दानां प्रकृतत्वादित्यर्थः ॥

अस्यापि मधुनः शास्त्रवशात्प्रत्यक्षताभाह । मध्येतदिति ॥ समाहित-
 दृष्टेः शास्त्रार्थे समाहितचित्तस्थेत्यर्थः ॥ पञ्च मधूनि व्याख्याय तेषां
 सर्वेषां ध्येयत्ववित्त्वर्थं क्षुतिं प्रकुरुते । ते वा एते इति ॥ तस्यान्तेषा-
 मिति सम्बन्धः । कर्मणि विनियुक्तत्वेन तदङ्गत्वात्तद्वापत्तिः । वेदानां

वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥ २ ॥ तद्यच्चरत्तदा-
दित्यमभितोऽय्यत्तदा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये-
क्षोभत इव ॥ ३ ॥ ते वा एते रसानां रसा
वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एता-
न्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृ-
तानि ॥ ४ ॥ ५ ॥

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना

वेदा हि यस्माल्लोकनिष्ठान्दित्वात्सारा इति रसास्तेषां
रसानां कर्मभावापन्नानामप्येते रोहितादिविशेषा रसा
अत्यन्तसारभूता इत्यर्थः । तथा अमृतानाममृतानि ।
वेदा ह्यमृता नित्यत्वात्तेषामेतानि रोहितादीनि रूपस्य-
मृतानि । रसानां रसा इत्यादिकर्मस्तुतिरेषा । यस्यैवं
विशिष्टानि अमृतानि फलमिति ॥ ५ ॥

तत्तत्र यत्प्रथमममृतं रोहितरूपलक्षणं तद्वसवः प्रा-
सवनेशाना उपजीवन्त्यग्निना मुखेनाग्निना प्रधानभूतेना-
ग्निप्रधानाः सन्त उपजीवन्तीत्यर्थः । अन्नाद्यं रसोऽजायत

कार्यत्वेऽपि प्रयत्नपूर्वकत्वाभावाच्चित्त्वं या मधुनि स्तुतिः सा कर्मस्तुति-
रित्याह । रसानामिति ॥ कर्मस्तुतिमभिनयति । यस्यैवमिति ॥
रसानां रसाः । अमृतानाममृतानीत्येवं विशिष्टान्यमृतानि यस्य फलं
कर्मस्तुत्यं सङ्गभाग्यं किं वक्तव्यमिति सूयते कर्मैत्यर्थः ॥ ५ ॥

अमृतानि ध्येयान्युक्ता तदुपजीविनो देवतागणाननुचिन्तनीयानुपदि-
शति । तत्र त्रेति ॥ कवः पाहं कवतं गृहीत्वा यथा जाकोऽन्नाति

मुखेन न वै देवा अन्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतच्चाद्रूपादु-

इति वचनात्कवलग्राहमन्नन्तीति प्राप्तं तत्प्रतिषिध्यते । न
वै देवा अन्नन्ति न पिबन्तीति कथं तर्ह्युपजीवन्तीत्युच्यते ।
एतदेव हि यथोक्तममृतं रोहितरूपं दृष्ट्वापलभ्य सर्व-
करणैरनुभूय तृप्यन्ति । दृशेः सर्वकरणदारोपलब्ध्यर्थ-
त्वात् । ननु रोहितं रूपं दृष्टेत्युक्तम् । कथमन्येन्द्रियविषयत्वं
रूपस्येति । न । यथादीनां श्रोत्रादिगम्यत्वात् । श्रोत्रग्राह्यं
यशः । तेजोरूपञ्चाक्षुषमिन्द्रियं विषयग्रहणकार्यानुमेयं
करणसामर्थ्यम् । वीर्यं बलं देहगतम् । उत्साहः प्राणवत्ता ।
अन्नाद्यं प्रत्यहमुपजीव्यमानं शरीरस्थितिकरं यज्जवति ।
रसो ह्येवमात्मकः सर्वः । यं दृष्ट्वा तृप्यन्ति सर्वे ।

देवा दृष्ट्वा तृप्यन्तीत्येतत्सर्वं स्वकरणैरनुभूय तृप्यन्ती-
त्यर्थः । आदित्यसंश्रयाः सन्तो वैगन्ध्यादिदेहकरणदो-

तद्वदित्येतत् ॥ ननु अशनपानाभावे न यस्तमुपजीवनवचनमित्याशङ्क्य
परिहरति । कथमित्यादिना ॥ अमुपेति वक्तव्ये कथं सर्वकर-
णैरित्यधिकमुच्यते तत्राह । दृशेरिति ॥ अमुपेव दृपपक्षमिति
नियममाश्रित्य शङ्कते । नन्विति ॥ कर्मफलभूतस्य रसस्य लोहित-
मृतात्मकस्य नास्ति अक्षुर्मात्रप्राप्त्यवमिति परिहरति । नेत्यादिना ॥
किमेतावता रसस्यायातं तदाह । रसो ह्येति । तस्यापि श्रोत्रादिप्राप्त्य-
तेति शेषः ॥

एतदेवेत्यादिवाक्यमुपसंहरति । देवा इति ॥ किं तेषां स्वतन्त्राणां
तन्निर्गन्ताह । आदित्येति ॥ वैगन्ध्यं दौर्गन्ध्यम् । आदिपदेन सम्भाविता

द्यन्ति ।२। स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको
भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृष्यति स
य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति
॥३॥ स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता
वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्य्येता ॥

परहिताश्च । किन्तो निबद्धमा अमृतमुपजीवन्ति न कथम् ।
तर्ह्येतदेव रूपमभिलक्ष्याधुना भोगावसरो नाम्नाकमिति
बुद्धाभिसंविशन्त्युदासते । यदा वै तस्यामृतस्य भोगावसरो
भवेत्तदैतस्मादमृतादमृतभोगनिमित्तमित्यर्थः । एतस्माद्रूपा-
दुद्यन्त्युत्साहवन्तो भवन्तीत्यर्थः । न ह्यनुत्साहवतामननु-
तिष्ठतामलसानां भोगप्राप्तिर्लोके दृष्टा ॥

स यः कश्चिदेतदेवं यथोदितमृच्छुकरतापरससङ्क्ष-
रक्षमृग्वेदविहितं कर्म पुण्यात्तस्य चादित्यसंश्रयणं रोहि-
तरूपत्वश्चामृतस्य प्राचीदिग्गतरश्मिनाडीसंस्थतां वसु-
देवभोग्यताम् । त्विदं च वसुभिः सहैकतां गत्वा अग्निना
मुखेनोपजीवनं दर्शनमात्रेण तृप्तिश्च स्वभोगावसरमुद्यमनं
तत्कालापाये च संवेशनं वेद सोऽपि वसुवत्सर्वं तथैवा-

सर्वेऽपि देहकरणद्रोषा गृह्णन्ते । एतस्माद्रूपादिति ॥ व्याख्यातस्या-
नुवादमात्रम् । उत्साहवतां देवानां यथोक्तामृतोपजीवित्वमित्यत्र लो-
कप्राप्तिर्निमित्तमुक्तयति । न ह्येति ॥

पाठक्रमेणोक्तं ध्येयस्वरूपमनूद्य स्वाधिकारे ध्यानविधिं दर्शयति ।
स य इति ॥ वसुदेवभोग्यता वसुभिर्देवैरुपजीव्यत्वमिति यावत् ।
एतदित्यस्माकं मधु निर्दर्शयति । एवं शब्दार्थं विशदयति । यथोदित-

॥ ४ ॥ ६ ॥ अथ यद्वितीयममृतं तद्गुद्रा उपजी-
वन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अम्रन्ति न पिबन्त्ये-
तदेवामृतं दृष्ट्वा तृष्यन्ति ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमभि-
संविशन्त्ये तस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेव-
ममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदे-
वामृतं दृष्ट्वा तृष्यति स एतदेव रूपमभिसंवि-
शत्ये तस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥ स यावदादित्यः
पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत
उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यं

गुभवति । कियन्तं कालं विद्वांसदष्टतमुपजीवतीत्युच्यते स
विद्वान् यावदादित्यः पुरस्तात्प्राच्यां दिश्युदेता पश्चा-
त्पृथीच्यामस्तमेता तावद्वसूनां भोगकालस्तावन्तमेव कालं
वसूनामाधिपत्यं पर्येता परितो गन्ता भवतीत्यर्थः । न
यथा चन्द्रमण्डलस्थः केवलकर्म्मपरतन्त्रो देवानामन्वभूतः ।
किन्तुर्ह्ययमाधिपत्यं स्वाराज्यं स्वराज्ञावश्चाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अथ यद्वितीयममृतं तद्गुद्रा उपजीवन्तीत्यादिसमानम् ।
स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावत्ततो

मिति ॥ तत्रैव सुसुप्तक्रमेणैवेत्यर्थः । भोगकालपरिमाणं प्रश्नपूर्वकं नि-
र्द्धारयति । कियन्तमिति ॥ आधिपत्यं स्वाराज्यमिति विशेषणयोस्तात्प-
र्यमाह । न यथेति ॥ ६ ॥

प्रथमममृतमधिकृत्य चिन्तनीयमुक्त्वा द्वितीयममृतमाश्रित्य तदर्थ-
यति शब्देति ॥ विद्याफलं कथयति । स यावदिति ॥ यावद्वसूनां भो-
गकालस्ततो द्विगुणो रुद्राणां भोगकालः । यथा प्रथमममृतमध्यायिनां

स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥ ७ ॥ अथ यत्तृतीय-
यममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन
न वै देवा अन्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा
तृष्यन्ति ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्ये-
तस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं
वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदे-
वामृतं दृष्ट्वा तृष्यति स एतदेव रूपमभिसं-
विशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥ स यावदादित्यो
दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादु-
देता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधि-
पत्यं स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥ ८ ॥ अथ
यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन
न वै देवा अन्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा
द्विगुणं कालं दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्वादशां
तावद्भोगकालः ॥ ७ ॥

ननुभिक्षुल्लो भोगकालस्तथा द्वितीयामृतध्यायिनामपि द्वादशुल्लो भोग-
काल इत्यर्थः ॥ ७ ॥

एतदमृतध्यायिनां फलानि निर्दिशति । तथेति ॥ विपर्य्ययेण
पुरस्तादक्षिणतोऽथस्तावत्त्वर्थः । यथा पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता ततो
दक्षिणतो द्विगुणेन कालेनोदेता उत्तरतश्चास्तमेतेषुक्लम् । तथा ततो
द्विगुणेन कालेन पश्चादुदेता पुरस्ताच्चास्तमेता तावानादित्यानां भोग-
कालः । तृतीयामृतध्यायिनामपि तावानेव भोगकालः । ततो द्विगुणेन
कालेन यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता तावान्मरुतां भोग-

तृप्यन्ति ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमभिसंविश-
 न्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं
 वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवा-
 मृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशन्त्ये-
 तस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥ स यावदादित्यः पश्चा-
 दुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता
 दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यं
 स्वाराज्यं पश्येता ॥ ४ ॥ ६ ॥ अथ यत्पञ्च-
 मममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै
 देवा अन्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति
 ॥ १ ॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपा-
 दुद्यन्ति ॥ २ ॥ स य एतदेवममृतं वेद साध्याना-
 मेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा
 तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्मा-
 द्रूपादुदेति ॥ ३ ॥ स यावदादित्य उत्तरत

तथा पश्चादुत्तरत ऊर्द्धमुदेता विपर्ययेणास्तमेता । पूर्व-
 स्मात्पूर्वस्माद्द्विगुणोत्तरोत्तरेण कालेनेत्यपौराण्यं दर्शनम् ।
 सवितुश्चतुर्दिशमिन्द्रयमवरुणसोमपुरीषूदयास्तमयकालस्य

कालः । पतुषां नृतध्यायिनामपि तावानेव भोगकालः । ततो द्विगुणेन
 कालेनोर्द्धमुदेता अथस्तादस्तमेता तावान् साध्यानां भोगकालः । पञ्चमा-
 नृतचिन्तकानामपि तावानेवेत्यर्थः । यत्पूर्वपूर्वोदयास्तमयकाशापेक्षया
 द्विगुणेन कालेनोत्तरोत्तरोदयास्तमयावित्युक्तम् । तत्पराणविरुद्धमिति

उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता विस्तावद्भूँ उदेता
ऽर्वागस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वा-
राज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥ १० ॥

तुल्यत्वं हि पौराणिकैरुक्तम् ॥ मानसोत्तरस्य मूर्ध्वनिमेरोः
प्रदक्षिणावृत्तेस्तुल्यत्वादिति ॥

शङ्कने । पूर्वस्मात्पूर्वस्मादिति ॥ कथं तुल्यत्वं स्यात् अथास्य पुराणवि-
रुद्धतेत्याशङ्क्याह । सवितृचेति ॥

उक्तमेव सङ्क्षिपति । मानसोत्तरस्येति ॥ महागिरेर्मेरोः प्राका-
रवत्परितः स्थितस्य मूर्ध्वनि संलग्नस्य चक्राख्यस्य सवितुर्मेरोः प्रदक्षिणा-
वृत्तेस्तुल्यत्वात् । कालाधिक्ये कारणाभावाच्च । चतसृष्वपि पुरीषु उदयः-
स्तमयकालस्य तुल्यत्वम् ॥ उक्तं हि विष्णुपुराणे । शक्रादीनां पुरे तिष्ठन्
सूयत्येष पुराजयम् । विकर्षौ द्वौ विकर्षस्यस्त्रीनुकोणान् हे पुरे तथेति ॥
सैक्के चोक्तम् । मानसोपरि माहेन्द्रो प्राच्यां मेरोः स्थिता पुरी । दक्षिणे
भानुपुत्रस्य वरुणस्य त वारुणे । सौम्ये सोमस्य विपुला तामु दिग्देवताः
स्थिताः । अमरावतो संयमिनी सुखा चैव विभा क्रमात् । लोकपालो-
परिष्टान्तु सर्वतो दक्षिणायने । काष्ठांगतस्य सूर्यस्य गतिर्या तां निबो-
धत । दक्षिणां प्रक्रमेद्भानुः क्षिप्रैरुपरिव धावति । पुरान्तगो यदा भानुः
शक्रस्य भवति प्रभुः । सर्वः सांयामनः सौरो हृदयो दृश्यते द्विजाः ।
अ एवं सुखवत्यन्तु निशान्तस्यः प्रदृश्यते । अस्तमेति तदा सूर्यो विभायां
विश्वदृग्बिभुः ॥ मया प्रोक्तोऽमरावत्वां यथाऽसौ वारितस्कारः । तथा
संयमिनीं प्राप्य सुखाच्चैव विभां स्मरः ॥ यदा पराङ्गस्तान्मेयां पूर्वाङ्गो
नैर्ऋते द्विजाः । तदा त्वपररात्रश्च वायुभागे सुदारुणः ॥ ऐशान्यां पूर्व-
रात्रस्तु गतिरेषस्य सर्वत इति ॥ तथा ओपरिष्टादमरावत्वास्तिष्ठन्-
मध्याह्नं तत्त्वैशकोणस्थानां तृतीययाममान्येकोणस्थानामाद्ययामं संय-
मिन्यां उदयं चकारेति । सविता एवं यदा याव्ये मध्याह्ने तिष्ठति
तदैन्द्रे अस्तमयः । अग्नेये तृतीययामः । नैर्ऋतिकोणे प्रथमो यामः ।
वारुणे उदयः । यदा च वारुणे मध्याह्नादयाव्येऽस्तमयः । नैर्ऋति-
कोणे तृतीयो यामः । वायव्ये प्रथमयामः । सौम्ये उदयम् । यदा च

अतोक्तः परिहार आचार्यैरमरावत्यादीनां पुरीणां
द्विगुणोत्तरोत्तरेण कालेनोद्वासः स्यात् । उदयश्च नाम
सवितुस्तन्निवासिनां प्राणिनां चक्षुर्गोचरापत्तिस्तदत्यय-
श्चास्तमयं न परमार्थत उदयास्तमये स्तः । तन्निवासिनाञ्च
प्राणिनामभावे तान् प्रति तेनैव मार्गेण गच्छन्नापि नैवो-
देता नास्तमेतेति चक्षुर्गोचरापत्तेस्तदत्ययस्य चाभावात् ॥

सौम्ये मध्याह्नस्तदा वारुणेऽस्तमयः । वायव्ये तृतीययामः । ईशानकोषे
प्रथमो यामः । एन्द्रे उदयः । तथाग्नेये कोषे वर्त्तमानस्तत्स्थानां मध्यं
दिनम् । यमेन्द्रपुथ्योराद्यतृतीययामौ । नैर्ऋतीशानकोषयोर्दयास्तमयौ
चकारोत्थेवं सर्वासु दिक्षु चेति पौराणिके दर्शने तद्विरुद्धमिदं श्रुत्योक्त-
मित्यर्थः ॥

यद्यपि श्रुतिविरोधे स्मृतिरप्रमाणं तथापि यथाकथञ्चिद्विरोधपरि-
हारं द्रविडाचार्योक्तमुपपादयति । अत्रेति ॥ यदाऽमरावती शून्या
स्यास्तदा हि तां प्रति पुरस्तादुदेतीति प्रयोगशून्यत्वाद्भूतनां भोगान्तः ।
एवमुत्तरायां पुरीणां विनाशे द्विगुणकालेन रुद्रादीनां भोगश्च्यतिः ॥
अत इमां वचनव्यक्तिमान्त्रित्य तमेव परिहारमाह । अमरावत्यादीना-
मिति ॥ तथापि कथं विरोधसमाधिस्तत्वाह । उदयश्चेति ॥ यैर्यत्र
दृश्यते भास्वान् स तेषामुदयः स्मृतः । तिरोधानञ्च यत्रैति तदेवास्तमयं
रवेः ॥ नैवास्तमयमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः । उदयास्तमये नाम दर्शना-
दर्शने रवेरिति ॥ अमरावत्यादिपुरीषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरोत्तो-
द्वासकालद्वैगुण्यमस्तु । आस्ताञ्च दर्शने सवितुरुदयास्तमयौ । स वा एष
न कदाचनास्तयेति नोदेतीति श्रुतेर्वस्तुतो नोदयास्तमयौ स्त स्तथाच
पुरीषु तुल्यत्वेन गच्छतः सवितुरुदयास्तमयकालवैषम्यमयुक्तमित्याश-
ङ्गाह । तन्निवासिनाञ्चेति ॥ भोगकालद्वैगुण्यं सवितुर्गतेराधिक्यापे-
क्षया न श्रुत्योच्यते येन पुराणविरोधः किन्त्वमरावत्यादीनां पुरीणां
दैव्योपहृताः प्राक्पूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरपुरीणां द्विगुणेन कालेनोद्वासा-
न्मदभ्ययोत्तरोत्तरस्थानेषु भोगकाले द्वैगुण्यं श्रुत्योक्तमिति भावः ॥

तथाऽमरावत्याः सकाशाद्द्विगुणकालं संयमिनी पुरी
वसत्यतस्त्रिवांसिनः प्राणिनः प्रति दक्षिणत इवोदेत्युत्त-
रतोऽस्तमेतीत्युच्यतेऽस्मद्बुद्धिश्चापेक्ष्य तथोत्तरास्त्रिपुरीषु
योजना । सर्वेषाञ्च मेरुत्तरो भवति । यदा मरावत्यां
मध्याह्नगतः सविता तदा संयमिन्यामुद्यन्तृष्यते तत्र
मध्याह्नगोचरो वारुण्यामुद्यन्तृष्यते ॥

अथोद्वासकालाधिक्याङ्गोऽप्युतिकालाधिक्यं न भोगकालाधिक्यमत
प्याह । तथेति । यथोद्वासकाब्दैर्गुण्यसक्तं तददिति यावत् । अमरा-
वतीनिवासिप्राणिवर्गपेक्षया संयमिनीनिवासिनः प्राणिनः प्रति द्विगु-
णेन कालेन सवितरुदयास्तमयाविति युक्तं वक्तुम् । दशेनादर्शनयो-
र्द्विगुणकालभावित्वात् । न च तन्निवासिदृष्ट्यपेक्षया दक्षिणोत्तरयोरुद-
यास्तमयौ । तत्तद्वृत्त्या पूर्वपक्षमयोरेव तद्भावात् । अस्मद्बुद्धिमपेक्ष्य तु
दक्षिणत उदेति उत्तरतश्चास्तमेतीत्युच्यते । इव शब्दस्तयोस्तन्निवासिज-
नापेक्षया दक्षिणोत्तरस्थयोरसत्त्वं द्योतयतीत्यर्थः ॥ यथाऽमरावत्यपेक्षया
संयमिन्यामुद्वासकालाधिक्यसक्तं तथा तदपेक्षया वारुण्यां तदपेक्षया
विभायां तत्कालाधिक्यमवधेयमित्याह । तथेति ॥ संयमिनीश्चान्तर्भाष्य
वक्तव्यमवचनम् ॥ इतश्चास्मद्बुद्धिमपेक्ष्य दक्षिणगत्याऽऽदित्यास्तमयमित्याह ।
सर्वेषाञ्चेति ॥ उद्यन्तमादित्यं पुरतोऽवलोकयतां वामभागे स्थितत्वाग्नौ रुः
सर्वेषामेवोत्तरतो भवति । तथाचोदयास्तमयाभ्यां पूर्वपरदिग्विभा-
गाच्च तत्पुरवासिदृष्ट्यपेक्षया दक्षिणत इत्यादिवचनम् । किंस्वकाङ्क्ष-
पेक्षयैवेत्यर्थः । उद्वासकालाद्द्वैगुण्यापेक्षया भोगकालाद्द्वैगुण्यमित्युक्तम् ॥
सम्प्रति सवितृगत्याधिक्यापेक्षयैव भोगकालाधिक्यं किं न स्यादित्याशङ्क्य
पुराणविरोधसमाधानं सम्प्रवान्मवमित्याह । यदेत्यादिना ॥

तथोत्तरस्यां प्रदक्षिणादृक्ते सुल्यत्वात् । इलाहृतवासिनां
सर्वतः पर्वतप्राकारनिवारितादित्यरश्मीनां सवितोर्द्ध
इवोदेताऽर्वागस्तमेता दृश्यते । पर्वतोर्द्धच्छिद्रप्रवेशात्स-
वित्प्रकाशस्य । तथर्गाद्युद्यतोपजीविनाममृतानाञ्च द्विगु-
णोत्तरोत्तरवीर्यवत्त्वमनुमीयते भोगकालद्वैगुण्यलिङ्गेन ।

यथा संयमित्यां मध्याङ्गो वायुः सद्यन् भवति तथा तस्यां
मध्याङ्गो विभायासद्यन् दृश्यत इत्याह । तथेति ॥ उक्तञ्च वायुप्रोक्ते ।
मध्यग्लमरावत्यां यावद्भवति भास्करः । वैवस्वते संयमन उदयस्तव
दृश्यते ॥ सुखायामर्द्धरात्रय विभायामस्तमेति चेति । कथं पुनः स याव-
दादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता हिस्तावदूर्ध्वं उदेतऽर्वागस्त-
मेत्युच्यते । न हि तत्त्वोद्भासकालस्य बाधितत्वमस्ति वेनोदयास्तमय-
कालाधिकाङ्गागकालाधिक्यं स्यादत आह । इलाहतेति ॥ मेरोरुत-
र्दिशमिलाहृतं नाम वर्षं प्रसिद्धम् । तन्निवासिनां प्राणिनामुभयतः पर्व-
ताभ्यां मानसोत्तरमुमेरुभ्यां प्राकारस्थानीयाभ्यामुभयोर्द्ध्वस्थितमाङ्गाजे-
ण्याविनिवारितादित्यरश्मीनामूर्द्ध्वमुदेताऽर्वागस्तमेता च सविता दृश्यते ।
इवशब्दस्तूदयास्तमययोर्वस्तुतोऽसत्त्वद्योतनार्थः ॥ कथं सवितोर्द्धः सद्य-
देत्यर्वागस्तमेति तत्राह । पर्वतेति ॥ सर्व्वोदयप्रकाशस्य पर्व्वतयोरुप-
रितने च्छिद्रे प्रवेशादधोवर्त्तिनाम्प्राणिनामुपरि प्रसारितनेत्राणां सावित्वं
प्रकाशं पश्यतां तत्त्वोद्भाजेव सवितोपलभ्यते प्रदेशान्तरे च दृश्यमानोऽध-
स्तादिवास्तमेति । यथोपरिष्ठादत्यस्यैरुपलभ्यमानो मेघस्ततो दूराद्दृश्यो
भूतललग्नश्चेत्येवावसीयते तथेहापीत्यर्थः ॥ भोगकालस्याविरोधेनाधिक्य-
मापाद्य तेनैव लिङ्गेनातिशयवत्त्वमस्मृतादेरपि कथयति । तथेति ॥ भोग-
कालाधिक्ये सतीति यावत् । अनुमीयते कल्पते । यत्तु भोगकाल-
माकलयोद्यमनानन्तरं तदभावं ज्ञात्वोपरमणमग्न्यादिसुखत्वं दृष्टिमात्रेण

अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैरोदेता नास्तमेतैकल-
एव मध्यस्थाता तदेष श्लोकः ॥ १ ॥ न वै तच्च

उद्यमनसवेशनादि देवानां रुद्रादीनां विदुषश्च समानम् ॥

८ ॥ ६ ॥ १० ॥

कृत्वैवमुदयास्तमनेन प्राणिनां स्वकर्मफलभोगनिमि-
त्तमनुग्रहं तत्कर्मफलोपभोगक्षये तानि प्राणिजातान्या-
त्मनि संहृत्याथ ततस्तस्मादनन्तरं प्राण्यनुग्रहकालादूर्ध्वः
सन्नात्मन्युदेत्योद्गम्य यान्प्रत्युदेति तेषां प्राणिनामभावात्-
स्वात्मस्थो नैरोदेता नास्तमेतैकलोऽद्वितीयोऽनवयवो मध्ये
स्वात्मन्येव स्थाता । तत्र कश्चिद्दिद्वान् वत्सादिसमाचरणो
रोहिताद्यष्टतभोगभागी यथोक्तक्रमेण स्वात्मानं सविता-
रमात्मत्वेनोपेत्य समाहितः सन्नेतं मन्त्रं हृष्टोत्थितोऽन्यस्मै
पृष्टवते जगाद यतस्वमागतो ब्रह्मलोकात्किन्तवाप्यहो-

हृष्टमित्यं तत्कृत्वं विदुषोऽपि कल्प्यते देवैः सममित्याह । उद्यमनेति ॥

पञ्चाभिः पर्यायैर्मधुविद्या यथावदुक्ताः ॥ ८ ॥ ६ ॥ १० ॥

क्रमेण सुक्तिफलपर्यवसायित्वं तस्य दर्शयितुमनन्तरवाक्यमवरुणाह ।
कृत्येत्मादिना ॥ तस्मात्प्राण्यनुग्रहकालादनन्तरमिति । तच्छब्दार्थः ।
ऊर्ध्वः सन्नात्मनीभूतो वर्त्तमान इति यावत् । आत्मन्युदेत्यस्य भङ्गिन्नि
प्रकाशं लब्धत्वेतत् । स्थातेति प्रयोगात्क्रमसुक्तिरत्र विवक्षिता । तत्र
विद्वदनुभवं प्रमाणयति । तत्वेति ॥ क्रमसुक्तिः सप्रत्यर्थः । यथोक्तक्रमे-
णासौ वा आदित्यो देवमध्वित्यादिना पञ्चाष्टतत्वेन स्थितमित्यर्थः ।
स्वमात्मानं वेद्यतया विद्वद्वत्सम्भूतमित्यर्थः । आत्मत्वेनोपेत्याहं गृहेण

न निम्नोच नोदियाय कदाचन देवास्तेनाह
सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥ न ह वा
अस्मा उदेति न निम्नोचति सदाहिवा हैवास्मै
भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

रात्राभ्यां परिवर्त्तमानः सविता प्राणिनामायुः क्षपयति
यथेहास्माकमित्येवं पृष्टः प्रत्याह ।

तत्तत्र यथा पृष्टे यथोक्ते चार्थे एष श्लोको भवति
तेनोक्तो योगिनेति श्रुतेर्वचनमिदम् । न वै तत्र यतोऽहं
ब्रह्मलोकादागतस्तस्मिन् न वै तत्रैतदस्ति यत्तृच्छसि । न
हि तत्र निम्नोचास्तमगमत्सविता न चोदीयायोद्गतः
कुतश्चित्कदाचन कस्मिंश्चिदपि काले इति । उदयास्तम-
यवर्जितो ब्रह्मलोक इत्युपपन्नमित्युक्तः शपथमिव प्रतिषेदे ।
हे देवाः साक्षिणो यूयं शृणुत यथा मयोक्तं सत्यं वचस्तेन
सत्येनाहं ब्रह्मणा ब्रह्मस्वरूपेण मा विराधिषि मा विरुद्धे-
यमप्राप्तिर्ब्रह्मणो माभूदित्यर्थः । सत्यं तेनोक्तमित्याह

मृद्धीत्येतेतत् ॥ कथं प्रश्न इत्याकाङ्क्षायामाह । यात इति ॥ लब्ध-
ब्रह्मोपदेशो ब्रह्मविब्रह्मणो वियुक्तावस्थायां केनचित् पृष्टः प्रत्युवाचेत्यर्थः ॥

कथं प्रत्युक्तिरिति तत्राह । तत्तत्रेति ॥ श्लोकसुपादाय व्याक-
रोति । न वै तत्रेति । न निम्नोचेति ॥ निम्नोचत्यस्मिन्नर्थे छान्दसः
प्रयोगः । इतिषब्दः पूर्वार्द्धव्याख्यासमाप्त्यर्थः ॥ उत्तरार्द्धसत्यापयति ॥
उदयास्तमयेति ॥ श्लोकत्वाविशेषादितरलोकवद्ब्रह्मलोकोऽपि नोदयास्त-
मयवर्जित इत्युक्तो विद्वानुत्तरार्द्धेन शपथं कुर्वन् परिहरतीत्यर्थः ॥ एवं
मन्त्रवक् शपथद्वारा निश्चीतेऽर्थे न हेत्वाद्या किमर्थं श्रुतिरित्याश-

तद्वैतब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे
मनुः प्रजाभ्यस्तद्वैतदुहालकायारुणये ज्येष्ठाय
पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥ इदं वाव तज्जे-

श्रुतिर्न ह वा अस्मै । यथोक्तब्रह्मविदे नोदेति न निम्नोचति
नास्तमेति किन्तु ब्रह्मविदेऽस्मै सकृद्विवा वैव सदैवाहर्भवति
स्वयं ज्योतिष्ठाद्य एतां यथोक्तां ब्रह्मोपनिषदं वेदं गुह्यं वेद ॥

एवं तन्त्रेण वंशादित्यं प्रत्यस्तसम्बन्धश्च यच्चान्यद-
वोचाम एवं जानातोत्यर्थः । विद्वानुदयास्तमयकाला-
परिच्छेद्यं नित्यमजं ब्रह्म भवतीत्यर्थः ॥ तद्वैतन्मधुञ्जानं
ब्रह्मा हिरण्यगर्भो विराजे प्रजापतये उवाच । सोऽपि
मनवे । मनुर्विस्वाक्कादिभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाचेति विद्वांसौति
ब्रह्मादिविशिष्टक्रमागतेति । किञ्च । तद्वैतन्मधुञ्जानमुहाल-
कायारुणये पिता ब्रह्मविज्ञानं ज्येष्ठाय पुत्राय प्रोवाच ।

ब्रह्माह । सत्यमिति ॥ न हेत्याद्यां श्रुतिभादाय व्याचष्टे । यथोक्तेति ॥
ब्रह्मोपनिषदमित्यस्यार्थमाह । वेदगुह्यमिति ॥

एवं शब्दभादाय व्याकरोति । एवमित्यादिना ॥ वंशादि त्वयं तिर-
स्वीनवंशो मध्यपूषो मधुनाद्याचेत्येवं रूपमित्यर्थः । प्रत्यस्तसम्बन्धं च
लोहितान्द्रास्तत्वेकैकवस्त्रादीनां सम्बन्धमित्यर्थः । अन्यदित्युद्यमसंवेशना-
दि षट्छ्रुते ॥ उक्तविद्याफलसप्तपदं हरति । विद्वानिति मनुर्विद्या सफला ज्ञे-
युक्ता तर्हि किञ्चत्तरपन्थेनेत्याशङ्क्याह । तद्वैतदिति । स्तुतिमेवाभिनयति ।
ब्रह्मादोति ॥ तद्वैतदुहालकायेत्यादिना विद्याया योष्यं पातं प्रदर्श-
यत्याचष्टे । किञ्चेति ॥ इतस्तुत्वर्हमेतद्विज्ञानमित्यर्थः ॥ मधुवि-
ज्ञानं व्याकरोति । ब्रह्मविज्ञानमिति । तस्य परोक्षत्वं व्यावर्त्त-

छाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्राणाय्याय वान्ते-
वासिने ॥५॥ नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमा-
मद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव
ततोभूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥६॥ ११ ॥

इदं वाच्यं तद्यथोक्तम् । अन्योऽपि ज्येष्ठाय पुत्राय सर्वप्रिया-
र्हाय ब्रह्म प्रब्रूयात् ॥

प्राणाय्याय योऽप्यायान्तेवासिने शिष्याय । नान्यस्मै कस्मैच-
न प्रब्रूयात्तीर्थद्वयमनुज्ञातमनेकेषां प्राप्तानां तीर्थानामा-
चार्यादीनाम् । कस्मात् पुनस्तीर्थसङ्कोचनं विद्यायाः क्षतमि-
त्याह । यद्यप्यस्मै आचार्याय इमां कश्चित् पृथिवीमद्भिः
परिगृहीतां समुद्रपरिवेष्टितां समस्तामपि दद्याद् अस्या
विद्याया निष्कुर्यादर्थमाचार्याय धनस्य पूर्णां सम्पन्नां
भोगोपकरणैर्नासावस्य निष्कुर्यो यस्मात्ततोऽपि दानादेत-
देव यन्मधुविद्यादानं भूयो वज्रतरफलमित्यर्थः । हिरण्यास
आदरार्थः ॥ ११ ॥

यति इदं वाचेति ॥ अथ ज्येष्ठाय पुत्राय ब्रह्म वक्तव्यमिति पूर्वेषामव-
नियमो नेदानीन्तनानामित्यत आह । अन्योऽपीति ॥

यावान्तरमनुजानाति प्राणाय्यावेति ॥ पुत्रशिष्याभ्यां यावान्तरं
प्रत्याचष्टे । नेति ॥ तीर्थद्वयं विद्याप्रदानेऽधिकारिद्वयमित्यर्थः । निर्द्वा-
रण्ये षष्ठी । आचार्यो विद्यादाता । आदिपदाङ्गनदयो ओलियो
विधावो च गृह्यते ॥ सर्वेषामर्थिनामत्राधिकारमायङ्ग्यं दूषयति । कस्मा-
दित्थादिना ॥ आचार्यावेति पुनरुपादानं क्रियापदेन तस्मान्न्ययथोत-
नार्थं विद्यायामादरो वा । मुख्यमधिकारकारित्वं कथ्यतीति भावः ॥११॥

यत एवमतिशयफलैषा ब्रह्मविद्या भूतः सा प्रकारा-
न्तरेणापि वक्तव्येति गायत्री वा इत्याद्वारभ्यते । गायत्री-
द्वारेण चोच्यते ब्रह्म । सर्वविशेषरहितस्य नेति नेतीत्या-
दिविशेषप्रतिषेधगम्यस्य दुर्बोधत्वात् ॥

सत्स्वनेकषु छन्दःसु गायत्या एव ब्रह्मज्ञानद्वारतयो-

गतेन यन्मेनोत्तरयन्वस्य गतार्थत्वं परिहरति । यत इति ॥
सवितृद्वारकब्रह्मविद्यानन्तरं तद्देवतागायत्रीद्वारेण तद्विद्योपदिश्यत
इत्यर्थः । ब्रह्मविद्याया विवक्षितत्वे ब्रह्मैवोपदिश्यतां किं गायत्र्युप-
देशे नेत्याशङ्क्याह । गायत्रीति ॥

तथापि छन्दोऽन्तराणि विहाय किमिति गायत्रीद्वारैव ब्रह्मोप-
दिश्यते तत्राह । सत्स्विति ॥ ब्रह्मज्ञानद्वारतया तदुपायतयेत्यर्थः ॥
प्राधान्ये हेतुमाह । सोमाहरणादिति ॥ सोमस्त्राहरणमानयनम् । तत्र
प्राधान्यं गायत्रीच्छन्दस्तान्तराणां याजकैरिष्यते । तद्युक्तं तस्या यज्ञे
प्राधान्यमित्यर्थः । यद्वा देवैः सोमहरणमिच्छन्ति छन्दसां गायत्रीत्वितु-
जगतीनां तादर्थ्येन नियोगे जगतीत्वितुभौ मध्ये मार्गमश्रया निरुद्धौ ।
गायत्री सोमं प्राप्य रक्षिणस्तस्य विजित्य तं देवेभ्यः समाहरदिति । ऐत-
रेयकब्राह्मणे सोमो वै राजाऽसृष्टिं लोकं व्यासीदित्यत्र प्रसिद्धमतस्तत्प्रा-
धान्यमित्यर्थः । तत्रैव हेतुनरमाह । इतरेति ॥ छण्डिगनुष्टुप् प्रभृती-
नीतराणि छन्दांसि तेषां पादयोऽन्तराणि सप्ताष्टादिमण्डलानि तेषा-
माहरणसुपादानं गायत्र्यक्षरैः पादयः षड्विः क्रियते ऽधिकसङ्ख्याया
न्यूनसङ्ख्यामन्तरेणासम्भवात्तद्धादितरेषु छन्दःसु गायत्र्या व्याप्रेष
प्राधान्यमित्यर्थः । अथवा गायत्रीव्यतिरिक्तयोस्तितुजगतीच्छन्दसोः
सोमाहरणे उद्यतयोरसङ्गयोर्मार्गमध्ये जगत्त्वा त्वक्काणि लीण्यक्षराणि
त्वितुभा चैकमक्षरम् । तत्राष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती पञ्चचत्वारिंशद-
क्षरा संवृता । चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्वितुप् त्रिचत्वारिंशदक्षरा संवृता । तत्र

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च ब्रह्म

पादानं प्राधान्यात् । सोमाहरणादितरच्छन्दोऽहरा-
हरणेन इतरच्छन्दो व्याप्ता च सर्वसवनव्यापकत्वाच्च
यज्ञे प्राधान्यं गायत्र्याः । गायत्रीसारत्वाच्च ब्रह्मणस्य ।
मातरमिव हित्वा सुतरां गायत्रीं ततोऽन्यदुतरं
न प्रतिपद्यते यथोक्तं ब्रह्मापोति । तस्यामत्यन्तगौ-
रवस्य प्रसिद्धत्वात् । अतो गायत्रीमुखेनैव ब्रह्मोच्यते
गायत्री वै इत्यवधारणार्थो वैशब्दः । इदं सर्वं भूतं
प्राणिजातं यत्किञ्च स्यावरं जङ्गमं वा तत्सर्वं गायत्र्येव ।

गायत्री सोममाहरति त्वक्तानामहराणामाहरणेन पूर्णतां तयोरा-
वद्यते । व्य व्य स्थिता तेन तत्प्राधान्यमित्यर्थः ॥

तत्रैव हेत्वन्तरमाह । सर्वसवनेति ॥ सर्वाणि प्रातःसवनं माध्यन्दिनं
सवनं तृतीयसवनमित्येतानि तेषु गायत्र्या व्यापकत्वं मिश्रणम् । गायत्रं
प्रातःसवणम् । त्रैदुभं माध्यन्दिनं सवनम् । जागतं तृतीयसवनमिति
स्थिते त्रिदुजगत्त्रोगायत्रीव्याप्रेरुक्तत्वात्तस्याश्च पदाभ्यां मुखेन च
सोमाहरणद्वारेण सवनत्रयसम्बन्धादतश्च तस्या अस्ति यज्ञे प्राधान्य-
मित्यर्थः ॥ कर्माणि तत्प्राधान्येऽपि कुतो ब्रह्मविद्यायां तत्प्राधान्य-
मित्याशङ्क्याह । गायत्रीति ॥ ब्रह्मविद्यायास्तत्प्राधान्यमिति शेषः ॥
गायत्रीमेवालम्बनत्वेन प्रतिपद्यते । ब्रह्मेत्यत्र लोकप्रसिद्धिमनुकूल्यति ।
तस्यामिति ॥ गायत्र्या ब्रह्मज्ञानद्वारेणोपादानमुक्तहेतुभ्यः सिद्धमित्यु-
पसङ्हरति । अत इति ॥ तथा चेतोऽर्पणनिगदादिति न्यायेन गायत्र्युपा-
धिकं ब्रह्मोपास्यमितिप्रतिजानीते । गायत्रीति ॥ निपातमादयव्याचष्टे ।
वै इति । अवधारणरूपमेवार्थं स्फुटयन्निदमित्यादि व्याकरोति । इद-
मिति ॥ यदिदं सर्वं गायत्र्येवेति खोजना ॥ गायत्र्याः सर्वात्मकत्वाद्ब्रह्म-

गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च चायते
च ॥ १ ॥ या वै सां गायत्री यं वा ऽवसा येयं
पृथिव्यस्यां ह्रीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव

तस्याञ्छन्दोमावायाः सर्वभूतत्वमनुपपन्नमिति गायत्री-
कारणं वाचं शब्दरूपामापादयति गायत्रीम् ॥

वाग्वै गायत्रीति । वाग्वा इदं सर्वं भूतम् । तस्मात् वाक्
शब्दरूपा सती सर्वं भूतं गायति च शब्दयति असौ
गौरसावश्च इति त्रायते च रक्षत्यमुष्मान्माभैषीः किं ते भय-
मुखितमित्यादि । सर्वतो भयान्निवर्त्यमानो वाचा त्रातः
स्यात् । यद्वाग्भूतं गायति त्रायते च गायत्येव तद्गायति
च वाचोऽनन्यत्वात् गायत्या गानात्त्रायाश्च गायत्या
गायत्रीत्वम् । या वै सैव लक्षणा सर्वभूतरूपा गायत्री । इयं
वाव सा येयं पृथिवी । कथं पुनरियं पृथिवी गायत्रीत्युच्यते ।
सर्वभूतसम्बन्धात् । कथं सर्वभूतसम्बन्धोऽस्यां पृथिव्यां हि ।

इच्छोपासिर्बुद्धेस्तानुपपत्तिमायङ्गानन्तरवाक्येनोत्तरमाह । तस्या
इति ।

कथं वाचो गायत्रीत्वमित्याद्यङ्गं तस्याः सर्वभूतसम्बन्धं दर्शयति ।
वागिति ॥ कुतो गायत्रीत्वं तत्राह । यस्मादिति ॥ भवत्वेवं वाचः-
स्वरूपं गायत्रास्तु किमायातं तदाह यद्वागिति ॥ गायत्री-
नामनिर्वचनादपि वाच्यत्वरूपं गायत्राभेदेष्टव्यमित्याह । गाना-
दिति ॥ अस्तिहि वाचः सर्वभूतात्मकत्वं तद्वाचकत्वाद्वाच्यत्वं च वाच-
कातिरेकेण निरूपयान्तया च वाग्भूता गायत्री सर्वभूतात्मिकेत्युक्तम् ।
इदानीं तस्या विधानरमाह । या वै वेति ॥ एवं लक्षणात्

नातिशीयते ॥ २ ॥ या वै सा पृथिवीयं वाऽव
सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः
प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥ यद्वैतत्पु-
रुषे शरीरमिदं वाऽव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे
हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव

यस्यात्सर्वं स्यावरजइमञ्च भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव पृथिवीं
नातिशीयते नातिवर्त्तत इत्येतत् ॥

यथा गान्ताणाभ्यां भूतसम्बन्धो गायत्या एवं भूत-
प्रतिष्ठानाद्भूतसम्बन्धाद्वा पृथिवी अतो गायत्री पृथिवी । या
वै सा पृथिवी गायत्रीयं वाव सा इदमेव । तत्किं यदिद-
मस्मिन्पुरुषे कार्यकारणसङ्गते जीवति शरीरं पार्थिव-
त्वाच्छरीरस्य । कथं शरीरस्य गायत्रीत्वमित्युच्यते । अस्मि-
न्हीमे प्राणा भूतशब्दवाच्याः प्रतिष्ठिताः । अन्तः पृथि-
वीवत् भूतशब्दवाच्यप्राणप्रतिष्ठानाच्छरीरं गायत्री ।
एतदेव यस्याच्छरीरं नातिशीयन्ते प्राणाः । यद्वैतत्पुरुषे

व्याचष्टे । सर्वेति ॥ गायत्रीमनूद्य पृथिवीत्वं तस्या निहितं
प्रञ्चपूर्वकमुपपादयति । कथं पुनरिति ॥ गायत्र्याः सर्वभूतसम्बन्ध-
स्योक्तत्वात् पृथिव्यास्तत्सम्बन्धोद्यपूर्वकं व्युत्पादयति । कथमिति ॥
सर्वस्य पृथिव्यां प्रतिष्ठितत्वं साधयति । एतामेवेति ॥

तथापि कथं पृथिव्या गायत्रीत्वं तदाह । यथेति ॥ सम्प्रति
गायत्र्याः शरीररूपत्वं निरूपयति । वा वा इति ॥ गायत्र्यास्मिन्
पृथिवीमनूद्य तस्या गायत्रीशरीरबोधे हेतुमाह । पार्थिवत्वादिति ॥
इदानीं गायत्रीशरीरयोरेकत्वं प्रञ्चपूर्वकं कथयति । कथमित्यादिना ॥

नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥ सैषा चतुष्पदा षड्विधा
गायत्री तदेतद्वचाभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥ तावानस्य
महिमा ततो ज्यायाञ्च पुरुषः पादोऽस्य सर्वा

शरीरं गायत्रीदं वाच तत् । यदिदमस्मिन्नन्तर्मध्ये पुरुषे
हृदयं पुण्डरीकाक्षमेतद्गायत्री । कथमित्याह अस्मिन्हीमे
प्राणाः प्रतिष्ठिता अतः शरीरवद्गायत्री हृदयम् ॥

एतदेव च नातिशीयन्ते प्राणाः । प्राणो हि पिता । प्राणो
माता । अहिंसन् सर्वभूतानीति श्रुतेः । भूतशब्दवाच्याः
प्राणाः । सैषा चतुष्पदा षडक्षरपादा कन्दोरूपा सती
भवति गायत्री षड्विधा । वाग्भूतर्षिबीशरीरहृदयप्रा-
णरूपा सती षड्विधा भवति । वाक्प्राणयोरन्यार्थनिर्दिष्ट-
योरपि गायत्रीप्रकारत्वम् । अन्यथा षड्विधसङ्ख्यापूरणानुप-

प्राणानां शरीरे प्रतिष्ठितत्वं प्रकटयति । एतदेवेति ॥ अथ गायत्र्या
हृदयत्वमावेदयति । यदेतदिति ॥ हृदयस्य गायत्र्यास्यैकत्वं प्रश्न-
पूर्वकं विदुषोति । एतदित्यादिना ॥

हृदये प्राणानां प्रतिष्ठितत्वं प्रकटयति । तदेवेति ॥ प्राणानां भूतशब्दवा-
च्यत्वे तत्सम्बन्धे सति भूतसम्बन्धाद्गायत्र्याः शरीरादिभावः सम्भवति ॥
तेषां भूतशब्दवाच्यत्वे तु किं मानमित्याशङ्क्याह । प्राणो हीति ॥ अहिं-
सावाक्येऽपि प्राणपरं भरणं प्रतिषिध्यते तथा भूतशब्दस्य प्रतीतिगोचरो
भवत्येवेत्याह । भूतेति ॥ आध्यायशेषत्वेन गायत्र्यास्तुष्ट्यादत्वं दर्शयति ।
सैषेति ॥ लक्षयित्वा तस्याः षड्विधत्वमनूद्य साधयति । षड्विधेति ॥
गायत्रीहृदययोः सर्वभूतसम्बन्धसिद्ध्यर्थमुपदिष्टयोर्वाक्प्राणयोगायात्री-
प्रभेदेत्वेन कथं व्याख्यानमित्याशङ्क्याह । वाक्प्राणयोरिति ॥ विधि-
पक्षे वाक्यशेषयोगास्तयोरपि गायत्रीभेदत्वमित्यर्थः । तस्मिन्नर्थे

भूतानि त्रिपादस्यान्तं दिव्येति ॥ ६ ॥ तद्वै-
तब्रह्मेतीदं वाचं तद्योऽयं वहिर्द्वा पुरुषादाकाशो
यो वै स वहिर्द्वा पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥ अयं

पक्षः । तदेतस्मिन्नर्थे एतद्गायत्र्याख्यं ब्रह्म गायत्र्यनुगतं गाय-
त्रीमुखेनोक्तम् । अद्यापि मन्त्रेणाभ्यनुक्तं प्रकाशितम् । तावा-
नस्य गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मणः समस्तस्य महिमा विभूतिविस्तारः
यावाञ्चतुष्पात् षड्विधश्च ब्रह्मणो विकारः पादो गाय-
त्रीति व्याख्यातः । अतस्तस्माद्विकारलक्षणात् गायत्र्या-
ख्याद्वा चारम्भणमात्रान्ततो ज्यायान्महत्तरश्च परमार्थस-
त्वरूपोऽविकारः पुरुषः सर्वपूरणात्पूरीयमानश्च । तस्यास्य
पादः सर्वा सर्वाणि भूतानि तेजोऽवन्तादीनि सस्यावरज-
ज्जमानि । त्रिपात्तयः पादा अस्य सोऽयं त्रिपात् । त्रिपादश्चतं
पुरुषाख्यं समस्तस्य गायत्र्यात्मनो दिवि द्योतनवति स्वात्म-
न्यवस्थितमित्यर्थ इति । यद्वैतत्रिपादश्चतं गायत्रीमुखे-
नोक्तं ब्रह्मेतीदं वाचं तदिदमेव । तद्योऽयं प्रसिद्धो वहिर्द्वा
वह्निः पुरुषादाकाशो भौतिको यो वै स वहिर्द्वा पुरुषा-

वाग्भूतपृथिवीशरीरहृदयप्राणभेदात्षड्विधां गायत्रीमनुचिन्त्याज-
हृत्तत्पण्या तदवच्छिन्नब्रह्मत्वं तदनुचिन्तयेदिति तच्छेषत्वेनैव पूर्वोक्ते
स्थिते सतीत्यर्थः । समस्तस्य पादविभागविशिष्टस्येति वाचम् । विस्तर-
मेव विदुषोति । यावानिति ॥ वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति
वाक्यशेषमात्रित्य विशिनष्टि । वाचारम्भणमात्रादिति ॥ परमार्थ-
सत्त्वत्वे हेतुमाह । विकार इति ॥ तावानस्येत्यादि स्पष्टयति ।
तस्येति ॥ आदिपदेन वायुराकाशश्चेत्युभयसक्तम् ॥ ततो ज्यायावि-

वाव स योज्यमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्त-
पुरुष आकाशः ॥ ८ ॥ अयं वाव स योज्यमन्त-
हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णं अप्रवर्त्ति पूर्णमप्र-

दाकाश उक्तः । अयं वाव स योज्यमन्तः पुरुषे शरीर
आकाशः । यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः । अयं वाव स
योज्यमन्तहृदये पुण्डरीक आकाशः । कथमेकस्य सत
आकाशस्य विधा भेद इति । उच्यते बाह्येन्द्रियविषये
जागरितस्थाने नभसि दुःखबाहुल्यं दृश्यते । अतः शरीरे
स्वप्नस्थानभूते मन्दतरं दुःखं भवति । स्वप्नानुपश्यतो हृद-
यस्थे पुनर्नभसि न कञ्चन कामयते न कञ्चन स्वप्नं
पश्यति । अतः सर्वदुःखनिवृत्तिरूपमाकाशं सुषुप्तस्य
स्थानम् । अतो युक्तमेकस्यापि विधा भेदानुव्याख्यानम् ।
वह्निर्द्वा पुरुषादारभ्याकाशस्य हृदये सङ्कोचकरणं चेतः-
समाधानस्थानस्ततः । यथा त्रयाणामपि लोकानां कुरु-

त्वादि स्फुर्यति । विपादिति ॥ समस्तस्य सर्वप्रपञ्चात्मकस्येत्यर्थः । अतः-
विति शब्दोन्मत्तसमात्यर्थः ॥ यदुब्रह्मगायत्र्यवच्छिन्नसुषुप्तसङ्गतं हृदयाकाशे
तदुध्येयमिति वक्तुं क्रमेण हृदयाकाशमवतारयति । यदुवैतदित्यादिना ॥
एकस्याकाशस्य कथं त्रैविध्यसङ्गमिति शङ्कते । कथमिति ॥ औपाधि-
कत्रैविध्यमविरुद्धमिति परिहरति । उच्यते इति ॥ बाह्येन्द्रियविषयत्वं
तद्विषयशब्दाद्यावत्त्वं स्वप्नस्थानभूते नभसीतिसम्बन्धः ॥ न कञ्चनेत्या-
दिना निषेधद्वयेन पूर्वप्रकारमवस्थाद्वयं निषिध्यते ॥ निषेधफलमाह ।
अत इति ॥ सर्वान्दुःखं स्थूलं वासनामयञ्च तद्विषयानि निरूप्यमाणं हृद-
याकाशमित्यर्थः ॥ औपाधिकत्रैविध्यमुपसंहरति । अत इति ॥ तथापि

वर्त्तिनी ए श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ८ ॥

१२ ॥

ज्ञेयं विशिष्यते । अर्द्धतस्तु कुरुक्षेत्रमर्द्धतस्तु पृथूदकमिति
तद्वत् । तदेतद्वार्द्धाकाशाख्यं ब्रह्म पूर्णं सर्वगतं न हृदय-
मावपरिच्छिन्नमिति मन्तव्यम् । यद्यपि हृदयाकाशे चेतः
समाधीयते अप्रवर्त्ति न कुतश्चित्प्रवर्त्तितुं शीलमस्येति
अप्रवर्त्ति तदुच्छित्तिधर्मरहितम् । यथान्यानि भूतानि परि-
च्छिन्नान्युच्छित्तिधर्मकाणि न तथा हार्द्धं नभः पूर्णम-
प्रवर्त्तिनीमनुच्छेदात्मिकां श्रियं विभूतिं गुणफलं लभते
दृष्टम् । य एवं यथोक्तं पूर्णमप्रवर्त्तिगुणं ब्रह्म वेद जानाती-
हैव जीवंस्तद्भावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

किमित्यनेन क्रमेणाकाशस्य सङ्कोचो हृदये क्रियते तत्त्वाह । बहिर्हृतेति ॥
स्थानस्तुतिमुदाहरणेन स्फुटयति । यथेति ॥ अत्र कुरुक्षेत्रमर्द्धतोऽर्द्ध-
स्थानीयं पृथूदकमपि तथेति हृदकयुगलमिव तदुभयं लोकत्वभाषेतया-
विशिष्टतरमित्यर्थः ॥ हृदयाकाशे चेतः समाधीयते चेत्तत्त्वात् परि-
च्छिन्नं ब्रह्म प्राप्तमित्याह । तदेतदिति ॥ पूर्णत्वेन जन्मनाश-
न्यूनत्वं सिध्यतीत्याह । अप्रवर्त्तीति ॥ प्रधानफलत्वं ध्यावर्त्तयति ।
गुणफलमिति ॥ दृष्टफलं स्वर्गाप्तिरिति दृष्टमित्युक्तं ज्ञानमेव विशिनष्टि ।
रहंवेति ॥ वर्त्तमानो देहः सप्तव्यर्थः । यो विद्वानेव स यथोक्तं फलं लभत
इति सम्बन्धः ॥ १२ ॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः
स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदि-

तस्य ह वा इत्यादिना गायत्र्याख्यस्य ब्रह्मण उपास-
नाङ्गत्वेन द्वारपालादिगुणविधानार्थमारभ्यते । यथा लोके
द्वारपाला राज्ञ उपासनेन वशीकृता राजप्राप्तयार्था भवन्ति
तथेहापीति । तस्येति प्रकृतस्य हृदयस्येत्यर्थः । एतस्यान-
न्तरनिर्दिष्टस्य पञ्च पञ्चमङ्गाया देवानां सुषयो देव-
सुषयः स्वर्गलोकप्राप्तिद्वारच्छिद्राणि देवैः प्राणादित्यादि-
भीरक्ष्यमाणानीत्यतो देवसुषयस्तस्य स्वर्गलोकभवनस्य हृद-
यस्यास्य यः प्राङ्सुषिः पूर्वाभिमुखस्य प्रागतं यच्छिद्रं
द्वारं स प्राणस्तस्यस्तेन द्वारेण यः सञ्चरति वायुविशेषः स
प्रागनितीति प्राणः । तेनैव सम्बद्धमव्यतिरिक्तं तच्चक्षुस्तथैव
स आदित्यः । आदित्यो ह वै वाह्यप्राण इति श्रुतेः ।

वक्ष्यमाणज्ञानस्य स्वातन्त्र्यं परिहृत्य प्रकरणभेदं व्यावर्त्तयितुमुत्तर-
स्यस्य तात्पर्यमाह । तस्येति । द्वारपालादीत्यादिपदेन तद्गतो विशेषो
ऋह्यते ॥ ब्रह्मण्युपासनेनाप्रसिद्धतो द्वारपालोपास्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याह ।
यथेति ॥ इति तदुपास्तिरर्थवतीति शेषः । स्वर्गलोकशब्दः परमात्मवि-
षयः । स्वर्गलोकमित जगद्गौ विसृक्ता नेति श्रुत्यन्तरात् ॥

देवसुषित्वं साधयति । देवैरिति ॥ स्वर्गलोकस्य परमात्मनो भव-
नभावतनं तस्येति यावत् । प्राक्तेनावस्थाभाशङ्कोक्तम् । पूर्वाभिमुख-
स्येति ॥ तस्यस्तेनेति ॥ तच्छब्दो हृदयविषयः । तेनैवेति प्राणविषय-
स्तच्छब्दः । तदव्यतिरिक्तं स्वातन्त्र्येण चक्षुषो किञ्चित्करात् । न हि
चक्षुषा प्राणस्य सम्बन्धो न हि बाह्यस्य तत्सम्बन्धे निबन्धनमस्ति
तत्राह । चक्षुरिति ॥ अधिष्ठातृत्वेनादित्यं चक्षुषि प्रतिष्ठितस्यस्य या-

त्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्वान्नादो
भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

चक्षुरूपप्रतिष्ठाक्रमेण हृदि स्थितः । स आदित्यः
कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीत्यादि वाजसनेयके । प्राण-
वायुदेवतैव लोका चक्षुरादित्यश्च सहाश्रयेण । वक्ष्यति च ।
प्राणाय स्वाहेति ऊतं हविः सर्वमेतत्तर्पयतीति । तदेत-
त्प्राणाख्यं स्वर्गलोकद्वारत्वाद्ब्रह्म ॥

स्वर्गलोकं प्रतिपितुस्तेजस्वेतच्चक्षुरादित्यस्वरूपेणा-
न्नादत्वाच्च सवितुस्तेजोऽन्नाद्यमित्याभ्यां गुणाभ्यामुपासीत ।
ततस्तेजस्वान्नादश्चामयावित्परहितो भवति य एवं वेद
तस्यैतद्गुणफलम् । उपासनेन वशीकृतो द्वारपः स्वर्गलोक-
प्राप्तिहेतुर्भवतीति मुख्यं च फलम् ॥

हृदतया रूपे प्रतिष्ठितं रूपदर्शनकरणीभवति । तथैव प्राणस्य चक्षु-
मित्यर्थः ॥ प्राणादित्ययोरैक्ये प्रमाणमाह । आदित्यो हेति ॥ कथं यथो-
क्तस्यादित्यस्य हृदयसुविहारस्थानीयत्वं वासनात्मना हृदये प्रतिष्ठितानि
तदाऽनेन क्रमेणादित्यो हृदये तिष्ठतीत्यर्थः ॥ तत्र हृत्यन्तरं प्रमाण-
यति । स आदित्य इति ॥ एकदेवताभिन्नत्वादपि प्राणाभेदेन चक्षुरा-
दित्ययोराध्यानं युक्तमित्याह । प्राणेति ॥ आश्रयशब्देन रूपाणि हृदय-
लोकास्ते युलोको वा आदित्यचक्षुषोर्देवतादधिष्ठितस्य सर्वस्य प्राणात्मनो
वाक्यशेषमनुकूलयति । वक्ष्यति चेति ॥ न हि प्राणे तस्मै सर्वस्य तस्मि-
न्नादात्मप्रसन्नरेण सम्भवतीति भावः । तदेतत्प्राणाख्यं ब्रह्म स्वर्गलोकं
प्रतिपितुः पुरुषस्तेजोऽन्नाद्यमित्याभ्यां गुणाभ्यां विशिष्टमुपासीतेति
सम्बन्धः ॥

किमिति यथोक्तोऽधिकारी प्राणोपासने निदुष्यते तत्राह ।
सुर्गेति ॥ तथापि कथं यथोक्तगुणद्वयवैशिष्ट्यं प्राणाख्यस्य ब्रह्मणः सि-

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छीञ्च
स चन्द्रमास्तदेतच्छीञ्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमा-
न्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिसतस्यो वायुविशेषः स वीर्य-
वत्कर्म्म कुर्वन्विष्टह्य वा प्राणापानौ नाना वाऽग्निनीति
व्यानस्तत्सम्बन्धमेव च तच्छीत्वमिन्द्रियं तथा स चन्द्रमाः ॥

अत्रेण सृष्टा दिशश्चन्द्रमाश्चेति श्रुतेः । सहाश्रयौ पूर्व-
वत्तदेतच्छीञ्च विभूतिः श्रोतचन्द्रमसोर्ज्ञानान्न हेतुत्वमत-
साभ्यां श्रीत्वं ज्ञानान्नवतश्च यशः ख्यातिर्भवतीति यशो-
हेतुत्वादयशस्त्वमतसाभ्यां गुणाभ्यामुपासीतेत्यादि समानम् ॥

अथ तेजःशब्दं व्याकुर्वन्नाह । तेजस्वीति ॥ एतन्प्राणाख्यं ब्रह्म ।
अभयरूपेण तेजस्वी तथाच तेजोगुणविशिष्टतया तदुपासनामर्हति ।
सवितृवासादत्वं दृष्टिद्वारेणादिस्वाज्जायते दृष्टिरित्यादौ दृष्टमतश्चाद्यच्च
तदाद्यश्चेति गुणान्तरविशिष्टत्वेनापि सवितरूपं प्राणाख्यं ब्रह्म ध्याना-
र्हमित्यर्थः ॥ किन्नाहं सख्यं फलमिति तदाह । उपासनेनेति ॥ हृदयस्य
पूर्वदिगवस्थितकिं च सम्बन्धत्वेन प्राणसृष्ट्या व्यानः श्रोत्रं चन्द्रमाश्चेति
क्षितवमितरसम्बन्धसुपास्यमित्याह । अथेति ॥ वीर्यवत्कर्म्म कुर्वन्प्राण
इति सम्बन्धः । प्राणापानौ विष्टह्य विष्टह्य वा अन्नमितिती पक्षान्तरं
नानास्त्वन्नसन्निधौ विविधमितिचेदत इति विकल्पान्तरं तेन सम्बन्धः
श्रोत्रस्य श्रुतुत्वाद्वागार्थो मनस्यः । यथा श्रोत्रस्य ध्यानेन सम्बन्धस्तथा
चन्द्रमसोऽपि तेन सम्बन्धस्य श्रुतुत्वादेव ध्यानार्हतया पाह्य इत्याह ॥
तथेति ॥

श्रोत्रचन्द्रमसोः सम्बन्धे श्रुत्यन्तरमनुकूलवति । श्रोत्रेणेति ॥
यद्विराजः श्रोत्रं तदात्मना दिशश्चन्द्रमाश्चेत्येते सृष्टा इति श्रुते-

अथ योऽस्य प्रत्यङ्मुषिः सोऽपानः सा वाक्
सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मव-
र्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥ अथ
योऽस्योदङ्मुषिः स समानस्तन्मनः स पञ्चन्यः

अथ योऽस्य प्रत्यङ्मुषिः पश्चिमस्तत्स्यो वायुविशेषः स
मूतपुरीषाद्यपनयन्मधोऽग्नितीत्यपानः सा तथा सा वाक् ॥
तत्सम्बन्धान्तथाग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्यायनि-
मित्तं तेजो ब्रह्मवर्चसम् ॥ अग्निसम्बन्धाद्वृत्तस्वाध्यायस्य ।

रित्वर्थः । मिथः सम्बन्धेऽपि कथमनयोर्व्यानात्मत्वं व्याने हृष्यतीत्यादि-
वाक्यशेषादवधेयमित्यर्थः । तदेतद्व्यानाख्यं ब्रह्म श्रीच यश्चेत्याभ्यां गुणा-
भ्यामुपासीतेति सम्बन्धः ॥ कथं तस्य गुणद्वयवतो ध्यानमित्याशङ्क्य ओत्तस्य
ज्ञानहेतुत्वाच्चन्द्रमसोऽक्षहेतुत्वात्तयोराश्रयत्वे तदात्मनो व्यानस्यापि तद्गु-
णयोपपत्तिरित्याह । ओत्तेति ॥ व्यानाख्यब्रह्मणि गुणान्तरं साधयति ।
ज्ञानेति ॥ उक्तस्य ब्रह्मणो गुणद्वयसम्भवोऽतःशब्दार्थः । श्रीमानित्यादि-
वाक्यमादिशब्दार्थः । समानं तेजस्वीत्यादिवाक्येनेति शेषः ॥ हृदयस्य
पश्चिमदिगवस्थितमुषिसम्बन्धत्वेनापानो वागग्निश्चेति त्रितयमन्वोऽन्व-
सम्बन्धं ध्येयमित्याह । अथ योऽस्येति ॥ सोऽपान इत्यस्यार्थमाह ।
तत्स्य इति ॥ सोऽपान इति सम्बन्धः । अपानशब्दे वायुविशेषे व्युत्पा-
दयति । मूलेति ॥ आदिशब्देन शुक्रादि मृद्भूते ॥ यथा चक्षुषः ओ-
त्तस्य प्राणत्वं व्यानत्वञ्चोक्तं तथा वागपानो भवत्पाने हृष्यतीत्यादिभूते-
रित्याह ॥ सा तथेति ॥

यथा चक्षुरादिद्वारेणादित्यादेः प्राणादिरूपत्वसङ्गतं तथावाचो-
ऽधिष्ठातृत्वेन सम्बन्धादग्निस्तद्वारेणापानो भवतीत्याह । तत्सम्बन्धा-
दिति ॥ तदेतदपानाख्यं ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्याभ्यां गुणाभ्यां वि-

तदेतत्कीर्त्तिश्च व्यष्टिश्चेत्युपासीत कीर्त्तिमान्-
व्यष्टिमान्भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अन्वयसमहेतुत्वादपानस्याच्चाद्यत्वम् । समानमन्यत् ॥ अथो
योऽस्योदङ्मुषिरुदङ्गतः सुषिसत्स्थो वायुविशेषः सोऽग्नि-
तपीते समं नयतीति समानः । तत्सम्बन्धं मनोऽन्तःकरणं
स पर्जन्यो दृष्ट्वात्मको देवः पर्जन्यनिमित्ताच्चाप इति ॥

मनसा दृष्टा आपश्च वरुणश्चेति श्रुतेस्तदेतत्कीर्त्तिश्च ।
मनसो ज्ञानस्य कीर्त्तिहेतुत्वात् । आत्मपरोक्षं विश्रुतत्वं
कीर्त्तिर्यथः । स्वकरणसंवेद्यं विश्रुतत्वं व्यष्टिः कान्तिर्देहगतं

शिट्सुपासीतेति सम्बन्धः ॥ ब्रह्मवर्चसं व्याचष्टे । उच्येति ॥ कथमपानाख्ये
ब्रह्मणि यथोक्तो गुणः सिद्धतीत्युदङ्गाग्निद्वारेणेत्याह । अग्निसम्बन्धा-
दिति ॥ तथापि कथमच्चाद्यत्वमित्याद्यङ्गापोद्वारेणेत्याह । अग्नेति ॥
ब्रह्मवर्चसोत्यादिफलवाक्ये श्रीमानित्यादित्यदिना तुल्यार्थत्वाच्च व्या-
ख्यानापेक्षमित्याह । समानमिति ॥ हृदयस्थोत्तरमुषिसम्बन्धत्वेन स-
मानो मनः पर्जन्यश्चेति त्रितयं परस्परसम्बद्धसुपास्यमित्याह । अग्नेति ॥
समानशब्दं वायुविशेषे व्युत्पादयति । अग्निनेति ॥ मनसः समाने सम्ब-
न्धः ॥ समाने दृश्यतीति श्रुतेर्पाह्य इत्याह । तत्सम्बन्धमिति ॥ मनसि
दृश्यति पर्जन्यस्तृप्यतीति ॥ तदेव वाक्यशेषमात्रित्य तयोः सम्बन्धमाह ।
पर्जन्य इति ॥ श्रुत्यन्तरादपि तयोः सम्बन्धं वक्तुं पातनिकामाह ।
पर्जन्येति ॥ शेषः प्रसिद्धपरामर्शार्थः ॥

तथापि कथं पर्जन्यमनसोः सम्बन्धसिद्धिरित्याद्यङ्गा वायोरपि
कारणत्वेनाङ्गिः सम्बन्धात्तद्वारा मिथोऽपि तद्विद्भिरित्याह । मनसेति ॥
तदेतत्समानाख्यं ब्रह्म कीर्त्तिश्च व्यष्टिश्चेत्याभ्यां गुणभ्यामुपासीतेति
सम्बन्धः ॥ तस्मिन् ब्रह्मणि कीर्त्तिरूपं शुभं साधयति । मनस

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः
 स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत ओजस्यो
 महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥ ते वा एते
 पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स
 य एतानेव पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य
 द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते

लावण्यम् । ततश्च कीर्त्तिसम्भवात्कीर्त्तिश्चेति । समानमन्यत् ॥
 अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदान आपादतलादारभ्योर्ध्व-
 मुत्कमणादुत्कर्षार्थश्च कर्म कुर्वन्नित्युदानः स वायु-
 सदाधारश्चाकाशस्तदेतत् वायुवाकाशयोरोजोहेतुत्वा-
 दोजो बलं । महत्त्वाच्च मह इति ॥

इति ॥ व्युत्पत्त्यन्तरत्वं कीर्त्तिर्दर्शयति । आत्मेति ॥ ततो व्युत्पी-
 राचष्टे । स्वकरणेति ॥ तामेवानुभवद्वयतया कथयति । कान्ति-
 रिति ॥ कथं पुनर्देहगतस्य लावण्यस्य कीर्त्तिता संभाव्यते तत्वाह ।
 ततश्चेति ॥ लावण्यं चार्थः । इत्यसङ्कीर्णगुणद्वयविशिष्टसुपासनं सिद्ध-
 मित्यर्थः ॥ कीर्त्तिमानित्यादिफलवाक्यस्य ब्रह्मवर्चसीत्यादिना तुल्यार्थ-
 त्वादव्याख्येयत्वमाह । समानमिति ॥ हृदयस्योर्ध्वं विष्टवैशिष्ट्ये नोदानो
 वायुराकाशश्चेति त्रितयमन्योन्यसम्बद्धसुपास्यमित्याह । अथ योऽस्येति ॥
 उत्कमणादुदान इति सम्बन्धः । उदाने दृष्यति वायुस्तृप्त्यतीति वाक्यशेष-
 मान्नित्याह । स वायुरिति ॥ वायोराकाशत्वमाधाराधेयसम्बन्धात्वात्तौ
 दृष्यत्वाकाशस्तृप्त्यतीति श्रूतेचेत्याह । तदाधारश्चेति ॥ तदेतदुदानाख्यं
 ब्रह्म पूर्ववदोजो महश्चेत्याभ्यां विशिष्टसुपासीतेति सम्बन्धः ॥ उत्कगुणद्वयं
 निर्दिशति । वायुवाकाशयोरिति ॥

स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य
लोकस्य द्वारपान्वेद ॥ ६ ॥ अथ यदतः परो

समानमन्यत् । ते वै एते यथोक्ताः पञ्च सुषिसम्बन्धा-
त्पञ्च ब्रह्मणो हार्दस्य पुरुषा राजपुरुषा इव द्वारस्थाः
स्वर्गस्य हार्दस्य लोकस्य द्वारपालाः । एतैर्हि चक्षुःश्रोत्र-
वाङ्मनः प्राणैर्वह्निर्मुखप्रवृत्तैर्ब्रह्मणो हार्दस्य प्राप्तिद्वार-
ाणि निरुद्धानि । प्रत्यक्षं ह्येतदजितकरणतया वाच्य-
विषयासङ्गोऽदृष्टप्रकृतत्वाच्च हार्दब्रह्मणि मनसिष्ठति ॥
तस्मात्सत्यमुक्तमेते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपा-
द्विति । अतः स य एतानेवं यथोक्तगुणविशिष्टान् स्वर्गस्य
लोकस्य द्वारपान्वेदोपासो उपासनया वशीकरोति स
राजपालानि उपासनेन वशीकृत्य तैरनिवारितः प्रतिपद्यते
स्वर्गं लोकं राजानमिव हार्दं ब्रह्म ॥

ओजस्वीत्यादिवाक्यस्य कीर्त्तिमान्तित्यादिना दृष्ट्यार्थत्वमाह । समान-
मिति ॥ तस्य ह वा एतस्तेत्यादिनोक्तमनुवदति । ते वा इति ॥ कथंतेब्रह्म-
पुरुषास्तत्वाह । राजपुरुषा इति ॥ अपदिष्ट्यन्त इत्यर्थः ॥ तेषां द्वारपालत्वं
प्रपञ्चयति । एतैरिति ॥ तत्र स्वानुभवं प्रमादयति । प्रत्यक्षं हीति ॥ विवेक-
वैराग्याभ्यां वशीकृतश्रोत्रादिकरणप्राप्त्येतेतत्वाभावात्परोक्षशब्दादि-
विषये आसङ्गरूपान्वताक्रान्तत्वादित्यर्थः । इतैरेव विषयविषयैर्ब्रह्मप्राप्ति
द्वारैर्हि समाध्यादिना विदितानि इत्यभिप्रेत्योपसंहरति । तस्मादिति ॥
ब्रह्मपुरुषानुक्ताननूद्य सफलउपासनं दर्शयति । अत इति ॥ अनियतानां
चक्षुरादीनां ब्रह्मप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वं नियतानां तु तत्प्राप्तिहेतुत्वमित्यतः
शब्दार्थः । यथोक्तगुणविशिष्टत्वं चक्षुरादीनामादित्याद्यात्मकत्वम् ॥

दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः
पृष्ठेषु अतुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदि-

किञ्चास्य विदुषः कुले वीरः पुत्रो जायते वीरपुरुषसे-
वनात् । तस्य चर्षापाकरणेन ब्रह्मोपासनप्रवृत्तिहेतुत्वम् ।
ततश्च स्वर्गलोकप्रतिपत्तये पारम्पर्येण भवतीति स्वर्गलोक-
प्रतिपत्तिरेवैकं फलम् ॥ अथ यदसौ विद्वान् स्वर्गं लोकं
वीरपुरुषसेवनात्प्रतिपद्यते यच्चाक्तं “विपादस्यामृतं दिवीति”
तदिदं लिङ्गेन चक्षुःश्रोत्रेन्द्रियगोचरमापादयितव्यम् ।
यथाग्न्यादिर्धूमादिलिङ्गेन ॥ तथा ह्येवमेवेदमिति यथोक्तं ऽर्थे

अदृष्टं फलसङ्गा इष्टफलमाह । किञ्चेति ॥ यथोक्तपुत्रोत्पत्तिर्विव-
क्षितब्रह्मप्राप्तावनुपयुक्तेत्याद्यहम् ॥ तस्य चेति ॥ पुत्रस्य ध्यानानुसारित्व
हेतुत्वं ततःशब्दार्थः । पारम्पर्येणोपासनादारेषेति यावत् ॥ पुत्रस्य
ध्यानद्वारा ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वे फलितमाह । इति स्वर्गेति ॥ नाशत्रुपाधिकं
ब्रह्मोपास्यं तादर्थ्येन द्वारपालोपास्तित्वं कर्त्तव्यं ततश्चाङ्गेषु श्रुतानि
फलानि सप्तखित्वं प्रधानोपासनादेव ब्रह्मप्राप्तिरित्युक्तम् ॥ इदानीं विद्या
नरं प्रकरोति ॥ अथ यदिति ॥ परस्ताद्दिवी दीप्यमानं ब्रह्म कौत्से
ज्योतिर्ब्रह्म प्रतीकेऽभ्यस्य इष्टत्वं श्रुतत्वाभ्यामुपासितव्यमिति त्रैतमर्थं सिद्ध-
पदत्वात्तदर्थिकमर्थमादाय तात्पर्यमाह । यदसौ विद्वानिति ॥ वीराणां
वीर्यवतामादित्यादीनां पुरुषाणां सेवनादाध्यानादीति यावत् । लिङ्गेन
स्पर्शविशेषेण श्रवणविशेषेण चेत्यर्थः । चक्षुःश्रोत्रेन्द्रियगोचरमिति सङ्क्षिप्तं
प्रति इष्टं श्रुतञ्च मयेत्यापादयितव्यम् । अथवा इष्टत्वं श्रुताभ्यां ब्रह्मणि
ध्यानासिद्धेरित्यर्थः । परस्य प्रतिपत्तौ लिङ्गेन प्रत्यायने इष्टान्तमाह ।
यथेति ॥ विप्रतिपत्तं प्रति धूमादिलिङ्गेनाग्न्यादि यथा प्रत्याय्यते तथा
स्पर्शादिलिङ्गेन इष्टत्वादिविशिष्टमिदं प्रत्येतव्यमित्यर्थः ॥ यथोक्तस्य

दमस्त्रिन्त्रन्तःपुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः

॥ ७ ॥

दृढा प्रतीतिः स्यात् । अनन्यत्वेन च निश्चय इति अत आह । यदतोऽमुष्मादिवो द्युलोकात्परः परमिति लिङ्ग-
व्यत्ययेन ज्योतिर्दीप्यते । स्वयंप्रभं सदा प्रकाशत्वादीप्यत
इव दीप्यत इत्युच्यते । अग्न्यादिवज्ज्वलनलक्षणाया
दीप्तेरसम्भवाद्विषयतः पृष्ठेष्वित्येतस्य व्याख्यानं सर्वतः पृष्ठे-
ष्विति संसारादुपरीत्यर्थः । संसार एव हि सर्वः ॥

ज्योतिषो लिङ्गेन प्रत्यायनं किमिति क्रियते तत्राह । तथा ह्रीति ।
लिङ्गद्वारा तस्य प्रत्यायने सति गुणद्वयविशिष्टमेवेदं ज्योतिर्नान्यथेत्येवं
यथोक्ते परस्मिन्नुपास्यज्योतिषि दृढा धीः स्यात् । तत्सङ्गुणस्य ज्योतिषो
ध्यानादित्यर्थः । सा भूत्परस्य ज्योतिषो यथोक्तगुणस्याशेषोपासनमित्या-
शङ्क्याह । अनन्यत्वेनेति । कौत्सेयस्य ज्योतिषः सच्चिकर्षाज्जीवाभेद परि-
कल्प्य जाठरं ज्योतिर्ब्रह्मेत्यनन्यत्वेन ध्याने जीवब्रह्मणोरेकतया निश्चय-
सार्थानुसिद्धति । अतो यथोक्तोपास्तिरर्थवतीत्यर्थः ॥ अथशब्दस्य विशा-
न्तरारम्भार्थत्वमभ्युपेत्यानन्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमुक्त्वाऽवशिष्टाव्यञ्जराण्यव-
तार्यं व्याकरोति । अत आह्वेत्यादिना ॥ यदित्युपक्रम्य ज्योतिरित्युप-
संहारात्पर इति सुलिङ्गप्रयोगमाशङ्क्याह ॥ परमिति ॥ कादाचित्क-
प्रकाशत्वाभावात्कथं दीप्यत इति प्रयोगस्तत्राह । स्वयंप्रभमिति ॥
उष्मादिनेति प्रयुज्यते मुख्यमेव दीप्यमानत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याह :
अग्न्यादीति ॥ हेतोर्भयत्वं सम्बन्धः ॥ सर्वशब्दस्यासङ्कुचितत्वादात्मनोऽपि
तेन सङ्कृतीतत्वात्कथं तस्मादूर्ध्वं ब्रह्मेत्युपपन्नमित्याशङ्क्याह । संसारा-
दिति ॥ तस्यैव सर्वशब्दवाच्यत्वमुपपादयति । संसार एव ह्रीति । तस्यानेक
त्वेन सर्वशब्दार्हत्वादित्यर्थः ।

यनैतदस्मिच्छरीरे सस्यर्शेनोष्णिमानं वि-

असंसारिण एकत्वात्त्रिभेदत्वाच्चागुत्तमेषु तत्पुरुषस-
मासायङ्कानिष्टत्वेऽह । उत्तमेषु लोकेष्विति । सत्त्वलोका-
दिषु हिरण्यगर्भादिकार्ष्यस्य परस्येश्वरस्यासम्भत्वादुच्यते
उत्तमेषु लोकेष्विति । इदं वावेदमेव तद्यदिदमस्मिन्
पुरुषेऽन्तर्मध्ये ज्योतिः चक्षुःश्रोत्रग्राह्येन लिङ्गेनोष्णिक्का-
शब्देन वावगम्यते । यत्तत्रा स्यर्शरूपेण गृह्यते तच्चक्षुषैव ।
दृढप्रतीतिकरत्वात्त्वचोऽविनाभूतत्वाच्च रूपस्यर्शयोः ॥

आत्मनि सर्वशब्दानुपपत्तिमाह । असंसारिण इति ॥ सर्वशब्दस्याने-
कार्थवाचित्वादात्मनि चैकत्वात्कारभेदस्य च नित्यत्वमुक्ते तस्मिन्सम्भवाच्च
तस्य सर्वशब्दाद्यतीतिरित्यर्थः । उत्तमा न भवन्तीत्यनुत्तमास्तेष्विति तत्पु-
रुषायङ्कायां तन्निष्ठत्वाद्वा बह्व्रीहिसिद्धयं विशेषणमित्याह ।
त पुरुषेति ॥ किमिति तेषु परब्रह्म निर्दिश्यते तस्य सर्वगतत्वादित्या-
शङ्क्याह । हिरण्यगर्भादीति ॥ तत्कार्यात्मना स्थितं परं ब्रह्मोत्तमेषु
लोकेष्वित्युच्यते । तस्य सर्वत्र सतोऽपि सत्त्वलोकादिषु हिरण्यगर्भाद्या-
त्मनाऽतिशयेन नित्याभिव्यक्तत्वादित्यर्थः । यदिति सर्वनाम्ना प्रकृतं ब्रह्म
पराव्ययते । तस्योपास्यत्वार्थं संसारादुपरिष्ठादवस्थानमुक्तम् ॥ इदानीं
कौत्सेयज्ज्योतिषि तदारोपयति । इदमिति ॥ कौत्सेयज्ज्योतिषि प्रतीके
प्रमाणं दर्शयति । चक्षुरिति ॥ चक्षुष्यो भवतीति फलवचनानुसारेण
स्यर्शरूपमैवमाध्यासिकमादायोष्णिक्का चागुपत्वं द्रष्टव्यम् । रूपस्यर्शयो
रैक्याध्यासं स्फुटयति । यत्तवेति ॥ यदुष्णं तेजो द्रव्यात्मकं त्वगिन्द्रियेण
स्यर्शरूपेण गृह्यते तत्र हेतुमाह । दृढेति ॥ त्वचो दृढायां प्रतीतौ हेतु-
त्वाच्चक्षुषा तादात्म्यारोपादित्यर्थः ॥ यद्रूपवद्भवति तत्स्यर्शवदिति
नियमाच्च रूपस्यर्शयोक्तादात्म्याभावात्तस्य चागुपत्वसिद्धिरित्याह ।
अविनाभूतत्वाच्चेति ॥

जानाति तस्यैषा श्रुतिर्यचैतत्कर्णावपि गृह्य नि-

कथं पुनस्तस्य ज्योतिषो लिङ्गं त्वग्दृष्टिगोचरत्वमाप-
द्यत इत्याह यत् यस्मिन् काले एतदिति क्रियाविशेषणं
यस्मिन् शरीरे हस्तेनालभ्य संस्पर्शेनोष्णमानं रूपसह-
भाविनमुष्णस्पर्शभावं विजानाति स क्षुण्णिमानामरूपव्याक-
रणाय देहमनुप्रविष्टस्य चैतन्यात्मज्योतिषो लिङ्गमव्यभि-
चारात् । न हि जीवन्तमात्मानमुष्णिमा व्यभिचरति ।
“उष्ण एव जीविष्यन् शीतो मरिष्यन्निति” हि विज्ञायते ।
मरणकाले च तेजः परस्यां देवतायामिति परेणाविभा-
गत्वोपगमादतोऽसाधारणं लिङ्गमौष्णाग्रसग्नेरिव धूमः ॥

यस्य ज्योतिषो लिङ्गरौष्णाग्रं तस्य त्वगिन्द्रियमाह्वस्य चाक्षुषत्व-
मुपपादयितुं शक्नोति । कथमिति ॥ तस्यैषा दृष्टिरित्यादिवाक्येनोत्तरं
दर्शयन् यत्नेत्यादि व्याकरोति । आह्वेत्यादिना ॥ यथैतद्विज्ञानं स्यात्तथेति
विज्ञानं क्रियायां विशेषणमेतदिति पदमित्यर्थः ॥ संस्पर्शेनोष्णमानं
विजानाति चेत्कथं तर्हि तस्य चाक्षुषत्वमित्याशङ्क्याह । रूपसहभाविन-
मिति ॥ भवत्यौपचारिकमौष्णाग्रस्य चाक्षुषत्वं तथापि कथं तस्य लिङ्गत्व-
मित्याशङ्क्य जीवनमत्यायनद्वारा कौक्षेयज्योतिषि तस्य लिङ्गत्वं साधयति ।
न हीति ॥ जीवात्मना तस्याव्यभिचारं स्फोरयति । न हीति ॥ तत्रैव
श्रुतिं संवादयति । उष्ण एवेति ॥ यदा जीवस्य लिङ्गमौष्णाग्रं तदा पर-
स्यापि ज्योतिषस्तत्किञ्च भवति । जीवपरयोरेकत्वावगमादित्याह । मरण-
काले चेति ॥ वागादि मनसि मनः प्राथे प्राथस्तेजसि तदध्यक्षकत्वं
परस्यां देवतायां परमात्माख्यायां सम्पाद्यत इति श्रुत्या जीवस्य परेण
तदर्थात्मना सहाभिन्नत्वस्योपगमाज्जीवस्य लिङ्गं तद्भवति परस्य लिङ्ग-
मित्यर्थः । यदा हि जीवस्य परस्य च यथोक्तलिङ्गादवगतिस्तदा तत्र
कौक्षेयज्योतिषसाधिकरणस्य सुतरामवगतिरस्तीत्याह । अत इति ॥

नदमिव नद्युरिवाम्नेरिव ज्वलत उपशृणोति
तदेतदृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति

अतस्तस्य परस्मैषा दृष्टिः साक्षादिव दर्शनं दर्शनोपाय इत्यर्थः । तथा तस्य ज्योतिष एषा श्रुतिः अवर्ण्यवर्णोपायो ऽप्युच्यमानो यत्र यदा पुरुषो ज्योतिषो लिङ्गं शुश्रूषति श्रोतुमिच्छति तदैतत्कर्मावपिगृह्यैतच्छब्दः क्रियाविशेषणम् । अपिगृह्यापिधायेत्यर्यादङ्गुलिभ्यां प्रोक्तुं त्यनिनदमिव रदस्येव घोषो निनादस्तमिव शृणोति नद्युरिव ऋषभकूजितमिव शब्दो यथा चाग्नेर्वह्निर्ज्वलत एवं शब्दमन्तः शरीर उपशृणोति तदेतज्ज्योतिर्दृष्टश्रुतलिङ्गत्वाद्दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत । तथोपासनाच्चक्षुष्यो दर्शनीयः श्रुतो विश्रुतञ्च यत्स्पर्शगुणोपासननिमित्तं फलं तद्रूपे सम्पादयति चक्षुष्य इति । रूपस्पर्शयोः सहभावित्वात् ॥ ३ ॥

उष्णस्य जाठरे ज्योतिषि प्रतीके लिङ्गत्वे इति तस्मिन्माह । तस्येति विष्णोरिव प्रतिमायां जाठरेण ज्योतिषा परस्य ज्योतिषस्तादात्म्यादित्यर्थः ॥ प्रतीकद्वारा दृष्ट्युपायवत्तस्य अवर्णोपायं लिङ्गान्तरं दर्शयति । तथेति ॥ अपिगृह्या शृणोतीति सम्बन्धः । यथा अवर्णमेतद्भवति तथा शृणोतीति अवर्णक्रियाया विशेषणमेतच्छब्द इति योजना ॥ प्रोक्तुं त्यपिधायेति यावत् । श्रूयमाणशब्दस्य वाच्यार्थभावस्फुटीकरणार्थमनेकदृष्टान्तोपादानं कौत्सेयज्योतिष्यारोपितस्य ज्योतिषो ध्येयस्य ध्यानोपायाङ्गत्वेन गुणद्वयमुपदिशति ॥ तदेतदिति ॥ इदमिदं पासने फलमाह । तथेति ॥ श्रुतमित्युपासने फलमाह । श्रुत इति ॥ कथं पुनः स्पर्शगुणोपासने स्पर्शो भवतीति वक्तव्ये चक्षुष्यो भवतीत्युच्यते तत्राह । यत्स्पर्शेति सम्पादने निमित्तमाह । रूपस्पर्शयोरिति ॥

य एवं वेद य एवं वेद ॥१३॥ सर्वं खल्विदं ब्रह्म

इदत्वाच्च दर्शनीयतायाः । एवञ्च विद्यायाः फलमुपपन्नं
स्यान्न तु इदत्वादित्यर्थवन्त्वे । य एवं यथोक्तौ गुणौ वेद
स्वर्गलोकप्रतिपत्तिस्तूक्तमदृष्टं फलम् । द्विरभ्यास आदरार्थः ॥
१३ ॥ पुनस्तस्यैव त्रिपादस्तस्य ब्रह्मणोऽनन्तगुणवतोऽन-
न्तशक्तेरनेकभेदोपास्यस्य विशिष्टगुणशक्तिमत्त्वेनोपासनं
विधित्वमाह । सर्वं समस्तं खल्विति वाक्यालङ्कारार्थो
निपातः । इदं जगन्नामरूपविस्तृतं प्रत्यक्षादिविषयं ब्रह्म

इतश्चक्षुष्यो भवतीति फलवचनमुचितमित्याह । इदत्वाच्चेति फल-
वचनमपि सम्पादयति न कल्पकमित्याह एवञ्चेति ॥ यदा स्पर्शगुणो-
पासननिमित्तं फलं रूपे सम्पाद्यते तदा विद्यायाः श्रुतं फलमुपपन्नमिति
फलश्रुतिरनुकूलिता स्यात् । रूपविशेषवति चक्षुष्यव्यवहृदप्रसिद्धत्वादित्यर्थः ।
यदि पुनर्इदत्वादित्यर्थगुणस्योपासननिमित्तं फलं कल्प्यते तदा चक्षुष्यो
भवतीति श्रुतं फलं नैवोपपन्नं स्यात्ततश्च फलश्रुतिरपबाधिता भवेदित्याह ।
न त्विति ॥ कस्मेदं फलमित्यपेक्षायामाह । य एवमिति ॥ ननु परस्य ज्योति-
जाठरे ज्योतिष्मारोपितस्य यथोक्तगुणवतो ध्यानात्कथमिदमत्यल्पं फल-
मनुरूपमुपदिश्यते तत्राह । स्वर्गलोकेति ॥ फलवत्याहिविद्यायामादरो
विबलितः ॥१३॥ प्रतीकद्वारा ब्रह्मोपासनसङ्गा प्रतीकं कृत्वा सगुणब्रह्मो
पासनमुपपन्नस्यति । पुनरित्यादिना ॥ तस्य निरुपाधित्वं व्यावर्त्तयति ।
अनन्तेति ॥ कथमेकस्त्रानेकगुणत्वं तत्राह । अनन्तशक्तेरिति ॥ ननु पूर्व-
मेवास्त्रोपासनान्तरविद्वत्तानि तथाच वक्तव्यमेवोपासनीत्याशङ्क्याह । अने-
केति ॥ अनेकेषु गायत्र्याद्युपाधिपूर्वास्तस्यापि ब्रह्मणो मनोमयत्वाद-
विशिष्टगुणत्वेन विशिष्टशक्तिमत्त्वेन नोपासनान्तरविधानार्थमुत्तरवाक्य-
मित्यर्थः ।

तज्जलानिति शान्त उपासीत

कारणं दृढतमत्वाद्ब्रह्म । कथं सर्वस्य ब्रह्मात्ममित्यत आह । तज्जलानिति । तस्माद्ब्रह्मणो जातं तेजोऽनन्नादिक्रमेण सर्वम् । अतस्तज्जम् । तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिखोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया द्विव्यत इति तज्जम् । तथा तस्मिन्नेव स्थितिकालेऽनिति प्राणिति चेष्टत इति तदनम् । इत्येवं ब्रह्मात्मतया त्रिषु कालेष्वविशिष्टं तद्व्यतिरेकेणाग्रहणात् । अतस्तदेवेदं जगत् । यथा चेदं तदेवैकमद्वितीयम् तथा षष्ठे विस्तरेण वक्ष्यामः । यस्माच्च सर्वमिदं ब्रह्म अतः शान्तो रागद्वेषादिदोषरहितः संयतः सन् यत्तत्सर्वं ब्रह्म तद्वक्ष्यमाणैर्गुणैरुपासीत ॥

ब्रह्मण्यदस्य निरुपाधिकार्थविषयत्वं व्यावर्त्तयति । कारणमिति ॥ कथं तस्य ब्रह्मत्वं तदाह । दृढतमत्वादिति ॥ निरतिशयमहत्त्वादित्यर्थः । सर्वमनूद्य तस्य ब्रह्मविधाने युक्तिं प्रश्नपूर्वकमाह । कथमित्यादिना ॥ तज्जञ्च तज्जञ्च तदनञ्च तज्जलान् कथयवलोपशब्दान्दसः । तत्र तज्जत्वं जगतो व्युत्पादयति । तज्ज्वादिति ॥ तज्जत्वमुपपादयति । तथेति ॥ विपर्ययेण तु क्रमोऽत इति व्याघाताप्रतिखोमतया जननव्युत्क्रमेण तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते जगदिति कृत्वा यथातस्तज्जं तथेति योजना । तत्र खलो नाम जगतः शून्यतेति मतं व्यावर्त्तयति । तदात्मतयेति ॥ तदनत्वं प्रतिपादयति । तथेति ॥ तथा तज्जं तज्जञ्च तथा तदनञ्च जगदित्यर्थः । इति तदनमिति शेषः ॥ युक्तिसिद्धमर्थं निगमयति । एवमिति ॥ ब्रह्मव्यतिरेकेण त्रिष्वपि कालेषु जगतोऽप्यहृष्यास्तदात्मत्वेनाविशिष्टमिते जगत्तदेव स्यादिति योजना ॥ युक्तिसिद्धमपि जगतो ब्रह्मत्वं प्रत्यक्षादिविरहं नाङ्गीकारमर्हति । न हि सद्वितीयमद्वितीयमित्याशङ्काह । यथा चेति ॥ सर्वस्य ब्रह्मत्वे फलितमाह । यस्माच्च इति ।

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरन्विष्टोऽपि
पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुः
कुर्वीत ॥ १ ॥

कथमुपासीत । स क्रतुः कुर्वीत क्रतुर्निश्चयोऽध्यव-
सायस्य एवमेव नान्यथेति अविचलः प्रत्ययस्तं क्रतुं कुर्वी-
तोपासीतेत्यनेन व्यवहितेन सम्बन्धः । किंपुनः क्रतुकरणेन
कर्त्तव्यं प्रयोजनम् । कथं वा क्रतुः कर्त्तव्यः । क्रतुकरणां
चाभिप्रेतार्थसाधनं कथं इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमथे-
त्यादिप्रत्ययः । अथ खल्विति हेत्वर्थः । यस्मात्क्रतुमयः
क्रतुप्रायोऽध्यवसायात्मकः पुरुषो जीवः । यथाक्रतुर्या-
दृश्यः क्रतुरस्य सोऽयं यथाक्रतुर्यथाध्यवसायो यादृ-

कियन्तं कासं प्रत्ययभावकर्त्तवेदित्वाकाङ्क्षापूर्वकं तत्तन्निश्चयपर्यन्त-
मिति दर्शयितुं व्यवहितं वाक्यमवतार्य व्याचष्टे । कथमित्यादिना ॥
उपासीतेत्यस्य क्रतुं कुर्वीतेत्यनेन व्यवहितेन सम्बन्ध इति योजना ॥
क्रतुवृत्तान्तस्य फलं पृच्छति । किंपुनरिति ॥ तत्र क्रतुकरणं च केन
प्रकारेणेति प्रश्नान्तरं दर्शयति । कथं वेति ॥ ब्रह्मभावसाधनत्वात्क्रतुकर-
णस्य फलप्रश्नो नास्तीत्याशङ्क्याह । क्रतुकरणस्येति ॥ न हि कर्मेवस्य
स्थितस्य नष्टस्य वा सङ्काशः सम्भवतीति भावः ॥ क्रतुकरणस्येदं प्रयोजनं
स च क्रतुरेवं क्रियते तत्करणं चानवा रीत्या ब्रह्मसङ्काशं साधयतीत्यस्या-
र्थजातस्य प्रतिपादनार्थमाख्यसमाप्तेरप्येतादिरुत्तरो पक्ष इत्याह ।
इत्यस्यार्थस्येति ॥ अथ खल्वित्यत्र पूर्ववत् अण्डशब्दोऽथशब्दस्तु हेत्वर्थ इत्यत्र
हेतुरुपमर्थं विदधोति । यस्मादिति ॥ यद्वा अथेत्यादयं पुरुष इत्यन्तो
पक्षो हेत्वर्थ इत्युक्त्वा अतमेव हेतुरुपमर्थं दर्शयति । यस्मादिति ॥ यथा

मनोमयः प्राणशरीरो

त्रिचयोऽस्मिंशोके जीवन्निह पुरुषो भवति । तद्येतोऽस्याह-
 दात्मेत्य चत्वा भवति ॥ क्रत्वतुरुपफलात्मको भवतीत्यर्थः ।
 एवं ह्येनोऽस्मिन् हटम् । “यं यं वापि स्मरन्भावं त्यज्यत्यन्ते
 कलेवरमित्यादि” यत एवं व्यवस्था शास्त्रदृष्टान्तः स एवं जा-
 नन् क्रतुं कुर्वीत यादृशं क्रतुं वक्ष्यामस्तम् । यत एवं शास्त्र-
 प्रमाण्यावुपपद्यते क्रत्वतुरुप फलमतः स कर्त्तव्यः क्रतुः । कथं
 मनोमयो मनःप्रायः । मनुतेऽनेनेति मनसात् स्वदत्ता
 विषयेषु प्रवृत्तं भवति तेन मनसा तन्मयः । तथाप्रवृत्तं

क्रतरित्वाद्भादशस्तापस्योऽब्दो द्रव्यः अस्मिंशोके इति नुतिनादव
 व्याचष्टे । जीवन्निहेति ॥

इह वर्त्तमाने देहे जीवन् समिति यावत् । क्रतुकरणेन किं कर्त्तव्यं
 कथमिति प्रश्नं व्याचष्टे । तत्रेति ॥ क्रत्वतुरुपफलात्मकत्वे पुरुषस्य सृजिं
 संवाद्यति । एवं ह्येति ॥ शास्त्रमेवोदाहरति । यं समिति ॥ कथं वा
 क्रतुः कर्त्तव्य इति प्रश्नं प्रत्याह । यत इति ॥ क्रत्वतुरुपफलात्मकः पुरुषो
 भवतीत्येवं रूपा व्यवस्थेति यावत् । एवं जानन् क्रत्वतुरुप फलमिति
 शास्त्रतः पश्यच्चित्तवर्त्तः । कोऽप्यौ क्रतरित्वाद्युपग्राह । यादृशमिति ॥ स
 क्रतुं कुर्वीतेत्यस्मात् निगमयति । यत एवमिति ॥ क्रतुकरणप्रकारमेव
 प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति । कथमित्यादिना । कथमिदं मनःप्राय-
 मित्त्वमेवात्र मनःशब्दार्थप्रदर्शनपूर्वकं व्युत्पादयति । मनुत इति ॥
 मनोद्वारा तदुपाधिः पुरुषो विषयप्रवणो भवतीत्यर्थः तत्प्राप्त्यत्माह ।
 यथेति ॥ पुरुषो हि तत्प्रायः मनसि प्रवर्त्तमाने स्ववर्त्तमाने तद-
 देव प्रवृत्त इव लक्ष्यते । तथा निवर्त्तमाने मनसि निवृत्त इव चावगम्यते ।
 वस्तुवस्तु पुरुषो न प्रवृत्तो निवृत्तो वा “ध्यायतीवेत्यादि” नुतेरित्यर्थः ॥

भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा

इव तत्राथो निवृत्त इव च । अत एव प्राणशरीरः प्राणो
लिङ्गात्मा विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयसंमूर्च्छितः । “यो वै प्राणः
सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राण इति” श्रुतेः । स शरीरं यस्य
स प्राणशरीरः । मनोमयः प्राणशरीरं नेतेति च श्रुत्य-
न्तरात् । भारूपः । भा दीप्तिश्चैतन्यलक्षणं रूपं यस्य स भा-
रूपः । सत्यसङ्कल्पः । सत्या अवितयाः सङ्कल्पा यस्य सोऽयं
सत्यसङ्कल्पः । न यथा संसारिण इवानैकान्तिकफलः
सङ्कल्प ईश्वरस्येत्यर्थः । अदृतेन मिथ्याफलत्वहेतुना
प्रत्यूढत्वात्सङ्कल्पस्य मिथ्याफलत्वञ्च वक्ष्यति “अदृते न हि
प्रत्यूढा” इति । आकाशात्मा । आकाश इवात्मा स्वरूपं

अत एव मनोमयत्वादेवेति यावत् ॥ सम्मूर्च्छितत्वं सम्पिशितत्वम् ।
विज्ञानशक्तौ चैकान्त्येव लिङ्गात्मनि सम्पिशितत्वे श्रुत्यन्तरं प्रमाण-
यति । यो वा इति ॥ आद्यवर्षी श्रुति यथोक्ते विवेकशब्दे प्रमाणयति ।
मनोमयः प्राणेति ॥ मनोवृत्तिभिर्विभाव्यमानत्वादात्मा मनोमयः प्राण
एव प्रत्यक्षात्मनः सूक्ष्मं शरीरं तस्य चासौ सूखाद्देहाद्देहान्तरं प्रति नेते-
त्याद्यर्थव्यन्तरेणात्मनि विवेकश्च । यद्विद्विः एतच्च विवेकशब्दं जीवगत-
मपि तदभेदविवक्त्या ज्ञानाच्च दृष्टव्यमित्यर्थः । सत्यसङ्कल्प इत्यत्र विवे-
कणेन ध्वनितमर्थं दर्शयति । न श्रेतेति ॥ इवशब्दस्तत्प्रायः । कथं संसारि-
सङ्कल्पस्यानैकान्तिकफलत्वं तत्राह । कथ्यतेति ॥ सङ्कल्पस्याकथनेन संसारिण
प्रत्यूढत्वे वाक्यशेषं प्रमाणयति । वक्ष्यतीति ॥ कदाकलयोराकाशेतरमोर्वे

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः

यस्य स आकाशात्मा । सर्वगतत्वं सूक्ष्मत्वं रूपादिहीनत्वञ्चा-
काशतुल्यता ईश्वरस्य । सर्वकर्मा । सर्वं विश्वं तेनेश्वरेण
क्रियत इति जगत्सर्वं कर्मास्येति सर्वकर्मा । “स हि सर्वस्य
कर्त्तेति” श्रुतेः । सर्वकामः । सर्वे कामा दोषरहिता अस्येति
स सर्वकामो “धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मीति” श्रुतेः ।
न तु कामोऽस्मीति वचनादिह बह्व्रीहिण सम्भवति ।
सर्वकाम इति । न कामस्य कर्त्तव्यत्वाच्छब्दाद्वित्तारा-
ध्यप्रसङ्गाच्च देवस्य । तस्माद्यथेह सर्वकाम इति बह्व्रीहि-
स्तथा कामोऽस्मीति स्मृत्यर्थो वाच्यः । सर्वे गन्धाः सुखकरा

तुल्यतेत्या शङ्काह । सर्वगतत्वमिति ॥ सर्वकर्मेति सर्वक्रियान्वयत्व-
मीश्वरस्योच्यते । तदयत्नं । निष्क्रियत्वश्रुतेरित्याशङ्का व्याचष्टे । सर्व-
मिति ॥ संसारिभ्यो विशेषसिद्ध्यर्थं विशिनष्टि । दोषरहिता इति ॥
उदाहृतश्चरितमन्त्रितोक्तमिति । नन्विति ॥ कामसामानाधिकरण्ये
बाधकोपलम्भाद्बह्व्रीहिरेवेति परिहरति । न कामस्येति ॥ तस्य कार्य-
त्वात्तदैव्यं ब्रह्मणोऽनादित्वं बाध्येत । चेतनशेषत्वाच्च कामस्य । तदनैक्ये
ब्रह्मणः स्वातन्त्र्यं हीयते । तथा च कर्मधारयासम्भवाद्बह्व्रीहिरेवेत्यर्थः ॥
कथं तर्हि कामोऽस्मीति तादात्म्यश्चरितिरित्याशङ्काह । तस्मादिति ॥
कामेश्वरयोः सामानाधिकरण्यासम्भवात्प्रकृतश्रुतौ बह्व्रीहिर्यथेष्टस्तथा
श्चरितवपि ब्रह्मधारतन्त्रप्रभावं कामस्य विवक्षितम् । श्रुत्यनुसारेण श्रुते-
र्नेतव्यत्वादित्यर्थः । सर्वशब्दाद्गन्धानामपि ब्रह्मणि प्राप्तौ विशिनष्टि ।
सुखकरा इति । तत्रापि सर्वशब्दसङ्कोचे कारणमाह । उच्यते इति ॥ यथा
सर्वगन्ध इत्यत्र सुखकरा गन्धा ब्रह्मणि दर्शितास्तथा सर्वरस इत्यत्रापि
सुखकरा एव रसास्तत्सम्बन्धिना योक्ता इत्याह । तथेति ॥ अत्रापि

सर्वमिदमभ्यासोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥ एष म
आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रौहेर्वा यवाद्वा सर्ष-
पाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा

अस्य सोऽयं सर्वगन्धः । “पुण्यो गन्धः पृथिव्याश्चेति” स्मृतेः ।
तथा रसा अपि विज्ञेयाः । अपुण्यगन्धरसग्रहणस्य पाप्मसम्ब-
न्धनिमित्तत्वश्रवणात् । “तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च
दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्व” इति श्रुतेः । न च पाप्म-
संसर्ग ईश्वरस्य । अविद्यादिदोषस्यानुपपत्तेः ॥

सर्वमिदं जगदभ्यासोऽभिव्याप्तः । अततेर्व्याप्तार्थस्य
कर्त्तरि निष्ठा । तथा अवाकीउच्यतेऽनयेति वाग्व्यागेव वाकः ।
यद्वा वचेर्ध्वजन्तस्य करणे वाकः । स दस्य विद्यते स वाकी
न वाकीअवाकी । वाक्प्रतिषेधश्चात्रोपलक्षणार्थः । गन्ध-
रसादिश्रवणात् । ईश्वरस्य प्राप्तानि प्राणादीनि करणानि

सर्वशब्दसङ्कोचे कारणमाह । अपुण्येति ॥ न तद्गृह्यं परस्मिन्निति
शेषः । तच्छब्दार्थमेवोपपादयति । पाप्मना ह्येति ॥ एष इति ज्ञानप्राप्त्योक्ति
र्भवतु पाप्मसंसर्गे च अपुण्यगन्धादिपङ्कणम् । तथापि कथं तदीश्वरे सर्वज्ञे
नास्तीत्याशङ्क्याह । न चेति ॥ निमित्ताभावादीश्वरस्य न स्वसम्बन्धित्वेना
पुण्यगन्धादिपङ्कणमित्यर्थः ॥

तस्य पाप्मसंसर्गे हेतुमाह । अविद्यादीति ॥ आदिपदेनास्मिताराग-
द्वेषाभिनिवेशादयो षट्कान्ते । अभ्यास इति रूपं तदर्थं च दर्शयन् कर्मणि
निष्ठां व्यावर्त्तयति । अततेरिति ॥ वाक्यदस्य निष्पत्तिप्रकारं रचयति ।
वचेरिति ॥ अनेति अवाकीति श्रुतौ उपलक्षणार्थः । ईश्वरस्य । प्राणादिप्रति-
षेधश्चेति शेषः ॥ अयेश्वरे प्राणादिप्राप्ते रभावात्प्रतिषेधो नोपलक्ष्येतात

एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्जगत्यान्दिबो ज्यायानिभ्यो
लोकेभ्यः ॥ ३ ॥ सर्वकर्मा सर्वकामः

गन्धादिपङ्क्त्याय अतो वाक्प्रतिषेधेन प्रतिषिध्यन्ते
तानि । “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स
शृणोत्यकर्ण” इत्यादिमन्त्रवर्णादनादरोऽसम्भ्रमः । अप्राप्त-
प्राप्तौ हि सम्भ्रमः स्यादनाप्तकामस्य, न त्वाप्तकामत्वा-
नित्यत्वस्येश्वरस्य सम्भ्रमोऽस्ति कश्चित् ॥ २ ॥

एष यथोक्तगुणो मे ममत्वाऽन्तर्हृदये हृदयपुण्डरीकस्या-
न्तर्मध्येऽणीयानगुतरो व्रीहेर्वा यवादेत्यादि । अत्यन्तसूक्ष्म
प्रदर्शनार्थं श्यामाकाङ्क्षा श्यामाकतण्डुलादेति । परिच्छिन्न
परिमाणादणीयानित्युक्तेऽणुपरिमाणत्वं प्राप्तमाशङ्क्य तत्प्र-
तिषेधायारभते । एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या
इत्यादिना । ज्यायःपरिमाणाच्च ज्यायस्त्वं दर्शयन्ननन्त-
परिमाणत्वं दर्शयति । मनोमय इत्यादिना । ज्याया-

आह । गन्धेति ॥ आदिशब्देन कामादिरुक्तः । युक्तज्ञान्योपलक्षणं
साक्षादेवात्मन प्रतिषेधश्चवर्णादित्वाह । अपाणीति ॥ आदिपदेन “स
वेत्ति वेद्य”मित्यादि नष्टह्यते । ईश्वरस्य सम्भ्रमाभावं प्रतिपादयति । अप्राप्त-
प्राप्तौ हीति ॥ यथोक्तस्य परस्य प्रत्यगात्माभेदं दर्शयति । एष इति ॥
व्रीह्याद्यनेकोपादानस्योपयोगमाह । आत्मनेति ॥ अणीयस्त्वज्जायस्त्वव्यपदे
श्वोर्भिद्यो विरोधमाशङ्क्य परिहरति । श्यामाकेति ॥ पृथिव्यन्तरिक्षा-
दिबदीश्वरस्यातिशयं महत्त्वं विवक्षितमिति शङ्कां वारयति । ज्यायः-
परिमाणाच्चेति ॥ पुनरुक्तोपयोगमाह । मनोमय इत्यादिनेति ॥ बस्तौ-

सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्याप्तोऽवाक्यनादर
एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभि-
सम्भवितास्मीति

नेभ्यो लोकेभ्य इत्यन्तेन यथोक्तगुणलक्षण ईश्वरो ध्येयो
न तु तत्तद्गुणविशिष्ट एव । यथोक्तराजपुरुषमानय
चित्गुणेत्युक्तेन विशेषणस्याप्यानयने व्याप्रियते तद्वदि-
हापि प्राप्तमतस्तन्नित्तरूपं सर्वकर्मेत्यादिपुनर्वचनम् ।
तस्मान्मनोमयत्वादिगुणविशिष्ट एव ईश्वरो ध्येयः । अत
एव षष्ठसप्तमयोरिव “तत्त्वमस्यात्मैवेदं सर्वमिति” । “नेह स्वा-
राज्येऽभिप्रियश्च त्वेष म आमैतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भ-
वितास्मीति” लिङ्गात् । न त्वात्मशब्देन प्रत्यगात्मैवोच्यते ।
मम इति षष्ठ्याः सम्बन्धार्थप्रत्यायकत्वादेतमभिसम्भविता-
स्मीति च कर्मकर्तृत्वनिर्द्देशात् ॥

ननु षष्ठेऽपि “अथ सम्पत्स्यत” इति सत्सम्पत्तेः कालान्त-
रितत्वं दर्शयति । नारदसंस्कारशेषस्थित्यर्थपरत्वात् न

लक्ष्यते स एवेश्वरः केवल इति यावत् ॥ ईश्वरो यथोक्तगुणो ध्येय इत्युक्ते
गुणानामपि ध्यानकर्मात्वं दुर्निवारमित्याशङ्क्याह । यथेति ॥ पुनरुक्ति-
फलमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ सगुणशेषेश्वरस्य ध्येयत्वे नमस्कान्तरमाह ।
अत एवेति ॥ स्वरूपवाचकस्यात्मनः श्रुत्यनुपपत्तेर्न तद्वत्त्वाद्वैतवाक्यार्थ-
सिद्धिरित्यर्थः

लिङ्गभेदाच्चेदिह भेदो विवक्षितस्तर्हि षष्ठेऽपि तद्विज्ञेयदर्शनाज्ञा-
शब्दवाक्यार्थसिद्धिरिति शङ्कते । नन्विति ॥ नचात्र भेदो विवक्षितः ।
नारदः संस्कारः सुखादियेन कर्माणां तच्छेषस्थितौ तात्पर्यादिति परि-

यस्य स्यादज्ञा न विचिकित्साऽस्तीति ह आह
शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥ १४ ॥

कालान्तरितार्थता अन्यथा तत्त्वमस्याद्यर्थस्य बाधकप्रसङ्गात् ।
यद्यप्यात्मशब्दस्य प्रत्ययार्थत्वं “सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति” च प्रकृत-
मेव म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मेत्युच्यते । तथाप्यन्तर्धानमी-
षदपरित्यज्यैवैतमात्मानमितोऽस्माच्छरीरात्प्रेत्याभिसम्भा-
वितास्मीत्युक्तम् ॥

यथा क्रतुरूपस्यात्मनः प्रतिपत्तास्मीति यस्यैवंविदः
स्याद्भवेदज्ञा सत्यमेवं स्यामहं प्रेत्यैवं, न स्यामिति न च
विचिकित्सास्ति । इत्येतस्मिन्नर्थे क्रतुफलसम्बन्धे स तथैवे-

हुरति । नारद्वेति ॥ तत्त्वमसीति कालान्तरितत्वमेवात्र विवक्षितं किं न
स्यादित्याशङ्क्याह । नेति ॥ कालान्तरभावित्वे सम्पत्तेरिदं तत्त्वमसीति
ब्रह्मभावस्य वर्त्तमानोपदेशानुपपत्तेरिति हेतुमाह । अन्यथेति ॥ ननु
प्रकरणानुगृहीताभ्यामात्मब्रह्मशब्दाभ्यामत्रापि ब्रह्मात्मैक्यमेव विवक्षित-
मित्यत आह । यद्यपीति ॥ लिङ्गानुगृहीतवर्गीभ्युतिवशात् प्रकरणानु-
गृहीतभ्युतिः कथञ्चित्तेतव्या प्रकरणभ्युतिभ्यां लिङ्गभ्युत्योर्बलवत्त्वादात्म-
भ्युतेरान्यथोपपत्तेरुक्तत्वादिति भावः ॥

सगुणब्रह्मोपासकस्य सकलत्वधीमात्मासाहचं फलं सिध्यति किन्तु
देहपातकालेऽपि साक्षात्कारानुगत्या भवितव्यमित्यभिप्रेत्याह । यथा
क्रतुरूपमेति ॥ अध्यवसायानुरूपस्य सगुणस्य परमात्मनोऽहंप्रतिपत्ता-
स्मीत्येवंविदो यस्य स्यादज्ञा निश्चयः प्रेत्याहमेव स्यामेव न तु न स्यामिति
क्रतुफलसम्बन्धे संशयोऽस्ति । स क्रतुसुसारेणैव परमात्मभावं प्राप्नोति तथा
चाहेति वाक्यान्तरणकालेऽपि साक्षात्कारेण भवितव्यमिति प्रतिभाषी-

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुधो न जीर्यति
दिशो ह्यस्य सक्तयो द्यौरस्योत्तरं विलुप्तम एष
कोशो वसुधानस्तस्मिन्निश्चमिदं श्रितम् ॥ १ ॥

स्वरभावं प्रतिपद्यते । विद्वानित्येतदाह स्मोक्तवान् किल
शाण्डिल्यो नामर्षिर्हिरभ्यास आदरार्थः ॥ १४ ॥

अस्य कुले वीरो जायत इत्युक्तम् । न वीरजन्ममात्रं पितु-
स्त्राणाय “तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुरिति” श्रुत्यन्तरात् ।
अतस्तद्दीर्घायुष्ट्वं कथं स्यादित्येवमर्थं कोशविज्ञानारम्भः ॥
अभ्यर्हितविज्ञानव्यासङ्गादनन्तरमेव नोक्तं तदिदानीमे-
वारभ्यते । अन्तरिक्षमुदरमन्तःपुषिरं यस्य सोऽयमन्त-
रिक्षोदरः कोशः कोश इवानेकधर्ममादृश्यात्कोशः स
च भूमिबुधो भूमिबुधो मूलं यस्य स भूमिबुधो न जीर्यति

त्यर्थः । यथोक्तस्यार्थस्य साम्प्रदायिकत्वं कथयति । इत्येतदिति ॥ आदर-
कृतफलसम्बन्धविषयः ॥ १४ ॥

शाण्डिल्यविद्यायाः समनन्तरग्रन्थस्य सम्बन्धो नास्तीत्याशङ्क्य
व्यवहितेन सम्बन्धं दर्शयितुमनुवदति । अस्मेति ॥ सम्प्रत्युत्तरग्रन्थस्य
तात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति । न वीरेति ॥ तत्र बहुद्वारण्यकमुक्तिं
प्रमाणयति तस्मादिति । पुत्रस्य लोकहेतुत्वादिति यावत् । अनुशासनेन
विषयोक्तस्य पुत्रस्य लोकप्राप्तिसाधनत्वादनुशासितस्य वेदाध्ययनं पुत्र-
जन्मोत्पन्ननन्तरमेव किमित्येतद्विज्ञानं नोपदिष्टमित्याशङ्क्याह ॥ अभ्य-
र्हितेति ॥ गायत्र्युपाधिकञ्जुपासनस्य जीर्णवेच्छोतिष्कारोप्य परञ्जु-
पासनमभ्यर्हितं तस्य च अनोमयत्वादियुष्मकञ्जुपासनमनन्तरञ्जं । तथा च
तद्वचनेन वेदान्प्रदानन्तरमेव कोशविज्ञानं नोक्तमिति निवृत्ते तद्व्यासङ्गे
तद्वदितिदानीं यथोक्तफलसिद्ध्यर्थमुच्यते इत्यर्थः । कोशशब्देन हिरण्यदिनि-

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम
दक्षिणा राक्षी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची
तासां वायुर्वत्सः स य एतमेव वायुं दिशां वत्सं

विनश्यति त्रैलोक्यात्मकत्वात् । सहस्रयुगकालावस्थायी
हि सः । दिशो ह्यस्य सर्वाः सक्तयः कोणा द्यौरस्य कोश-
स्योत्तरमूर्द्धं बिलं स एष यथोक्तगुणकोशः । वसुधानो वसु
धीयतेऽस्मिन् प्राणिनां कर्मफलाख्यमंतो वसुधानः । तस्मिन्-
न्वन्तर्विश्वं समस्तं प्राणिकर्मफलं स ह तत्साधनैरिदं यद्-
गृह्यते प्रत्यक्षादिप्रमाणैः श्रितमाश्रितं स्थितमित्यर्थः ॥

तस्यास्य प्राचीदिक् प्राग्गतो भागो जुहूर्नाम । जुह-
त्यस्यां दिशि कर्मिणः प्राङ्मुखाः सन्तः । इति जुहूर्नाम ।
सहन्तेऽस्यां पापकर्मफलानि यमपुण्यां प्राणिन इति
सहमाना नाम दक्षिणा दिक् । तथा राक्षी नाम प्रतीची

लोपाधारा मञ्जुषोच्यते ॥ कथं त्रैलोक्यात्मनः कोशत्वं तत्वाह । कोश
इवेति ॥ अनेन धर्मसादृश्यं विशदयति । स चेति ॥ तथापि कथमविना-
शित्वं तत्वाह । सहस्वेति ॥ त्रैलोक्यात्मनि कोशदृष्टिस्तत्रापि भूमौ बुद्ध्यदृष्टि-
रित्युक्तम् । कोशस्य च सापेक्षमविनाशित्वं ध्येयत्वेन दर्शितम् । सम्यग्
दिक्षु कोशकोणदृष्टिः कर्तव्येत्याह । दिशो ह्येति ॥ दिवि कोशस्तीर्ण-
बिलबुद्धिं दर्शयति । द्यौरिति ॥ यथोक्ते कोशे वसुधानत्वदृष्टिं दर्शयति ।
यथोक्तेति ॥ तदेव समर्पयते तस्मिन्निति ॥

कोशकोणत्वेनोक्ताह दिक्षुबान्नाविभागमाह ॥ तस्येत्यादिना ॥
दिशां विशिष्टनामवतोनानुबिम्बनीयत्वमुक्त्वा तस्यैवत्विनं वायुं तद्वत्त्वम

वेद न पुत्तरोद॥ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं
दिशां वत्सं वेद मा पुत्तरोद॥ रुदम् ॥ २ ॥
अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्ये
ऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भुवः

पश्चिमा दिक् राक्षी । राक्ष्णा वरुणेनाधिष्ठिता सन्ध्या-
रागयोगाद्वा । सुभूता नाम भूतिमङ्गिरीश्वरकुवेरादि-
भिरधिष्ठितत्वात् सुभूता नामोदीची । तासां दिशां वायु-
र्वत्सो दिग्जात्वद्वायोः । पुरोवात इत्यादिदर्शनात् । स यः
कश्चित् पुत्तदीर्घजीवितार्थीएवं यथोक्तगुणं वायुं दिशां वत्स-
मष्टतं वेद स न पुत्तरोदं पुत्तनिमित्तं रोदनं न रोदिति
पुत्तो न म्रियत इत्यर्थः । यत एवं विशिष्टं कोशं दिग्-
त्वविषयं विज्ञानम् अतः सोऽहं पुत्तजीवितार्थेवमेतं वायुं
दिशां वत्सं वेद जानेतः पुत्तरोदं मा रुदं पुत्तमरणनि-
मित्तं रोदो मम मा भूदित्यर्थः ॥

अरिष्टमविनाशिनं कोशं यथोक्तं प्रपद्ये प्रपन्नोऽस्मि
पुत्तायुषे । अमुनामुनेति त्विर्नाम गृह्णाति पुत्तस्य । तथा

मरणधर्माणं चिन्तयेदित्याह । तासानित्यादिना ॥ पुरोवातादीन् दि-
शब्दस्तथाविधलौकिकवैदिकप्रयोगसङ्ग-
र्थाः ॥ यथोक्तस्य विज्ञानस्य फल-
वत्त्वमिदानीं दर्शयति । स य इति यथोक्तगुणमित्यस्य प्रकटीकरणाय विशि-
नष्टि । अमृतमिति ॥ सफलसुपासनसुपदिष्टसुपसंहरति । यत इति ॥

दीर्घायुषं पुत्तस्य कामवसानस्यैकोन्यात्मानं कोशाकारं परिकल्प्य
यस्य कतलो दिशो विशिष्टनामवदोक्तासां स्त्रीत्वं तत्त्वव्यञ्जेन वायुं

प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना
 ॥ ३ ॥ स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा
 इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव यत्प्रापत्सि
 ॥ ४ ॥ अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं
 प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचं
 ॥ ५ ॥ अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्य
 वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥

प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुना भूवः प्रपद्ये
 ऽमुनाऽमुना स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुना सर्वत्र प्रपद्ये इति नाम
 ऽह्नाति पुनः पुनः । स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति व्याख्या-
 नार्थमुपन्यासः । प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं जगत् ॥

यथा “वा अरा नाभाविति” वक्ष्यति । अतस्तेमेव सर्वं
 तच्चेन प्राणप्रतिपादनेन प्रापत्सि प्रपन्नोऽभूवम् । तथा भूः
 प्रपद्य इति त्रीं लोकान् भूरादीन् प्रपद्य इति तदवोचम् ।

तद्वत्सममरणधर्मा णं चिन्तयेदिति प्रधानोपास्तिरुक्ता । सम्प्रति तदङ्गं जपं
 दर्शयति । अरिष्टमित्यादिना ॥ अमुनाऽनेन पुच्छेण निमित्तभूतेन दीर्घा
 युद्धं निमित्तोक्तत्वेऽर्थः । सर्वत्र सर्वेषु प्रपद्य इति क्रियापदसुपादेयं
 दर्शयितुं पुनरुपास्तं निमित्तवेदनार्थञ्च पुनः पुनर्मन्त्रेषु पुच्छस्य विनाम
 ऽह्नातीति योजना ॥ अरिष्टमित्यादिमन्त्रस्य प्रागेव व्याख्यातत्वात्प्राण-
 मित्यादिमन्त्रमादाय व्याचष्टे । स यदिदं ॥ स यद्वो वक्तुं विषयः ॥

प्राणस्य सर्वात्मने वाक्यशेषमनुगुणं दर्शयति । वक्षेति ॥ तत्-
 सर्वात्मनस्तथा दार्थः । कदा पुनरेषां मन्त्राणां जप इत्यपेक्षायां पूर्वोक्त-

अथ यद्वोचं स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजु-
वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तद्वोचं तद-
वोचम् ॥ ७ ॥ १५ ॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति

अथ यद्वोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्न्यादीन् प्रपद्य इति तद-
वोचम् । अथ यद्वोचं स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदादीन् प्रपद्य
इत्येव तद्वोचमिति । उपरिष्ठान्मन्त्राञ्चपेक्षतः पूर्वोक्तमजरं
कोशं सदिग्वत्त्वं यथावद्वात्वा । द्विर्वचनमादरार्थः ॥ १५ ॥

पुत्रायुपउपासनमुक्तं जपश्च अथेदानीमात्मनो दीर्घजी-
वनायेदमुपासनं जपश्च विदधत्तदाह । जीवन् हि स्वयं
पुत्रादिफलेन युज्यते नान्यथेति । अत आत्मानं यज्ञ
सम्पादयति पुरुषः । पुरुषो जीवनविशिष्टः कार्यकरण-
सङ्घातो यथाप्रसिद्ध एव । वावशब्दोऽवधारणार्थः ।
पुरुष एव यज्ञ इत्यर्थः ॥

तथा हि सामान्यैः सम्पादयति यज्ञत्वम् । कथं तस्य

प्रधानविद्यानन्तरमित्याह । उपरिष्ठादिति ॥ ध्यात्वोपरिष्ठादिति
सम्बन्धः । यथोक्तविज्ञाने जपे वादरः ॥ १५ ॥ इत्यमरूय पुरुषो वावेत्यादि-
स्वस्थान्तरमवतारयति । पुत्रायुष इति ॥ किमित्यात्मनो दीर्घजीवनं
समर्थते तत्राह । जीवन्निति । यथोक्तफलहेतुभूतां विद्यामुत्पापयति ।
अत आत्मानमिति ॥ कथं पुरुषस्यात्मनो यज्ञत्वं सम्पादयते तत्राह । पुरुष
इति ॥

अवधारणार्थं समर्थयते । तथा जीत्यादिना ॥ अष्टावयवसादृश्यात्
पुरुषे यज्ञवटिः कर्तव्येत्युक्तम् । कथं सादृश्याद्यज्ञसम्पादनमिति पृच्छति ।

वर्षाणि तत्प्रातः सवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री
गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा
वाव वसव एते हीदुः सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

पुरुषस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाण्युपसृताप्रातः सवनं पुरु-
षाख्यस्य यज्ञस्य केन सामान्येनेत्याह । चतुर्विंशत्यक्षरा
गायत्रीकन्दो गायत्रीकन्दस्कं हि विधियज्ञस्य प्रातः-
सवनम् । अतः प्रातःसवनसम्पन्नेन चतुर्विंशतिवर्षायुषायुक्तः
पुरुषः । अतो विधियज्ञसादृश्याद्यज्ञः । तथोत्तरयोरप्या-

कथमिति ॥ तत्रोच्यते । षोडशधिकं वर्षशतं पुरुषस्ययुः फलभूतं तत्त्रेधा
विभज्य चतुर्विंशतिवर्षावपि प्रातःसवनदृष्टिः कर्त्तव्येत्याह । तस्येति ॥
गायत्रीकन्दसप्तविंशत्यक्षरत्वेऽपि कथं शब्दोक्ता प्रातःसवनदृष्टिरित्या-
शङ्क्याह । गायत्रीति ॥ विधितोऽनुष्ठेयमानस्य विधियज्ञस्य प्रातःकालोपल-
भितं कर्म प्रातःसवनं तत्र स्तोत्रादि गायत्रीकन्दस्कं गायत्रं गायत्रं प्रातः-
सवनमिति च अत्रैरित्यर्थः । यथोक्ते पुरुषायुषे प्रातःसवने चतुर्विंशत्य-
क्षराणि । फलितमाह । अत इति ॥ तथापि कथं पुरुषायुषस्य यज्ञत्वं
तदाह । अत इति ॥ अतःशब्दस्यैवार्थो विधियज्ञसादृश्यादिति विधिनामु-
च्यमानो यज्ञो विधियज्ञत्वेन सादृश्यं पुरुषस्य प्रातःसवनसम्पन्नं तत्प्रातः-
पुरुषो यज्ञ इत्यर्थः । यथोक्ते पुरुषायुषे प्रातःसवनसम्पत्तिस्तथा वक्ष्य-
माणयोरपि पुरुषायुषयोर्माध्यन्दिनं सवनं तृतीयसवनमिति सवनद्वयसम्पत्ति
ईदृश्याह । तथेति ॥ चतुर्विंशतिवर्षमिति पुरुषायुषे प्रातःसवनमतः
सङ्क्रांतासामान्याद्वक्ष्यमाणपुरुषायुषयोः सवनद्वयसम्पत्तौ किं कारणमित्या-
शङ्क्याह । त्रिदुमिति ॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिदुप् प्रसिद्धा । त्रैदुभञ्ज

तज्ज्वेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्य ब्रूयात्प्राणा
वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनं सवनमह-
सन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो

युषोः सवनद्वयसम्पत्तिः । त्रिष्टुजगत्यक्षरसङ्ख्यासामान्यतो
वाच्या ॥

किञ्च तदस्य पुरुषयज्ञस्य प्रातःसवनं विधियज्ञस्यैव
वसवो देवा अन्वायन्ता असुगताः । सवनदेवतात्वेन
स्वामिन इत्यर्थः । पुरुषयज्ञेऽपि विधियज्ञ इवाग्न्यादयो
वसवो देवाः प्राप्ता इत्यतो विशिनष्टि प्राणा वाव वसवो
वाक्चादयो वायवश्च ते हि यस्मादिदं पुरुषादिप्राणि-
जातमेते वासयन्ति । प्राणेषु हि देहे वसत्सु सर्वमिदं
वसति नान्यथा इति । अतो वसनाद्वासनाञ्च वसवः । तस्मैद्य-
ज्ञसम्पादितमेतस्मिन् प्रातःसवनसम्पन्ने वयसि किञ्चिद्वा-
धादिभरणशङ्काकारणमुप तपेत् दुःखमुत्पादयेत् स तह
यज्ञसम्पादी पुरुष आत्मानं यज्ञं मन्यमानो ब्रूयाज्जपेदि

माध्यन्दिनं सवनं । अष्टात्वारिंशदक्षरा जगतो । जागतं च तृतीयसवन-
मतः सङ्क्रासामान्यादुत्तरयोः पुरुषाययुषोः सवनद्वयसम्पद्युक्तोत्तरार्थः ॥

पुरुषस्य यज्ञस्ये विधियज्ञेन सङ्ग सादृश्यान्तरमाह । किञ्चेति ॥ प्रातः-
सवने वसूनां तद्देवतात्वेनाग्न्यायज्ञत्वेनैव सङ्गुच्छिपति । सवनदेवतात्वेन
स्वामिन इत्यर्थः इति ॥ वसूनां सवनस्वामित्वमुपगत्य तुल्यमित्युक्ते प्रसिद्धा-
न्वसून् पुरुषयज्ञेऽपि प्राप्तान् प्रत्युदस्यति । पुरुषयज्ञेऽपीति ॥ तेषु वसुशब्द-
प्रवृत्तिं साधयति । ते ह्येति ॥ निमित्तान्तरमाह । प्राणेषु ह्येति ॥
प्राणानां वसुत्वमुपपादितमुपसंहरति । इत्यत इति ॥ सम्पत्ति

विलोपीयेत्तु चैव तत एत्वगदो ह भवति ॥ २ ॥
 अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दि-
 नं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा विष्टुप् चैष्टुभं
 माध्यन्दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः
 प्राणा वाव रुद्रा एते ह्रीदं सर्वं रोदयन्ति
 ॥ ३ ॥ तच्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत् स
 ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनं सवनं द्विती-
 यसवनमनुसन्तनुतेति माऽहं प्राणानां रुद्राणां

त्यर्थ इमं मन्त्रम् । हे प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं मम
 यज्ञस्य वर्त्तते तन्माध्यन्दिनं सवनमनुसन्तनुतेति माध्य-
 न्दिनेन सवनेनायुषा सहितमेकीभूतं सततं कुरुतेत्यर्थः ।
 माऽहं यज्ञो युष्माकं प्राणानां वस्त्रानां प्रातःसवनेशानां
 मध्ये विलोपीय विलुप्येयं विच्छिद्येयमित्यर्थः । इति-
 शब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः । अनेन जपेन ध्यानेन च तत-
 साह्मादुपतापादुदेत्युक्तं उक्तस्य विमुक्तः सन्नगदो
 हानुपतापो भवत्येव ॥२॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणीति समानम् । वदन्ति

पुरुषयज्ञविद्याङ्गभूतमाशीर्वादिप्रयोगं दर्शयति । तच्चेदिति ॥ अनुसन्तनु-
 तेत्यह्माहोपदमेकीभावे मन्त्रजपस्य सातुवन्वितं विधियज्ञेन समानम् । तन्मा
 यानि चतुर्विंशति वर्षाणीत्यादिनेति शेषः ॥

प्राणेषु रुद्रशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह । वदन्तीति ॥ वदुक्तं रोदय-
 न्तीति रुद्रा इति तदुपपादयति । रुद्रा ह्रीति ॥ यथा प्राणा वसवो
 रुद्राश्चोक्तास्तथेति यावत् ॥ तेषादिर्वाद्यशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह । ते ह्रीति ॥

मध्ये यज्ञो विलोप्येयुर्द्वैव ॥ तत एत्यगदो ह
भवति ॥ ४ ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि
तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जा-
गतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा
वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥ ५ ॥
तच्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्
प्राणा आदित्या इदं मै तृतीयसवनमायुरनुसन्त-
नुतेति माऽहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो
विलोप्येयुर्द्वैव तत एत्यगदो ह वै भवति ॥ ६ ॥

एतच्च स्म वै तद्विद्वानाह महीदास एतरेयः
स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेध्यामीति

रोदयन्तीति प्राणा इद्रा हि क्रूरास्ते मध्यमे वयस्यतो
इद्राः । तथादित्याः प्राणाः । ते हीदं शब्दादिजात
माददतेऽत आदित्यास्तृतीयसवनमायुः षोडशोत्तरवर्ष-
शतं समापयतानुसन्तनुत यज्ञं समापयतेत्यर्थः । समान-
मन्यत् ॥

निश्चिता हि विद्या फलायेत्येतद्दर्शयन्नुदाहरत्येतद्य-
ज्ञदर्शनं ह स्म वै किल तद्विद्वानाह महीदासो जामतः ।

तच्चेत्यादिना पूर्वेण मन्येन तच्चेदेतस्मिन्वयसि दिव्यसमाप्यमन्यस्य
तुल्यार्थत्वाच्च व्याख्यानोपेक्षेत्याह । समानमन्यदिति ॥

महीदासोदाहरणस्य तात्पर्यमाह । निश्चिता हीति ॥ तदेतद्यज्ञ-
दर्शनं विद्वानाह अस्मिन् सन्त्यः । ह वा इति निपातयोः किञ्चेत्यर्थः ।

स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्य ह षोडशं वर्षशतं
जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ १६ ॥

स यदग्निशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता
अस्य दीक्षा ॥१॥ अथ यदग्नाति यत्पिबति यद्र-

इतराया अपत्यमैतरेयः । किं कस्मान्मो समैतदुपतपनमुप-
तपसि स त्व हे रोग योऽहं यच्चोऽनेन त्वत्कृतेनोपतापेन
न प्रेष्यामि न मरिष्याम्यतो वृथा तव अम इत्यर्थः । इत्येव-
माह स्मेति पूर्व्वेण सम्बन्धः । स एवमिच्छयः सन् षोडशवर्ष-
शतमजीवत् । अन्योऽप्येवंमिच्छयः षोडशं वर्षशतं प्रजीवति
य एवं यथोक्तं यज्ञसम्पादनं वेद जानाति स इत्यर्थः ॥ १६ ॥

स यदग्निशिषतीत्यादिर्यज्ञसामान्यनिर्देशः पुरुषस्य,
पूर्व्वेणैव सम्बध्यते । यदग्निशिषत्यग्नितुमिच्छति । तथा पिपा-
सति पातुमिच्छति । यन्न रमत इष्टाद्यप्राप्तिनिमित्तं, यदेवं
जातीयकं दुःखमनुभवति ता अस्य दीक्षा दुःखसामा-

उक्तस्य चोदाहरणप्रसिद्धिविषयः । हे रोग कस्मान्मां त्वं उपतपसीति
सम्बन्धः । कस्मादित्याक्षेपे हेतुमाह । योऽहमिति ॥ यो यज्ञः सोऽहमने-
नेति योजना ॥ इतिशब्दस्यान्वयमाचष्टे । इत्येवमिति ॥ निश्चिताया विद्याया
ध्यानं प्रति फलं कथयति । स एवमिति ॥ यदापि सहीदासस्य यथोक्त-
मिच्छयवतो यथोक्तं तथापीदानीन्तनस्य किमायातमित्याशङ्क्याह । अन्यो-
ऽपीति ॥ प्रजीवतीति जीवनस्य प्रकर्षो रोगाद्युपतापराहित्यं प्रशब्देनो-
च्यते ॥ एवं निश्चय इत्युक्तं पुरुषं विषययति । य एवमिति ॥ १६ ॥

ननु पूर्व्वेणार्थोदाहरणेनोदाहरणेनैव समनन्तरपन्थस्य सम्बन्धो
नोपलभ्यते तत्राह । स यदिति ॥ पर्येष तस्मै यागि चतुर्विंशतिवर्षांशी-

मते तदुपसदैरेति ॥२॥ अथ यद्वसति यज्जक्षति
यन्मैथुनं चरति सुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥ अथ
यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता
अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य

न्याद्विधियज्ञस्येव । अथ यद्वसति यत्प्रवति यद्वसते
रतिश्चानभवति इष्टादिमंयोगात्तदुपसदैः समानतामेति ॥
उपसदाश्च पयोव्रततन्निमित्तं सुखमस्ति । अल्पभोजनी-
यानि चाहान्याप्रव्रजानीति प्रव्रामोऽनोऽशनादीनामुपस-
दाश्च सामान्यमथ यद्वसति यज्जक्षति भक्षयति यन्मैथुनं
चरति सुतशस्त्रैरेव तस्मान्मान्यमेति । शब्दवत्त्वसामान्यात् ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य
दक्षिणाः । धर्म्मपुष्टिकरत्वसामान्यात् । यस्माच्च यज्ञः पुरुषः

त्यादिना सादृश्यनिर्द्देशेनेत्यर्थः । एवं जातीयकमथनायादिकृतमिति यावत् ॥
अग्निशिखादिषु दीक्षादृष्टौ हेतुमाह । दुःखेति ॥ दीक्षावचनसादृश्यात्-
पुरुषस्य यज्ञत्वसुक्तामिदानीमुपसदुपेतत्वसादृश्यादपि तस्य यज्ञत्वं विज्ञेय-
मिच्छाह । अथेति ॥ अथनादिषु कथमुपसददृष्टिसत्त्वाह । उपसदाश्चेति ॥
पयोव्रतत्वं पयोभक्षणवृत्तत्वम् । यज्ञे यान्यहान्यभोजनीयानि प्रसिद्धानि
तानि चोपसत्सु क्रियमाणाण्यवधानीति तासु प्रव्राजः सास्यविशेषः ।
अथनादिषु च बोऽस्तीति प्रसिद्धमित्यर्थः । सुखनिमित्तत्वं क्लेशनिवृत्ति-
हेतुत्वञ्च सामान्यं सुतशस्त्रैरेव शस्त्रसाम्यादपि सामान्यं पुरुषस्य यज्ञत्वमि-
च्छाह । अथ वदिति ॥ हासादिषु सुतशस्त्रदृष्टौ हेतुमाह । शब्दवत्त्वेति ॥

दक्षिणावचनसादृश्यादपि पुरुषस्य यज्ञत्वमवधेयमिच्छाह । अथेति ॥
तपोदानादिषु दक्षिणादृष्टौ हेतुमाह । धर्म्मेति ॥ प्रकारान्तरेण पुरुषस्य

तन्मरणमेवास्य वभूथः ॥ ५ ॥ तच्चैतद्घोर
आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्तोवाचा-
ऽपिपास एव स बभूव । सोऽन्तवेलायामेतत्तथं

तस्मात्तं जनयिष्यति माता यदा तदाऽऽङ्गरन्ये सोष्यतीति
तस्य मातरं यदा च प्रसूता भवति तदाऽसोष्ट पूर्यिकेति
विधियज्ञ इव सोष्यति सोमं देवदत्तोऽसोष्ट सोमं यज्ञदत्त
इत्यतः शब्दसामान्याद्वा पुरुषो यज्ञः । पुनस्तत्पादनमेवास्य
तत्पुरुषाख्यस्य यज्ञस्य यत्सोष्यत्यसोष्टेति शब्दसम्बन्धित्वं
विधियज्ञस्येव । किञ्च तन्मरणमेवास्य पुरुषयज्ञस्यावभूथः ।
समाप्तिसामान्यात् । तच्चैतत् यज्ञदर्शनं घोरं नामत
आङ्गिरसो गोततः कृष्णाय देवकीपुत्राय शिष्याय उक्त-
वाच तदेतत्तयमित्यादिव्यवहितेन सम्बन्धः । स चैतद्दर्शनं
श्रुत्वाऽपिपास एवान्याभ्यो विद्याभ्यो बभूव ॥

यज्ञत्वं साधयति । यस्माच्चेति ॥ षूङ् प्राणिप्रसवे षुङ् स्वतिषव इति
धातुद्वयदर्शनात्प्रसवे कण्ठने च साधारणः सवनशब्दकृतः सवनशब्द-
सामान्याद्वा पुरुषे यज्ञदष्टिः कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ पुरुषगतं शब्दसामान्यं वि-
दयति । पुनरिति ॥ यत् पुनरस्य पुरुषाख्यस्य विधियज्ञस्येव सोष्यतीत्या-
दिशब्दसम्बन्धित्वं तदुत्पादनमेव तदिति योजना ॥ अवभृत्सम्बन्धित्वा-
दपि पुरुषस्य यज्ञत्वमस्तीत्याह । किञ्चेति । पुरुषे यज्ञदष्टिरुक्ता सम्प्रति
विशिष्टपुरुषसम्बन्धेन विद्यां स्तोत्रं विद्याङ्गञ्च जपं विधातुमुपक्रमते ।
यच्चैतदिति ॥ देवकीपुत्रस्यैतद्दर्शनम् । त्रयणफलमाह । स चेति ॥

प्रतिपद्येताद्वितमस्यच्युतमसि प्राणसंश्रितम-
सीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

इत्यञ्च विशिष्टेयं विद्या यत्कृष्णस्य देवकीपुत्रस्यान्यां
विद्यां प्रति तद्विच्छेदकरीति पुरुषयज्ञविद्यां सौति घोर
आङ्गिरसः कृष्णायोक्तेमां विद्यां किमुवाचेति तदाह ।
स एवं यथोक्तद्वयविदन्तवेलायां मरणकाल एतन्मन्त्रवयं
प्रतिपद्येत जपेदित्यर्थः । किन्तद्वितमस्योणमक्षतं वासी-
त्येकं यजुः । सामर्थ्यादादित्यस्य प्राणं चैकीकृत्याह । तथा
तमेवाहाच्युतं स्वरूपादप्रच्युतमसीति द्वितीयं यजुः ।
प्राणसंश्रितं प्राणस्य संश्रितं सम्यक्तनूकतश्च सूक्ष्मं तत्त्वम-
सीति तृतीयं यजुः । तत्रैतस्मिन्नर्थे विद्या स्तुतिपरे द्वे ऋचौ
मन्त्रौ भवतो न जपार्थे “तव्यं प्रतिपद्येतेति” त्वित्वसङ्ख्या-
बाधनात् पञ्चसङ्ख्या हि तदा स्यात् ॥

किमर्थेयं गुरुशिव्याख्यायिकेत्याह । इत्यञ्चेति ॥ अक्षितमसि
कोट्यर्थी देवतां प्रत्युच्यते तत्राह । सामर्थ्यादिति ॥ निरुपस्थस्य स्तुतिसम्बन्धा-
योगात्पुरुषयज्ञे सप्तदेवतान्तरानुपरत्तेषु प्राणानामेताधिदेविकं कुर-
मादित्याख्यं जप्यमन्त्रार्थत्वेन सम्बन्धगत इत्यर्थः ॥ द्वितीयमन्त्रस्यार्थान्तरं
वारयति । तथेति ॥ प्रथममन्त्रवदित्यर्थः । न च द्वयोरेकार्थत्वे सत्यनन्तरस्य
वैयर्थ्यं, द्वयोरपि जप्यत्वेनोपयुक्तत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ सम्बन्धव्यतिपाद्यं
सावित्वं तत्त्ववृत्त्यामपि प्रतिपादितमिति प्रत्ययदार्ढ्यार्थमाह । तत्रेति ॥
किमिति विद्यास्तुतिपरत्वमनयोरिष्यते जपार्थत्वमेव किं न स्यात्तत्वाह ।
नेत्यादिन ॥ अर्धतयोरजपार्थत्वेऽपि त्वित्वसङ्ख्यायाः सत्त्वाच्च सा बाध्य-
त्वाच्चङ्गाह । पञ्चेति ॥ अनयोरजप्यत्वे पञ्चकं प्रतिपद्येतेति पञ्चसङ्ख्याया
वक्तव्यत्वान्नित्वं बाधितं स्यादित्यर्थः ॥

आदित् प्रलस्य रेतसः ।

आत् इदित्यत्र आकारस्यानुबन्धः तकारोऽनर्थक इच्छशब्दश्च । प्रलस्य चिरन्तनस्य पुराणस्येत्यर्थो रेतसः कारणस्य बीजभूतस्य जगतः सदाख्यस्य ज्योतिः प्रकाशं पश्यन्ति । आशब्द उक्त्यानुबन्धः पश्यन्तीत्यनेन सम्बध्यते । किं ज्योतिः पश्यन्ति । वासरमहरहरिव तत्सर्वतो व्याप्तं ब्रह्माणो ज्योतिः । निष्ठत्तचक्षुषो ब्रह्माविदो ब्रह्मचर्यादिनिवृत्ति-साधनेन शुद्धान्तःकरणा आ समन्ततो ज्योतिः पश्यन्तीत्यर्थः । परः परमिति लिङ्गव्यत्ययेन, ज्योतिःपरत्वात् ।

आदित्प्रलस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् “परो यदिध्यते दिवीति” मन्त्रस्य प्रतीकग्रहणमादित्प्रलस्य रेतस इति तत्पदच्छेदपूर्वकं व्याचष्टे । आदित्यादिना । इच्छशब्द अनर्थक इति पूर्वेष्व सम्बन्धः ॥ किन्तु-कारणमित्यपेक्षायां “सदेव सौम्येदमिति” श्रुतिसिद्धं ब्रह्मेत्याह । सदाख्येति ॥ आनन्दस्व-ब्रह्माणो विद्वानिति तत् प्रलस्य ज्योतिरिति सम्बन्धो द्रष्टव्यः । उक्त्यानुबन्धो ध्वस्ततकारः आ इति यावत् ॥ ननु ब्रह्मस्वरूप-भूतमेतज्ज्योतिर्न च सर्वं पश्यन्ति तत्राह । निष्ठत्तचक्षुष इति ॥ निष्ठ-त्तानि विसृज्योक्तानि विषयेभ्यश्चक्षुषि करणानि येषां ते तथा अत एव ब्रह्माविदः “कश्चिद्दीरः प्रत्यगात्मानमैकत् आष्टत्तवचुरमृतत्वमिच्छदिति” श्रुत्यन्तरम् ॥ तत्रैवोपायान्तरं सूचयति । ब्रह्मचर्यादीति ॥ “स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्दत्तिरेव च । एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनोविषयः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्ट-लक्षणम्” ॥ ब्रह्मचर्यादिपदेनाहिंसास्तेनादयो स्मर्यान्ते । एतैर्निवृत्ति-प्रधानैः साधनैः शुद्धसद्दीपितमन्तःकरणं येषां ते तथा ॥ व्यत्ययस्य हेतु-

उदयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं
 स्मः पश्यन्तउत्तरं देवं देवता सूर्यमगन्म ज्योति-
 रुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥ १७ ॥

यदिध्यते दीयते दिवि द्योतनवति परस्मिन् ब्रह्मणि
 वर्त्तमानम् । येन ज्योतिषेष्टः सविता तपति चन्द्रमा भाति विद्यु-
 द्विद्योतते ग्रहतारागणा विभासन्ते । किञ्चान्योऽन्यो मन्त्र-
 दृगाह, यथोक्तं ज्योतिः पश्यन् । उक्तं तमसोऽज्ञानल-
 क्षणात्परि परस्तादिति शेषः । तमसो वा अपनेह यज्ज्यो-
 तिरुत्तरमादित्यस्थं परि पश्यन्तो वयमुदगन्मेति व्यवहितेन
 सम्बन्धः । तज्ज्योतिः स्मः आत्मीयमस्माद्धृदि स्थितम् आदि-
 त्यस्थश्च तदेकं ज्योतिः । यदुत्तरमुत्कृष्टतरमूर्ध्वतरं वा
 परं ज्योतिरपेक्ष्य पश्यन्त उदगन्म वयम् । कयमुदगन्मे-
 त्याह । देवं द्योतनवन्तं देवता देवेषु सर्वेषु सूर्यं वस्तूनां
 रश्मीनां प्राणानाञ्च जगत ईरणात् सूर्यस्तमुदगन्म गत-

माह । ज्योतिः परत्वादिति । यत् स्वमहिम्नि प्रतिष्ठहीयते तत्तरं ज्योति-
 रिति सम्बन्धः ॥

दीप्यमानत्वं विदुष्योति । येनेति ॥ मन्त्रान्तरमवतारयति । किञ्चेति ॥
 इतश्च विद्यास्तत्त्वार्थेति यावत् ॥ किमाहेत्यपेक्षायां द्वितीयं मन्त्रमादत्ते ।
 उदयमिति ॥ तं व्याकरोति । तमस इत्यादिना ॥ तस्यैव ज्योतिषः प्रभाते
 ज्योतिर्नाम्नदस्तीत्यर्थः ॥ देवत्वेन प्रत्यगात्मत्वमाह । अ इति ॥ तयोदेकत्वं
 स ब्रह्मावमित्यादि शुक्लानरसिद्धन्दर्ययति । आदित्यस्यमिति ॥ तत्प्रदाहं
 त्वं प्रदार्थश्चोक्ता तयोदेक्यस्य इदानीमेकीभूतं ज्योतिर्विशिनष्टि ।

मनो ब्रह्मेतुपासीतेतप्रध्यात्ममथाधिदैवतमा- काशोब्रह्मेतुभयमादिष्टं भवतप्रध्यात्मं चाधिदैवतं

वन्तो ज्योतिरुत्तमं सर्वज्योतिर्भ्य उत्कृष्टतमम् । अहो प्राप्ता
वयमित्यर्थः । इदं तज्ज्योतिर्यदृग्भ्यां स्तुतं यद्यजुस्त्वेषण
प्रकाशितम् । हिरभ्यासो यज्ञकल्पनापरिसमाप्त्यर्थः ॥ १७ ॥

मनोमय ईश्वर उक्त आकाशात्मेति च ब्रह्मणो गुणैक-
देशत्वेन । अथेदानीं मनश्चाकाशयोः समस्तब्रह्मदृष्टि-
विधानार्थ आरम्भो मनो ब्रह्मेत्यादि । मनो मनुते अने-
नेत्यन्तःकरणं तद्ब्रह्म परमित्युपासीतेति । एतदात्मविषयं
दर्शनमध्यात्मम् । अथाधिदैवतं देवताविषयमिदं वक्ष्यामः ।
आकाशो ब्रह्मेत्युपासीत । एवमुभयमध्यात्ममधिदैवतस्यो-
भयं ब्रह्मदृष्टिविषयमादिष्टमुपदिष्टं भवति । आकाश

यदुत्तरमिति ॥ एकत्वधोफलं कथयति पश्यन् इति ॥ फलमेव प्रश्नपूर्वकं
विदुषोति । कथमित्यादिना ॥ फलविषयं स्नातुमव दर्शयति । अहो इति ॥
मन्त्राणां मन्त्रयोश्चैकवाक्यत्वमुपसंहरति । इदन्तदिति ॥ १७ ॥

ननु यज्ञविज्ञानेन वक्ष्यमाणविज्ञानस्य न सङ्कतिरस्तीति कथं धौर्वा-
पर्यमित्याद्यङ्गानन्तरव्यवहारेण व्यवहितेन सम्बन्धमाह । मनोमय इति ।
इति चेत्स्वर उक्त इति पूर्वेषु सम्बन्धः ॥ तत्र ब्रह्मणो गुणबोरेकदेशत्वेन
मन आकाशयोक्त इत्याह । ब्रह्मण इति ॥ यद्य त्तु गुणैकब्रह्मैकत्वसर्वस्य
तयोरेव सम्पूर्णब्रह्मदृष्टिकथनार्थमुत्तरं सम्बन्धवतारयति । अथेति ॥ एव-
मुभयमुपदिष्टं भवतीति सम्बन्धः ॥ तदेवोभयं विभज्यते । अध्यात्ममिति ॥
कथं मनोदृष्टिविषयत्वेनाध्यात्मं मनो ब्रह्मेत्युपासनं विधित्यगते तत्राह ।

च॥१॥ तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक् पादः, प्राणः पादः,
श्चक्षुः पादः, श्रोत्रं पादः, इत्यध्यात्ममथाधिदेवत-
मग्निः पादो, वायुः पादः, आदित्यः पादो, दिशः
पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदेवतं

मनसोः सूक्ष्मत्वात् । मनसोऽपलभ्यत्वाच्च ब्रह्मणो योऽयं मनो
ब्रह्मदृष्टेः । आकाशश्च सर्वगतत्वात् सूक्ष्मत्वादुपाधिहीनत्वाच्च ।
तदेतन्मनश्चाख्यं चतुष्पाद्ब्रह्म । चत्वारः पादा अस्येति ।
कथं चतुष्पात्त्वं मनसो ब्रह्मण इत्याह । वाक्प्राणश्चक्षुः
श्रोत्रमित्येते पादा इत्यध्यात्मम् ॥

अथाधिदेवतमाकाशस्य ब्रह्मणोऽग्निर्वायुरादित्यो दिश
इत्येते । एवमुभयमेव चतुष्पाद्ब्रह्मादिष्टं भवत्यध्यात्मचैवा-
धिदेवतञ्च । तत्र मनसो वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पाद इतर-
पादत्रयापेक्षया । वाचा हि पादेनैव गवादिबहुक्तव्यविषयं
प्रति तिष्ठति । अतो मनसः पाद इव वाक् । तथा प्राणो

मनसेति ॥ तथापि कथं ब्रह्मदृष्टेराकाशं विषयी भवति न हि तेनोप-
लभ्यते ब्रह्मेत्याशङ्क्याह । आकाशश्चेति ॥ ब्रह्मदृष्टेर्योग्यमिति पूर्वेष्व-
सम्बन्धः ॥ अध्यात्ममधिदेवतं च विहितस्योपासनस्यानुचिन्नं दर्शयति ।
तदेतदिति ॥ मनश्चतुष्पात्त्वं प्रश्नपूर्वकं व्युत्पादयति । कथमित्यादिना ॥

आधिदैविकस्याकाशस्य चतुष्पात्त्वं प्रकटयति । अथेत्यादिना ॥ मन-
आकाशयोरुक्तं चतुष्पात्त्वं निगमयति । एवमिति ॥ अध्यात्मिकानुपादान्
प्रपञ्चयति । तत्रेति ॥ पादत्वं वाचो व्युत्पादयति । वाचा ङीति ॥
यथा गवादिर्गन्तव्यं पादेनैव प्राप्नोति देवदत्तोऽपि वाचैव पादेन
बल्लव्यं विषयं प्रतिगमते । तेन तस्या युक्तं पादत्वमित्यर्थः ॥ प्राणस्य वाच

च ॥ २ ॥ वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना
ज्योतिषा भाति च तपति च, भाति च तपति च
कौत्तरी यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥
प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा

प्राणः पादस्तेनापि गन्धविषयं प्रति च क्रामति । तथा
चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्येवमध्यात्मं चतुष्पात्त्वं मनसो
ब्रह्मणः । तथाधिदैवतमग्निवाय्वादित्यदिश आकाशस्य
ब्रह्मण उदर इव गोः पादाविव लग्ना उपलभ्यन्ते । तेन
तस्याकाशस्याग्न्यादयः पादा उच्यन्ते । एवमुभयमध्यात्म-
सौवाधिदैवतं चतुष्पादादिष्टं भवति । तत्र वागेव मनसो
ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः । सोऽग्निनाधिदैवतेन ज्योतिषा भाति
च दीप्यते तपति च सन्तापश्चौष्ण्यं करोति ॥

अथवा तैलघृताद्याग्नेयाशनेनेद्वा वाग् भाति च तपति
च वदनायोस्माहवती स्यादित्यर्थो विद्वत्फलं भाति च

इव पादत्वं दर्शयति । तेनापीति ॥ आधिदैविकान् पादान्विष्टयोति ।
तप्तेति ॥ यथा गोरुदरे पादा लग्ना लभ्यन्ते तथाकाशस्योदर इवाग्न्यादयो
लग्ना दृश्यन्ते । तस्मात्तस्य ते पादा इव भवन्तीत्यर्थः ॥ द्विविधपादविवरण-
मुपसंहरति । एवमिति ॥ सम्बन्धाध्यात्मिकपादानामाधिदैविकपादै-
रधिष्ठेयतया सम्बन्धोऽनुचिन्तनीय इति दर्शयितुमुपक्रमते । तत्रेति ॥
सोऽग्निनेत्यादेरर्थान्तरमाह । अथ वेति ॥ कौत्तरीयशब्दोः प्रत्यक्षत्वपरोक्ष-
त्वाभ्यां भेदः सर्वत्रेत्युभयतः सम्बध्यते ॥ १८ ॥ अथान्तरस्य सङ्गतिमाह ।

भाति च तपति च, भाति च तपति च कीर्त्तार्गं यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥ चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च, भाति च तपति च कीर्त्तार्गं यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥ श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च, भाति च तपति च कीर्त्तार्गं यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ६ ॥ १८ ॥ आदित्यो ब्रह्मेतयादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्।

तपति च कीर्त्तार्गं यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं यथोक्तं वेद । तथा प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः ॥ स वायुना गन्धाना भाति च तपति च । तथा चक्षुरादित्येन रूपग्रहणाय, श्रोत्रं दिग्भिः शब्दग्रहणाय । विद्याज्ञानं समानं सर्वत्र ब्रह्मसम्पत्तिरदृष्टं फलं य एवं वेद । द्विरुक्तिर्दर्शनसमाप्तरार्थी ॥ १८ ॥ आदित्यो ब्रह्मणः पाद उक्त इति तस्मिन् सकलब्रह्मदृष्ट्यर्थमिदमारभ्यते । आदि-

आदित्य इति ॥ तस्यैवादित्यो गृह्यते ॥ अनभिव्यक्तनामरूपत्वाभिप्रायेणास्यशब्दो गौणो व्याख्यातसत्त्वैवकारावदशब्देन गृह्यते । नन्विति ॥ “कथमसतः सत्त्वावेतेति” असत्कारणत्वस्य षडे निराकारव्यसायत्वात्तत्त्वत्कारणं भवतु प्रकृते तु सावधारणादस्य शब्दादसदेव कारणं विवक्षित-

त्योब्रह्मेत्यादेश उपदेशसंख्योपव्याख्यानं क्रियते सुत्य-
र्थमसद्व्याकृतनामरूपमिदं जगदशेषमग्रे प्रागवस्थायासु-
त्यत्तेरासीन्न त्वसदेव । कथमसतः सज्जायेतेत्यसत्कार्यत्वस्य
प्रतिषेधात् । न त्विहासदेवेति विधानादिकल्पः स्यात्
न क्रियास्त्रिव वस्तुनि विकल्पानुपपत्तेः कथं तर्हि-
दमसदेवेति । नन्ववोचामाख्याकृतनामरूपत्वादसद्विवा-
सदिति । नन्वेवमसद्विधधारणार्थः सत्त्वमेव न तु सत्त्वाभाव-
मवधारयति । किं तर्हि नामरूपव्याकृतविषये सच्छब्द-
प्रयोगो दृष्टः । तच्च नामरूपव्याकरणमादित्यायत्तं
प्रायशो जगतस्तदभावे ह्यन्धं तम इदं न प्रज्ञायेत । किञ्च
नेत्यतस्तत्सुतिपरे वाक्ये सदपीदं प्रागुत्पत्तेर्जगदसदे-
वेत्यादित्यं सूतिं ब्रह्मदृष्ट्यर्थत्वाय । आदित्यनिमित्तो
हि लोके सदिति व्यवहारः । यथाऽसदेवेदं राज्ञः

मित्युदितानुदितहोमवद्विकल्प इत्यर्थः ॥ क्रियायाः कर्तृतन्त्रत्वात्तदि-
च्छया तत्र विकल्पाद्वस्तुनस्तु सिद्धस्य तदिच्छाननुविधायित्वाच्च विकल्पः
सम्भवति । न हि स्थाणुरेव कस्यविदपेक्षया पुरुषो भवतीति परिहरति ।
न क्रियास्त्रिवेति ॥ विकल्पासम्भावे वाक्यस्य गतिर्वैकल्येति दृष्टव्यं । कथ-
मिति ॥ असच्छब्दस्य वा गतिरवधारणस्य वा दृष्टव्यं तत्राद्यं प्रत्याह ।
नान्वति ॥ द्वितीयं शङ्कते । नन्वेवमसद्विधिति ॥ तस्य का गतिरिति शेषः ॥
पूर्वकालीनसत्त्वाभिधावकासीच्छब्दस्य वाक्यशेषे अवस्थासोपक्रमे च
सत्त्वाभाववधारणं विवक्षितं किन्त्वभिव्यक्तभावावधारणमादित्यस्तुत्यर्थ-
मिति समाधत्ते । सत्त्वमेवमिति ॥ कं पुनरित्यमादित्यस्तुतिरूपयुज्यते
तत्राह । ब्रह्मदृष्टीति ॥ जगतो नामरूपव्याकरणमादित्यायत्तमिति
तदुपपादयति । आदित्येति ॥ तथापि कथमादित्यस्तुतिरिति शङ्का दृष्टा-

तत्त्वदासीत्तत्त्वमभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्-
संवत्सरस्य माचामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्ड-

कुलं सर्वगुणसम्पन्ने पूर्ववर्त्मणि राजन्यसतीति तद्वत् ।
न च सत्त्वमसत्त्वश्चेह जगतः प्रतिपिपादयिषितमादित्यो
ब्रह्मेत्यादेशपरत्वात् उपसंहरिष्यन्ते आदित्यं ब्रह्मेत्युपास-
इति ।

तत्त्वदासीत्तदसच्छब्दवाच्यं प्रागुत्पत्तेः स्तिमितमनि-
स्पन्दमसदिव सत्कार्थ्याभिसुखं ईषदुपजातप्रवृत्ति सदासी-
त्ततोऽपि लब्धपरिस्पन्दं तत्त्वमभवत् इत्युत्तरनाकरूपव्याक-
रणेनाङ्कुरीभूतमिव बीजम् । ततोऽपि क्रमेण स्थूलीभवत्तदा
अण्डोऽण्डं समवर्तत संवृत्तम् आण्डमिति दैर्घ्यं छान्दसम् ।
तदण्डं संवत्सरस्य कालस्य प्रसिद्धस्य मातां परिमाणम-
भिन्नस्वरूपमेवाशयत स्थितं बभूव । तत्ततः संवत्सरपरि-
माणात्कालादूर्ध्वं निरभिद्यत निर्भिन्नं वयसामिवाण्डम् ।

न्नेन दर्शयति । तथेति ॥ किञ्चोपक्रमोपसंहारैकरूपेणादित्ये ब्रह्मवृष्टि-
विधिपरमिदं वाक्यं न तस्य कारणसत्त्वे तात्पर्यं कल्पयितुं शक्यमनन्यथा-
सिद्धकल्पकाभावादित्याह । न चेति ॥ तत्प रत्वं कथमवगतमित्याशङ्को-
पसंहारस्योपक्रमानुसारित्वादित्याह । उपसंहरिष्यतीति ॥

कथं तस्यासच्छब्दवाच्यत्वं तदाह । स्तिमितमिति ॥ सत्त्वं तर्हि कथ-
मिति तदाह । कार्येति ॥ बीजस्योच्छूनतावत्कारणस्य सिद्धत्वावस्थं
दशयति । ईषदिति ॥ लब्धपरिस्पन्दं प्राप्तपरिणामं सम्भूतसूक्ष्मा-
कारेणाभवदित्यर्थः ॥ सूक्ष्मभूतोत्पत्त्यनन्तरं स्थूलभूतोत्पत्तिमाह ।
ततोऽनरोति ॥ भूतसूक्ष्माकारप्राप्तेरनन्तरं पञ्चीकरणप्रक्रिययाऽन्यो

कपाले रजतञ्च सुवर्णञ्चाभवताम् ॥१॥ तद्रज-
जतं सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा द्यौर्यज्जरायु
ते पर्वता, यदुल्लं स, मेघो नीहारो या धमन-
यस्ता नद्यो, यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः ॥ २ ॥
अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं
घोषाऽलूलवोऽनुदतिष्ठन्त सर्वाणि च भूतानि सर्वे

तस्य निर्भिन्नस्याण्डस्य कपाले हे रजतञ्च सुवर्णञ्चा-
भवतां संवृत्ते । वृत्तयोः कपालयोर्यद्रजतं कपालमासीत्सेयं
पृथिवी । पृथिव्युपलक्षितमधोऽण्डकपालमित्यर्थः । यत्सु-
वर्णं कपालं सा द्यौर्द्युलोकोपलक्षितमूर्द्धं कपालमित्यर्थः ॥
यज्जरायु गर्भवेष्टनं स्थूलमण्डस्य विशकलीभावकाले आ-
सीत्ते पर्वता बभूवुः । यदुल्लं यत्सूक्ष्मं गर्भपरिवेष्टनं तत्सह
मेघैः समेघो नीहारोऽवश्यायो बभूवेत्यर्थः । या गर्भस्य
जातस्य देहे धमनयः शिरास्ता नद्यो बभूवुः । यत्तस्य
वस्तौ भवं वास्तेयमुदकं समुद्रः । अथ यत्तदजायत गर्भरूपं
तस्मिन्मण्डे सोऽसावादित्यस्तमादित्यं जायमानं घोषाः
शब्दाऽलूलव उरुरवो विस्तीर्णरवा उदतिष्ठन्त्युत्थितवन्तः

न्यायवानुपवेशेन स्थूलभूतावस्थमासीदित्यर्थः । स्थूलेभ्यश्च भूतेभ्योऽण्ड-
निर्गतिं प्रतिजानीते । अङ्गु रति ॥ अप्रसाङ्गितेभ्यो भूतेभ्य इत्यर्थः ॥

अवश्यावशब्देन हिममुच्यते । अलूलव इत्युत्पत्तिकालीनशब्द विशेषे

च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति
घोषा उलूलवोऽनुतिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि
सर्वे चैव कामाः ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्या-
सो ह यदेन साधवो घोषा आ च गच्छेयुरप च

ईश्वरस्येवेह प्रथमपुत्तजन्मानि सर्वाणि च स्थावरजङ्गमानि
भूतानि सर्वे च तेषां भूतानां कामाः काश्यन्त इति
विषयाः स्त्रीवस्त्राद्यादयो यस्मादादित्यजन्मानिमित्तीभूत-
कामोत्पत्तिस्तस्मादाद्यत्वेऽपि तस्यादित्यस्योदयं प्रति
प्रत्यायनं प्रत्यस्तगमनं च प्रत्यथवा पुनः पुनः प्रत्यागमनं
प्रत्यायनं तत्प्रति तन्निमित्तीकृत्येत्यर्थः । सर्वाणि च
भूतानि सर्वे च कामा घोषा उलूलवश्चानुतिष्ठन्ति ॥

प्रसिद्धं हि एतदुदयादौ सवितुः । स यः कश्चिदेतमेवं
यथोक्तमहिमानं विद्वान् सन्नादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते स तद्भावं
प्रतिपद्यत इत्यर्थः । किञ्च दृष्टं फलमभ्यासः क्षिप्रं तद्विदो
यदिति क्रियाविशेषणमेनमेविविदं साधवः शोभना घोषाः ।
साधुत्वं घोषादीनां यदुपभोगे पापानुबन्धाभावः ।

प्रसिद्धाः स्त्रीवस्त्राद्यादय उदतिरुच्यति पूर्वेषां सम्बन्धः ॥

किञ्च प्रमाणमित्याशङ्क्याह प्रसिद्धं इति ॥ एतदिति भूताद्युत्थानम् ।
अदृष्टफलमाद्युत्थोक्ता दृष्टफलमाचष्टे । किञ्चेति ॥ तद्विदो दृष्टफलमिति
सम्बन्धः । क्रियाविशेषणमिति एवंविदं साधवो घोषा आगच्छेयुरिति यत्त-

निम्नेडेरन्निम्नेडेरन् ॥ ४ ॥ १६ ॥ इति छान्दो-
ग्योपनिषदि तृतीयः प्रपाठकः ॥ ३ ॥

॥ ॐ ॥ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो

आ च गच्छेयुरागच्छेयुखोप च निम्नेडेरन्निम्नेडेरन् केवल-
मागमनमात्रं घोषाणामुपसुखयेयुखोपसु खञ्च कुर्युरि-
त्यर्थः । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थ आदरार्थश्च ॥ १६ ॥
इति श्रीमद्भोविन्दभक्तपूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरि-
त्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिष-
द्विवरणे तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ३ ॥

॥ ॐ ॥ वायुप्राणयोर्ब्रह्मणः पाददृश्यध्यासः पुरस्ता-
द्वर्णितः । अथेदानीं तयोः साक्षाद्ब्रह्मत्वेनोपास्यत्वायोत्तर-
मारभ्यते । सुखावबोधार्था आख्यायिका विद्यादानपद्ध-
विधिप्रदर्शनार्था च । अद्वान्नदानानुद्भूतत्वादीनाञ्च विद्या-
प्राप्तिसाधनत्वं प्रदर्श्यते आख्यायिकया । जानश्रुतिर्जन-

तृत्विप्रसप्रतिबन्धनेनेत्यर्थः । आदित्ये ब्रह्महट्टिरादरस्य विषयः ॥ १६ ॥
इति श्रीमत्परमहंसपरित्राजकाचार्यश्रीशुक्लानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदा-
नन्दज्ञानकृतायां छान्दोग्यभाष्यटीकायां तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ३ ॥

आदित्यस्य सूत्रावच्छेदेभेदत्वात्तदुपासनानन्तरं सूत्रोपासनमुपस्य-
स्यते । नन्वध्यात्ममधिदैवतञ्च वायुप्राणयोः सूत्रात्मभूतयोरुपासनं पूर्वा-
ध्यायेऽपि व्याख्यातम् ॥ तथा च कोऽत्र विशेषो वेन तदुपासनं पुनरा-
रभ्यते अत आह । वायुप्राणयोरिति ॥ साक्षात् पादकल्पनं विनैति
यावत् ॥ ब्रह्मत्वेन ब्रह्मकार्यरूपेणेत्यर्थः । विद्येति । धर्माद्यै यत् न
स्यातां श्रुतवा वापि तद्विधा । तत्र विद्या न वक्ष्या श्रमं बीजमिवोषर

बहुदायी बहुपाक्यआस स ह सर्वत आवसथान्
मापयाञ्चके सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥१॥ अथ ह

श्रुतस्यापत्यम् । ह ऐतिह्यार्थः । पुत्रस्य पौत्रः पौत्रायणः
स एव अद्वादेयः अद्वापुरःसरमेव ब्राह्मणादिभ्यो देयमस्येति
अद्वादेयः । बहुदायी प्रभूतं दातुं शीलमस्येति बहुदायी ।
बहुपाक्यो बहु पक्तव्यमहन्यर्हनि गृहे यस्यासौ बहुपाक्यः ।
भोजनार्थिभ्यो बहुस्य गृहेऽन्नं पच्यत इत्यर्थः । एवगुण-
सम्पन्नोऽसौ जानश्रुतिः पौत्रायणो विशिष्टे देशे काले च
कस्मिंश्चित् आस ह बभूव । स ह सर्वतः सर्वान् हिंस्रु ग्रामेषु
नगरेषु आवसथान् । एतन् वसन्ति येष्वित्यावसथास्ताम्ना
याञ्चके कारितवानित्यर्थः । सर्वत एव मे ममात्रं तेष्व-
वसथेषु वसन्तोऽत्स्यन्ति भोक्ष्यन्ते इत्येवमभिप्रायः । तत्रैव

इति श्रुतिमनुसन्धाय पुष्कलधनमादाय रैको राज्ञे विद्यां प्रादाञ्च-
नश्रुतिश्च शास्त्रार्थं ज्ञात्वा पुष्कलधनं दत्त्वेव अद्वादिसम्पन्नस्ततो विद्या-
माददौ । तथान्योऽपि विद्याया दाता यज्ञोता वा स्यादिति गृहान-
पङ्कथयोर्विधिप्रदर्शनार्थां चाख्यायिकेत्यर्थः ॥ ननु यद् यतानि गवा-
मित्यादिदर्शनाद्दानमेव विद्यापङ्कथे साधनमिह प्रतीयते न तु अद्वा-
दीत्याशङ्काह । अत्रेति ॥ आदिपदेन तात्पर्यप्रणिपातादयो न्यूनान्ते ।
आख्यायिका तद् ह पुत्ररेवेत्यादि लक्षणमेति यावत् ॥ जनश्रुतस्य पुष्को
यस्यस्य पौत्रः पौत्रायणः स च प्रकृतो जानश्रुतिरेवेत्याह । पुत्रस्येति ॥
अद्वादेयः देवस्थाल्यलक्षणं वारयति । बहुदायीति ॥

बहुपाक्यस्य फलत्वसाह । भोक्ष्यन्तेति ॥ उक्तस्यराशौ वर्त्तमानत्वाभावा-
दसत्त्वमात्रङ्गीकृतमेवमिति स्वसमीपं प्राप्तेभ्य एवार्थिभ्योऽसावन्नं ददाती

हंसा निशायामतिपेतुस्तद्वैव हंसो हंसम-
भ्युवाद हो होयि भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष ! जानश्रुतेः पौत्रा-
यणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तस्मा प्रसाङ्गी-

सति राजनि तस्मिन् धर्मकाले हर्म्यतलस्थे य ह
हंसा निशायां रात्रावतिपेतुः । ऋषयो देवता वा राज्ञो
ऽन्वदानगुणोक्तोषिताः सन्तो हंसरूपा भूत्वा राज्ञो
दर्शनगोचरेऽतिपेतुः पतितवन्तः । तत्तस्मिन् काले तेषां
पततां हंसनामेकः दृष्टतः पतन्मगतः पतन्तं तं हंस-
मभ्युवादाभ्युक्तवान् हो होयीति भो भो इति सम्बोध्य
भल्लाक्ष भल्लाक्ष इति आदरं दर्शयन् यथा पश्य पश्या-
द्यर्थमिति तद्वत् । भल्लाक्ष इति मन्ददृष्टिम् सूचयन्नाह ।

अथवा सम्यग्मह्यदर्शनाभिमानवत्त्वात्तस्यासक्तदुपास-
नस्येन पीड्यमानोऽमर्षितया तत् सूचयति भल्लाक्ष इति ।
जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं तुल्यं दिवा द्युलोकेन
ज्योतिः प्रभास्वरमन्वदानादिजनितप्रभावजमाततं व्याप्तं

त्याह्लाह । य चेति ॥ विधिदाज्ञदानफलं दर्शयितुमारभते । तन्नेति ॥
वाक्याहं दर्शयति । कथय इति ॥ सम्बोधनाभ्यासस्तु विवक्षमाह । आदरं
दर्शयन्निति ॥ तदेव दृष्टान्तेन सूचयति । अथेति ॥ भल्लाक्षमन्वदार्थमाह ।
भल्लेति ॥ भल्लाक्षमन्वदो भल्लाक्षविषयः यन् विद्वत्सूचयता मन्ददृष्टित्व-
सूचकः ॥

भल्लाक्षमन्वदस्य विषयान्तरमाह । कथनेति ॥ वक्ष्ये दृष्टव्यामिदो
हंसस्य महत्त्वात् नातिक्रमणीयो विज्ञानतेति सम्यग्दर्शनाभिमानशालि-
त्वात्तेनायमाभी हंसो जानश्रुतिसति विवक्षितमिदमर्थितया पीड्यमानः

स्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥ तस्य ह परः प्रत्यु-
वाच कम्बर एनमेतत्सन्त ए सयुग्वानमिव रैक-
मात्येति यो नु कथं स युग्वारैक इति ॥ ३ ॥

द्यलोकसृगित्यर्थः । दिवाङ्गा वा समं ज्योतिरित्येतन्मा-
प्रसाङ्गोः सञ्जनं सक्तिं तेन ज्योतिषा सम्बन्धं मा कार्षी-
रित्यर्थः । तत्प्रसञ्जनेन तज्ज्योतिस्त्वा त्वां मा प्रधाक्षी-
र्मा दृष्टव्येत्यर्थः पुरुषव्यत्ययेन मा प्रधाक्षीरिति । तमेव
सुक्तवन्तं पर इतरोऽग्रगामी प्रत्युवाच । अरे निष्कण्ठोऽयं
राजा वराकस्तं कम् उ एनं सन्तं केन माहात्येनेत्तं सन्त-
मिति कुत्सयत्येनमेवं तवज्जमानमेतद्वचनमात्य ॥

रैकमिव सयुग्वानं सहयुग्यया गन्ध्या वर्त्तत इति सयुग्वारैकः । तमिवात्यैनम् । अननुरूपमस्मिन्नयुक्तामीदृशं वक्तुं रैक

सन् न त्वं धर्म्मं जानासि ज्ञानाभिमानन्तु वक्षसोत्यपलम्बस्तत्र भङ्गाक्षेत्यु-
पालम्बस्व रूपं सूचयतीत्यर्थः ॥ षट्गामी हंसो निन्दःपूर्वकमय-
गामिनं हंसं सम्बध्य किञ्चिन्नवानित्यपेक्षायामाह । जानन्नतेरिति ॥ मा
प्रधाक्षीरिति पाठे कथं मा प्रधाक्षीरित्युच्यते तत्राह । पुरुषव्यत्यये-
नेति ॥ मध्यमपुरुषं प्रथमपुरुषं कृत्वा व्याख्यानमित्यर्थः । सन्तमेनं प्राणि-
मात्मं राजानमधिकृत्य तवज्जमानमेतद्वचनमत्यप्रोति कुत्सयतीति सम्बन्धः ॥

तत्र वैधर्म्यं दृष्टान्तमाह । रैकमिवेति ॥ युनं वक्षतीति युग्यो
नक्षीवर्दोऽक्षो वाक्यामक्षीति युग्यशकटो तथा सङ्घ वर्त्तत इति स युग्वारैकः
रैकः वकारो मत्वर्थीयः । त्वं रैकज्ञानमाहात्म्यपुङ्गवमधिकृत्य तथा प्रब्रंशा-
वचनं तथाकार्षिणमेवं राजानमधिकृत्य कथमेवमात्येत्यर्थः ॥ उक्तं

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं
तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्देद

इवेत्यभिप्रायः । इतश्चाह । यो नु कथं त्वयोच्यते सयुग्वा
रैक इत्युक्तवन्तं भङ्गाच्च आह ऋणु यथा स रैकः । यथा
लोके कृताय कृतो नामश्रयो द्यूतसमये प्रसिद्धश्चतुरङ्गः
स यदा जयति द्यूते प्रवृत्तानां तस्मै विजिताय तदर्धमितरे
विद्येकाङ्का अधरेयाः ॥ त्वेताद्वापरकलिनामानः संयन्ति
स हृच्छत्यन्तर्भवन्ति । चतुरङ्गे कृताये विद्येकाङ्कानां विद्य-
मानत्वादन्तर्भवन्तीत्यर्थः । यथाऽयं दृष्टान्त एवमेनं रैकं

वाक्यार्थं सङ्कलयति । अननुरूपमिति ॥ अस्मिन्वराके राजनि धर्म-
मात्रनिष्ठे नेदमनुरूपं वचनं रैके पुनर्विज्ञानवति यथोक्तं वचो युक्त-
मेवेति इतरः पृष्ठगामी हृषी यः सयुग्वा रैकस्त्वयोच्यते स कथं नु स्वादि-
त्यन्वयेः ॥ स रैक्तो येन प्रकारेण स्वात्तं प्रकारं श्लेषवति प्रतिज्ञाय प्रकारं
प्रदिदर्शयिषया दृष्टान्तमाह । यथेति ॥ द्यूतस्य समयः सङ्केतस्तदनुग-
कालो वा येन द्यूतविषयायामेजति सोऽक्षोऽस्य कसिङ्गागोऽवधब्दवाच्यस्तत्र
चतुरङ्गो भागवत्वारोऽङ्काश्चिह्नान्यश्चिह्निति व्युत्पत्तेः तस्मै सकृत्तनामव्यव-
हृतेन यदा द्यूते प्रवृत्तानां मध्ये स कोऽपि जयति तदा तस्मै कृतनामवते
विजितायाधरेयाः संयन्तीति सम्बन्धः ॥ तदर्धं व्याचष्टे । तदर्धमिति ॥
अधरेयान्नाकरोति । अधरेवा इति ॥

तानेव विधिनष्टि । त्वेतेति ॥ अक्षस्तु यस्मिन्नुभागे त्वोऽङ्का स त्वेता
नामाद्यो भवति । यत्र तु द्वावङ्गौ स द्वापरनामकः । यत्रैकोऽङ्कः स कलिसप्त
इति विभागः ॥ तादर्थ्येनेतराङ्कानामन्तर्भावकत्वं व्यक्तीकरोति । चतुरङ्ग

यत् स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥ यदु ह

कृतायस्थानीयं त्वेतादिस्थानीयं सर्व्वं तदभिसमेति अन्तर्भवति रैक्ये । किन्तत्त्यत्किञ्च लोके सर्वाः प्रजाः साधु शोभनं धर्मजातं कुर्वन्ति तत्सर्व्वं रैक्यस्य धर्मेऽन्तर्भवति तस्य च फले सर्व्वप्राणिधर्मफलमन्तर्भवतीत्यर्थः ॥

तथाऽन्योऽपि कश्चिद्यस्तद्देव्यं वेद । किन्तत्त्यद्देव्यं स रैक्यो वेद । तद्देव्यमन्योऽपि यो वेद तमपि सर्व्वप्राणिधर्मजातं तत्फलञ्च रैक्यमिवाभिसमेतीत्यनुवर्त्तते । स एवम्भूतो रैक्योऽपि मया विद्वानेतदुक्तः । एवमुक्तो रैक्यवत्स एव कृतायस्थानीयो भवतीत्यभिप्रायः । तदु ह तदेतदीदृशं हंसवाक्यम् आत्मनः कुत्सारूपमन्यस्य विदुषो रैकादेः प्रशंसारूपमुपश्रुत्वाव श्रुतवान् हर्ष्यतलस्थो राजा जानश्रुतिः पौत्तायणः । तच्च हंसवाक्यं स्मरन्नेव पौनःपुन्येन, रात्रिशेषमतिवाहयामास । ततः स वन्दिभीराजा

इति ॥ तदन्तर्भवन्ति तस्मिन्कृते त्वेतादयस्तेऽन्तर्भवन्तीति यावत् । महासङ्क्रायासवान्तरसङ्क्रान्तर्भावः प्रसिद्ध एवेत्यर्थः ॥ इष्टान्मनूय दार्ष्टान्तिकमाह । यथेति ! रैक्यमभिव्याप्य सर्व्वे समेतोत्वस्थार्थं सङ्क्षिपन्त्यन्तर्भवन्तीति ॥ रैक्ये सर्व्वस्थान्तर्भावं प्रत्यपूर्व्वकं प्रकटयति । किन्तदित्यादिना ॥ तद्वर्त्मस्य महात्वादन्वेषां च धर्मजातस्यात्यन्तत्वात्तस्यैतरस्मिन्नन्तर्भावः सम्भवतीत्यर्थः । किञ्च सर्व्वेषां प्राणिनां धर्मफलमस्मीयस्मान्महात्तरे रैक्यस्य धर्मफलेऽन्तर्भवन्तीत्याह । तस्य चेति ॥ न केवलं रैक्यैतन्माहात्म्यं किन्त्वन्वापि ज्ञानवक्तासीति ज्ञानश्रुतेरनुपपत्त्यर्थाह । यथेति ॥ प्रतिपन्नहंसवचन-

जानश्रुतिः पौत्तायण उपशुश्राव स ह सञ्जिहान
 एव क्षत्तारसुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक-
 मात्येति यो नु कथं सयुग्वारैक इति ॥ ५ ॥
 यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेन-
 सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति

श्रुतियुक्ताभिर्वाग्भिः प्रतिबोध्यमान उवाच क्षत्तारम् ।
 सञ्जिहान एव शयनं निद्रां वा परित्यजन्नेव हे अङ्ग
 वत्सारे ह सयुग्वानमिव रैकमात्य किं मां स एव श्रुत्यर्हो
 नाहमित्यभिप्रायः । अथवा सयुग्वानं रैकमात्यं गत्वा
 मम तद्दिदृक्षा तदैव इवशब्दोऽवधारणार्थेऽनर्थको वा
 वाच्यः । स च क्षत्ता प्रत्युवाच रैकानयनकामो राज्ञो
 ऽभिप्रायगो यो नु कथं सयुग्वारैक इति राज्ञै
 वक्ष्योक्तं आनेतुं तच्चिह्नं ज्ञातुमिच्छन् यो नु कथं
 सयुग्वारैक इत्यवोचत् । स च भल्लाक्षवचनमेवावोचत् ।
 तस्य स्मरन् स ह क्षत्ता नगरं ग्रामं वा गत्वाऽन्विष्य रैकं
 नाविदं न व्यञ्चाशिषमिति प्रत्येयाय प्रत्यागतवान् तं होवाच
 क्षत्तारमरे यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मविद एकान्तोऽरण्ये नदी-
 पुलिनादौ विविक्ते देशेऽन्वेषणानुसार्गणं भवति तत्तत्त्वेनं
 रैकमर्कं गच्छ तत्र मार्गणं कुर्वित्यर्थः । इत्युक्तः क्षत्ताऽन्विष्य

खेदित इतरो राजा राज्ञियेषमतिवाह्य शयनं जङ्गदात्मनः समोपस्थं
 सुतिकर्तारं क्षत्तारमङ्गारे हेत्यादिवाक्यमुक्तवान् ॥ तस्य अभिप्रायनाह ।
 स एवेति ॥ कथमिवशब्दो द्वितीयो षट्ते तत्राह । तदेति ॥ अवधारण-

यस्तद्देव यत्स वेद समयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥ स ह
 क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तः होवा
 च यचारि ब्राह्मणस्यान्विषणा तदेनमर्च्येति ॥ ७ ॥
 सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कर्षमाणमुपोपविवेश
 तः हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक इत्य-
 हः ह्यरा इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताऽविद-
 मिति प्रत्येयाय ॥ ८ ॥ १ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्तायणः षट् शतानि गवां
 निष्कमश्वतरौरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तः हा-

तं विजने देशेऽधस्ताच्छकटस्य गन्ताः पामानं कर्षमाणं
 कण्डूयमानं दृष्टाऽयं नूनं सयुग्वा रैक इति समीपे उपोप-
 विवेश विनयेनोपविष्टवान् । तच्च रैकं हाभ्युवादोक्तवान् ।
 त्वमसि हे भगवो भगवन् सयुग्वा रैक इत्येव दृष्टोऽहमसि
 हि । अरा अरे इति जानादर एव प्रतिजज्ञेऽभ्युपगतवान्
 स तं विज्ञायाविदं विज्ञःतवानस्मीति प्रत्येयाय प्रत्यागत
 इत्यर्थः ॥ १ ॥

तत्तत्र ऋषेर्गार्हस्थ्यं प्रत्यभिप्रायं बुद्ध्वा धनार्थिताश्च
 उ ह एव जानश्रुतिः पौत्तायणः षट् शतानि गवां निष्कं

स्यापि गोपयोगोऽस्मीति चेत्तत्राह । अनर्थको वेति ॥ प्रश्रवाक्यं व्याचष्टे ॥
 राज्ञेति ॥ यो नु कर्षमित्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ तस्मैति कर्षयि षठी ॥ १ ॥
 मया हि गार्हस्थ्यं विकीर्ष्यते तदर्थश्च धनमर्थ्यते न चायं तादर्थ्येन
 किञ्चिदुपकर्तुं मित्यायवेनानादरं विज्ञातवानस्मि यदुक्तमवश्यं रैकं तस्य

भ्युवाद ॥ १ ॥ रैक्केमानि षट् शतानि गवामयं
निष्कोऽयमश्वतरोरथो नु म एतां भगवो ! देव !
तां शाधि यां देवतामुपास्म्य इति ॥ २ ॥ तमुह
परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र ! तवैव सह गोभिर-

कण्ठहारमश्वतरोरथमश्वतराभ्यां युक्तं तदा धनं गृहीत्वा
प्रतिचक्रमे रैक्कं प्रति गतवान् । तच्च गत्वाभ्युवाद
हाभ्युक्तवान् । हे रैक्क गवां षट् शतानि इमानि तुभ्यं मया
नीतानि । अयं निष्कोऽश्वतरोरथश्चायमेतद्धनमादत्स्व ।
भगवोऽनुशाधि च मे मां यास्य देवतां त्वमुपास्म्ये तद्देवतो-
पदेशेन मामनुशाधीत्यर्थः । तमेवमुक्तवन्तं राजानं प्रत्यु-
वाच परो रैक्कः । अहेत्ययं निपातो विनिग्रहार्थीयो
ऽन्यत्र इह त्वनर्थकः एवशब्दस्य पृथक् प्रयोगात् । हारेत्वा
हारेण युक्ता इत्या गन्तुं सेयं हारेत्वा गोभिः सह तवैवास्तु
तवैव तिष्ठतु न ममापख्याप्तेन कर्मार्थमनेन प्रयोजनमि-
त्यभिप्रायो हे शूद्र इति ॥

च गार्हस्थ्यग्राभिप्रायं धनार्थित्वञ्चेति शेषः । अस्तुवचने श्रुते सतीति सप्त-
म्यर्थः । धनार्थितां नुवेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ अहशब्दस्य पूर्ववदधेवकारा
ऽर्थोऽस्यापि विनिग्रहार्थत्वसम्भवे किमित्यानर्थक्यमित्याशङ्क्य तद्वेत्तेव-
कारादेव विनिग्रहसिद्धिरित्याह । एवशब्दस्येति ॥ गार्हस्थ्यार्थिनस्तव
कर्मणुदानार्थमिदं धनं तिष्ठतामिति चेन्नेत्याह । न ममेति ॥

स्त्विति तद् ह पुनरेव जानश्रुतिः पौष्पायणः

ननु राजाऽसौ क्षत्तसम्बन्धात् ह क्षतारमुवाचेत्युक्तम् ।
विद्याग्रहणाय च ब्राह्मणसमीपोपगमात् । शूद्रस्य चान-
धिकारात् । कथमिदमनुरूपं रैक्केणोच्यते हे शूद्रेति ।
तत्ताञ्जराचार्याः । हंसवचनश्रवणात् श्रुगेनमाविवेश ।
तेनासौ श्रुत्वा रैक्कस्य महिमानं वा द्रवतीति ।
ऋषिरात्मनः परोक्षज्ञतां दर्शयन् शूद्र ! इत्याहेति ।
शूद्रवद्वा धनेनैवैनं विद्याग्रहणायोपजगाम न च श्रुश्रूषया ।
न तु जात्यैव शूद्र इति । अपरे पुनराङ्गरत्नं धनमाकृत-
मिति रूषैवैनमुक्तवाञ्छूद्र इति ।

शूद्रशब्देन जानश्रुतेः सम्बोधनमनुचितमिति चोदयति । नत्विति ॥
तस्याशूद्रत्वे हेत्वन्तरमाह । विद्याग्रहणायेति ॥ तस्य श्रुतिद्वारा
विद्याधिकारो नास्तीत्येवं शूद्राधिकरणे निर्द्धारितमित्याशयेनाह ।
शूद्रस्य चेति ॥ जानश्रुतेः सति क्षत्रियत्वे शूद्रसम्बोधनमयोग्यमित्युप-
संहरति । कथमिति ॥ न जातिशूद्रो जानश्रुतिः किन्तु क्षत्रियोऽस्मिन्
गौणः शूद्रशब्द इत्येकीयमतोपन्यासेन परिहरति । तत्रेति ॥ तेन श्रुगा-
विष्टत्वेनासौ जानश्रुतिः श्रुत्वा हेतुना रैक्कमाद्रवतीति शूद्रः श्रुत्वा वा
हंसवाक्यं रैक्कमाद्रवतीति नैमित्तिकं तत्र शूद्रपदमित्यर्थः । तथापि
किमिति शूद्रपदेन राजानमृषिः सम्बोधयतोत्याशङ्काह । ऋषिरिति ॥
उक्तप्रकारद्वयसमाप्ताविति शब्दः ॥ प्रकारान्तरेण जानश्रुतेः शूद्रत्वं गौणं
व्युत्पादयति । शूद्रवद्देति ॥ न च श्रुश्रूषया तेन शूद्र इति शेषः । मुख्यं
शूद्रत्वं क्षत्रसम्बन्धेन व्यावर्त्तयति । न त्विति ॥ क्षत्रिये जानश्रुतौ
शूद्रशब्दप्रवृत्तौ निमित्तान्तरमाह । अपरे पुनरिति ॥

सहस्रं गवां निष्कमश्वतरौरथं दुहितरं तदा-
 दाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥ त ए हाभ्युवाद रैकेद ए
 सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरौरथ इयं जा-
 याऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्तेऽन्वेव मा भगवः शाधीति
 ॥ ४ ॥ तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः

लिङ्गश्च बह्वहरणो उपादानं धनस्येति । तदु हर्षमेतं
 ज्ञात्वा पुनरेव जानश्रुतिः पौत्तायणो गवां सहस्रमधिकं
 जायाश्चर्षेरभिमतां दुहितरमात्मनसादादाय प्रतिचक्रमे
 क्रान्तवान् । रैकेदं गवां सहस्रमयं निष्कोऽयमश्वतरौरथ
 इयं जायार्थं मम दुहिता नीताऽयश्च ग्रामो यस्मिन्नास्ते
 तिष्ठसि स च त्वदर्थे मया कल्पितः । तदेतत्सर्वमादायानु-
 शाध्येव मा मां हे भगव इत्युक्तः । तस्या जायार्थमानीताया
 राज्ञो दुहितुर्ह एव मुखं द्वारं विद्याया दाने तीर्थमुपो-
 द्गृह्णन्नुवाचनित्यर्थः । ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः
 प्रियो विद्यया विद्यां य प्राह तानि तीर्थानि षण्ममेति
 विद्याया वचनं विज्ञायते । एवं जानन्मुपोद्गृह्णन्नुवाचोक्तवान् ।
 आजहार आहूतवान् । भगवान् यदीमा गावो यज्ञा-

तत्र गमकं दर्शयति । लिङ्गश्चेति ॥ यद्वर्षमेतमधिकधनार्थित्वमिति
 यावत् । आधिक्यं षट्शतेभ्यः सकाशादिति शेषः । विद्यादानेन तस्या
 द्वारत्वं तद्द्वारं वरदानदानतीर्थतां जानन्नुवाचेति सम्बन्धः । धनदातु-
 र्विद्यादानतीर्थत्वे प्रमाणमाह । ब्रह्मचारीति ॥ तस्या द्वारतां विद्यादाने

शूद्र ! अनेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते
रैक्कपस्सी नाम महावृषेषु यचास्मा उवास स तस्मै
होवाच ॥ ५ ॥ २ ॥

न्यङ्गनं तत्साध्विति वाक्यशेषः । शूद्रेति पूर्वोक्तानुवृत्ति-
मात्रं न तु कारणान्तरापेक्षया ।

पूर्ववदनेनैव मुखेन विद्याग्रहणतीर्थेनालापयिष्यथ
आलापयसीति मां भाषयसीत्यर्थः । ते हैते ग्रामा
रैक्कपस्सी नाम विख्याता महावृषेषु देशेषु यत्र येषु ग्रामेषू-
वासोषितवान् रैक्कस्तानसौ ग्रामानदादस्मै रैक्काय राजा
तस्मै राज्ञे धनं दत्तवते ह किलोवाच विद्यां स रैक्कः ॥
२ ॥ वायुर्वायुव संवर्गो वायुर्वाह्यो वाघेत्यवधारणार्थः । संवर्गः
संवर्जनात्सङ्गृहणात्सङ्गृह्यमानाद्वा संवर्गः । वक्ष्यमाणा अग्न्याद्या
देवता आत्मभावभाषादयतीत्यतः संवर्गः । संवर्जनाख्यो
गुणो ध्येयो वायुवत् कृतायान्तर्भाववृष्टान्तात् कथं संवर्गत्वं

तद्वातसीर्यतां च जानन्नुवाचेत्युक्तमनुवदति । एवं जानन्निति ॥ किमुक्त-
मित्यपेक्षायामाह । आजहारेति ॥

तत्र वैधर्म्यवृष्टान्तमाह । पूर्ववदिति ॥ अत्यधनहरणानिष्ठायां
कारणापेक्षायां शूद्रेति सम्बोधनवदित्यर्थः । रैक्केण ग्रामादिकं वृद्धीत्वा
विद्या जानन्नुतये दत्तेत्यस्मान् प्रति श्रुतिर्ज्ञापयति । ते हैते इति ॥
महावृषेषु महापुरुषेष्विति यावत् ॥ २ ॥ कथं विद्यासुक्तवानित्याशङ्क्याधि-
दैवतं तदुक्तिप्रकारं दर्शयति । वायुरित्यादिना ॥ प्राणो वायु संवर्ग
इति वक्ष्यमाणेनापुनरुक्तनामैवायुं व्याचष्टे । वायुर्वाह्य इति ॥ संवर्जना-

वायुर्वायु संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायु-
मेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति
यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापिर्यन्ति वायुर्ह्यैवै-
तान्सर्वान्संष्टङ्क इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥ अथाध्यात्मं
प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव

वायोरित्याह । यदा यस्मिन् काले वै अग्निरुद्वायत्युद्वासनं
प्राप्नोतीत्युपशस्यति तदासावाग्निर्वायुमेवाप्येति । वायु
स्वाभाव्यमपि गच्छति । तथा यदा सूर्योऽस्तमेति वायु-
मेवाप्येति । यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥

ननु कथं सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपावस्थितयोर्वायावपि-
गमनम् । नैष दोषः अस्तमनेऽदर्शनप्राप्तेर्वायुनिमित्तत्वात् ।
वायुना ह्यस्तं नीयते सूर्यः चलनस्य वायुकार्यत्वात् । अथ
वा प्रलये सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपभ्रंशे तेजोरूपयोर्वाया-
वेवापिगमनं स्यात् । तथा यदा आप उच्छुष्यन्त्युच्छोष-

दित्यस्य व्याख्या सङ्ग्रहणादिति सङ्ग्रहणपक्षं समर्थयते । वक्ष्यमाणा इति ॥
किमिति संवर्गत्वं वायोरुपदिश्यते तत्र दृष्टान्तश्रुतिं प्रमाणयति । कृता
वेति ॥ सङ्ग्रहणादेत्युक्तं पञ्चमाकाङ्क्षापूर्वकं व्युत्पादयति । कथमित्यादिना ॥
सूर्याचन्द्रमसोर्वायावपि गमनमाक्षिपति ॥ नन्विति ॥ आप्रलयात्तयोरधि-
कारपदे स्थित्यङ्गीकारात्स्वरूपावस्थितत्वं व्युत्पादयति । वायुना हीति ॥
सूर्यग्रहणं चन्द्रमसोऽप्युपलक्षणं कृतस्तर्हि वायावध्ययः सूर्यादेरित्या-
यङ्ग्र पक्षान्तरमाह । अथवेति ॥ सङ्गतिमभवे हि संहरतीवेत्यर्थः ।

वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः
प्राणो ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्ते इति ॥ ३ ॥ तौ वा
एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु, प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥

अथ ह शौनकाच्च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्ष-
सेनिं परिविध्यमाखौ ब्रह्मचारौ विभिन्दे तस्मा

माप्नुवन्ति तदा वायुमेवापियन्ति । वायुर्हि यस्मादेव
एतानग्न्याद्यान्महाबलान् संवृङ्क्ते अतो वायुः संवर्गगुण उपास्य
इत्यर्थः । इत्यधिदैवतं देवतासु संवर्गदर्शनमुक्तम् । अथान्तर-
मध्यात्ममात्मनि संवर्गदर्शनमिदमुच्यते । प्राणो मुख्यो वाय-
संवर्गः । स पुरुषो यदा यस्मिन्काले खपिति प्राणमेव वाग-
प्येति वायुमिवाग्निः प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः ।
प्राणो हि यस्मादेवैतान्वागादीन् सर्वान्संवृङ्क्ते इति । तौ वा
एतौ द्वौ संवर्गौ संवर्जनगुणौ वायुरेव देवेषु संवर्गः प्राणः
प्राणेषु वागादिषु मुख्यः ॥

अथैतयोः स्तुत्यर्थमियमाख्यायिका आरभ्यते । हेत्यै-
तिह्यार्थः । शौनकाच्च शुनकस्यापत्यं शौनकं कापेयं कपि-

कथं प्राणस्य संवर्गत्वमित्याशङ्क्याह । स पुरुष इति ॥ तस्मात्संवर्ग इत्य-
ध्यत्ममिति शेषः । वायुप्राणावभिदैवताध्यात्मभेदेन संवर्गगुणावुक्तावुप-
संहरति । ताविति ॥

अथ हेत्वाद्यानन्तरवाक्यं व्याचष्टे । अथैतयोरिति ॥ ब्रह्मविष्णोश्चो
ब्रह्मविदां मध्ये मूरमात्मानं मन्यमान इति यावत् । बुद्धा विष्णुविशेषे-
त्येति शेषः ॥ जिज्ञासमानाविबुक्तामेव व्यनक्ति । किमत्रमिति ॥ चतुर

उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥ स होवाच महात्मन-
श्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपा-
स्तं कापेय! नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्!
वज्रधा वसन्तं, यच्चै वा एतदन्नं तस्मा एत-

गोत्रमभिप्रतारिणं च नामतः कक्षसेनस्यापत्यं काक्षसेनिम् ।
भोजनायोपविष्टौ परिविध्यमाणौ स्तूपकारैर्ब्रह्मचारी ब्रह्म-
विच्छौण्डो विभिद्ये भिक्षितवान् । ब्रह्मचारिणो ब्रह्मवि-
न्यानितां बुद्ध्वा तं विजिज्ञासमानौ तस्मा उ ह भिक्षां न
ददतुर्न दत्तवन्तौ ह । किमयं वक्ष्यतीति । स होवाच
ब्रह्मचारी महात्मनश्चतुर इति द्वितीयावज्जवचनम् ।
देव एकोऽग्न्यादीन् वायुर्वागादीन् प्राणः । कः स
प्रजायतिर्जगार ग्रसितवान् । कः स जगारेति प्रश्नमेके
मन्यन्ते । भुवनस्य भवन्यस्मिन्भूतानीति भुवनं भूरादिः
सर्वो लोकस्तस्य गोपा गोपायिता रक्षिता गोप्तेत्यर्थः ।

इति द्वितीयावज्जवचनदर्शनात् महात्मन इति तादृगेवेत्याह । द्वितीयेति ॥
यदा महात्मन इत्यस्य पञ्चम्यादौ चतुर इत्यस्य च समीचीने प्रयोगदर्श-
नात् ॥ इह तथा माभूदिति मत्वाह । महात्मन इति ॥ अतो हि जग-
रेति सम्बन्धः कः शब्दः प्रजापतिविषयो व्याख्यातः ॥ सम्प्रति पञ्चानर-
वाह । कः स इति ॥ यस्तान्जगार स कः स्यादिति प्रश्नमेके वदन्तीत्यर्थः ॥

न दत्तमिति ॥ ६ ॥ तदु ह शौनकः कापेयः
प्रतिमन्वानः प्रतेप्रयायाह देवानां जनिता
प्रजानां हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्त-

तं कं प्रजापतिं हेकापेय ! नाभिपश्यन्ति न जानन्ति मर्त्या
मरणधर्माणोऽविवेकिनो वा । हेऽभिप्रतारिन् ! ब्रह्मा
ऽध्यात्माधिदैवताधिभूतप्रकारैर्वसन्तम् । यस्मै वा एतदहन्य-
हन्यन्नमदनायाह्नियते सस्क्रियते तस्मै प्रजापतये एतदन्नं
न दत्तमिति । तदु ह ब्रह्मचारिणो वचनं शौनकः कापेयः
प्रतिमन्वानो मनसालोचयन् ब्रह्मचारिणं प्रत्येयाय आज-
गम । गत्वाऽऽह यं त्वमवोचो न पश्यन्ति मर्त्या इति तं वयं
पश्यामः कथमात्मा सर्वस्य स्थावरजङ्गमस्य । किञ्च देवा-
नामग्न्यादीनामात्मनि संहृत्य यत्सित्वा पुनर्जनितोत्पाद-
यिता वायुरूपेणाधिदैवतमग्न्यादीनाम् । अध्यात्मञ्च प्राण-
रूपेण वागादीनाम् प्रजानाञ्च जनिता ।

अक्षरं प्राणमात्मनं चैकत्वेन पश्यन् ब्रह्मचारो मह्यं भिक्षां यन्न
ददत्तमवन्नौ तत्तस्मै देवायैव न ददत्तरित्यज्ञत्वमेव तयोर्दर्शयन्नाह । यस्मा
इति ॥ दर्शनमेव प्रश्नद्वारा विग्रहयति । कथमित्वादिना ॥ अधिदैवत-
मग्न्यादीनां वायुरूपेण जनितेति सम्बन्धः । तस्याः प्राथमिकं कृत्वा दर्श-
यति । आत्मनीति ॥ अग्न्यादीन् प्रलयकाले देवः स्वात्मनि वायुरूपेण
यत्सित्वा पुनरुत्पत्त्यवस्थायास्तत्पादयितेति योजना ॥ अध्यात्मं वागा-
दीनपि स्थापनावस्थायां स्वात्मनि प्राणरूपे संहृत्य पुनः प्रवोधावस्थायां
तेषास्तत्पादयिता देवः प्राणरूपेणैवाह । अध्यात्मञ्चेति ॥

मस्य महिमानमाङ्गरनद्यमानो यदनन्मत्तौति वै
वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्यहे दत्तास्यै भिक्षामिति
॥ ७ ॥

अथ वा आत्मा देवानामग्निवागादीनाम् । जनिता प्रजा-
नां स्यात्वरजःमादीनाम् । हिरण्यदंष्ट्रोऽस्य तदंष्ट्रोऽभग्नदंष्ट्र
इति यावत् । बभसो भक्षणशीलोऽनसूरिः । सूरिर्मेधावी
न सूरिरसूरिस्तत्प्रतिषेधेऽनसूरिः । सूरिरेवेत्यर्थो महान्तम-
तिप्रमाणमप्रमेयमस्य प्रजापतेर्महिमानं विभूतिमाङ्गर्ह्य-
विदः । यस्मात्स्वयमन्यैरनद्यमानोऽभक्ष्यमाणो यदनन्-
मग्निवागादिदेवतारूपमस्ति भक्षयतीति । वै इति निर-
र्थकः । वयं हे ब्रह्मचारिन् ! आ इदमेवं यथोक्तलक्षणं ब्रह्म
वयं आ उपास्यहे । वयमिति व्यवहितेन सम्बन्धः । अन्ये
न वयमिदमुपास्यहे किन्तर्हि परमेव ब्रह्मोपास्यहे इति
वक्ष्यन्ति ॥

देवानामग्न्यादीनां प्रजानां वागादीनाञ्च जनितेष्वङ्गम् ॥ सम्प्रति
व्याख्यानरमाह । अथ वेति ॥ अभग्नदंष्ट्रः सर्वसंहर्तुरपि न काचन
ग्लानिर्भवतीत्यर्थः ॥ प्रजापतेर्महिमेत्यात्र प्रमाणं प्रकटयति । यस्मादिति ॥
इतिशब्दात्परस्तादृच्छब्दस्य सम्बन्धः । तदर्थं च यस्मादित्युक्तस्तस्मात्प्रजा-
पतेर्महिमानमतिप्रमाणमाङ्गरिति पूर्वेषु सम्बन्धः ॥ वै वयमित्यादि भागं
पदच्छेदपूर्वकमादाय व्याचष्टे । वयमित्यादिना ॥ क्रियापदेन वयमित्यस्य
सम्बन्धसुष्ठुपपादयति । वयमिति ॥ ब्रह्मचारिन्निदं वयमासन्नता-
मुपास्यहे ब्रह्मेत्युक्ता प्रकारान्तरेण पदच्छेदपूर्वकं व्याख्यानरमाह ।
अन्ये वेति ॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये
दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वनमेव दशक-

दत्ताऽस्मा भिक्षामित्यवोचद् भृत्यास्तस्मा उ ह ददु-
स्ते हि भिक्षाम् । ते वै ये ग्रस्यन्तेऽग्न्यादयो यश्च
तेषां ग्रसिता वायुः पञ्चान्ये वागादिभ्यः । तथाऽन्ये
तेभ्यः पञ्चाध्यात्मं वागादयः प्राणश्च ते सर्वे दश
भवन्ति सङ्ख्याया दश सन्तस्तत्कृतं भवति ते चतुरङ्ग
एकायः । एवं चत्वारस्त्र्यङ्कायः एवं त्रयोऽपरे द्व्यङ्कायः ।
एवं द्वावन्धावेकाङ्कायः । एवमेकोऽन्य इति । एवं दश

शौनकस्याभिप्रतारिणश्च ज्ञानातिशयं दर्शयित्वा यतिश्च ब्रह्मचारी
चेत्यादिष्टतिमनुसृत्याह । दत्तेति ॥ व्याख्यायिकाद्वारा प्रकृतायां
संवर्गविद्यायामात्मा देवानामित्यादि गुणजातसुपदिश्य गुणान्तरसुपदेष्टु-
मनन्तरवाक्यमवतारयति । ते वा इति ॥ तद्व्याचष्टे । ये ग्रस्यन् इति ॥
त एते वागादिभ्यः सकाशादन्ये पञ्चेति सम्बन्धः ॥ अधिदैवत्वमग्न्यादो नृ
वायुसहितान् पञ्चोक्त्वा तेनैव प्रकारेणाध्यात्ममपि तेभ्यः सकाशादन्ये
प्राणसहिता वागादयः पञ्च सन्तीत्याह । तथेति ॥ अवान्तरसङ्ख्याविनि-
वेशसङ्ख्या तत्रैव महासङ्ख्यानिवेशं दर्शयति । ते सर्वे इति ॥ दशसङ्ख्या-
सम्बन्धात्तेषां सङ्ख्यायेति कृतावोपलक्षितं द्यूतं कृतमित्युच्यते । तत्र दश-
सङ्ख्यावत्त्वस्य वक्तव्यत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥

यदुक्तमग्न्यादयो वागादयश्च दश सन्तस्तत्कृतं भवतीति तदुपपाद-
यति । चतुरङ्ग इत्यादिना ॥ एकस्तावदयो द्यूते चतुरङ्को दृश्यते तद्दग्ना-
दयो वागादयश्च ग्रस्यमानाश्चत्वारो भवन्ति । यथा द्यूते त्रेतानामको
यस्यङ्को गृह्यते तथामग्न्यादयो वागादयश्चैकैकान्नास्त्रयस्तथा च तत्र
द्वापरनामायो द्व्यङ्को जायते तद्द्वागादिष्वमग्न्यादिषु च द्वौ द्वौ वर्जयित्वा
द्वौ द्वौ भवतः । तथा च तत्र कलिसञ्ज्ञायां भवत्येकाऽङ्को योऽग्न्यादीनां

तः सैषा विराड्नादी तयेदः सर्वं दृष्टः सर्वं

सन्तस्तत्कृतं भवति । यत् एवं सर्वांसुदिक्षु दशस्यग्न्याद्या
वागाद्याश्च दश सङ्ख्यासामान्यादन्ममेव । दशाक्षरा विरा-
ट् “विराड्ब्रह्ममिति” हि श्रुतिः । अतोऽन्ममेव दशसङ्ख्यात्वात् ।
तत एव दशकृतेऽन्तर्भावाच्च चतुरायत्वेनेत्यवोचाम ॥

सैषा विराड् दशसङ्ख्या सत्यन्वञ्चादिनी च कृतत्वेन ।
कृते हि दशसङ्ख्यान्तर्भूताऽतोऽन्ममन्नादिनी च सा । तथा

प्रसिता वायुर्वागादीनां प्रसिता प्राणश्चैकस्तेभ्यो यस्यमानेभ्योऽन्य इत्येवं
प्रसिद्धत्वेन च दश सन्तस्ते पूर्वोक्तं कृतं भवतीत्यर्थः । द्यूतस्य सर्वांश्चाप्तृत्व-
प्रसिद्धा दशसङ्ख्यावतां देवानां कृतत्वसम्पादनेनाप्तृत्वं सम्पादितम् ॥
इदानीं दशसङ्ख्यावत्त्वेनैव विराट्त्वसम्पादनेन तेषामन्नत्वं सभ्यादयति ।
यत इति ॥ अम्नग्रादिषु वागादिषु च मिलितेषु दशसङ्ख्यावत्त्वेऽपि कथ-
मनेन तद्वत्त्वं तथा च कथं सङ्ख्यासामान्यं तेषामन्नसङ्ख्यासामान्यसम्पादन-
मित्याशङ्क्याह । दशाक्षरेति ॥ विराड् हि दशसङ्ख्यावती प्रसिद्धा सा चाक्ष-
मिति श्रूयते तथा च यथोक्तेष्वग्न्यादिषु वागादिषु च मसुदितेषु सङ्ख्या-
सामान्याद्विराट्त्वं सम्पाद्याक्षत्वसम्पादनं सुशकमित्याह । अत इति ॥
तेषु कृतत्वेनाक्षत्वं सम्पादितमुपसंहरति । तत एवेति ॥ द्यूतस्यायवतुष्टय-
विशिष्टत्वेन कृतत्वेन कृतोपलक्षितेन तत्र दशसङ्ख्यायाः सत्त्वात्तत एव
सङ्ख्यासामान्यादग्न्यादयश्च कृतं भवति ततश्च तेषामप्तृत्वसङ्गमित्यर्थः ॥

सम्प्रति कतेष्वग्न्यादिषु विराट्त्वमक्षत्वमप्तृत्वमिति त्रयमुपसं-
हरति । सैषेति ॥ विराजो विधेयत्वासंस्थाश्च स्त्रीलिङ्गतया सैषेति विधेय
लिङ्गभाजनम् त एते प्रकृता देवा विराडित्यवगन्तव्या । सा च शदेवताद
त्तिका दशसङ्ख्यावती भवत्यक्षमिति देवतानामक्षत्वसिद्धिः । अन्नादीत्यस्य
विराजा सम्बन्धादन्नादिनीति व्याख्यातम् । ततश्च देवतात्मिका विराड्

मस्येदं दृष्टं भवतगन्नादो भवति य एवं वेद य
एवं वेद ॥८॥३॥ सतप्रकामो ह जाबालो जबालां

विद्वान्देवतात्मभूतः सन् विराट्त्वेन दशसङ्ख्यान्नां कृत-
सङ्ख्यान्नादी तयान्नान्नादिन्येदं सर्वं जगत् दशदिक्संस्थं
दृष्टं कृतसङ्ख्याभूतयोपलब्धम् । एवंविदोऽस्य सर्वं कृत-
सङ्ख्याभूतस्य दशदिक्सम्बद्धं दृष्टमुपलब्धं भवति । किञ्चा-
न्नादश्च भवति य एवं यथोक्तदर्शी । हिरभ्यास उपासन-
सप्ताप्त्यर्थः ॥ ३ ॥

सर्वं वागाद्यग्न्यादि चान्नान्नादत्वेन संस्तुतं जगदेकीकृत्य
षोडशधा प्रविभज्य तस्मिन् ब्रह्मदृष्टिर्विधातव्येत्यारभ्यते ।
अद्वातपसोर्ब्रह्मोपासनाङ्गत्वप्रदर्शनायाख्यायिका । सत्य-

कृतत्वेनाच्चादोनेति तदात्मकानामग्न्यादीनामप्यत्तृत्वसिद्धिरित्यर्थः ।
विराट्त्वेनाक्षत्वं कृतत्वेनात्तृत्वञ्चेति सम्पत्तिद्वयमग्न्यादौ दर्शितमुपसं-
हरति । कृते हीति ॥ कृतोपलक्षिते द्यूते दशसङ्ख्यान्नाभूता प्रसिद्धा ।
सा चाग्न्यादौ दर्शिता । तथा च सङ्ख्यासामान्याद् द्यूतगतमत्तृत्वमग्न्या-
दिषु सम्पाद्यते । तेनेदं दशकमग्न्यादीत्युच्यते विराट्त्वेनेदं दशसङ्ख्यावती-
त्युक्तम् । सा चाक्षं विराडक्षमित्युक्तत्वात् ततश्च विराट्त्वमप्यस्या भवति
प्रकृतं दशकमक्षमित्यर्थः ॥ सगुणं स्वर्गदर्शनसङ्का तत्फलं वक्तुं विद्वत्
स्वरूपं सङ्किते । तथेति ॥ यथाग्न्यादीनां विराट्त्वेनाक्षत्वं कृतत्वेन
चाच्चादत्वं तथा वायुमग्न्याद्यात्मकं प्राणञ्च वागाद्यात्मकमेकीकृत्यात्म-
त्वेन विद्वान्दश देवताः स्वयम्भूतः सन् दशसङ्ख्याया विराट्त्वेनाक्षं, कृत-
शब्दितयुगं तद्वत्तदशसङ्ख्यावच्छिन्नतया कृतत्वेनाच्चादी भवतीत्यर्थः । फलो
पयोगित्वेनार्थान्तरमाह । तथेति ॥ कृतोपलक्षितद्यूतस्वसङ्ख्यावच्छि-
न्नत्वेनावस्थितयाक्षत्वेनाच्चादित्वेन व्यवस्थितया सर्वमिदं जगद्व्यस-
दिषु संस्थितं दृष्टमुपलब्धं भवति न हि देवतादशकं हित्वा

मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति ! विवत्स्यामि
किं गोत्रोऽहमस्मीति ॥ १ ॥ सा हैनमुवाच
नाहमेतद्देवतात यज्ञोत्स्वमसि ब्रह्महं चरन्ती

कामो ह नामतो हशब्द एतिह्यार्थो जबालाया अपत्यं
जबालो जबालां स्वां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे आमन्त्रित-
वान् । ब्रह्मचर्यं स्वाध्यायग्रहणाय-हे भवति ! विवत्स्याम्याचा-
र्यकुले । किं गोत्रोऽहं किमस्य मम गोत्रं सोऽहं किंगोत्रो
ऽहमस्मीति । एवं पृष्टा जबाला सा हैनं पुत्रमुवाच नाह-
मेतत्तव गोत्रं वेद हे तात ! यज्ञोत्स्वमसि कस्मान्न वेत्सी-
त्युक्ताह । ब्रह्म भर्तृगृहे परिचर्याजातमतिथ्यभ्यागतादि

जगन्नाम किञ्चिदस्ति तथा च दृष्टे देवतादशके दृष्टमेव सर्वं जगद्भवे-
दित्यर्थः ॥ भूमिकामेवं कृत्वा विद्याफलं दर्शयति । एवंविद इति ॥ वायुं
प्राणमन्तारमात्मत्वेन पश्यतः कृतसङ्गावच्छिन्नतया स्थिरस्य दशदेवता-
भूतस्य सर्वं जगद्दृष्टं भवति । दृष्टदेवतातिरिक्तस्य जगतोऽभावादित्यर्थः ॥ १ ॥
यो यथोक्तदर्शी प्राणो भूत्वा सर्वत्वाच्चादश्च भवतीति फलान्तरं पूर्वेषु
सम्बन्धं दर्शयितुमुत्तरस्य तात्पर्यमाह । सर्वमिति ॥ एकीकृत्य कारण-
रूपेणैक्यमादायेत्यर्थः ॥ तर्हि तस्मिन् ब्रह्मदृष्टिरेव विधीयतां किमित्याख्या-
यिका प्रणीयते तत्राह । अज्ञातपक्षोरिति ॥ ब्रह्मचर्यवासोद्देश्यं फलं
दर्शयति । स्वाध्यायेति ॥ आचार्यो हि माणवकमुपनयते विज्ञात-
कनगोत्रमिति मन्वानः पृच्छति । किंगोत्रोऽहमिति ॥ अतिथ्यभ्यागता-
धिष्ठितस्य परिचर्याजातं ब्रह्म चरन्ती भर्तृगृहे यतोऽहं स्थिता तेन
परिचरन्ती सती परिचरणचित्ततया गोत्रादेवापृच्छम् । तथा च तत्-
स्मरणे मनो मम नासीदिति गोत्रादिप्रज्ञाभावे हेत्वन्तरमाह । यौवनेरिति ॥
यद्यपि तस्य भवस्यायां ब्रह्मणा गोत्रादिना प्राणीकृत्यापि कालान्तरे

परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद
यद्गोत्रस्त्वमसि जवाला तु नामाहमस्मि सत्य-
कामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो
ब्रवीथा इति ॥ २ ॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं

चरन्त्यहं परिचारिणी परिचरन्तीति परिचरणशीलैवाहं
परिचरणचित्ततया गोत्रादिस्मरणे मम मनो नाभूत् ।
यौवने च तत्काले त्वामलभे लब्धवत्यस्मि । तदैव ते
पितोपरतः । अनायाऽहं साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि ।
जवाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स त्वं
सत्यकाम एवाहं जाबालोऽस्मीत्याचार्य्याय ब्रवीथाः । रक्षा-
चार्य्येण पृष्ट इत्यभिप्रायः ।

स ह सत्यकामो हारिद्रुमतं हरिद्रुमतोऽपत्यं हारि-
द्रुमतं गौतमं गोत्रत एत्य गत्वोवाच ब्रह्मचर्यं भगवति

किमिति पितरं न पृष्टवतीत्याशङ्क्याह । तदैवेति ॥ तथापि किमित्यन्य-
मभिज्ञं नाप्राणीरित्याशङ्क्याह । अत इति ॥ प्रथमं लज्जया पितरं प्रति
न प्रश्नः पुनश्च तस्योपरतत्वात्पश्चाच्च दुःखबाहुल्यादन्यं प्रति प्रश्न इति
स्थिते प्रश्नाभावफलमाह । साहमेति ॥ किं तर्हि तव ज्ञानमस्ति तदाह ।
जवाला त्विति ॥ एवं स्थिते किमाचार्यं प्रति मया वक्तव्यमित्याशङ्क्याह ।
स त्वमिति ॥ नाष्टः कस्यचिद्भूयादिति न्यायं सूचयति । यदिति ॥

मातृवचनश्रवणानन्तरं किं कृतवानित्यपेक्षायामाह । स हेति ॥
आचार्य्यसमीपे ब्रह्मचर्य्यवासः शिष्यभावाद्धते न सिध्यति इत्यभिमत्या-

भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥३॥ त
 होवाच किंगोचो नुसोम्यासीति स होवाच नाह
 मेतद्देद भो यद्गोचोऽहमस्म्यष्टच्छं मातरं सा मा
 प्रत्यब्रवीह हहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वा-
 मालभे साहमेतन्न वेद यद्गोचस्त्वमसि जवाला तु
 नामाऽहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहं
 सत्यकामो जावालोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥ त
 होवाच नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति

पूजावति त्वयि वत्स्याम्यत उपेयासुपगच्छेयं शिष्यतया
 भगवन्तमित्युक्तवन्तं तमुवाच गौतमः । किंगोचो नुसोम्या-
 सीति विज्ञातकुलगोत्र शिष्य उपनेतव्य इति, षष्ठः प्रत्याह
 सत्यकामः । स होवाच नाऽहमेतद्देद भो यद्गोचो ऽह-
 मस्मि । किन्त्वष्टच्छं षष्ठवानस्मि मातरम् । सा मया षष्ठा मां
 प्रत्यब्रवीत् माता । बह्वहं चरन्तीत्यादि पूर्ववत् । तस्या
 अहं वचः स्मरामि सोऽहं सत्यकामो जावालोऽस्मि भो इति ।
 तं होवाच गौतमो नैतद्ब्रह्मणो विशेषेण वक्तुमर्ह-
 त्यार्जवार्थसंयुक्तम् । ऋजवो हि ब्राह्मणाः ॥

नायोक्तम् । अत इति ॥ किमनया काकदन्तपरीक्षया भवता त्वहमुपने-
 तव्योऽस्मीत्याशङ्क्याह । विज्ञातेति ॥ मातरं षष्ठा विज्ञायागम्यतामित्या-
 शङ्क्याह । तं हेत्यादिना ॥ ब्राह्मणस्य वा ऋजवं विना कथमार्जवसंयुक्त-
 वचनमित्याशङ्क्याह । ऋजवो हीति ॥

समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सतगादगा
इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा
निराकृतगोवाचेमाः सोम्यानुसंवजेति ता अभि-
प्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्त्तयेति सह वर्ष-
गणं प्रोवास ता यदा सहस्रसम्पेदुः ॥ ४ ॥

नेतरे स्वभावतो यस्मान्न सत्याद्वाङ्मणजातिधर्मादगाः
नापेतवानसि । अतो ब्राह्मणं त्वामुपनेष्येऽतः संस्कारार्थं
होमाय समिधं सोम्याहरेत्युक्त्वा तमुपनीय कृशानाम-
बलानां यथान्निराकृत्यापक्ष्य चतुःशता चत्वारि शतानि
गवामुवाचेमा गा इमाः सोम्य ! अनुसंज अनुगच्छ । इत्यु-
क्त्या अरण्यं प्रत्यभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणापूर्णेना-
वर्त्तये न प्रत्यागच्छानि । स एवमुक्त्वा गा अरण्यं तृणोदक-
बहुलं हृन्दरहितं प्रवेश्य सह वर्षगणं दीर्घं प्रोवास प्रोषि-
तवान् । ताः सम्यग्गावो रक्षिता यदा यस्मिन् काले सहस्रं
सम्पेदुः सम्पन्ना बभूवुः ॥ ४ ॥

कलियादीनामपि केषाञ्चिदार्जवमस्तीत्यशङ्काय नेतरेरिति ॥ ऋजु-
वचनत्वेन ब्राह्मणत्वं प्रतिजानीते । यस्यादिति ॥ उपनीयाध्याय्य चेति
शेषः । तस्यानुपहार्यं शुश्रूषामादिदृष्टवानित्याह । कृशानामिति ॥
आचार्यनियोगस्य शिष्येण सफलीकर्तव्य इत्याशयेनाह । इत्युक्त इति ॥
सम्पन्ना बभूवुस्तदपि तद्वृषभोऽभ्युक्तव निति सम्पन्नः ॥ ४ ॥

अथ हैनष्टषभोऽभ्युवाद सत्यकामः इति भगव !
 इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य ! सहस्रं स्मः
 प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥ ब्रह्मणश्च ते पादं
 ब्रवाणोति, ब्रवीतु मे भगवानिति, तस्मै होवाच
 प्राची दिक्कला, प्रतीची दिक्कला, दक्षिणा दिक्क-
 लोदीची दिक्कलैष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो

तमेतं अद्वातपोभ्यां सिद्धं वायुदेवता दिक्सम्बन्धिनी
 तुष्टा सत्यृषभमनुप्रविश्यर्षभापन्नानुग्रहायाथ हैनष्टषभो
 ऽभ्युवादाभ्युक्तवान् । सत्यकामः इति सम्बोध्य तमसौ सत्य-
 कामो भगव ! इति प्रतिशुश्राव प्रतिवचनं ददौ प्राप्ताः
 सोम्य ! सहस्रं स्म पूर्णा तव प्रतिज्ञाऽतः प्रापय नोऽस्माना-
 चार्यकुलम् । किञ्चाहं ब्रह्मणः परस्य ते तुभ्यं पादं ब्रवाणि
 कथयानि । इत्युक्तः प्रत्यवाच ब्रवीतु कथयतु मे मय्यं भग-
 वान् । इत्युक्त ऋषभस्तस्मै सत्यकामाय होवाच ।

प्राची दिक्कला ब्रह्मणः पादस्य चतुर्थो भागः । तथा
 प्रतीची दिक्कला, तथा दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै

कथष्टषभः सत्यकामं प्रतिवक्तुमलम् । न हि लोके बलीवर्हस्य मनुष्य
 प्रतिवचनं दृष्टमत आह । तमेतमिति ॥ सत्यकामं अद्वादिस्मृज्जमेनसथ
 तस्याभवस्थायाम् ऋषभोऽनुग्रहायाभ्युवादेति सम्बन्धः ॥ ऋषभस्य स्वरूप-
 भाह । वायुदेवतेति ॥ अरण्ये तत्र तत्र गाक्षारयतः अद्वापूर्वकं तपसरतो
 वायुदेवता कथं तुष्टेत्याशङ्क्यह । दिक्सम्बन्धिनीति ॥ वाक्यान्तरञ्च
 मदीयं श्रूयतामित्याह । किञ्चेति ॥

वायुदेवता दिक्सम्बन्धिनीत्युक्तत्वाद्दिग्गोबरमेव दर्शनमुवाचेत्याह ।
 प्राचीति ॥ ब्रह्मणः पादस्य अधिकरणे षष्ठा एकपाद एव ब्रह्मेति

ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥२॥ स य एतमेवं विद्वा-
 ंश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते
 प्रकाशवानस्त्रिलोके भवति प्रकाशवतो ह लोका-
 ज्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः
 प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥ ५ ॥

अग्निष्टे पादं वक्तुं स ह श्वोभूते गा अभि-
 प्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्रा-

सोऽस्य ! ब्रह्मणः पादश्चतुष्कलश्चतस्रः कला अवयवा यस्य
 सोऽयं चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम । प्रकाश-
 वानित्येव नामाभिधानं यस्य । तथोत्तरेऽपि पादास्त्रय-
 श्चतुष्कला ब्रह्मणः । स यः काश्चिदेवं यथोक्तमेतं ब्रह्मण-
 श्चतुष्कलं पादं विद्वान् प्रकाशवानित्यनेन गुणेन विशिष्ट-
 सुपास्ते तस्येदं फलम् । प्रकाशवानस्त्रिलोके भवति प्रख्यातो
 भवतीत्यर्थः । तथा दृष्टं फलं प्रकाशवतो ह लोकान्
 देवादिस्तन्निधनोऽस्यतः स जयति प्राप्नोति । य एतमेवं
 विद्वान् चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥५॥

सोऽग्निष्टे पादं वक्तुं पररामर्षभः सत्यकामो ह श्वो
 भूते परेऽग्नौ नैत्यिकं नित्यकर्म कृत्वा गा अभिप्रस्थापया-

विभ्रमं व्युदस्यति । तथेति ॥ प्रथमपादोपासकस्य दृष्टमदृष्टं फलमाह ।
 स य इत्यादिना ॥ कस्येदं फलमित्युक्ते पूर्वोक्तमेवोपासकमनुवदति । य
 एतमिति ॥ ५ ॥

अवशिष्टं पादद्वयं कथं दृष्टव्यमिति बुभुक्षमानं सत्यकामं प्रत्याह ।
 सोऽग्निरिति ॥ अविदुषो विद्याभिमाननिमित्तकर्मात्यागो न युक्त इति

ग्निसुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पञ्चा-
 दग्नेः प्राङ्मुपोपविवेश ॥ २ ॥ तमग्निरभ्युवाद
 सत्यकाम ३ इति भगव ! इतिप्रतिशुश्राव ॥ २ ॥
 ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भग-
 वानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं
 कला, द्यौः कला, समुद्रः कलैष वै सोम्य ! चतुष्कलः
 पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

सुक्कार आचार्यकुलं प्रति । ताः शनैश्चरन्त्य आचार्य-
 कुलाभिमुख्यः प्रस्थिताः । यत्र यस्मिन् काले देशेऽभि सायं
 निशायामभि बभूवुरेकताभिमुख्यः सम्भूताः । तत्राग्निसुप-
 समाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पञ्चादग्नेः प्राङ्मुख
 उपविवेश ऋषभवंचो ध्यायन् । तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३
 इति सम्बोध्य तमसौ सत्यकामो भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव
 प्रतिवचनं ददौ । ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति, ब्रवीतु
 मे भगवानिति, तस्मै होवाच, पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला,
 द्यौः कला, समुद्रः कलेऽथात्मगोचरमेव दर्शनमग्निरब्रवीत् ।
 एष वै सोम्य ! चतुःकलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥

मत्वाह । सत्यकाम इति ॥ अभिसायं बभूवुः सायंकालं प्राप्ता इति यावत् ।
 तस्य ब्रह्मचर्यमव्याप्यमिति सूचयति । तत्रेति ॥ उपोपविवेश । तत्तोपो-
 पशब्दाभ्यां गवाग्नौ च सामीप्यनिवेशनमस्योच्यते ॥ अर्थिने विद्या वक्त-
 व्येति सूचयति । ऋषभेति ॥ आत्मगोचरमग्नेश्चास्य विद्यामानमित्यर्थः ।
 यदा पृथिव्यादिरूपेणान्नेरवस्थानादग्निविषयमित्यर्थः ॥ यथोक्तपादे
 गुणविशेषं निर्दिशति । एष वा इति ॥

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण
 ऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्त-
 वतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतु-
 ष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥ ६ ॥
 हँसस्ते पादं वक्तोति स ह श्वो भूते गा अभिप्र-
 स्थापयाञ्चकार ता यत्नाभि सायं बभूवुस्तत्राग्नि-
 सुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः
 प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥ तँ हँस उपनिपत्याभ्यु-
 वाद सत्यकामः इति भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव
 ॥ २ ॥ ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति, ब्रवीतु
 मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला, सूर्यः
 कला, चन्द्रः कला, विद्युत्कलैष वै सोम्य ! चतुष्कलः

स यः कश्चिद्यथोक्तं पादमनन्तत्वेन गुणेनोपास्ते स
 तथैव तद्गुणो भवत्यस्मिँल्लोके ऋतश्चानन्तवतो ह लोकान्
 स जयति य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥ ६ ॥ सोऽग्नि-
 र्हँसस्ते पादं वक्तोत्युक्तोपरराम हंस आदित्यः । शौक्ला-
 दुत्पतनसामान्याञ्च । स ह श्वो भूत इत्यादिसमानम् । अग्निः

द्वितीयपादोपासकस्य द्विविधं फलं दर्शयति । स य इति ॥ यथोक्तं
 चतुष्कलमिति यावत् तर्ध्वोपास्यगुणानुरोधेनेत्यर्थः । तद्गुणस्तेन गुणेन
 गुणवाननन्तवानविच्छिन्नसन्तानो भवतोत्यर्थः ॥ ६ ॥ अनन्तवतो लोकान-
 च्छयानित्येतत् ॥ अवशिष्टपादद्वयं कथं ज्ञावमिति जिज्ञासुमानं प्रत्याह ।

पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥३॥ स य एतमेवं
विद्वाञ्छतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्यु-
पास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो
ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाञ्छतुष्कलं
पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥ ७ ॥
मङ्गुष्टे पादं वक्तुं स ह श्वो भूते गा अभिप्र-
स्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्नि-
मुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः
प्राङ्मुपोपविवेश ॥ १ ॥ तं मद्गुरुरप निपत्याभ्युवाद

कजा, सूर्यः कजा, चन्द्रः कजा, विद्युत्कजा, एष वै सोम्येति
ज्योतिर्विषयमेव च दर्शनं प्रोवाचातो हंसस्यादित्यत्वं प्रती-
यते विद्वत्फलं ज्योतिष्मान्दीप्तियुक्तोऽस्मिँल्लोके भवति ।
चन्द्रादित्यानां ज्योतिष्मत एव ज्ञत्वा लोकाञ्जयति समान-
मुत्तरम् ॥ ७ ॥

हंसोऽपि मद्गुष्टे पादं वक्तुं पराराम । मद्गुरुदकचरः
पक्षी स चाप्यु सम्बन्धात्प्राणः । स ह श्वो भूत इत्यादि पूर्व-

सोऽग्निरिति ॥ पक्षिविशेषविषयत्वं हंसशब्दस्य व्यावर्त्तयति । आदित्य
इति ॥ कथं तत्र हंसशब्दस्य मङ्गलित्वाशङ्का । शौक्यादिति ॥ आदि-
त्वेऽपि स्वविषयमेव दर्शनसंज्ञकत्वानित्याह । अग्निरिति ॥ तृतीये पादेऽपि
मुष्णविशेषस्य परिश्रुति । एष वा इति ॥ यतो हेतोर्व्योतिर्विषयमेव दर्शन-
संज्ञकत्वान्न एव तस्यादित्यत्वे हंसस्य गमकान्तरमाह । ज्योतिर्विषयमेवेति

सत्यकामः इति भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥
 ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भग-
 वानिति, तस्मै होवाच प्राणः कला, चक्षुः कला,
 श्रोत्रं कला, मनः कलैष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो
 ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३॥ स य एतमेवं विद्वा-
 ंश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त
 आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोका-
 ज्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण
 आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥ ८ ॥

वत् । स च मद्गुः प्राणः स्वविषयमेव च दर्शनमुवाच प्राणः
 कलेत्याद्यायतनवानित्येव नाम । आयतनं नाम मनः, सर्व-
 करणोपहृतानां भोगानां तद्यस्मिन्पादे विद्यत इत्यायत-
 नवान्नाम पादः । तं पादं तथैवोपास्ते यः स आयतनवाना-
 ञ्चयवानस्मिँल्लोके भवति । तयायतनवत एव सावकाशा-
 ल्लोकान् पृथो जयति य एतमेवमित्यादि पूर्ववत् ॥ ८ ॥

॥ ७॥ य एतमेवं विद्वानित्याद्युत्तरभवशिष्टं पादान्तरं तर्हि कथं ज्ञायता-
 मित्याद्यह्माह । हंसोऽपीति ॥ मद्गुब्धस्य वाच्यमर्थमन्वाचष्टे । मद्गुरिति ॥
 तस्य कथं सत्यकामं प्रत्युपदेष्टव्यत्वमत आह । स चेति ॥ तं मद्गुरूपनिपत्ये-
 त्यत्र मद्गुब्धार्थं पूर्वोक्तमेव आरयति । मद्गुः प्राण इति ॥ कलेत्यादि
 आयतनवानित्येवमिति यथोक्तगुणं समर्थयते । आयतनमित्यादिना ॥
 तद्यस्मिन् पादे वर्तते हंसोऽयमायतनवान्नाम पाद इति द्रष्टव्यमिति
 योजना । द्विविधं विद्याफलमभिधत्ते । तं पादमिति ॥ तथैवायतनत्व-
 गुणात्क्रान्तत्वेनैवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्य
काम ३ इति भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥
ब्रह्मविदिव वै सोम्य ! भासि को नु त्वातुशशासे-
त्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवांस्त्वे-
व मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

स एवं ब्रह्मविद्वन् प्राप ह प्राप्तवानाचार्यकुलम् । तमा-
चार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति । भगव ! इति ह प्रति-
शुश्राव । ब्रह्मविदिव वै सोम्य ! भासि । प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसित-
वदनश्च निश्चिन्तः कृतार्थो ब्रह्मविद्ववति । अत आचार्यो
ब्रह्मविदिव भासीति को नु इति वितर्कयन्नुवाच ।
कस्त्वामनुशशासेति स चाह सत्यकामोऽन्ये मनुष्येभ्यः ।
देवाता मामनुशिष्टवत्यः । कोऽन्यो भवच्छिष्यं मां मनुष्यः
सन्ननुशासितुमुत्सहति इत्यभिप्रायः । अतोऽन्ये मनुष्येभ्य इति
प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान् । भगवांस्त्वेव मे कामे ममेच्छायां
ब्रूयात् किमन्यैरुक्तेन नाहं तद्गणयामीत्यभिप्रायः ॥

ब्रह्मविदिव भासीत्युक्ते कीदृशो ब्रह्मविदित्वपेक्षायाभाह । प्रसन्ने-
न्द्रिय इति । सत्यकामस्यापि तल्लक्षणवत्त्वमतः शब्दार्थः । सान्त्वदाचार्य-
मवज्ञाय भच्छिष्यं त्वां कोऽन्यो मनुष्यो मच्छापादभीतः शिष्यत्वेनादायानु-
शासनं कृतवान् यदनुशासनात् ते ब्रह्मविद्या जातेति साक्षेपं पृच्छति ।
कस्त्वामिति ॥ मनुष्येभ्यः सकाशादन्ये अनुशिष्टवन् इति सामान्यप्रतिज्ञां
विभजते । देवता इति ॥ देवतानामेवोपदेष्टृत्वं व्यतिरेकद्वारा विशदयति ।
कोऽन्य इति ॥ प्रतिज्ञां निगमयति । अत इति ॥ मया तर्हीदानीं न
किञ्चिदस्ति तव कर्त्तव्यमित्याशङ्काम् वारयति । भगवानिति ॥

श्रुतं ह्येव मे भगवदृशेभ्य आचार्याश्चैव विद्या
विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति तस्मै हैतदेवोवा-
चाच ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥३॥८॥
उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे

किञ्च श्रुतं हि यस्मात्सम विद्यत एवास्मिन्नर्थे भगवद्-
दृशेभ्यो भगवत्समेभ्यः ऋषिभ्यः। आचार्याश्चैव विद्या विदिता
साधिष्ठं साधुतमत्वं प्रापयति प्राप्नोतीत्यतो भगवानेव
ब्रूयादित्युक्त आचार्योऽब्रवीत्तस्मै तामेव दैवतैरुक्तां विद्याम्।
अत्र ह न किञ्चन षोडशकलाविद्यायाः किञ्चिदेकदेश-
मात्रमपि न वीयाय न विगतमित्यर्थः। द्विरभ्यासो
विद्यापरिसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

पुनर्ब्रह्मविद्यां प्रकारान्तरेण वक्ष्यामीत्यारभते गतिञ्च
तद्विदोऽग्निविद्याश्चाख्यायिका पूर्ववच्छ्रुतापसोर्ब्रह्म-

इतश्च भगवानेव ब्रवीतु मे विद्यामित्याह । किञ्चेति ॥ तदेव कारणं
दर्शयति । श्रुतमिति । अस्मिन्नर्थे आचार्यादेव विद्या श्रोतव्यत्वेन लक्षणे
श्रुतमेव विशदयति । आचार्यादिति ॥ विदिता प्राप्तेति यावत् ।
आचार्याधीना धीरेव फलतीत्यतः शब्दार्थः ॥ विद्यान्तरमाचार्यैः शोक्त-
मिति शङ्कानेवकारेण वारयति । दैवतैराचार्यैः यैव सत्यकामाद्योक्तां विद्या-
मन्यान्प्रति श्रुतिर्ज्ञापयति । अत्रेति ॥ न विगतं किन्तु पूर्णैव विद्या
वाङ्वादिभिराचार्यैः चोपदिष्टेति शेषः । तत्रापि पादचतुष्टयानुष्ठान-
समुच्चितमेकमेव विज्ञानं तत्फलञ्च संस्तुत्यैकविज्ञानफलत्वेन परिणयेय-
मेकैकपादोपासनस्य उतार्थत्वाच्चेतुर्वादित्याचार्योपदेशस्यैव सार्थकत्व-
मिति दृष्टव्यम् ॥ ६ ॥

सप्रपञ्चब्रह्मोपासनसङ्गा कार्यब्रह्मोपासनसमुच्चितं कारणब्रह्मोपासनं

जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्य-
ग्नीन् परिचचार स ह स्नान्यानन्तेवासिनः
समावर्त्तयत् ॥ १ ॥
तं जायोवाच, तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिच-
चारीन्मा त्वाम्नयः परिप्रवोचन् प्रब्रूह्यस्मा इति

विद्यासाधनत्वप्रदर्शनार्था । उपकोसलो ह वै नामतः
कमलस्यापत्यं कामलयनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्य-
मुवास तस्य ह ऐतिह्यार्थः । तस्याचार्यस्य द्वादशवर्षाण्यग्नीन्
परिचचाराग्नीनां परिचरणं कृतवान् । स ह स्नाचार्यो
ऽन्यान् ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायं ग्राहयित्वा समावर्त्तयत्समे-
वोपकोसलमेकं न समावर्त्तयति स्म ह । तमाचार्यजायो-
वाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं सस्यग्नीन्परिचचारीत् परि-
चरितवान् । भगवांश्चाग्निषु भक्तं न समावर्त्तयति । अतोऽ-
स्माङ्भक्तं न समावर्त्तयतीति ज्ञात्वा त्वामग्नयो मा परिप्रवोचन्
मर्हं तव माकुर्युः । अतः प्रब्रूह्यस्मै विद्यामिष्टामुपकोसला

वक्तुं कुशलान्तरभवतारयति । पुनरिति ॥ न केवलं ब्रह्मविद्याशेषत्वा-
दित्यर्थः । पूर्ववदिति । यथा पूर्वस्मिन् खण्डे अज्ञातपक्षोर्ब्रह्मोपासनाङ्ग-
त्वप्रदर्शनायाश्चायिकेत्युक्तं तद्वदित्यर्थः ॥ तत्र इति भवदमेक्षितां श्रुत्वा मां
विदधानो ब्रह्मकायस्तेषां कृतवानित्यर्थः । विवक्षितश्रुत्वाकारणमेव विव-
दयति । कुशलमिति ॥ किमिति भवत्वा मां ब्रूहीतीदमिदानीं श्रुयते ।
न हि मत्तोऽन्यत्त्वददुरागो युक्तिभाविन्यायश्च भगवति केहादित्वाह ।
भगवानिति ॥ अग्नीन् परिचर्यमाद्यब्रह्मचारिणोऽसमावर्त्तनमतः शब्दार्थः ।
मर्हं परिचारी द्वितीयेनातः शब्देन पराश्रयते ॥

तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥२॥ स ह व्याधि-
नाऽनशितुं दध्ने तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचा-
रिन्नशान किं नु नाश्नासीति स होवाच बहव
इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः
प्रतिपूर्वोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥३॥ अथ हाग्नयः
समुदिरे तप्तो ब्रह्मचारौ कुशलं नः पर्य्य चारीत्

येति । तस्मा एवं जाययोक्तोऽपि हाप्रोच्यैवास्तुक्तैव किञ्चित्
प्रवासाञ्चक्रे प्रवसितवान् । स होपकोसलो व्याधिना मान-
सेन दुःखेनानशितुमनशनं कर्तुं देध्नेष्टवान् मनः । तं
दृष्ट्वा मग्न्यागरेऽवस्थितमाचार्यजायोवाच हे ब्रह्मचारिन्
अशान भुङ्क्ष्व । किं नु कस्मान्नु कारणान्नाश्नासीति । स
होवाच बहवो ऽनेके ऽस्मिन् पुरुषे ऽकृतार्थे प्राकृते कामा-
इच्छाः कर्त्तव्यं प्रति । नानात्ययोऽतिगमनं येषां व्याधीनां
कर्त्तव्यचिन्तानां ते नानात्यया व्याधयः कर्त्तव्यतया
अप्राप्तिनिमित्तानि चित्तदुःखानीत्यर्थस्तैः प्रतिपूर्वोऽस्मि ।
अतो नाशिष्यामीत्युक्त्वा दृष्ट्वा भूते ब्रह्मचारिण्यथ हाग्नयः

आचार्यश्च त्र्यम्बकं शिष्यं देवतैवानुगृह्णातीति श्रापयितुमारभते ।
तस्मा इति ॥ आचार्याभिप्रायमजानतः शिष्यस्य दुःखप्राप्तिं दर्शयति ।
स हेति ॥ अतिगमनं वस्तुस्वरूपमतीत्य विषयेषु प्रवेश इति यावत् । नाना
त्यया इति कामाणां विशेषणम् ॥ कथं तेन व्याधयो विशेष्यन्ते तत्राह ।
कर्त्तव्यतयेति ॥ कामा एव व्याधय इत्यर्थः ॥ आचार्यप्रवासात्तज्जायाया

हन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥ ४ ॥ प्राणो
ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति, स होवाच विजानाम्यहं
यत्प्राणो ब्रह्म कञ्च तु खञ्च न विजानामीति,

शुश्रूषयाऽऽवर्जिताऽऽकारण्याविष्टाः सन्तस्त्रयोऽपि समुदिरे
सम्भूयोक्तवन्तः । हन्तेदानोमस्मै ब्रह्मचारिणे ऽस्मद्भक्ताय
दुःखिताय तपस्विने अहधानाय सर्वेऽनुशास्योऽनुप्रब्रवाम
ब्रह्मविद्यामित्येवं सम्प्रधार्य तस्मै होचुरुक्तवन्तः ॥ प्राणो
ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति, स होवाच ब्रह्मचारी विजा-
नाम्यहं यद्भवद्भिरुक्तं प्रसिद्धपदार्थकत्वात् प्राणो ब्रह्मेति ।
स यस्मिन् सति जीवनं यदपगमे च न भवतीति तस्मिन्
वायुविशेषे लोके कूटोऽतश्च युक्तं ब्रह्मत्वं तस्य । तेन
प्रसिद्धपदार्थकत्वाद्विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्मेति । कञ्च

ब्रह्मचारिण्यनुपहासस्य चानशनाध्यवसायादनन्तरमित्यथशब्दार्थः ॥

हन्तेति यदर्थोऽस्मद्भक्तं ब्रह्मचारिणमुपेक्ष्य देशान्तरं गतस्तर्हीति
यावत् ॥ अथ पुनरेत्याचार्यो ब्रह्मविद्यामस्मै विवक्षिताञ्च वक्ष्यति किं
त्वरयेत्याशङ्क्याह । दुःखितायेति ॥ ब्रह्मविद्यासाधनसम्पत्तिमस्य दर्शयति ।
तपस्विन इति ॥ प्राणो ब्रह्मेति भवद्भिरुक्तं तदहं विजानामीति सम्बन्धः ।
तत्र हेतुमः । प्रसिद्धेति । प्राणपदस्य प्रसिद्धार्थमेव समर्थयते । यस्मि-
न्निति ॥ एवम्भूतः प्राणशब्द इति शेषः । प्राणशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वेऽपि
कुतो ब्रह्मत्वं तस्मिन् प्रसिद्धमित्याशङ्क्याह । अत इति ॥ कार्यकरणसङ्घाते
नष्टेऽप्यङ्गणादित्यतःशब्दार्थः । स्वकीयज्ञानसमुच्चयार्थसकारः । विजाना-
म्यहमित्युक्तमुपसंहरति । तेनेति ॥ स्तौनाज्ञातं ब्रह्मचारी दर्शयति ।

ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति

तु खञ्च न विजानामीति । ननु कखशब्दयोरपि सुखा-
काशविषयत्वेन प्रसिद्धपदार्थकत्वमेव कस्मात् ब्रह्मचारि-
णोऽज्ञानम् । नूनं सुखस्य कंशब्दवाच्यस्य क्षणप्रध्वंसित्वात्
खंशब्दवाच्यस्याकाशस्याचेतनस्य कथं ब्रह्मत्वमिति मन्यते ।

कथञ्च भगवतां वाक्यमप्रमाणं स्यादिति । अतो न
विजानामीत्याह । तमेवमुक्तवन्तं ब्रह्मचारिणं ते हाग्नय
ज्जुः । यद्वाव यदेवयं कमवोचाम तदेव खमाकाशम् इत्येवं
खेन विशेष्यमाणं कं विशेषेन्द्रियसंयोगजात् सुखान्निवर्तितं
स्यान्मीलेनेव विशेष्यमाणमुत्पलं रक्तादिभ्यः । यदेव खमा-
काशमवोचाम तदेव च कं सुखमिति जानीहि । एवञ्च
सुखेन विशेष्यमाणं खं भौतिकादचेतनात् खान्निवर्तितम्

कञ्चेति ॥ तस्याज्ञानमाक्षिपति । नन्विति ॥ प्राणशब्दस्य वायुविषयत्वेन
प्रसिद्धार्थत्ववदित्यपेक्षः । ब्रह्मचारिणोऽभिप्रायं दर्शयन्नुत्तरमाह । नून-
मिति ॥

ननु विरुद्धार्थत्वादग्नीनां वाक्यं भवत्वप्रमाणमित्याशङ्क्याह । कथ-
ञ्चेति ॥ विरुद्धार्थत्वप्रतीतेराप्तवाक्यस्य आप्रामाण्यायोगाद्युक्तं ब्रह्म-
चारिणोऽज्ञानमिति निगमयति । अत इति ॥ खस्य विशेषणत्वं कस्य च
विशेष्यत्वमित्यङ्गीकारे फलं कथयति । इत्येवमिति ॥ कस्य विशेषणत्वं खस्य
विशेष्यत्वमित्येवमपि विशेषणविशेष्यत्वमवगन्तव्यमित्याह । यदेवेति ॥
यथोक्तविशेषणविशेष्यभावे फलमाह । एवञ्चेति ॥ यद्वावेत्य॥ दिवाक्यार्थ-
सुक्तमेव प्रतिपत्तिसौकर्यानिं सङ्क्षिपति । सुखमिति ॥ इतरेतरविशेषण-
विशेष्यत्वमाक्षिपति । नन्विति ॥ अन्यतरदेवेत्यत्र यदेव खमित्येतदुच्यते

स्यान्नीलोत्पलवदेव । सुखमाकाशस्य नेतरलौकिकमाकाशञ्च
सुखाश्रयं नेतरत् भौतिकमित्यर्थः । नन्वाकाशश्चेत्सुखेन
विशेषयितुमिष्टमस्वन्यतरदेव विशेषणम् । यद्वाव कं तदेव
स्वमतिरिक्तमितरत् । यदेव खं तदेव कमिति पूर्वविशेषणं
वा । ननु सुखाकाशयोरुभयोरपि लौकिकसुखाकाशाभ्यां
व्यावृत्तिरिष्टेत्यवोचाम । सुखेनाकाशे विशेषिते व्यावृत्तिरु-
भयोरर्थप्राप्तेवेति चेत् सत्यमेव । किन्तु सुखेन विशेषितस्यै-
वाकाशस्य ध्येयत्वं विहितं न त्वाकाशगुणस्य विशेषणस्य
सुखस्य ध्येयत्वं विहितं स्यात् । विशेषणोपादानस्य विशेषे-

यद्वाव कं तदेव स्वमित्त्वत्वं यद्वाव कं इतीतरद्विशेषणमतिरिक्तमधिक-
मकिञ्चित्करमिति योजना । यदि तु यदेव खं तदेव कमिति खेन कं
विशेष्यते । तदा यदेव स्वमित्येतदेव विशेषणमस्तु ॥ यद्वाव कमिति पूर्व-
विशेषणमकिञ्चित्करमित्याह । यदेवेति ॥ वाशब्दोऽतिरिक्तमित्येतदनु-
करणार्थः ॥ विशेषणयोरर्थवत्त्वं पूर्वोक्तमिद्वान्ती स्मारयति । नन्विति ॥
तथा च सुखस्य लौकिकसुखाद्यावन्त्यर्थं यदेव स्वमिति विशेषणमाकाशस्य
च लौकिकाकाशाद्वाद्यावन्त्यर्थम् यद्वाव कमिति विशेषणमर्थवदिति शेषः ॥
अन्यतरविशेषणवशादपि यथोक्तव्यावृत्तिसिद्धेरकिञ्चित्करं विशेषणद्वय-
मिति शङ्कते । सुखेनेति ॥ यदा सुखेनाकाशं विशेष्यते तदा भूतादाका-
शादाकाशं व्यावर्तितं भवति सुखस्य तद्विशेषणत्वायोगात् सुखमपि
लौकिकसुखाद्यवच्छिद्यते लौकिकसुखस्याकाशविशेषणत्वात्तुपपत्तेः ।
अतः सुखेनाकाशस्याकाशेन सुखस्य चाविशेषितत्वसामर्थ्यात्तत्प्राप्त्यैव
सुखाकाशयोर्लौकिकसुखाकाशाभ्यां व्यावृत्तिरित्यन्यतरदेव विशेषणमर्थव-
दित्यर्थः ॥ किमन्यतरस्यैव विशेषणस्य व्यावर्तकत्वमित्यापाद्यते किं वा
तस्यैवार्थवत्त्वमिति तत्वाद्यमङ्गीकरोति । सत्यमेवेति ॥ द्वितीयं दूषयति ।
न त्वित्यादिना ॥ विशिष्टस्यैव ध्येयत्वे विशेषणस्यापि ध्येयत्वं सिध्य-

प्राणञ्च हास्यै तदाकाशञ्चोचः ॥ ५ ॥१०॥

व्यनियन्तृत्वेनैवोपक्षयात् । अतः खेन सुखमपि विशेष्यते
ध्येयत्वाय । कुतश्चैतन्निश्चीयते । कंशब्दस्यापि ब्रह्मशब्द-
सम्बन्धात् कं ब्रह्मेति । यदि हि सुखगुणविशिष्टस्य स्वस्य
ध्येयत्वं विवक्षितं स्यात् कं खं ब्रह्मेति ब्रूयुरग्नयः प्रथमम्
न चैवमुक्तवन्तः । किं तर्हि कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति । अतो
ब्रह्मचारिणो मोहापनयनाय कखशब्दयोरितरविशेष-
विशेष्यत्वनिर्देशो युक्त एव यद्वाव कमित्यादिः । तदे-
तद्ग्निरित्युक्तं वाक्यार्थमभ्युपगम्य श्रुतिराह । प्राणञ्च
हास्यै ब्रह्मचारिणे । तस्याकाशस्तदाकाशः । प्राणस्य
सम्बन्धाश्रयत्वेन हार्द आकाश इत्यर्थः । सुखगुणवत्त्व-

तीति चेन्नैवं दण्डी प्रैषानन्वाहेतिवद्विशेषणस्यान्यथासिद्धत्वादित्याह ।
विशेषणेति ॥ द्वयोरपि विशेषणयोरर्थवत्त्वं निगमयति । अत इति ॥
विधानरेण ध्येयत्वासम्भवादित्यतः शब्दार्थः । खमिव सुखेनेत्य-
पेक्षार्थः ॥ इतश्च सुखाकाशयोरितरेतरविशेषणविशेष्यत्वमेवित-
व्यमित्याह । कुतश्चेति ॥ कुतःशब्दोपात्तमितःशब्दार्थं स्फुटयति ।
कंशब्दस्येति ॥ खं ब्रह्मेति खंशब्दस्य ब्रह्मशब्दसम्बन्धवदित्यपेक्षार्थः ॥
गुणगुणिनोरुभयोरपि ध्येयत्वसिद्धयर्थमितरेतरविशेषणविशेष्यत्वं कं-
शब्दस्य च प्रत्येकब्रह्मशब्दसम्बन्धादपि स्वीकर्तव्यमित्युक्तं व्यतिरेकद्वारा
साधयति । यदि हीति ॥ उक्तरीत्या द्वयोरपि ध्येयत्वमतःशब्दार्थः ।
ब्रह्मचारिणो मोहो नामान्योऽन्यविशेषणविशेष्यत्वापहृणादाकाशस्यैव
गुणिनो ध्येयत्वं न तु सुखस्य गुणस्येति विभ्रमः । प्राणञ्चेत्यादि वाक्यं
नाम्नीनां न ब्रह्मचारिणः । तथा च कथमुपाख्यायिकामिदं निर्वहती-
त्यशङ्क्याह । तदेतदिति ।

अथ हैन गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निर-
न्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते
सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

निर्देशात् । तच्चाकाशं सुखगुणविशिष्टं ब्रह्म तत्स्थञ्च प्राणं
ब्रह्मसम्पर्कादेव ब्रह्म इत्युभयं प्राणश्चाकाशञ्च समुच्चित्य
ब्रह्मणी ऊचुरग्नय इति ॥ १० ॥

सम्भूयाग्नयो ब्रह्मचारिणे ब्रह्मोक्तवन्तः । अथानन्तरं
प्रत्येकं स्वस्वविषयां विद्यां वक्तुमारेभिरे । तत्वादावेनं ब्रह्म-
चारिणं गार्हपत्योऽग्निरनुशशास । पृथिव्यग्निरन्नमादित्य
इति समैताश्चतस्रस्तनवः । तत्र य आदित्ये एष पुरुषो
दृश्यते सोऽहमस्मि गार्हपत्योऽग्निर्यश्च गार्हपत्योऽग्निः स
एवाहमादित्ये पुरुषोऽस्मीति । पुनः परावृत्य स एवाह-
मस्मीति वचनं पृथिव्यग्नयोरिव भोज्यत्वलक्षणयोः सम्बन्धो

आकाशस्य प्राणसम्बन्धित्वं कथा विधयेत्यपेक्षायामाह । आश्रयत्वेनेति ॥
कार्यब्रह्मोपासनसमुच्चितं कारणब्रह्मोपासनसुसंहर्तुं मितिशब्दः ॥ १० ॥

प्रधानविद्यासुपदिष्टाङ्गविद्याविधानाद्योपक्रमते । सम्भूवेति ॥ अन-
न्तरं प्रधानविद्योपदेशादिति शेषः । अग्निविद्यां वक्तुमारब्धानामग्नोर्नां
मध्ये प्रथममिति श्रुतावयवशब्दार्थः ॥ पृथिव्यादिचतुष्टयमनूद्याग्न्यादित्य-
योरवान्तरभेदं दर्शयति । तत्रेति ॥ एवमग्न्यादित्ययोस्तादात्म्यमितीति-
शब्दार्थः । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मीत्येतावतैव तयोस्ता-
दात्म्यसिद्धेः स एवाहमस्मीति पुनरुक्तिरनर्थिकेत्याशङ्क्याह । पुनरिति ॥
भोज्यत्वलक्षणं स्वभावो ययोस्तयोर्गार्हपत्येन यथा सम्बन्धस्तथा गार्हपत्या-

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां
लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्या-
वरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्चलो-
केऽसुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥११॥

न गार्हपत्यादित्ययोः । अन्नतृत्वपक्वत्वप्रकाशनधर्मा अवि-
शिष्टा इत्यत एकत्वमेवानयोरत्यन्तम् । पृथिव्यन्नयोस्तु भो-
ज्यत्वेनाभ्यां सम्बन्धः । स यः कश्चिदेवं यथोक्तं गार्हपत्य-
मग्निमन्त्रान्नादत्वेन चतुर्धा प्रविभक्तमुपास्ते सोऽपहते
विनाशयति पापकृत्यां पापं कर्म । लोकी लोकवांश्च
मदीयेन लोकेनाग्नेयेन तद्वान् भवति यथा वयमिह च
लोके । सर्वं वर्षशतमायुरेति प्राप्नोति । ज्योगुज्ज्वलं जीवति
नाप्रख्यात इत्येतत् । न चास्यावराश्च ते पुरुषाश्चास्य विदुषः
सन्ततिजा इत्यर्थः । न क्षीयन्ते सन्तत्युच्छेदो न भवती-
त्यर्थः । किञ्च तं वयमुपभुञ्जामः पालयामोऽस्मिंश्च लोके
जीवन्तमसुष्मिंश्च लोके । य एतमेवं विद्वानुपास्ते यथोक्तं
तस्यैतत्फलमित्यर्थः ॥ ११ ॥

दित्ययोर्न सम्बन्धः किन्तु तादात्म्यलक्षण एवेत्यत्र हेतुमाह । अन्नतृत्वेति ॥
पृथिव्यादावपि तादात्म्यं किं न स्वादित्यायङ्गमाह । पृथिवीति ॥ आभ्या-
मग्न्यादित्याभ्यामिति यावत् । स एवाहमस्मोति परावृत्त्या पुनर्वचनं
यथोक्तार्थविशेषसिद्धयर्थमिति भावः ॥ उक्ताया विद्याया गार्हपत्यविषयाया
द्विविधं फलं दर्शयति । स यः कश्चिदित्यादिना ॥ कस्यैतत्फलमित्य-
पेक्षावाच्यमेव सङ्क्षिपति । य एतमेवमिति ॥ ११ ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासो दिशो
 नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो
 दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥ स य
 एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृतां लोकी
 भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरष्ट
 रूपाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोके
 ऽसुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥ १२ ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास दक्षिणाग्निरापो
 दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इत्येता मे मम चतस्त्रस्तनव-
 चतुर्धा अहमन्वाहार्यपचन आग्रानं प्रतिभज्यावस्थितः ।
 तत्र य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मीति पूर्व-
 वत् । अन्नसम्बन्धाज्जोतिद्वसामान्याच्चान्वाहार्यपचनचन्द्र-
 मसोरेकत्वञ्च दक्षिणादिकुसम्बन्धाच्च । अपां नक्षत्राणाञ्च

गाहपत्योपदेशानन्तर्यमथशब्दार्थः । अनादिचतुष्टयमनूद्य दक्षिणाग्नौ
 चन्द्रे च विशेषं दर्शयति । तत्रेति ॥ अन्वाहार्यपचनचन्द्रमसोऽस्तादा-
 त्मेऽनापस्ते नक्षत्राणाञ्च ताभ्यां भोज्यत्वेन सम्बन्ध इति वक्तुं पुनर्वचन-
 मित्याह । स एवेति ॥ कथं पुनरन्वाहार्यपचनचन्द्रमसोऽस्तादात्म्यं तत्ताह ।
 अन्नसम्बन्धादिति ॥ प्रसिद्धं हि दर्शपूर्णमासयोरन्वाहार्यपचने हविः
 श्रपयन्ति । चन्द्रं प्राप्यान्नं भवतीत्यादौ चन्द्रमसि प्रसिद्धोऽन्नसम्बन्धः ।
 तस्मात्तयोस्तादात्म्यमर्थः । तयोरेकत्वे हेत्वन्तरमाह । ज्योतिहेति ॥
 तत्रैव हेत्वन्तरमाह । दक्षिणेति ॥ अन्वाहार्यपचनो हि दक्षिणाग्निरु-
 च्यते । चन्द्रमाश्च दक्षिणेन पथामाद्यसाधो दक्षिणस्यां दिशि भवतीति
 गम्यते ॥ उत्तरदिगधिष्ठातुरपि तस्य तत्त्वसम्बन्धाद्विवारणात्तद्युक्तं तयो-

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो
द्यौर्विद्युदिति, य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते
सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥ स य एतमेवं
विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः
क्षीयन्ते उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोकीऽमु-
स्मिँश्च य एतमेव विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥ १३ ॥

पूर्ववदन्वत्वेनैव सम्बन्धः । नक्षत्राणां चन्द्रमसो भोग्यत्व-
प्रसिद्धेः । अपामन्तोत्पादकादन्वत्वं दक्षिणाग्नेः । ए-
वगार्हपत्यस्य । समानमन्यत् ॥ १२ ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्-
द्युत् इति ममाप्येताश्चतस्रस्तनवो य एष विद्युति पुरु-
षो दृश्यते सोऽहमस्मीत्यादि पूर्ववत् । सामान्यात् दिवा-

रेक्यमित्यर्थः ॥ अपां नक्षत्राणाञ्च चन्द्रवदन्वाह्वार्यपचनेन तादात्म्यमा-
शङ्क्याह । अपामिति ॥ पूर्ववत्पृथिव्यान्नयोस्तयोर्गार्हपत्यादित्वाभ्यामन्न-
त्वेन सम्बन्धवदिति यावत् । सम्बन्धोऽन्वाह्वार्यपचनचन्द्रमोभ्यामिति शेषः ।
कथं नक्षत्राणामन्वत्वं तत्राह । नक्षत्राणामिति ॥ कथं पुनरपामन्वत्वं
तदाह । अपामिति ॥ दक्षिणाग्नेर्दक्षिणाग्निं प्रतीति यावत् । पृथिव्या
गार्हपत्याग्निं प्रत्यन्नत्ववदित्युदाहरणार्थः ॥ १२ ॥

स य एतमेवं विद्वानित्याद्यन्वदित्युक्तम् गार्हपत्यस्य दक्षिणाग्नेश्चो-
पासनानन्तर्यमथशब्दार्थः ॥ तत्रावान्तरभेदं दर्शयति । य एष इति ॥
सोऽहमस्मीत्याद्यन्वत्समानमिति सम्बन्धः । यथा पूर्वं ज्योतिर्वाविशे वा-

ते होचुरूपकोसलैषा सोम्य ! तेऽस्माद्विद्यात्म-
विद्या चाचार्य्यस्तु ते गतिं वक्ता त्याजगाम हास्या-
चार्य्यस्तमाचार्य्योऽभ्युवादोपकोसलइति ॥ १ ॥
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद् इव सोम्य !
ते सुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु
मानुशिष्याङ्गो इतिहापेव निष्कृते इमे नूनमीदृशा

शयोस्वाश्रयत्वाद्विद्युदाहवनीययोर्भोग्यत्वेनैव सम्बन्धः । समा-
नमन्यत ॥ १२ ॥

ते पुनः सम्भूयोचुर्ह उपकोसल ! एषा सोम्य ! ते तवास्मा-
द्विद्याग्निविद्येत्यर्थः । आत्मविद्या पूर्वोक्ता प्राणो ब्रह्म कं
ब्रह्म खं ब्रह्मेति च । आचार्य्यस्तु ते गतिं वक्ता विद्याफल-
प्राप्तय इति उक्तोपरेसुरग्नयः । आजगाम हास्याचार्य्यः
कालेन । तच्च शिष्यमाचार्य्योऽभ्युवादोपकोसलइति
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद् इव सोम्य ! ते सुखं प्रसन्नं

द्वाहं, पत्यादित्ययोरन्वाहार्यपचनचन्द्रमसोश्च साम्यसक्तं तथा ज्योतिह-
सास्याद्विद्युदाहवनीययोस्तादात्म्यमेष्टव्यमित्याह । पूर्ववदिति ॥ कथं
तर्हि ताभ्यां दिवाकाशयोः सम्बन्धस्तत्वाह । दिवाकाशयोस्त्विति ॥ आहव-
नीयस्य फलत्वाद्विवो विवयत्वं तत्तद् होमादिद्वारा निष्पन्नापूर्वस्य द्युलोक-
फलत्वाभ्युपगमाद्विद्युतत्वाकाशाश्रयत्वं प्रसिद्धमतो विद्युदाहवनीययो-
र्भोग्यत्वेनैव दिवाकाशयोः सम्बन्ध इत्यर्थः ॥ १३ ॥

स य एतमेवमित्याद्यन्यदित्युक्त अग्नीनां मिथो विसंवादं व्यावर्त्तयति ।
ते पुनरिति ॥ तथाप्यात्मविद्या श्रोतव्येत्याशङ्क्याह । आत्मविद्येति
कथमाचार्य्योपदेशमन्तरेण भगवदुपदेशवशा, देव विद्या फलवती आचार्य्य-

अन्यादृशा इति हाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य !
 किल तेऽवोचन्निति ॥ २ ॥ इदमिति ह प्रति
 जज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य ! तेऽवोचन्नहन्तु ते
 तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न स्निध्यन्त

भाति को नु त्वानुशशासेत्युक्तः प्रत्याह । को नु माऽनु-
 शिष्यादनुशासनं कुर्यात् भो भगवंस्त्वयि प्रोषित इती-
 हापेव निङ्गुतेऽपनिङ्गुत इवेति व्यवहितेन सम्बन्धेन चाप-
 निङ्गुते न च यथावदग्निभिरुक्तं ब्रवीतीत्यभिप्रायः ॥

कथमिमे अग्नेयो मया परिचरिता उक्तवन्तो नूनं
 यतस्त्वां दृष्ट्वा वेपमाना इवेदृशा दृश्यन्ते पूर्वमन्यादृशाः
 सन्त इतीहाग्नीनभ्यूदेऽभ्युक्तवान् काकाऽग्नीन् दर्शयन् ।
 किं नु सोम्य ! किल ते तुभ्यमवोचन्नग्नय इति पृष्टः
 इत्यग्निदसुक्तवन्तः इत्येवं ह प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान्
 प्रतीकमात्रं किञ्चिन्न सर्वं यथोक्तमग्निभिरुक्तमवोचत् ।
 अत आह आचार्यः, लोकान् वाव पृथिव्यादीन् हे

देव विद्या विदिता साधिष्ठमित्यादि हि प्राशुक्तमत आह । आचार्य-
 स्त्विति ॥ अप निङ्गुत इवेत्यत्र इवशब्दतात्पर्यं दर्शयति । न चेति ॥

उक्तमभिप्रायसाकाङ्क्षापूर्वकं विदधेति । कथमित्यादिना । काका
 स्वरभङ्गेन भीतः सद्भुक्तवान् अस्फुटमिति यावत् । भीतिं शिष्यस्यापनयन्ना
 चार्यो ब्रूते । किन्तु सोम्येति ॥ आचार्यवाक्स्वमिति शब्दमनूद्य व्याचष्टे ।
 इत्येवमिति ॥ पृष्टः सन्निति पूर्वेषु सम्बन्धः । यस्मादग्निभिरुक्तमाचार्याय
 प्रतीकद्वारा शिष्यो निवेदितवान् । तस्मादाचार्यः प्राप्तः साकाशमिति

एवमेवंविदि पापं कर्म न स्निध्यत इति ब्रवीतु
मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥ ३ ॥ १४ ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति

सोम्य ! किल तेऽवोचन् न ब्रह्म साकल्येन । अहन्तु ते तुभ्यं
तद्ब्रह्म यदिच्छसि त्वं श्रोतुं वक्ष्यामि शृणु । तस्य मयो-
च्यमानस्य ब्रह्मणो ज्ञानमाहात्म्यं यथा पुष्करपलाशे पद्मपत्र
आपो न स्निध्यन्त एवं यथा वक्ष्यामि ब्रह्मैवंविदि पापं
कर्म न स्निध्यते न सम्बध्यत इत्येवमुक्तवत्याचार्य आहोपको-
सलो ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाचार्यः ॥ १४ ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते निवृत्तचक्षुर्भिर्ब्रह्म-
चर्यादिसाधनसम्पन्नैः शान्तैर्विवेकिभिः “दृष्टेर्द्रष्टा चक्षु-
पश्चक्षु” रित्यादिश्रुत्यन्तरात् । नन्वग्निभिरुक्तं वितथं यत

आह । अत इति ॥ कं खं ब्रह्मेत्यादिना ॥ ब्रह्मापि तैरुक्तमित्याशङ्काह ।
न ब्रह्मेति ॥ कथं तर्हि साकल्येन ब्रह्म ज्ञातव्यमित्याह । अहन्त्विति ॥
ब्रह्मज्ञाने किं स्यादित्याह । शृण्विति ॥ १४ ॥

कथमुपसन्नाचार्यो ब्रह्मचारिणे ब्रह्मविद्यासक्तवानित्यत आह ।
य एष इति ॥ अक्षिस्थाने तदुपलक्षितो दृष्टा य एष पुरुषो दृश्यत इति
सम्बन्धः ॥ नासौ सर्वेषां ज्ञायात्मातिरिक्तो दृष्टिगोचरतामाचरतीत्या-
शङ्क्याधिकारिणो विशिनष्टि । निवृत्तेति ॥ निवृत्तानि विषयेभ्यो विसृ-
खानि चक्षुषि बाह्यानि करणानि येषां तैरिति यावत् । बाह्यकरणानां
स्ववशत्वाधीनं विशेषणान्तरमाधत्ते । ब्रह्मचर्यादीति ॥ मनसो विषयपार-

होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यस्मिन्
सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति॥१॥

आचार्यस्तु ते गतिं वक्तुं गतिमात्रस्य वक्तव्यवोचन् भवि-
ष्यद्विषयापरिज्ञानश्चाग्नीनाम् । नैष दोषः । सुखाकाश-
स्थैवाक्षणि दृश्यत इति द्रष्टुरनुवादात् । एष आत्मा
प्राणिनामिति होवाच* एवमुक्तवानेतद्यदेवात्मतत्त्वमवो-
चाम । एतदमृतममरणधर्म्यविनाशि, अतएवाभयम् यस्य हि
विनाशशङ्का तस्य भयोपपत्तिस्तदभावादभयमत एवै-
तद्ब्रह्म दृष्टवन्तमिति । किञ्चास्य ब्रह्मणोऽक्षिपुरुषस्य
माहात्म्यं तत्तत्र पुरुषस्य स्थानेऽक्षणि यद्यपि अस्मिन्
सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति पक्षावेव

वक्ष्यराहित्ये विशेषणान्तरमाह । शान्तेरिति ॥ तेषां निवृत्तचक्षुर्हेतु-
माह । विवेकिभिरिति ॥ “पुरुषोऽक्षणि द्रष्टेत्यत्र दृष्टद्वाराण्यकश्चुति
प्रमाणयति । चक्षुष इति ॥ आचार्येणापूर्वविद्योपदेशादग्नीनासंज्ञ-
र्मिथ्या प्राप्तेति शङ्कते । नन्विति ॥ अग्निवचनस्य गत्यन्तरमाह । भविष्य-
दिति ॥ नाग्नीनासंज्ञिर्ह्येषा नापि तेषां भविष्यद्विषयाज्ञानमिति दूषयति ।
नैष दोष इति ॥ यत्सुखगुणकमाकाशसुपास्थमग्निभिरुपदिष्टं तस्यैव
कारणब्रह्मणो द्रष्टा रूपस्याक्षणि दृश्यते इत्यनुवादो गतिव्याख्यानाया-
चार्येण क्रियते तत्रास्ति दोषद्वयमित्यर्थः । अक्षणि दृश्यत इति प्रयोगा-
दाचार्येण कायात्मा विवक्षित इत्याशङ्काह । एष इति ॥

इतश्च नायं पुरुषश्चात्मा त्वनन्तरवाक्यमवतार्य व्याकरोति । एत-
दित्यादिना ॥ इतिशब्दो यथोक्तगुणगौरुपास्थः पुरुषो न कायात्मा
भवितुमर्हतीत्यर्थः । असङ्गत्वाच्च नायं कायात्मा त्याह । किञ्चेति ।

एतं संयद्वाम इत्याचक्षत एतं हि सर्वाणि
वामान्यभि संयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभि संय-
न्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि
नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

गच्छति न चक्षुषा सम्बध्यते पद्मपत्रेणोदकम् । स्थान-
स्थाप्येतन्माहात्म्यं किं पुनः स्थानिनोऽक्षिपुरुषस्य निर-
ञ्जनत्वं वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ एतं यथोक्तं पुरुषं संयद्वाम
इत्याचक्षते । कस्मात् ? । यस्मादेवं सर्वाणि वामानि वन-
नीयानि सम्भजनीयानि शोभनानि अभिसंयन्त्यभिसंग-
च्छन्तीत्यतः संयद्वामः । तथैवंविदमेनं सर्वाणि वामान्य-
भिसंयन्ति य एवं वेद ॥

एष उ एव वामनीर्यस्मात् एष हि सर्वाणि वामानि
पुण्यकर्मफलानि पुण्यानुरूपं प्राणिभ्यो नयति प्रापयति

माहात्म्यं स्थानद्वारेणोच्यत इति शेषः ॥ किमेतावता पुरुषस्यायात-
मित्याह । स्थानस्थापीति ॥ तस्यैवोपास्यत्वार्थं गुणान्तरं दर्शयति । एत-
मिति ॥ पुरुषस्य संयद्वामत्वं ब्रह्मविदुक्त्या सिद्धमपि नात्यर्थमन्तरेण व्यक्ती-
भवतीति शङ्कते । कस्मादिति ॥ अवयवार्थोपन्यासेन परिहरति । यस्मा-
दिति ॥ गुणोपास्तिफलमाह । तथेति ॥ उपास्यगुणानुसारेणेत्यर्थः ॥

एवंविदं संयद्वामगुणविशिष्टपुरुषोऽस्तीति वेदितारमित्येतद्गुणा-
न्तरमुपास्यत्वार्थं दर्शयति । एष इति ॥ तद्व्युत्पादयति । एष इति ॥
गुणान्तरं ध्यानायोक्तं व्युत्पादयति । एष इत्यादिना ॥ आदि-
त्यादिरूपेणास्यैव दीप्यमानत्वे श्रुत्यन्तरमनुकूलयति । तस्येति ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति
सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥ अथ
यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवा-
भिसम्भवत्यर्चिषोऽहरङ्ग आपूर्यमाणपक्षमापूर्य-

वहति चात्मधर्मत्वेन विदुषः फलं सर्वाणि वामानि नयति
य एवं वेद ॥ एष उ एव भामनीरेष हि यस्मात्सर्वेषु
लोकेष्वदित्यचन्द्राग्न्यादिरूपैर्भाति दीप्यते । “तस्य भासा
सर्वमिदं भातीति श्रुतेरतो भामानि” नयतीति भामनीः ।
य एवं वेदासावपि सर्वेषु लोकेषु भाति ॥ अथेदानीं
यथोक्तब्रह्मविदो गतिरुच्यते यद्यदि उ च एवास्मान्नेवं-
विदि शव्यं शवकर्म सृते कुर्वन्ति यदि च न कुर्वन्ति
ऋत्विजः सर्वथाप्येवंवित् तेन शवकर्मणा अकृतेनापि प्रति-
बद्धो न ब्रह्मप्राप्नोतीति न च कृतेन शवकर्मणाऽस्य कश्च-
नाभ्यधिको लोकः “न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयानिति”
श्रुत्यन्तरात् । शवकर्मण्यनादरं दर्शयन् विद्यां स्तोति न
पुनः शवकर्म एवविदो न कर्त्तव्यमिति ॥

गुणोपास्तिफलमाह । य एवमिति ॥ गतिं वक्तुं पूर्वोक्तब्रह्मविद्याया-
मधिकगुणानेवाचार्योऽन्ववादोदिदानीं तामेव गतिमवतारयति । अथेति ॥
तां वक्तुं पातनिकां करोति । यद्यदीति ॥ करणाकरणाभ्यां विदुषो न
दृष्टिर्नापि हानिरित्यत्र श्रुत्यन्तरं प्रमाणयति । न कर्मणेति ॥ अथ यदु
चैवेत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यं दर्शयति । शवकर्मणेति ॥ तात्पर्यान्तरं दर्श-
यति । न पुनरिति ॥

माणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः
 संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं
 चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥ ५ ॥

अक्रियमाणे हि शवकर्मणि कर्मणां फलारम्भे
 प्रतिबन्धः कश्चिदनुमीयते अन्यत्र । यत इह विद्याफला-
 रम्भकाले शवकर्म स्थादा न वेति विद्यावतोऽप्रतिबन्धेन
 फलारम्भं दर्शयति । ये सुखाकाशमक्षिस्थं संयदामनी-
 र्भामनीरित्येवङ्गुणमुपासते प्राणसहितामग्निविद्यां तेषा-
 मन्यत्कर्म भवतु मा वा भूत् सर्वथापि तेऽर्चिषमेवाभि-
 सम्भवन्त्यर्चिरभिमानीनौ देवतामभिसम्भवन्ति प्रतिपद्यन्त
 इत्यर्थः । अर्चिषोऽर्चिर्देवतायाः, अहरहरभिसानिनीं
 देवताम्, अङ्ग आपूर्यमाणपक्षं शुक्लपक्षदेवताम्, अपूर्यमाणप-
 क्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङुत्तरां दिशमेति सविता तान्मा-
 सानुत्तरायणदेवतां तेभ्यो मासेभ्यः संवत्सरं, संवत्सर-
 देवतां, ततः संवत्सरादादित्यम्, आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो

यदि विदुषोऽपि शवकर्म कर्त्तव्यं कर्त्तुं तस्य विशेषस्तत्वाह । अक्रि-
 यमाणे हीति ॥ अन्यत्वेत्यविद्यावतीत्यर्थः । इहेति प्रस्तुतवाक्यस्थे विद्या-
 वतीत्यर्थः । फलारम्भमिति । वेत्युक्तेः शवकर्म्मण्यनादरपूर्वकमिति शेषः । वि-
 द्यावतः शवकर्म्मभावाभावयोरप्रतिबन्धः फलं सिद्ध्यति । अविद्यावतस्तु शवक-
 र्म्माकरणे कर्म्माणि न फलदानीति विद्यास्तुतिरिहाभिप्रेतेति भावः ॥ तेऽ-
 र्चिषमेवेत्यत्र तच्छब्दार्थं व्याचष्टे । ये सुखाकाशमिति ॥ सत्यलोकस्थमिति ।
 देशश्च क्खेदेन किमिति व्याख्यायते? सुखमेव ब्रह्मण्डालम्बनं किं नोच्यते?

स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः ।
एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तन् नावर्त्तन्ते
नावर्त्तन्ते ॥ ६ ॥ १५ ॥

विद्युतं तत्तत्तस्यांस्तान् पुरुषः कश्चिद्ब्रह्मलोकादेत्य अमा-
नवो मानव्यां हृष्टौ भवो मानवो न मानवो अमानवः
स पुरुष एतान् ब्रह्म सत्यलोकस्य गमयति गन्तृगन्तव्य-
गमयितृत्वव्यपदेशेभ्यः । सन्मात्रब्रह्मप्राप्तौ तदनुपपत्तेः ।
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येतीति हि तत्र वक्तुं न्याय्यम् । सर्वभेद-
निरासेन सन्मात्रप्रतिपत्तिं वक्ष्यति । न चादृष्टो मार्गो
गमनायोपतिष्ठते । स एनमविदितो न भुनक्तीति श्रुत्यन्त-
रात् । एष देवपथो देवैरर्चिरादिभिर्गमयितृत्वेनाधिकृतै-
रुपलक्षितः पथ्या देवपथ उच्यते । ब्रह्म गन्तव्यं तेन चोप-
लक्षित इति ब्रह्मपथः । एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्म

तत्वाह । गन्तव्येति ॥ एतेभ्यो हेतुभ्यः सत्यलोकस्य ब्रह्म न मुख्यमिति
सम्बन्धः ॥ मुख्यब्रह्मप्राप्तावपि यथोक्तव्यपदेशा भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह ।
सन्मात्रेति ॥ तदनुपपत्तेर्न तादृग्ब्रह्मशब्दमिति शेषः ॥ अनुपपत्तिमेव
स्फोरयति । ब्रह्मैवेति ॥ तत्रेति मुख्यप्राप्तिरुच्यते । कस्यचिदपि सन्मात्र-
ब्रह्मप्राप्तिरत्र नास्तीत्यशङ्क्याह । सर्वभेदेति ॥ वक्ष्यति षष्ठोऽध्याये
श्रुतिरिति शेषः ॥ जीवस्य सन्मात्रं ब्रह्म पारमार्थिकं रूपश्चेदुपासकस्यापि
न गतिरुचिता तस्यापि ब्रह्मातिरिक्तस्वरूपाभावादित्याशङ्क्याह । न
चेति ॥ एकत्वलक्षणो मार्गो न दृष्टश्चेदवगमनाय नोपतिष्ठते न हि ध्यान
निष्ठस्यादृष्टमेकत्वगमनं वारयितुं पारयत्यज्ञानप्रतिबन्धात् तस्य गमन-
भ्रान्तिसम्भवादित्यर्थः । यद्वा एकत्वलक्षणो मार्गो नावगतो न गमनाय

इमं मानवं ममुसम्बन्धिनं मनोः स्फटिलक्षणभावर्त्तं नाव-
र्त्तन्ते । आवर्त्तन्तेऽस्मिन् जननमरणप्रवन्धचक्राकूटघटीय-
न्त्ववत् पुनः पुनरित्यावर्त्तसं न प्रतिपद्यन्ते । नावर्त्तन्त इति
द्विरुक्तिः सफलाया विद्यायाः परिसमाप्तिप्रदर्शनार्था ॥ १५ ॥

रहस्यप्रकरणे प्रसङ्गत्वादारण्यकत्वसामान्याच्च यज्ञे र्त्तते
उत्पन्ने व्याहृतयः प्रायश्चित्तार्था विधातव्याः । तद-
भिज्ञस्य चर्त्विजो ब्रह्मणो मौनमित्यत इदमारभ्यते ।

मोक्षायोपस्थितो भवतीत्यर्थः ॥ तत्र प्रमाणमाह । स एनमिति ॥ स पर-
मात्मा प्रत्यक्षेत्वनान्नातः सन्नेनमधिकारिणं सक्तिप्रदानेन न पालयतीत्यर्थः ।
प्रकृतं गतिमुपसंहरति । एष इति ॥ गतिफलं निगमयति । एतेनेति ॥
इममिति विशेषणादनादृष्टिरस्मिन्कल्पे । कल्पान्तरे त्वादृष्टिरिति
सूच्यते ॥ आवर्त्तशब्दं व्याकरोति । आवर्त्तन्त इति सफलाया यथोक्त-
गतिपूर्वकेन फलेन सहिताया इति यावत् । कार्यब्रह्मोपासनसमुच्चिता
कारणब्रह्मोपासना यथोक्ता न विद्यासहिता विद्यात्वं विवक्षिता तस्या
इत्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वोत्तरपन्थयोरसङ्गतिमाशङ्क्य प्रासङ्गिकीं सङ्गतिमाह । रहस्यप्रक-
रण इति ॥ रहस्यमुपासनं तत्प्रकरणे । विदुषां फलप्राप्तये मार्गोपदेशप्रसङ्गेन
यज्ञस्य समाप्तिं गमनायानन्तरपन्थेन मार्गोपदेशादस्ति सङ्गतिरित्यर्थः ॥
किञ्च पूर्वोत्तरपन्थयोरारण्यकत्वेन न समानत्वादपि सङ्गतिरस्तीत्याह ।
आरण्यकत्वेति ॥ किञ्चाग्निविषया विद्या प्रकृते यज्ञे वा सिद्धेऽग्निसम्बन्धे
यदि किमपि क्षतमुत्पद्यते तदा प्रायश्चित्तार्था व्याहृतयो विधातव्या
इत्यनन्तरं पन्थप्रवृत्तिरिति सङ्गत्यनन्तरमाह । यज्ञ इति ॥ प्रकृतायामुपा-
सनायां मौनमङ्गीक्रियते वाग्व्यापारे विक्षिप्तचित्ततया ध्यानानुष्ठाना-
सिद्धेः । कृत्वग्विशेषस्य च प्रायश्चित्ताभिज्ञस्य मौनमत्र विधीयते तेनास्ति
मिथः सङ्गतिरित्याह । तदभिज्ञस्येति ॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्नि-
दं सर्वं पुनाति यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति

• एष ह वै एष वायुर्योऽयं पवतेऽयं यज्ञः । ह वै इति प्रसिद्धार्थावद्योतकौ निपातौ । वायुप्रतिष्ठो हि यज्ञः प्रसिद्धः श्रुतिषु । “स्वाहा वातेधाः” “अयं वै यज्ञो योऽयं पवत” इत्यादिश्रुतिभ्यः । वात एव हि चलनात्मकत्वात्क्रियासमवायी । वात एव यज्ञस्यारम्भकः वातः प्रतिष्ठेति च अवगात् । एष ह यन् गच्छन् चलन्निदं सर्वं जगत् पुनाति पावयति शोधयति । न ह्यचलतः

यज्ञस्य देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकत्वात्क्रियायाश्च क्षणभङ्गिन्या गतिमन्त्वाद्योगान्मार्गोपदेशासम्भवात्कथमाद्या सङ्गतिरित्याशङ्क्य गतिमत्त्वं सम्पादयितुं यज्ञस्य वायुरूपत्वमाह । एष इत्यादिना ॥ यज्ञो वाय्वाश्रयो वाय्वात्मक इति श्रौतौ प्रसिद्धिस्तामेव प्रकटयति । वायुप्रतिष्ठ इति श्रुतीरुदाहरति । स्वाहेति ॥ स्वाहाकारसङ्गार्थं वाते वायौ धीर्वा स्थिष्यते इति वातेधा यज्ञः ॥ श्रुत्यन्तरमाह । अयमिति ॥ आदिशब्देन “वाताद्यज्ञः प्रयुज्यतामिति” श्रुतिर्गृह्यते ॥ आदर्शितश्रुतीनामर्थं सङ्गृह्णाति । वात इति ॥ यो यज्ञः क्रियासमवायी तत्समुदायात्मकः स वायु-देव । ह्योश्चलनात्मकत्वाविशेषात् । तस्माद्वायुप्रतिष्ठस्तदात्मको यज्ञ इत्यर्थः ॥ वायुप्रतिष्ठो यज्ञ इत्यत्र श्रुत्यन्तरमाह । वात एवेति ॥ पवनत्व-श्रुत्याऽपि वायुयज्ञयोरेकत्वमाह ॥ एष ह यन्निदं ॥ विनाऽपि वायुं शब्दः सिद्धतीत्याशङ्क्याह । न हीति ॥ अचलतो विहितक्रियामननुतिष्ठत इति यावत् । शुद्धिर्नाम दोषनिरासः । स च निषिद्धं प्रत्यक्तुं यतमानस्य सिद्ध्यति न तु निषिद्धक्रियात्यागोदासीनस्य, दोषनिरासात्मिका शुद्धिः

तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य वाक् च मनश्च वर्त्तनी
॥ १ ॥ तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा
वाचा होताऽध्वर्युर्गङ्गाताऽन्यतरां स येऽचोपा-
कृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा

शुद्धिरस्ति । दोषनिरसनं चलतो हि दृष्टं न स्थिरस्य ।
यद्यस्माच्च यन् एष इदं सर्वं पुनाति तस्मादेव यज्ञो
यत्पुनातीति । तस्यास्यैवं विशिष्टस्य यज्ञस्य वाक् च मनो-
च्चारणे व्याष्टता । मनश्च यथाभूतार्थज्ञाने व्याष्टतम् । ते
एते वाङ्मनसे वर्त्तनी मार्गौ याभ्यां यज्ञस्तायमानः प्रव-
र्त्तते ते वर्त्तनी । “प्राणापानपरिचलनवत्या हि वाच-
श्चित्तस्य चोत्तरोत्तरक्रमो यज्ञस्य” इति हि श्रुत्यन्तरम् ।
अतो वाङ्मनसाभ्यां यज्ञो वर्त्तनीभ्यां वर्त्तत इति वाङ्मनसे
वर्त्तनी उच्येते यज्ञस्य । तयोर्वर्त्तन्योरन्यतरां वर्त्तनीं
मनसा विवेकज्ञानवता संस्करोति ब्रह्मा त्विग्वचा वर्त्तन्या ।

सम्भवति । चलनं वायुः । तस्माद्वायुरेव चलनद्वारा सर्वं जगत् पुनाती-
त्याह । दोषेति ॥

वायोरस्तु पावनत्वं प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्याह । यद्यस्मादिति ॥
वाङ्मात्मना गतिविशिष्टस्य यज्ञस्य मार्गद्वयमुपदिशति । तस्येति ॥ एवं
विशिष्टस्य पावनस्य वायुरूपस्येति यावत् यज्ञस्योक्तमार्गद्वयवैशिष्ट्यो
सोपस्कारमैतरेयवाक्यमुदाहरति । प्राण्येति ॥ प्राणापानाभ्यामुच्छ्वास-
निश्वासाभ्यां परिचलनं विद्यते यस्यास्तस्या वाचश्चित्तस्य पूर्वापरभाव-
क्रमेण यज्ञः सम्पाद्यते । मनसा हि ध्यायन् वाचमभिव्याहृन् पूर्वाप-
रीयभावेन यज्ञं सम्पादयतीत्यर्थः । यज्ञस्य मार्गद्वयविशिष्टमुपसंहरति ।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तथ्यमानानां
रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या, वायुमन्तरिक्षादा-
दित्यं दिवः ॥१॥ स एतास्तिष्ठो देवता अभ्यतप-
त्तासां तथ्यमानानां रसान् प्रावृहदग्नेर्ऋचो
वायोर्यजूंषि सामादित्यात् ॥ २ ॥ स एतां त्रयीं

स्ववर्त्तनीभ्यां वर्त्तमानः प्रतितिष्ठति स्वेनात्मनाऽविनश्यन्
वर्त्तत इत्यर्थः। यच्च प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनु प्रतितिष्ठति
एवं मौनी विज्ञानवद्ब्रह्मोपेतं यन्मिद्धा श्रेयान् भवति
श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अत्र ब्रह्मणो मौनं विहितम्। तद्वेषे ब्रह्मत्वकर्मणि चा-
थान्यस्मिंश्च हौतादिकर्मरेषे व्याहृतिहेमः प्रायश्चित्त-
मिति। तदर्थं व्याहृतयो विधातव्या इत्याह। प्रजापति-
र्लोकानभ्यतपल्लोकानुद्दिश्य तत्र सारजिष्टक्षया ध्यानल-
क्षणं तपश्चचार। तेषां तथ्यमानानां लोकानां रसान् सार-
रूपान् प्रावृहदुद्धृतवान् जग्राहेत्यर्थः। कान्! अग्निं रसं
पृथिव्याः। वायुमन्तरिक्षात्। आदित्यं दिवः। पुनरप्येव

चाग्रे चर्त्विजो द्वे वर्त्तन्यौ संस्तुर्वन्येवेत्याह। नेति॥ वर्त्तनीद्वयसंस्तारे
किं स्यादित्यपेक्षायामाह। एवमिति ॥ १६ ॥

नित्यानुष्ठानसुक्ता नैमित्तिकप्रायश्चित्तविधानार्थमुपक्रमते। अत्रेति॥ तद्गुं श्रे-
ब्रह्मणो मौनं च सतीति यावत्। रसान् विशेषतो ज्ञातुं पृच्छति। का-
निति॥ एवं यथा लोकानभ्यतपत् तथेति यावत्। जग्राहेति सम्बन्धः। तदेव

विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृह-
रित्यूग्भ्यो, भुवरिति यजुर्भ्यः, स्वरिति सामभ्यः
॥३॥ तद्यद्युक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहु-
यादृचामेव तद्रसेन च्चां वीर्य्येण च्चां यज्ञस्य विरि-
ष्टं सन्धाति ॥ ४ ॥ अथ यदि यजुष्टो रिष्ये-
द्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव
तद्रसेन यजुषां वीर्य्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टं

मेवमग्न्याद्याः । स एतास्तिस्त्रो देवता उद्दिष्टाभ्यतपत् ।
ततोऽपि सारं रसं तथीविद्यां जग्राह तां पुनरभ्यतपत् तथीं
विद्याम् । तस्यास्तप्यमानाया रसं भूरिति व्याहृतिष्टग्भ्यो
जग्राह । भुवरिति व्याहृतिं यजुर्भ्यः । स्वरिति व्याहृतिं
सामभ्यः । अत एव लोकवदेव वेदरसा महाव्याहृतयः ॥
अतस्तत्तत्र यज्ञे यद्युक्तः ऋक्सम्बन्धादङ्गिमित्तं रिष्येद्यज्ञः
क्षतं प्राप्नुयाद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात् । सा तत्र
प्रायाश्चक्षतिः ॥

कथमृचामेव तदिति क्रियाविशेषणं रसेन च्चां वीर्य्ये-
णौजसा ऋचां यज्ञस्य ऋक्सम्बन्धिनो यज्ञस्य विरिष्टं

विदूषोति भूरिति ॥ व्याहृतिमित्यादिना प्रथमोऽतः शब्दो यत इत्यस्मि-
न्नर्थे यद्युक्त इति ऋक्सम्बन्धस्तस्मिन्नुक्तः ॥

प्रायश्चित्तमेवाकाङ्क्षापूर्वकं विदूषोति । कथमित्यादिना ॥ क्रिया-
विशेषणमिति यज्ञस्य क्षतं सन्धातीति यत्तदृचामेव रसेन सन्धाती-
त्यर्थः । योजसा सन्धातीति सम्बन्धः । तथा च सति यद्युक्ते साधने
सतीत्यर्थः ॥ यथा पूर्वस्मिन् प्रायश्चित्ते यज्ञस्य क्षतमिव रसेन सन्धाति ॥

सन्दधाति ॥ ५ ॥ अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः
स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्सान्नामेव तद्रसेन सान्नां
वीर्येण सान्नां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात्सुवर्णेन
रजतं रजतेन तपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं
लोहेन दारु चर्मणा ॥ ७ ॥ एवमेषां लोका-

विच्छिन्नं क्षतरूपमुत्पन्नं सन्दधाति प्रतिसन्धत्ते ॥ अथ
यदि यजुष्टो यजुर्निमित्तं रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ
जुहुयात् ॥ तथा सामनिमित्ते रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहव-
नीये जुहुयात् ॥ तथा पूर्ववद्यज्ञं सन्दधाति ब्रह्मनिमित्ते
तु रेषे त्विष्वग्निषु तिरुभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥

तव्या हि विद्यायाः स रेषः । “अथ केन ब्रह्मात्मित्यन-
यैव तव्या विद्ययेति” श्रुतेः । न्यायान्तरं वा षष्ठ्यं ब्रह्मात्व-
निमित्ते रेषे ॥ तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात् । क्षारेण
ढङ्कणादिना खरेषु षडुत्वकारं हि तत् सुवर्णेन रज-

तथा द्वितीयतृतीयप्रायश्चित्तयोरपि यजुषां सान्नाञ्च रसेनाध्वर्युरुह्नाता
च तत्क्षतं सन्धत्त इत्याह । पूर्ववदिति ॥ होताद्यपराधाधीनयज्ञध्वंसे
प्रायश्चित्तसङ्गा ब्रह्मापराधकृते यज्ञनाशे किं प्रायश्चित्तमित्याशङ्कग्राह ।
ग्रह्णेति ॥

अथ यथोक्तप्रायश्चित्ते लिङ्गं दर्शयति । तव्या हीति ॥ ब्रह्मणस्त्वयी-
सारत्वे प्रमाणमाह । अथ केनेति ॥ साधारणकार्यस्य साधारणसामपी-
जग्यत्वनियमादेदत्वसाधारणे ब्रह्मत्वे वेदत्वसाधारणमेव प्रायश्चित्तं

नामासां देवतानामस्यास्त्वया विद्याया वीर्येण
यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति भेषजकृतो ह वा
एष यज्ञो यनैर्विद्वद्भ्या भवति ॥ ८ ॥ एष ह वा

तमश्वसन्धानं सन्दधात् रजतेन, तथा तपु तपुणा, सीसं
सीसेन लोहं लोहेन, दाह चर्मणा चर्मवन्धनेन ॥
एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्वया विद्याया
वीर्येण रसाख्येनौजसा यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति । भेष-
जकृतो ह वा एष यज्ञः । रोगार्त्त एव पुमांसिकित्स-
केन सुशिक्षितेनैष यज्ञो भवति । कोऽसौ यत्र यस्मिन् यज्ञे
एवंविद्यथोक्तस्याहृतिहोमप्रायश्चित्तविद्वद्भ्यां भवति स
यज्ञ इत्यर्थः ॥ किञ्चैष ह वा उदक्प्रवण उदङ्गिन्वो

वाच्यमित्येकोन्यायो दर्शितः । सम्प्रत्यभिज्ञस्यैव वेदेकत्वप्रसिद्धेर्ब्रह्मणः सर्व-
वेदार्थाभिज्ञस्य ज्ञानमाहात्म्येनैव दोषनिरासाच्चान्यप्रायश्चित्तं विधेय-
मिति न्यायान्तरमाह । न्यायान्तरं वेति ॥ वस्तुस्वभाववैचित्त्यप्रादुर्भावस्यापि
क्षतस्य केनचित्सन्धानं भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह । तद्यथेत्यादिना ॥ किन्तत्र
साधनमिति तद्दर्शयति । क्षारेणेति ॥ क्षारे सुवर्षे वज्रिसंयुक्ते द्रवीभूते
क्षारप्रक्षेपेण टङ्कादिना कटुककरणं मिथोऽवयवसंयोजनं सन्धानं प्रसिद्ध-
मित्यर्थः । रजतं सुवर्षेन स्वरसतस्तावदशक्यं सन्धानं तथापि वज्रिसंयोग
पूर्वकं पूर्ववदेव तत्रापि प्रसिद्धं सन्धानमित्याह । सुवर्षेनेति ॥ रजते-
नेत्यादावपि यथोक्तं द्रष्टव्यम् । सन्दधाति ब्रह्मेति शेषः । भेषजेनेव कृतः
संस्कृत इति यावत् ॥

तदेव स्फुटयति । रोगार्त्त इति ॥ भवति संस्कृत इति शेषः । इतश्चैवं-
विदा ब्रह्मणा भवितव्यमित्याह किञ्चेति ॥ गाथाशब्दो गायत्र्यादिकन्दोव्य-
तिरिक्तश्चन्द्रोविषयः । यतो यतः प्रदेशात्कर्म आवर्त्तत इत्युक्तं विवक्ष्यति ।

उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदं
 ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्त्तते
 तत्तद्गच्छति ॥ ६ ॥ मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कु-
 रूनश्चाऽभिरक्षत्येवंविद् वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं
 सर्वांश्चत्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव

दत्तिणोष्थायो यज्ञो भवति । उत्तरमागं प्रति हेतुरि-
 त्यर्थः । यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदं ह वै ब्रह्माणश्चत्विजं
 प्रत्येवानुगाथा ब्रह्माणः स्तुतिपरा । यतो यत आवर्त्तते
 कर्म प्रदेयात् । ऋत्विजां यज्ञः क्षते भवंस्तत्तद्यज्ञस्य
 क्षतरूपं प्रतिसन्दधत्प्रायश्चित्तेन गच्छति परिपालयती-
 त्येतन्मानवो ब्रह्मा । मौनावरणान्मननाद्वा ज्ञानवत्त्वा-
 त्ततो ब्रह्मैवैकत्विक्कुरुन् कर्तृन् ॥

योधानारूढानखा वडवा यथाऽभिरक्षत्येवंविद्
 वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चत्विजोऽभिरक्षति तत्कृतदो-
 षाप्रनयनात् । यत एवं विशिष्टो ब्रह्मा विद्वांस्रस्मादेवं-

ऋत्विजामिति ॥ यत्र यत्र प्रदेशे यज्ञस्य क्षतिरध्वर्युं प्रभृतीनामभवत्तत्र
 तत्र यज्ञस्य क्षतरूपं प्रायश्चित्तेन प्रतिस्थापनात् ब्रह्मा कर्तृन् परिपालय-
 तीति सम्बन्धः ॥ ऋत्विजि ब्रह्माणि मानवशब्दप्रवृत्तौ निमित्तद्वयमाह ।
 मौनेति ॥ ज्ञानातिशयस्तच्छब्दार्थः । कर्तृन्भिरक्षतीति सम्बन्धः ॥

ॐकारं दृष्टान्तेन प्रकृत्यति योद्धुनित्यादिना ॥ प्रकरणादर्थसुपसं-
 रति । एवमिति ॥ १७ ॥ इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धा-

ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥
 ॥ १७ ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थः प्रपा-
 ठकः समाप्तः ॥ ४ ॥

विदमेव यथोक्तवाङ्मत्यादिविदं ब्रह्माणं कुर्वीतेति । नाने-
 वंविदं कदाचनेति । हिरण्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ १७ ॥
 इति श्रीमद्भोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजका
 चार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विव-
 रणे चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ४ ॥

नन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकवायां छान्दोग्योपनिषद्भाष्यटीकायां
 चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ॐ॥ यो ह वै ज्येष्ठञ्च अष्टञ्च वेद ज्येष्ठञ्च ह
वै अष्टञ्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठञ्च अष्टञ्च ॥१॥

॥ॐ॥ सगुणब्रह्मविद्याया उत्तरा गतिरुक्ता । अथेदानीं
पञ्चमेऽध्याये पञ्चाग्निविदो गृहस्थस्य ऊर्ध्वरेतसाञ्च अष्टा-
लूनां विद्यान्तरशीलिनां तामेव गतिमनूद्यान्या दक्षिण-
दिक्सम्बन्धिनी केवलकर्म्मिणां धूमादिलक्षणा पुनरावृत्ति-
रूपा तृतीया च । ततः कष्टतरा संसारगतिर्वैराग्यहेतो-
र्वक्तव्येत्यारभ्यते । प्राणः अष्टो वागादिभ्यः प्राणो वाव
संवर्ग इत्यादि च बद्धोऽतीति ग्रन्थे प्राणग्रहणं तं स
स कथं अष्टो वागादिषु, सर्वैः संहृत्यकारित्वाविधिः,

॥ अं ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ उत्तमनूद्य वर्त्तिष्यमाणाध्यायस्य सः ।
सङ्गिरते । सगुणेति ॥ विद्यान्तरं पञ्चाग्निविद्यातिरिक्ता सगुणविद्या ।
तच्छीलिनं तद्विधानामिति यावत् ॥ तामेव गतिमर्चिरादिलक्षणा-
मित्यर्थः ॥ ततो गतिद्वयात्तृतीया विद्याकर्म्मरहितानामिति शेषः ॥
अथ क्रमेण सक्तिसम्भवादुत्तरा गतिरुच्यतां किमिति दक्षिणा तृतीया च
संसाररूपा गतिरिति निरुद्धा व्यपदिश्यते तत्राह । कष्टतरेति ॥ सगुणब्रह्म
विद्यावातमर्चिराद्यां गतिसुक्ता ससञ्चितानामससञ्चितानां कर्म्मणां
संसारगतिप्रभेदरूपं फलं वक्तुमयमारम्भ इत्यर्थः । कर्म्मविधिसं धन-
सम्पत्तौ सत्यां भवति । तत्सम्पत्तिश्च ब्राह्मणस्य अष्टे सत्येव सम्भवतीति
अष्टसिद्धये प्राणोपासनं पूर्व्वत्वात्तुक्तं वक्तव्यमित्यनन्तरपत्त्यसङ्गतिं वदन्
प्रसङ्गं करोति । प्राणः अष्ट इत्यादिना ॥ प्राणो ब्रह्मेत्यादिवाक्यमादि-
शब्दार्थः । उदाहृतात्तुदाहृतस्यत्यनन्तरसमुद्भवायेंशकारः । प्राणस्य वागा-
दिभ्यः अष्टसक्तमात्रमिति । कथमिति ॥ सर्वैर्वागादिभिः संहृत्य प्राणस्य

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां
भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥ यो ह वै प्रतिष्ठां

कथञ्च तस्योपासनमिति तस्य श्रेष्ठत्वादिगुणविधित्वया
इदमनन्तरमारभ्यते ॥

यो ह वै कश्चिज्ज्येष्ठश्च प्रथमं वयसा, श्रेष्ठश्च गुणै-
रभ्यधिकं वेद स ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति फलेन
पुरुषं प्रलोभ्याभिसुखीकृत्याह । प्राणो वाव ज्येष्ठश्च वयसा
वागादिभ्यः । गर्भस्थे हि पुरुषे प्राणस्य वृत्तिर्वागा-
दिभ्यः पूर्वं लब्धात्मिका भवति । यथा गर्भो विवर्धते
चक्षुरादिस्थानावयवनिष्पत्तौ सत्यां पञ्चाङ्गादीनां वृत्ति-
लाभ इति प्राणो ज्येष्ठो वयसा भवति । श्रेष्ठत्वन्तु

कार्यकरत्वे सम्प्रतिपन्नो स एव कथं श्रेष्ठो निर्द्धार्यते तेषामन्यतमस्यैव श्रेष्ठ-
किं ? न स्यादित्यर्थः ॥

तस्यैवोपास्यतया श्रेष्ठमायङ्कृतं वागादीनामन्यतमस्योपास्यत्वमपास्य
प्राणस्यैव नोपास्यत्वं हेत्वभावादित्यालोपान्तरमाह । कथञ्चेति ॥ प्राणस्य
श्रेष्ठत्वं ज्येष्ठत्वमित्यादिगुणविधानार्थमेव तावत् प्रथममारभ्यते । यो ह
वै ज्येष्ठश्चेति, आद्यश्रोतं परिहरति । प्रथममिति ॥ प्राणस्यैवोपासनं न
वागादीनामित्येतदनन्तरमारभ्यते । अथ ह प्राण उच्चैःक्रमिष्यन् इत्या-
दिनेति ॥ द्वितीयं श्रोतमुद्धरति ॥ इदमनन्तरमिति ॥ कोऽसौ ज्येष्ठत्व-
श्रेष्ठत्वगुणो वेदितव्य इत्याह । फलेनेति ॥ कुतो वागादिभ्यो ज्येष्ठ-
प्राणस्य प्रतीतम् । सर्वे हि वागादयः संप्राणाः सहैव गर्भस्थे स्ततो वृत्ति-
भागिनो भवन्ति तत्राह । गर्भस्थे हीति ॥ तत्र गर्भविद्वद्भिर्दर्शनं प्रमाणा-
वति । यथेति ॥ कदा तर्हि वागादीनां वृत्तिलाभस्तत्राह । चक्षुरा-

वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽस्मिंश्च
चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥ यो ह वै सम्पदं वेद
स्हास्त्रैकामाः पद्यन्ते देवाश्च मानुषाश्च ओजं
वाव सम्पत् ॥ ४ ॥ यो ह वा आयतनं वेदायतन्

प्रतिपादयिष्यति सुहय इत्यादिनिदर्शनेन । अतः प्राण
एव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्चास्मिन् कार्यकारणसङ्घाते ॥

यो ह वै वसिष्ठं वसिष्ठतममाच्छादयित्वतमं वसु-
मत्तमं वायोवेद स तथैव वसिष्ठो ह भवति स्थानां ज्ञाती-
नाम् । कस्तर्हि वसिष्ठ इत्याह । वाग्वाव वसिष्ठो वाग्मिनो
हि पुत्रा वसन्ति अभिभवन्त्यन्यान् वसुमत्तमांश्चातो
वाग्वसिष्ठः । यो ह वै प्रतिष्ठां वेद स चास्मिन् लोके सु-
स्मिंश्च परे प्रति तिष्ठति ह । तर्हि का प्रतिष्ठेत्याह । क्षु-
र्वाव प्रतिष्ठा । चक्षुषा हि पश्यन् समे च दुर्गे च प्रति-
तिष्ठति यस्मादतः प्रतिष्ठा चक्षुः । यो ह वै सम्पदं वेद तस्मा
अस्त्रै देवाश्च मानुषाश्च कामाः सम्पद्यन्ते तर्हि का सम्प-

दोति ॥ प्राणस्य त्रैश्वं प्रतिपादितं निगमयति । इति प्राण इति ॥
गुणद्वयसुपास्यत्वाय दर्शितं निगमयति । अत इति ॥

तदर्थत्वेनैव गुणान्तरं दर्शयति । यो ह वा इति ॥ वसुमत्तमं धन-
वत्त्वादग्रेषां निवासकारणमित्यर्थः । तथैवेत्युपासनासारेणेति यावत् ।
वसिष्ठो ह भवतीति वासयिता चेत्यर्थः ॥ वाचो वसिष्ठत्वं समर्पयते ।
वाग्मिनो ह्येति ॥ वसुमत्तमाश्च तेनात्याज्जिवायन्तीति शेषः ॥ गुणान्तरं
माध्यानाद्योपदिशति । यो ह्येति ॥ प्रतिष्ठात्वं चक्षुषो विशदयति ।

ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ४ ॥
 अथ ह प्राणा अहं येयसि व्यूदिरेहं
 येयानस्याहं येयानस्मीति ते ह प्राणाः प्रजा-
 पतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति

दित्याह । ओत्वं वाव सम्पत् । यस्माच्छ्रोत्रेण वेदं गृह्णन्ते
 तदर्थविज्ञानञ्च ततः कर्माणि क्रियन्ते ततः कामं सम्पदि-
 त्वेवं कामसम्पद्धेतुत्वात् । ओत्वं वाव सम्पत् । यो ह वा आय-
 तनं वेदायतनं स्वानां भवति । मनो ह वा आयतनम् ॥
 इन्द्रियोपहृतामां विषयाणां भोक्तृथानां प्रत्ययरू-
 पाणां मन आयतनमाश्रयः । अतो मनो ह वा आय-
 तनमित्युक्तम् । अथ ह प्राणा एवं यथोक्तगुणाः सन्तोऽहं
 येयस्यहं येयानस्याहं येयानस्मीति एतस्मिन् प्रयोजने
 व्यूदिरे नाना विरुद्धोदिरे उक्तवन्तस्ते ह ते हैवं
 विवदमाना आत्मनः श्रेष्ठविविज्ञानाय प्रजापतिं पितरं
 जनयितारं कश्चिदेत्योचुर्भगवन्तो हे भगवन् को नोऽस्माकं
 मध्ये श्रेष्ठोऽभ्यधिको गुणैरित्येवं पृष्ठवन्तः । तान् पितोवाच
 ह यस्मिन् वो युष्माकं मध्ये उत्क्रान्ते शरीरमिदं पापिष्ठ-

चक्षुषा ह्येति ॥ गुणान्तरमाह । यो ह वा इति ॥ देवाः काक्षाः स्वर्गा-
 दयो वा मानुषाः पञ्चादयः । ओत्वंस्य सम्पत्वं साधयति । यस्मादिति ॥
 इत्येवं यस्मात्सस्मादिति योजना ॥ सम्पत्ति गुणान्तरमाह । यो हेति ॥
 कथं पुनरायतनत्वं मनसः सिद्धमित्यत आह । इन्द्रियोपहृतानामिति ॥

तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापि-
 छतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥
 सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्य्ये-
 त्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा
 कला अवदन्तः प्राणन्ता प्राणेन पश्यन्तच्चक्षुषा
 शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश
 ह वाक् ॥ ८ ॥ चक्षुर्हीच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य
 पर्य्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा
 ऽन्वा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा
 शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश

मित्रातिशयेन जीवितोऽपि समुत्क्रान्तप्राणं ततोऽपि पि-
 छतरमेवातिशयेन दृश्यते । कुणपमस्यृष्यमशुचि दृश्यं स
 वो युष्माकं श्रेष्ठ इत्यवोचत् काका तदुःखं परिजिहीर्षुः ।

तथोक्तेषु पित्रा प्राणेषु सा ह वागुच्चक्रामोत्क्रान्तवती ।
 सा चोत्क्रस्य संवत्सरमात्रं प्रोष्य स्वव्यापारान्निवृत्ता सती
 पुनः पर्य्येत्येतरेतान् प्राणानुवाच कथं केन प्रकारेण, अशकत
 शक्त्वन्तो यूयं महते मां विना जीवितुं धारयितुमात्मान-

अथोक्ता गुणा मुख्यप्राणगामिनः प्रत्येकं वागदिपुन भवन्तीति वक्तुमाख्या-
 यिकां प्रणयति । अथेति ॥ कश्चिद्विराजं कल्पपादीनामन्यतमं वेत्त्यर्थः ।
 शरीरस्य पापिष्ठत्वं पापकार्यप्रधानत्वम् । इवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ उक्त-
 मेवार्थं सङ्क्षिप्याह । कुणपमिति ॥ त्यक्तप्राणीं शबरूपमिति यावत् ॥

ननु प्रजापतिः सर्वज्ञो मुख्यमेव प्राणं किमिति श्रेष्ठं नाभिवदति

ह चक्षुः॥८॥ श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य
 पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा
 बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा
 पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह
 श्रोत्रम्॥१०॥ मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य
 पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा
 बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा
 पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश
 ह मनः॥११॥ अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्स यथा
 सुहयः पक्षीशशङ्खून् सङ्घिदेदेवमितरान् प्राणान्
 समखिदत्त ॥ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वन्तःश्रेष्ठः

मिति ते होचुर्यथा कला इत्यादि । कला मूका यथा लोकेऽ
 वदन्तो वाचा जीवन्ति । कथम् । प्राणन्तः प्राणेन, पश्यन्त-
 श्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, ध्यायन्तो मनसा, सर्व्वकरणचेष्टां
 कुर्व्वन्त इत्यर्थः । एवं वयमजीविष्येत्यर्थः । आत्मनोऽश्रेष्ठतां
 प्राणेषु बुद्ध्या प्रविवेश ह वाक् पुनः स्वव्यापारे प्रवृत्ता बभू-
 वेत्यर्थः । समानमन्यत् । चक्षुर्ह उच्चक्राम श्रोत्रं होच्चक्राम
 मनो होच्चक्रामेत्यादि । यथा बालाअमनसः अपरूढमनस

तत्ताह । काकोति ॥ अयं श्रेष्ठ इत्युक्ते एतेषां वागादीनां दुःखं तत्परि-
 हर्त्तुं निष्कन् प्रजापतिः स्वरभङ्गोपायविशेषेण श्रेष्ठत्वसुक्तवाद्य स्फुट-
 मित्यर्थः ॥ अन्यदित्यस्य विषयमाह । चक्षुरिति ॥ बालानामपि बहिरन्त-

ऽसि मोक्षमौरिति ॥ ७२ ॥ अथ हैनं वागु-
वाच यदहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं
चक्षुस्वाच। यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति
॥ १३ ॥ अथ हैन् ओचसुवाच यदहं सम्प-

दुत्थयः ॥ एवं परीक्षितेषु वागादिष्वथानन्तरं ह स मुख्यः
प्राण उच्चिक्रमिष्यन्नुत्क्रान्तुमिच्छन् किमकरोदित्युच्यते ।
यथा लोके सुहयः शोभनोऽश्वः पङ्कवीशश्चङ्गुन् पाद-
बन्धनकीलान् परीक्षणाया रूढेन कशया हतः सन्
सङ्क्षिदेत् समुत्खनेत् समुत्पाटयेत् एवमितरान् वागा-
दीन्समुत्खिदत् समुद्धृतवान् । ते प्राणाः सञ्चालिता-
सन्तः स्वस्थाने स्थातुमनुत्सहमाना अभिसमेत्य मुख्यं प्राणं
तमूचर्हे मगवन् एधि भव नः स्वामी यस्मात्त्वं नोऽस्माकं
अष्टोऽसि मा चास्मद्देहादुत्क्रमीरिति । अथ हैनं वागादयः
प्राणस्य अष्टत्वं कार्य्येणापादयन्त आर्द्धवर्जिमिव हरन्
राज्ञो विशः । कथं वाक् तावदुवाच यदहं वशिष्ठाऽस्मि
यदिति क्रियाविशेषणम् । यद्वसिष्ठत्वगुणास्मीत्यर्थः । त्वत्त्वद्व-
सिष्ठस्तेन वसिष्ठत्वगुणेन त्वं तद्वसिष्ठोऽसि तद्गुणस्त्वमित्यर्थः ॥

रिन्द्रियत्वाविशेषात्कथमनस इति विशेषणमत आह । अपरूढेति ॥
परीक्षितेषु अष्टतारहितेषु निरूप्योपनिश्चितेष्वित्येतत्पदनशीलाः पादा-
स्तेषां संहतिः पट्टिस्तस्या ईशा नियामकाः शङ्खवः वस्त्रे विकारम्व्यान्दसः ।
तान्वधोक्तानश्चो ब्रुगपदुत्पाटयेत् ॥ अथेति षडान्तसङ्का दार्ष्टान्तिकमाह ।
एवमिति ॥ मयि अथैवधीर्युष्माकमस्तीति कथं ज्ञातुं शक्यमित्याशङ्काह ।

दस्मि त्वं तत्सम्पदसौत्यथ हैनं मन उवाच यद-
हमायतनमस्मि त्वं तदायनमसीति ॥१४॥ न वै
वाचो न चक्षूषि न श्रोत्राणि न मनांसी-

अथवा तच्छब्दोऽपि क्रियाविशेषणमेव । त्वत्कृतस्त्वदी-
योऽसौ वसिष्ठत्वगुणोऽज्ञानान्धमेति मयाभिमत इत्येतत् ।
तथोत्तरेषु योज्यं चक्षुः श्रोत्रमनःसु श्रुतेरिदं वचो युक्तमिदं
वागादिभिर्मुख्यं प्राणं प्रत्यभिहितं यस्मान्न वै लोके वाचो
न चक्षूषि न श्रोत्राणि न मनांसीति वागादीनि कर-
णान्याचक्षते लौकिका आगमज्ञा वा किन्तर्हि प्राणा
इत्येवाचक्षते कथयन्ति यस्मात्प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि
वागादीनि करणजातानि भवत्यतो मुख्यं प्राणं प्रत्यनु-
रूपमेव वागादिभिरुक्तमिति प्रकरणार्थमुपसञ्जिहीर्षति ॥

अथेति ॥ वचनं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति । कथमित्यादिना ॥ क्रियाविशे-
षणत्वमेव विशदयति । यद्वसिष्ठत्वेति ॥ वसिष्ठत्वेन गुणेनाहं गुणवागस्मि
यत्तत्त्वमेवेति योजना । अनन्तरं वाक्यमादाय व्याचष्टे । त्वमित्यादिना
तद्वसिष्ठ इति समस्तपदमिति गृहीत्वा व्याख्याय पक्षान्तरमाह । अथ
वेति ॥ यच्छब्दवदित्यपेक्षः । अहं वसिष्ठत्वगुणोऽस्मीति यत्तत्त्वमेव
वसिष्ठत्वगुणोऽसीति कथमिदानीदृश्यते । अन्यथा हि पूर्वमभिधानस्त-
वासौदित्याशङ्क्याह । त्वत्कृत इति ॥ वाचि दर्शितं न्ययं चक्षुरादावति-
दिशति । तथेति ॥ वागादिवचनादुत्थाय प्राणाधीनतां वागादेः श्रुतिरेव
कथयन्तीत्युत्तरस्य 'न वै वाच' इत्यादेस्तात्पर्यमाह । श्रुतेरिति ॥ तदेव
च सोपस्कारं व्याकरोति । युक्तमित्यादिना ॥ यदि सर्वाण्येव करणानि

त्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो हेतैतानि
सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥ १ ॥

ननु कथमिदं युक्तं चेतनावन्त इव पुरुषा अहं श्रेष्ठता
विवदन्तोऽन्योन्यं स्पर्द्धयेयुरिति । न हि चक्षुरादीनां
वाचं प्रत्याख्याय प्रत्येकं वदनं सम्भवति । तथापगमो देहा-
त्पुनः प्रवेशो ब्रह्मगमनं प्राणस्तुतिर्वोपपद्यते । तत्राग्न्यादि-
चेतनावद्देवताधिष्ठितत्वाद्वागादीनां चेतनावत्त्वं तावत्सिद्ध-

वाक्त्वान्वाणि स्युस्तर्हि वाचमित्येव तानि ब्रूयुः । यदि चक्षुस्तन्वाणि
स्युस्तदा सर्वाण्येव चक्षुं प्रीति वदेयुः । न चैवं वदन्ति प्राणा इति तु
तानि कथयन्ति । तस्मात्प्राणपारतन्त्र्यं करणानां सिद्धमित्यर्थः । वागा-
दिभिरुक्तत्वं त्वद्वसिष्ठोऽस्मीत्यादि प्राणस्यैव यथोक्तगुणवतो ध्येयत्वं प्रक-
रणार्थः ॥ साक्षादुपसंहारादर्शनादुपसङ्गिहीर्षतीत्युक्तम् । आख्यायिकाया
यथा श्रुतमर्थमाक्षिपति । नन्विति ॥ यथा पुरुषाश्चेतनावन्तो विवदमानाः
स्पर्द्धन्ते तथा वागादयोऽचेतनाः स्वकीयश्रेष्ठत्वसिद्ध्यर्थं विप्रतिपक्षा मिश-
स्पर्द्धेरन्निति न युक्तमचेतनेषु स्पर्द्धादेरदर्शनादित्यर्थः । किञ्च वाग्व्य-
रिक्तानामन्योन्यं वचनमेवानुचितं वचनस्य वाग्व्यापारत्वादित्याह । न
हीति ॥ किञ्च वागादीनां देहोत्सर्पणाद्ययुक्तमचेतनत्वादित्याह ।
तथेति ॥ वागब्दो न हीत्यस्यानुकर्षणार्थः । अग्न्यादयश्चेतनावन्तो देवता-
स्ताभिरधिष्ठितत्वात्साक्षादात्मप्राप्रायेण वागादीनां चेतनावत्त्वसम्भवाद्द-
नादिव्यवहारः सम्भवतीति ॥ “अग्निर्वाग्भूत्वा सुखं प्राविशदिति” श्रुति-
मनुकृत्योत्तरमाह । तत्रेति ॥ एकस्मिन्देहे अनेकचेतनावतां विरुद्धाने-
काभिप्रायानुविधायित्वेन देहस्थोऽन्यथमसङ्गादक्रियत्वमसङ्गाद्वा नानेक-
चेतनाधिष्ठितत्वमेकस्य देहस्य सम्भवतीति शङ्कते । तार्किकेति ॥ किमेक-
शरीरमनेकचेतनाधिष्ठितं न भवति किं वा तैर्निर्णीतकर्तृभोक्तृधि-
ष्ठितमिति विकल्पप्राप्त्यं दूषयति । नेतीति ॥ अस्ति हि परमते शरीरस्य

भागमतः । तार्किकसमयविरोध इति चेत् । देहे एकस्मिन्नेकचेतनावत्त्वेनेश्वरस्य निमित्तकारणत्वाभ्युपगमात् ।

ये तावदीश्वरमभ्युपगच्छन्ति तार्किकास्तो मनश्चादि-
कार्यकारणानामाध्यात्मिकानां वाह्यानाञ्च पृथिव्यादीनाम्
ईश्वराधिष्ठितानामेव नियमेन प्रवृत्तिमिच्छन्ति रथादि-
वत् । न चास्याभिरग्न्याद्याश्चेतनावत्यो देवता अध्यात्म-
कर्तृभोक्तृयोस्या अभ्युपगम्यन्ते किं तर्हि कार्यकरणवतीनां
हि तासां प्राणैकदेवताभेदानां अध्यात्माधिभूताधिदैव-
भेदकोटिविकल्पानां । अध्यक्षतामात्रेण नियन्तेश्वरोऽभ्युप-
गम्यते । स ह्यकरणः । “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता

जीवाधिष्ठितस्त्वेवेश्वराधिष्ठितत्वं तथाचैकशरीरमनेकचेतनाधिष्ठितं न
भवतीति नास्ति स्वेश्वरवादिनां शङ्केत्यर्थः ॥

सङ्गहवाक्यं विवृणोति । ये तावदिति ॥ अचेतनानां चेतनाधिष्-
तानामेव प्रवृत्तिरित्यत्र दृष्टान्तमाह । रथादिवदिति ॥ द्वितीयं प्रत्याह ।
न चेति ॥ कार्यकारणानामधिष्ठातृदेवतानां तर्हि तत्कार्यकारणानां
किमधिष्ठातृदेवतान्तरमिति पृच्छति । किन्तुर्हीति ॥ देवताकार्यकारणा-
नामधिष्ठातृदेवतान्तरमिष्टं चेदनवस्था स्यादिति मन्वानं प्रत्याह । कार्य-
करणवतीनामिति ॥ शाकल्यब्राह्मणमनुसृत्याह । प्राणोति ॥ ननु भूयस्यो
देवताः कथं तासां प्राणलक्षणैकदेवताप्रभेदत्वमत आह । अध्यात्मेति ॥
अध्यात्माधिभूताधिदेवानां भेदकोटिभिर्विकल्पो यासामिति विपश्चः ॥
नियन्तृत्वप्रयुक्तव्यापारवत्त्वं वारयितुं विशिनष्टि । अध्यक्षतामात्रेणोति ॥
अथेश्वरस्यापि नियन्तृत्वात्कार्यकारणवत्त्वं देवतानामिव स्यादिति चेत्से-
त्याह । स हीति ॥ अकरणत्वमकार्यत्वस्योपलक्षणम् ॥ तत्र नृतिं प्रमाण-
यति । अपाणीति । आदिपदेन च न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यत
इत्यादि मन्त्रवर्णो गृहीतः । सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः सा चैका समष्टिरूपा

पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः” इत्यादिमन्त्रवर्णात्! “हिरण्य-
गर्भं पश्यति जायमानम्” “हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्व” मि-
त्यादि च श्वेताश्वतरीयाः पठन्ति ।

भोक्ता कर्मफलसम्बन्धी देहे तद्विलक्षणो जीव इति
वक्ष्यामः । वागादीनाञ्चेह संवादः कल्पितो विदुषोऽन्वय-
व्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रेष्ठतानिर्द्धारणार्थम् । यथा लोके
पुरुषा अन्योन्यमात्मनः श्रेष्ठतायै विवदमानाः कश्चिद्गुण-
विशेषाभिज्ञं पृच्छन्ति को नः श्रेष्ठो गुणैरिति । तेनोक्त
एकैकश्चेन अदः कार्यं साधयितुमुद्यच्छन्तु । येनादः कार्यं
साध्यते स वः श्रेष्ठ इत्युक्तास्तथा एवोद्यच्छन्त आत्मनो
ऽन्यस्य वा श्रेष्ठतां निर्द्धारयन्ति । तथेमं संव्यवहारं वागा-
दिषु कल्पितवती श्रुतिः । कथं नाम विद्वान् वागा-
दीनामेकैकस्याभावेऽपि जीवनं दुष्टं न तु प्राणस्येति
प्राणश्रेष्ठतां प्रतिपद्यत इति । तथाच श्रुतिः कौपीत-
किनाम् । “जीवति वागपेतो भूकान् हि पश्यामो जीवति

देवता तदवस्थाभेदानां देवतानामीश्वरो नियन्तेत्युक्तं तत्र प्रमाणमाह ।
हिरण्यगर्भमिति ॥ आदिपदेन हिरण्यगर्भः समवर्त्ततेत्यादि गृह्यते ॥

देवानामीश्वरस्य चास्मिन्देहे भोक्तृत्वाभावे कस्य भोक्तृत्वमित्यत
आह । भोक्तेति ॥ तद्विलक्षणो देवतेश्वराभ्यां व्यावृत्त इति यावत् । वागा-
दिशब्दाच्च श्वेतनावत्यो देवता इति स्वीकृत्य स्वाधिकार्याश्चायनिष्पत्त्यर्थ-
मुक्तमिदानीं तस्य स्तात्यर्थमाह । वागदीनाञ्चेति ॥ कल्पनाप्रयोजन-
माह । विदुष इति ॥ यथोक्तां कल्पनां दृष्टान्तेऽप्यप्यति । यथेत्यादिना ॥
तेनोक्ता इत्युक्तमेव व्यनक्ति । एकैकश्चेनेति ॥ विदुष इत्यादिनोक्तं प्रयोजनं

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति बत्किञ्चिद-
दिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एत-
दनस्य न्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवं-

चक्षुरपेतोऽन्वान् हि पश्यामी जीवति, श्रोत्रापेतो बधिरान्
हि पश्यामी जीवति मनोऽपेतो बालान् हि पश्यामी
जीवति वाङ्मूर्च्छिन्नो जीवत्यूर्च्छिन्न” इत्याद्या ॥ १ ॥

स होवाच मुख्यः प्राणः किं मेऽन्नं भविष्यतीति । मुख्य-
प्राणं प्रथारमिव कल्पयित्वा वादादीन् प्रति वक्तृनिव
कल्पयन्ती श्रुतिराह । यदिदं लोकेऽन्नजातं प्रसिद्धमाश्वभ्य
आश्वभिः सहऽऽशकुनिभ्यः सह शकुनिभिः सर्वप्राणिनां
यदन्नं तत्तवान्नमिति होचुर्वागादय इति । प्राणस्य
सर्वमन्नं प्राणोऽन्ना सर्वस्यान्नस्येत्येवंप्रतिपत्तये कल्पि-

प्रकटयति । कथं नास्मेति ॥ विद्वान् प्राणञ्चेष्टतां कथं नाम प्रतिपद्ये-
तेति सम्बन्धः ॥ प्रतिपत्तिप्रकारं सङ्क्षिपति । वागादीनामिति ॥ फल-
वती कल्पनेति शेषः ॥ दृष्टेऽप्यर्थे श्रुतिमनुष्माहकत्वेन दर्शयति । तथा
चेति ॥ १ ॥

वागादीनां स्वामी श्रैष्ठ्यादिगुणः प्राणोऽस्मीति विद्यादिति प्रधा-
नविद्यासप्तदिश्य तद्दर्शनाङ्गभूतास्रवासोऽदिविधानार्थे प्रक्रमे प्रथमस्र-
दृष्टिं विधातुं प्रसङ्गं प्रकुरुते । स होवाचेति ॥ मुख्यस्य प्राणस्य प्रवृत्तं
वागादीनां प्रति वक्तृत्वं काल्पनिकमित्याह । मुख्यमिति । यदिदमित्युक्त-
मेव च यत्पदं वाक्यार्थकल्पनार्थं यदन्नमित्यत्रानूद्यते । तद्वा शब्दित्यादि ॥
उत्तरवाक्यस्य पूर्ववाक्यार्थभेदाभावमाशङ्क्याह । प्राणस्येति ॥ प्राणशब्दं
विज्ञायाऽनःशब्दप्रयोगे तात्पर्यमाह । सर्वप्रकारेति ॥ अन्न चेष्टायामिति
धातुजज्ञानशब्दस्वीपादानं सर्वप्रकारचेष्टया प्राणस्य प्राप्तिगुणप्रद-

विदि किञ्च नान्नं भवतीति ॥ १ ॥ स होवाच
किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा

ताख्यायिका रूपाद्याट्य स्वेन श्रुतिरूपेणाह । तद्वै एत-
द्यत्किञ्चिल्लोके प्राणिभिरन्नमनद्यते अन्नस्य प्राणस्य
तदन्न प्राणेनैव तदद्यत इत्यर्थः । सर्वप्रकारचेष्टा-
व्याप्तिगुणप्रदर्शनार्थमन इति प्राणस्य प्रत्यक्षं नाम ।
प्राद्युपसर्गपूर्वत्वे हि विशेषगतिरेव स्यात् । तथाच सर्वा-
न्नानामन्तुर्नामग्रहणमितीदं प्रत्यक्षं नाम अन्न इति ।
सर्वान्नानामन्तुः साक्षादभिधानं । न ह वै एवंविदि
यथोक्तप्राणविदि प्राणोऽहमस्मि सर्वभूतस्थः सर्वानना-
मन्तेति तस्मिन्नेवंविदि ह वै किञ्चन किञ्चिदपि प्रा-
णभिराद्यं सर्वैरन्नमनद्यं न भवति सर्वमेवविद्यन् व-
तीत्यर्थः । प्राणभूतत्वाद्विदुषः । “प्राणाद्वा एष ति

र्थनर्थम् । तथा यः कोऽपि दहति शोषयति भ्रावयति वा सर्वोऽपि प्राण
एवेति युक्तम् । प्राणस्थान इति नामेत्यर्थः । प्रत्यक्षं पूर्वोक्तधातुजनाना-
मेति यावत् ॥

उक्तमेवार्थं समर्थयते । प्रादीति ॥ अन्नशब्दस्येति शेषः । न प्राणस्य
सर्वचेष्टाप्रित्येवकारार्थः । तथाच प्राणादिशब्दोपादाने विशेषव्याप्ति-
रेवेति स्थिते सतीत्यर्थः । अन्न इति प्रत्यक्षमिदं नाम । सर्वान्नानामन्तु-
र्नामग्रहणमिति सम्बन्धः ॥ तदेव व्याचष्टे । सर्वान्नानामिति ॥ ततश्च
प्राणशब्दस्य प्राणविदः सर्वमन्नं चेत्तद्विदुषो भक्ष्याभक्ष्यविभागासिद्धौ
तद्विषयं शास्त्रं विरुध्येतेत्याशङ्क्याध्यात्मिकं रूपं हित्वाऽधिदेविकेन
रूपेण तस्य सर्वान्नत्वे विभागशास्त्रमाध्यात्मिकपरिच्छेदविषयत्वेनाविरुद्ध
मित्याह । प्राणभूतत्वादिति प्राणभूतो विद्वानित्यत्र श्रुत्यन्तरं

एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्ठाञ्चाङ्घ्रिः परिद-
धति लम्बुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति॥२॥

प्राणोऽस्मेतीति, “त्युपक्रम्यवविदो ह वा उदेति सूर्य्य एवंविद्य-
स्मेतीति” अत्यन्तरात् ॥

स होवाच पुनः प्राणः । पूर्ववदेव कल्पना । किं मे वासो
भविष्यतीत्यर्थ इति होचुर्वागादयः । यस्मात्प्राणस्य वास
आपस्तम्बाद्वा एतदशिष्यन्तो भोक्ष्यमाणा भुक्तवन्तश्च
ब्राह्मणा विद्वांस एतत्कुर्वन्ति । किम् ? अङ्घ्रिर्वासस्थानीयाभिः
पुरस्ताङ्गोजनात्पूर्वमुपरिष्ठाञ्च भोजनादूर्ध्वञ्च परिदधति
परिधानं कुर्वन्ति मुख्यस्य प्राणस्य लम्बुको लम्बनशीलो
वासो भवति । वाससो लब्ध्वैव भवतीत्यर्थः । अनग्नो भवति ।
वाससो लम्बु कृत्वेनार्थसिद्धैवानग्नता इत्यनग्नो ह भवतीत्यु-
त्तरीयवान् भवतीत्येतत् । भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदा-
चमनं शुद्ध्यर्थं विज्ञातं तस्मिन् प्राणस्य वास इति दर्शनमा-
त्रमिह विधीयते । अङ्घ्रिः परिदधतीति नाचमनान्तरम् ।
यथा लौकिकैः प्राणिभिरद्यमानमन्नं प्राणस्येति दर्शन-

संवादयति । प्राणाद्वेति ॥ प्राणविद्याकृत्वेनाङ्घ्रिदृष्टिरुपदिष्टा ॥
सम्प्रति तदङ्गत्वेन वासोऽङ्घ्रिं प्रस्तौति । स होवाचेति ॥ अत्रापि प्राणस्य
प्रवृत्तं वागादीनां प्रति वक्तृत्वञ्च कल्पितमेवेत्याह । पूर्ववदिति ॥ अपां
प्राणं प्रति वासोऽङ्गत्वे गमकमाह । यथादिति ॥ वासोऽङ्घ्रिफल-
माचष्टे । लम्बुक इति ॥ अनग्नो ह भवतीत्यस्य पौनरुक्त्य-
माशङ्क्यार्थविशेषमाह । वास इति ॥ आचमनान्तरं प्राणविदो विधीयते
एवंविदशिष्यत्वाच्चास्मेदिति श्रुतेरित्याशङ्क्याह । भोक्ष्यमाणस्येति ॥ आदि-

मात्रं । तद्वत्किं मे वास इत्यादि प्रश्नप्रतिवचनयोस्तुल्य-
त्वात् । यद्याचमनमपूर्वं तादर्थ्येन क्रियेत तदा कस्याद्य-
न्नमपि प्राणस्येति भक्ष्यत्वेन विहितं स्यात् ।

तुल्ययोर्विज्ञानार्थयोः प्रश्नप्रतिवचनयोः प्रकरणस्य
विज्ञानार्थत्वादङ्गजरतीयो न्यायो न युक्तः कल्पयितुम् ।
यत्तु प्रसिद्धमाचमनं प्रायत्थार्थं प्राणस्थानग्नतार्थञ्च न
भभतीत्युच्यते न तथा वयमाचमनमुभयार्थं ब्रूमः ।
किन्तुहि प्रायत्थार्थाचमनसाधनभूता आपः प्राणस्य वास
इति दर्शनस्योद्यत इति ब्रूमः । तत्राचमनस्योभ-
यार्थत्वप्रसङ्गदोषचोदनानुपपन्ना । वासोऽर्थ एवाचमने
तद्दर्शनं स्यादिति चेत् । न । वासोज्ञानार्थवाक्ये वासोऽर्थो

पदेन प्रश्नप्रतिवचने न दृष्टेते । सर्वप्राणिभोग्येऽप्ये तद्व्याप्तमिति दृष्टिवदा-
चमनीयास्तपसु तस्य विधीयते ॥ वासोऽर्हदित्युक्तं व्यतिरेकद्वारा विदु-
षोति । यदीति ॥ तादर्थ्येनानग्नतार्थ्येनेति यावत् ॥

अथ पूर्वमङ्गदृष्टिरेव विधीयते । सर्वान्नभक्षणस्य प्रमाणविरुद्धत्वा-
दिह त्वपूर्वमाचमनस्यविरोधाद्विधीयतामित्याशङ्क्याह । तुल्ययोरिति ॥
एकस्याचमनस्य श्रद्धार्थत्वमग्नतार्थञ्च वक्तुमशक्यं विरोधादित्याशङ्क्याह ।
यन्निवृत्तिः ॥ विरोधो यथा स्यात्तत्रेति यावत् । तर्हि कीदृगाचमनं विव-
क्षितमित्याह । किन्तुर्हीति ॥ प्रयत्नस्य भावः प्रायत्थं तदार्था या आचमन
क्रिया तत्साधनभूतास्तपसु वासःसङ्कल्पनं क्रियान्तरमत्र विधिक्षितमि-
त्याह । प्रायस्येति ॥ क्रियाभेदे फलितमाह । तत्रेति ॥ अन्यार्थास्तपसु
अन्यार्थत्वचिन्तने प्रमाणविरोधाद्विधियोगेन वासोऽर्थमाचमनान्तरमेव
विधेयम् । तत्र आग्नतार्थत्वचिन्तनमुचितमिति शङ्कार्थः । वासोऽर्थो-
पूर्वमाचमनविधाने तत्रानग्नतार्थत्वदृष्टिविधाने च वाक्यभेदप्रसङ्गादसिद्धा

तद्वैतस्यैव कामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रप-
द्यायोक्तोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयात्
ज्जायेरन्नेवास्मिच्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानैति
॥ ३ ॥ अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां
दोक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं

पूर्वाचमनविधाने तवानग्नार्थत्वदृष्टिविधाने च वाक्य-
भेदः। आचमनस्य तदर्थत्वमन्यार्थत्वञ्चेति प्रमाणाभावात्।

तदेतत्प्राणदर्शनं स्तुयते। कथं तद्वैतप्राणदर्शनं सत्य-
कामो जाबालो गोश्रुतये नान्ना वैयाघ्रपद्याय व्याघ्र-
पदोऽपत्यं वैयाघ्रपद्यस्तस्मै गोश्रुत्याख्यायोक्तोवाचाऽन्य-
दपि वक्ष्यमाणं वचः। किन्तुवाचेत्याह। यद्यपि शुष्काय
स्थाणवे एतद्दर्शनं ब्रूयात् प्राणवित्, जायेरन्त्यद्वे-
वास्मिन् स्थाणौ शाखाः प्ररोहेयुश्च पलाशानि च पलाणि।
किमु जीवते पुरुषाय ब्रूयादिति। यथोक्तप्राणदर्शनविद-
इदं मन्त्राख्यं कर्म्मरभ्यते। अथानन्तरं यदि महन्महत्त्वं

चमनसाधनमूतास्त्रपुं वासोदृष्टिपरमेव च वाक्यमित्युत्तरमाह। नेत्या-
दिना॥ वासोऽर्थत्वमन्यार्थत्वं दृष्टार्थत्वमित्युक्ते प्रमाणस्यैकस्य वाक्यस्या-
प्रमाणत्वप्रसङ्गादिति यावत्॥

तद्वैतदित्यादि वक्तव्यं विधानार्थं नापि फलवचनं तथाच व्यर्थमित्या-
शङ्क्याह। तदेतदिति॥ स्तुतिमेव प्रश्नपूर्वकं विदुषोति। कथञ्चिति॥
जीवते पुरुषाय प्राणविद्यावत्त्वदर्शनं ब्रूयात्तदास्मिन्महाफलं भवतीति
किमु वक्तव्यमिति योजना। गोदोहनप्रदधिकृताधिकारमिदं कर्म्म प्राण-

दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्य-
 ग्नावाज्यस्य ऊत्वा मन्ये सम्पातमवनयेत् ॥ ४ ॥
 वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य ऊत्वा मन्ये
 सम्पातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य
 ऊत्वा मन्ये सम्पातमवनयेत्सम्पदे स्वाहेत्यग्नावा-
 ज्यस्य ऊत्वा मन्ये सम्पातमवनयेदायतनाय
 स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य ऊत्वा मन्ये सम्पातमवनयेत्
 ॥ ५ ॥ अथ प्रतिसृष्ट्याञ्जलौ मन्यमाधाय जप-

जिगमिषेत् गन्तुमिच्छेन्नहत्त्वं प्राप्तुं यदि कामं दि-
 त्यर्थः । तस्येदं कर्म्म विधीयते । महत्त्वे सति श्रीम-
 नते । श्रीमतो ह्यर्थं प्राप्तं धनं, ततः कर्म्मानुष्ठानं, ततश्च
 देवयानं पित्रयानं वा पत्न्यान् प्रतिपत्स्यत इत्येत- यो-
 जनमुररीकृत्य महत्त्वप्रेप्तोरिदं कर्म्म, न विषयोपभोग-
 कामस्य । तस्यायं कालादिविधिरुच्यते । अभावस्यायां
 दीक्षित्वा दीक्षित इव भूमिशयनादिनियमं कृत्वा तपो-

विदोऽस्मिन्नधिकारोऽस्तीत्याह । यथोक्तेति ॥ अनन्तरं प्राणविद्या-
 निष्पत्तिरिति शेषः ॥ वाक्यशेषं पूरयति । तस्येति ॥ महत्त्वद्वाराविषयोप-
 भोगकामस्य कर्म्मविधायि शास्त्रं श्येनादिशास्त्रवदनर्थफलमेवेत्याशङ्क्याह ।
 महत्त्वे हीति ॥ तस्येति प्रकृतमन्यग्राह्यकर्म्मोक्तिः । कालादीत्यादिशब्दो
 द्रव्यादिसङ्ग्रहार्थः । दैव्यं दीक्षायां भवं मौञ्जग्रन्थञ्जनादि न सर्वमेव-
 मनुतिष्ठति । प्रकृतिधर्मा हि विवृतावतुवत्सेने । प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्त-

त्वमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः
 श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यं श्रेष्ठ्यं
 राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदं सर्वमसानीति

रूपं सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमित्यादिधर्मवान् भूत्वा इत्यर्थो
 न पुनर्ह्येवमेव कर्मजातं सर्वमुपादत्ते । अतद्विकारत्वान्म-
 न्माख्यस्य कर्मणः । उपसद्व्रतीतिश्रुत्यन्तरात् । पयोमात्र-
 भक्षणं च शुद्धिकारणं तप उपपादत्ते । पौर्षमास्यां रात्रौ
 कर्मरभते सर्वौषधस्य ग्रामारण्यानामौषधीनां यावच्छ-
 त्नाल्पमल्पमुपादाय तद्वितुषीकृत्याममेव पिष्टं दधिमधुनोः
 'औदुम्बरे कंसाकारे चमसाकारे पात्रे' अत्यन्तरात्रजि-
 योपमथ्याऽग्रतः स्थापयित्वा ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्ना-
 वावसथ्यै आज्यस्य आवापस्थाने कृत्वा अयवसंलग्नं मन्ये
 सम्पातमवनयेत्संख्यमधः पातयेत् । समानमन्यत् । वसि-

व्येति न्यायात् । न चेदं कर्म कस्य चिद्विहितिरतो यथोक्तधर्मवत्त्वमे-
 वात्र विवक्षितमित्यर्थः ॥ दीक्षित्वेत्यनेन विवक्षितं धर्मान्तरमाह । उप-
 सदिति ॥ उपसदो नामेष्टयः प्रवर्ग्याहसु प्रसिद्धाः । तासु व्रतं पयोमात्र-
 भक्षणं तदुपेतो भूत्वा मन्यं सम्पाद्य जुहोतीति वाजसनेयके समानप्रक-
 रणे अवशादिति यावत् । पिष्टं कृत्वा तदासमप्रकमेव दधिमधुनोः सम्बन्धं
 पात्रे प्रक्षिप्येति सम्बन्धः । औदुम्बरत्वे नियमः । पात्रस्याकारे तु विकल्पः ।
 कथमशुतं पात्रमत्र कल्प्यते तत्राह । अत्यन्तरादिति ॥ 'औदुम्बरे कंसाकारे
 कंसे चमसे वेत' वाजसनेये अवशात्सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनापेक्षितं पात्र-
 मत्र गृह्येतिमित्यर्थः । आवासयसम्बन्धी कौकिकोऽग्निः । आवासस्थो
 विवक्षितो ब्रह्मिन्नावापसनाख्यं कर्म क्रियते आज्यस्य कृत्वेति सम्बन्धः ।

॥ ६ ॥ अथ खल्वेतयच्चा पच्छ आचामति
तत्सवितुर्वरेण्यमह इत्याचामति वयं देवस्य

छाय प्रतिष्ठायै सम्पदे आयतनाय स्वाहेति प्रत्येकं
तथैव सम्पातमवनयेत् । ऊर्त्वाऽथ प्रतिहृष्याग्नेरीषदपह-
त्याञ्जतो मय्यमाधाय जपतीमं मन्त्रम् । अमो नामा-
स्यमा हि ते । अम इति प्राणस्य नाम । अन्नेन हि
प्राणः प्राणिति देहे इत्यतो मय्यद्रव्यं प्राणस्यान्न-
त्वात्प्राणत्वेन सूयते अमो नामासीति ॥ कुतः । यत्ते
ऽमा सह हि यस्मात्ते तव प्राणभूतस्य सर्वं समस्तं जग-
दिदं अतोऽमो नामासीत्यर्थः । स हि प्राणभूतो मय्यो
ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च । अत एव च राजा दीप्तिमानधिपतिश्चाधि-
ष्ठाय पालयिता सर्वस्य । स मा मामपि मय्यः प्राणो
ज्येष्ठ्यादिगुणपूगमात्मनो गमयत्वहमेवेदं सर्वं जगदमानि
भवानि प्राणवत् । इति शब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः ॥ अथानन्तरं

अ वापस्थानमाहुतिप्रक्षेपप्रदेशः ॥ गृह्योक्तं वसिष्ठाय स्वाहेत्यादिवाक्यं
पूर्ववाक्येन तुल्यार्थमित्याह । समानमिति ॥ तुल्यत्वमेव स्पष्टयति ।
वसिष्ठार्येति ॥ स्वाहेति मन्त्रं सप्तञ्चार्य ऊत्वेति सम्बन्धः । तथैव प्रथम-
होमानन्तरमित्यर्थः । आहुत्यनन्तरमथशब्दार्थः ॥

भवतु प्राणस्थेदं नाम मन्यनस्य तु कथं । तन्नामतेत्याशङ्क्याह ।
अन्नेन हीति ॥ प्रतिष्ठातेऽर्थे प्रअपूर्वकं हेतुमाह । कुत इति ॥ अत-
स्वामो नामासीति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ हेतुं व्याचष्टे । यस्मादिति ॥ अन-
न्तरं जपकर्म्मणः सकाशादिति शेषः ॥ तदेव स्पष्टयति । मन्त्रस्येति ॥

भोजनमित्याचामति श्रेष्ठं सर्वधातममित्याचा-
मति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं प्रिवति ॥ ७ ॥

खल्वेतया वक्ष्यमाणयज्ञा पच्छः पादश आचामति भक्ष-
यति । मन्त्रस्यैकैकेन पादेनैकैकयासं भक्षयति । तद्भो-
जनं सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः प्राणमादित्यच्चैकीकृत्यो-
च्यते । आदित्यस्य वृणीमहे 'प्रार्थयेमहि मन्यरूपम् ।
येनाब्देन सावित्रेण भोजनेनोपभुक्तेन वयं सवितृस्वरू-
पापन्ना भवेमेत्यभिप्रायः । अथवा देवस्य सवितुरिति
पूर्वेषु सम्बन्धः । श्रेष्ठं प्रशस्यतमं सर्वान्देभ्यः सर्वधातमं
सर्वस्य जगतो धारयितृतमं अतिशयेन विधातृतममिति
वा । सर्वथा भोजनविशेषणं तुरं त्वरं तूर्णं शीघ्रमित्ये-
तद्भगस्य देवस्य सवितुः स्वरूपमिति शेषः । धीमहि
चिन्तयेमहि विशिष्टभोजनेन संस्कृताः शुद्धात्मानः सन्त
इत्यभिप्रायः । अथवा भगस्य श्रियः कारणं महत्त्वं प्राप्तं
कर्म कृतवन्तो वयं तद्धीमहि चिन्तयेमहि । सर्वञ्च मन्य-

मन्त्रस्यैकैकेन पादेन मन्त्रस्यैकैकं यासं भक्षयतीति योजना । भोजनं
मन्यरूपमिति सम्बन्धः । तत्कथं सवितुः स्यात् प्राणस्य हि मन्यद्रव्यमन्न-
मित्युक्तं तत्राह । प्राणमिति ॥ उच्यते सवितुर्भोजनमिति शेषः ॥
प्राणादित्ययोरेकत्वे फलितं वाक्यार्थमाह । आदित्यस्येति ॥ मन्यरूपं
तद्भोजनमिति पूर्वेषु सम्बन्धः ॥

प्रार्थनाविषयं भोजनमेव विशिनष्टि । वेनेति ॥ तस्यैव विशेषणा-
न्तरं श्रेष्ठमित्यादि स्थितिकारणत्वमुक्त्वा जनकत्वं पञ्चान्तरमाह । अति-
शये नेति ॥ जमद्व्याप्तौ फलदाने च ध्यातुः श्रेष्ठः किमिति

निर्णिज्य कंसं चमसं वा पञ्चादग्नेः संविशति
चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः स
यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ८ ॥
तदेष श्लोको “यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु
पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने
तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ ८ ॥ २ ॥

लेपं पिबति निर्णिज्य प्रक्षाल्य कंसं कंसाकारं चमसश्च-
मसाकारं वौदुस्वरं पात्रम् । पीत्वा आचम्य पञ्चादग्नेः
प्राक्शिराः संविशति चर्मणि वाऽजिने स्थण्डिले केवलायां
भूमौ । वाचंयमो वाग्यतः सन्नित्यर्थः । अप्रसाहो न प्रसृज्यते
नाभिभूयते स्वप्ननिदर्शनेन यथा तथा संयत-
चित्तः सन्नित्यर्थः । स एवम्भूतो यदि स्त्रियं पश्येत् स्वप्नेषु
तदा विद्यात्समृद्धं समेदं कर्मेति ॥

तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रोऽपि भवति । दद्या

भोजने कथ्यमाने ध्यानमुच्यते तत्राह । विशिष्टेति ॥ शुद्ध-
धीत्वं ध्यानकारणमुक्त्वा प्रकृतकर्मप्रेप्सुतमहत्त्वे हेतुत्वादपि ध्यानमनु-
ष्ठेयमित्याह । अथवेति ॥ सावितं रूपमुक्तं नियमेनौदुस्वरं वैकल्पिता-
कारे विशेषः । पात्रं प्रक्षाल्य पिबतीति सम्बन्धः । मन्त्रलेपपात्रं प्रक्षाल्य
पीत्वाचमनपूर्वकमग्नेः पश्चिमभागे लण्णाजिनव्यवहितयां केवलायां वा
भूमौ प्राक्शिरा भूत्वा शयीतेत्याह । पीत्वेति ॥ शयनस्य कर्त्तव्यं दर्श-
यति । वाचंयम इति ॥ तस्य स्वप्ने कथञ्चिदुत्तमस्त्रीदर्शने शुभागमः सूच्यत
इत्याह । स एवम्भूत इति ॥ २ ॥ प्राणविद्या तदङ्गकर्म चेत्युभ-
यसुक्तमिदानीमग्निविद्यामाख्यातुकामस्तावदाख्यायिकायास्तात्पर्यमाह ।

श्वेतकेतुर्ह्यरण्येयः पञ्चालानां समितिमेयाय
तं ह प्रवाहणो जैबलिर्वाच कुमारान् त्वा-
शिषत्पिता इत्यन्तु हि भगव इति ॥ १ ॥ “वेत्य
यदितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति” “न भगव इति” “वेत्य
यथा पुनरावर्त्तन्ता इति” “न भगव इति” “वेत्य
पथे देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्त्तना इति”

कर्मसु काश्येपु कामार्थेषु स्त्रियं स्वप्नेषु स्वप्नदर्शनेषु
स्वप्नकालेषु वा पश्यति सम्बद्धं तत्र जानीयात् । कर्मणां
फलनिष्पत्तिर्भविष्यतीति जानीयादित्यर्थः ॥ तस्मिन्
स्थ्यादिप्रशस्तस्वप्नदर्शने सति इत्यभिप्रायः । दिव्यः
कर्मसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥ ब्रह्मादिस्तत्त्वपर्यन्ताः संसार-
गतयो वक्तव्या वैराग्यहेतोर्मुमुक्षूणामित्यत आख्या-
यिका आरभ्यते । श्वेतकेतुर्नामतो ह इत्यैतिह्यार्थः ।
अरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः पञ्चालानां जन-
पदानां समितिं सभामेयाय आजगाम । तमागतवन्तं ह
प्रवाहणो नामतो जीबल्यापत्यं जैबलिर्वाचोक्तवान् । हे
कुमार! अतु त्वा त्वामशिषदन्वशिषत्पिता । किमनुशिष्टस्व
पितेत्यर्थः । इत्युक्तः स आहानु ह्यनुशिष्टोऽस्मि
भगव इति सूचयन्नाह । तं होवाच यद्यनुशिष्टोऽसि

ब्रह्मादीति ॥ तासाञ्च वक्तव्यत्वे हेतुमाह ॥ वैराग्यहेतोरिति ॥ राजा
कुमारेति सम्बोधयन्नभिमानं श्वेतकेतोरपनिनीषति ॥

न भगव इति” ॥ २ ॥ “वेत्य यथाऽसौ लोको न सम्पूर्णता” ३ इति “न भगव इति” “वेत्य यथा पञ्च म्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति” “नैव भगव इति” ॥ ३ ॥ अथ तु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात् कथं सोऽनुशिष्टो ब्रवी-

वेत्य यदि तोऽस्मात्लोकादध्यध्वृद्धं यत्प्रजाः प्रयन्ति यङ्गच्छन्ति तत्किं जानीष इत्यर्थः “न भगव” इत्याह इतरो न जानेऽहं तद्यत्पृच्छसि । एवं तर्हि “वेत्य जानीषे यथा येन प्रकारेण पुनरावर्त्तन्ता” इति “न भगव इति” प्रत्याह । “वेत्य पथोर्मार्गयोः सह प्रयाणयोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्त्तना व्यावर्त्तनं इतरेतरवियोगस्थानं सह गच्छतामित्यर्थः । न भगव इति वेत्य यथासौ लोकः पितृसम्बन्धी । यं प्राप्य पुनरावर्त्तन्ते बह्वभिः प्रयद्भिरपि येन कारणेन न सम्पूर्णता ३ इति । ‘न भगव इति’ प्रत्याह । “वेत्य यथा येन क्रमेण पञ्चम्यां पञ्चसङ्ख्याकायाम् आहुतौ हुताग्रमाहुतिर्निर्हता आहुतिसाधनाश्चापः पुरुषवचसः

यथेति ॥ अस्मार्थमाह । वेनेति ॥ विद्वद्विदुषोस्तुत्यमार्गयोः सतोर्हो मार्गौ तयोर्मध्ये देवयानस्येत्यादि येष्वनुक्तं वाक्यार्थं सङ्क्षिपति । इतरेतरेति ॥ विदुषाञ्च कर्मिणाञ्च मार्गद्वयमधिकृत्य सह प्रस्थितानां यत् मिथो वियोगो भवति तत्किं वेत्येत्यर्थः ॥ पितृलोकसम्बन्धिनं लोकमेव व्यावरोति । यं प्राप्येति ॥ आहुतिर्निर्हता इत्यस्य व्याख्यानं आहुतिसाधनाश्चेति रूपं रूपपाणादपि भूतान्तरसमुच्चयार्थश्चकारः । अथवा

तेति स हायस्तः पितुरर्द्धमेयाय तं होवाचा
 ऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशि-
 षमिति ॥ ४ ॥ पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्रा-
 क्षीत्तेषां नैकञ्च नाशकं विवक्तुमिति स होवाच

पुरुष इत्येवंवचोऽभिधानं यासां ह्यमानानां क्रमेण
 पठाङ्गतिभूतानां ताः पुरुषवचसः पुरुषवाच्या भवन्ति
 पुरुषाख्यां लभन्त इत्यर्थः । इत्युक्तो “नैव भगव” इत्याह ।
 नैवाहमव किञ्च न जानामीत्यर्थः । अथैवमहः सन् किम-
 नुशिष्टोऽस्मीत्यवोचया उक्तवानसि । यो हीमानि मया
 पठान्यर्थजातानि न विद्यान् विजानीयात्कथं स विद्वत्स्व-
 नुशिष्टोऽस्मीति ब्रवीत । एवं स श्वेतकेतूरान्नाऽऽयस आया-
 सितः सन् पितुरर्द्धं स्थानमेयाय गतवांस्तञ्च पितरमुवा-
 चाऽननुशिष्याऽनुशासनमकृत्वैव मा मां किल भगवान् समा-
 वर्त्तनकाले ब्रवीदुक्तवान् अनु त्वाशिषमन्वशिषं त्वामिति ॥

यतः पञ्च पञ्चसङ्ख्याकान् प्रश्नान् राजन्यबन्धूरा-
 जन्याः बन्धवोऽस्येति राजन्यबन्धुः स्वयं दुर्वृत्त इत्यर्थो

पयोवृतादिरूपेणाङ्गतिं साधयन्तीति चाङ्गत्या पुनरपूज्जात्मना निष्पन्ना
 इत्यर्थः । क्रमेणेति अद्वाषोमदृष्ट्यक्षरेतसां हवनद्वारेणेति यावत् । पठा-
 ङ्गतिभूतानामन्त्येष्टिविधानेन शरीराङ्गतिद्वारा सूक्ष्मतां गताना-
 मित्यर्थः ॥ त्वत्पृष्टार्थजातातिरिक्तविषयमनुशासनं समास्तीत्यनुशिष्टो-
 ऽस्मीत्युक्तमित्याशङ्क्याह । यो हीति ॥

अननुशिष्य त्वामन्वशिषमिति कथमुक्तवानस्मीत्याशङ्क्याह । यत
 इति ॥ नैकञ्चनेत्युक्तमेव नञ्पदं नाशकमिति सम्बन्धं दर्शयितुं पुन-

यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चन
वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं तेनावक्ष्यमिति ॥
५ ॥ स ह गौतमो राज्ञोऽर्द्धमेयाद्य तस्मै ह प्राप्ता-

प्राप्तीत्पृष्टवांस्तेषां प्रश्नानां नैकञ्च एकमपि नाशकं न
शक्तवानहं विवक्तुं विशेषेणार्थतो निर्णेतुमित्यर्थः । स
होवाच पिता यथा मा मां वत्स ! त्वं त्वदागममात्रमेव
एतान्प्रश्नानवदं उक्तवानसि तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तु-
मिति । तथा मां जानीहि त्वदीयाज्ञानेन लिङ्गेन मम
तद्विषयमज्ञानं जानीहीत्यर्थः । कथं यथाऽहमेषां प्रश्ना-
नामेकञ्चनैकमपि न वेद न जाने इति । यथा त्वमे-
वाङ्ग एतान्प्रश्नान्न जानीषे तथाऽहमप्येतान्न जान इत्यर्थः ।
अतो मय्यन्यथाभावो न कर्त्तव्यः ॥

कुत एतदेवं यतो यद्यहमिमान् प्रश्नानवेदिष्यं विदि-
तवानस्मि कथं ते तुभ्यं प्रियाय पुत्राय समावर्त्तनकाले
पुरा नावक्ष्यं नोक्तवानस्मीति उक्त्वा स ह गौतमो गोवतो

रूपाक्षम् । अतो मां प्रति तव मिथ्यावादिता सिद्धेति शेषः । पिता स्वकीय
मिथ्यावादित्वशङ्कां परिरुहति । स होवाचेति ॥ यथा मा त्वमित्यादि-
वाक्यं पूरयित्वा व्याख्यायानन्तरवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति । कथ-
मित्यादिनां ॥ तद्व्याचष्टे । यथेति । अज्ञानाविशेषोऽतःशब्दार्थः । अन्यथा
भावो ज्ञातेऽपि विषये तथानुक्तिरिति यावत् ॥

त्वदीयमज्ञानं कुतो हेतोर्मथा ज्ञातव्यमित्याशङ्कासङ्काव्यानन्तर-
वाक्येनोत्तरमाह । कुत इत्यादिना ॥ अतस्तव वाक्यभूतस्याऽनुपदेशान्न-
दीयमज्ञानं ज्ञातव्यमिति शेषः । अहमर्हस्यां योग्यां पूजामित्यर्थः । सभार-

यार्हाञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय तथ
 होवाच मानुषस्य भगवन् ! गौतम ! वित्तस्य वरं
 दृणीया इति स होवाच तवैव राजन् मानुषं
 वित्तं, यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव
 मे ब्रूहीति ॥ ६ ॥

राज्ञो जैबलेरहं स्थानमेयाय गतवान् । तस्मै ह गौतमाय
 प्राप्तायार्हामर्हणाञ्चकार कृतवान् । स च गौतमः कृता-
 तिथ्यं उपित्वा परेद्युः प्रातःकाले सभागे सभां गते रात्रिं
 उदेयाय । भजनं भागः पूजा सेवा सह भागेन वर्त्त-
 मानो वा सभागः पूज्यमानोऽन्यैः स्वयं गौतम उदेयाय
 राजानमुद्गतवान् । तं होवाच गौतम राजा, भगवन्
 गौतम ! मानुषस्य ! मनुष्यसम्बन्धिनी वित्तस्य ग्रामादेर्वरं वर-
 णोयं कामं दृणीयाः प्रार्थयेथाः । स होवाच गौतमस्तवैव
 तिष्ठतु राजन्मानुषं वित्तम् । यामेव कुमारस्य मम पुत्र-
 स्थान्ते समीपे वाचं पञ्चप्रलक्षणाभभाषथा उक्तवानसि
 तामेव वाचं मे मत्तं ब्रूहि कथयेत्युक्तो गौतमेन राजा
 सह कृच्छी दुःखी बभूव ॥

पदं सप्रस्थानं राजविषयम् । प्रथमान्तिं गौतमविषयमिति भेदः ॥ गौतम-
 योगतं योगक्षेमार्थिनं बुद्ध्या राजा प्रसन्नः सञ्जुक्तवानित्याह । तं होवा-
 चेति ॥ तर्हि कृतकृत्यस्य तव किमानभनन्तित्याह । यः सेवेति ॥

स ह कच्छी बभूव तं ह चिरं वसेत्याज्ञापया-
ञ्चकार तं होवाच यथा मा त्वं गौतमाऽवदो
यथेयन्न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति
तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति

कथन्तिवदमिति । स ह कच्छीभूतोऽप्रत्याख्येयं ब्राह्मणं
मन्वानो ह न्यायेन विद्या वंक्तव्येति मत्वा तं ह गौतमं चिरं
दीर्घकालं वसेत्येवमाज्ञापयाञ्चकार आज्ञप्तवान् । यत्पूर्वं
प्रख्यातवान् राजा विद्यां, यच्च पश्चाच्चिरं वसेत्याज्ञप्तवान्
तन्निमित्तं ब्राह्मणं क्षमापयति हेतुवचनोक्त्या । तं होवाच
राजा सर्वविद्यो ब्राह्मणोऽपि सन् यथा येन प्रका-
रेण मा मां हे गौतमावदस्व तामेव विद्यालक्षणां वाचं
मे ब्रूहीत्यज्ञानात् तेन त्वं जानीहि । तत्वास्ति वक्तव्यं
यथा येन प्रकारेणोयं विद्या प्राक् त्वत्तो न ब्राह्मणान्
गच्छति न गतवती । न च ब्राह्मणा अनया विद्ययाऽनु-
शासितवन्तः । तथैतत्प्रसिद्धं लोके यतो यस्मादु पुरा पूर्वं

कच्छीभावमभिनयति । कथमिति ॥ गौतमस्य वचनं राज्ञो दुःखी-
भावकारणं तर्हि प्रत्याख्यायतामित्याशङ्क्याह । सहेति ॥ किमिति तर्हि
चिरं वसेत्तुक्तवानित्याह । न्यायेनेति ॥ संबन्धरं वसेदिति यावत् ।
वक्तव्यविद्येतिशेषः ॥ कथं राज्ञो ब्राह्मणं प्रत्याज्ञां कुर्वतो न प्रत्यवायः
स्यादित्याशङ्क्याह । यत्पूर्वमिति ॥ प्रत्याख्यानादिविषयहेतुवचनं न केवलं
विद्यावशादेव श्रेष्ठं किन्तु जातितोऽपीत्यपेक्षार्थः ॥ तर्हि ब्रूहि तां वाच-
मित्याशङ्क्याह । तत्वेति ॥ विद्याप्रवचने प्रस्तुते सतीति यावत् । यथेत्यस्या

तस्मै होवाच ॥ ७ ॥ ३ ॥

सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्रजातिरेवानया विद्यया प्रशा-
सनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूद्भूव । क्षत्रियपरम्परयैवेयं
विद्यैतावन्तं कालमागता । तथाप्यहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि
त्वत्सम्प्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति । अतो मया यदुक्तं
तत्क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै होवाच विद्यां राजा ॥ ३ ॥
पञ्चम्यामाहुतावाप इत्ययं प्रश्नः प्राथम्येनापाक्रियते ।
तदपाकरणमन्वितरेषामपाकरणमनुकूलं भवेदिति । अग्नि-
होवाहुतयोः कार्यारम्भो यः स उक्तो वाजसनेयके तं

प्रेक्षितं पूरयति तथेति ॥ प्रसिद्धमेव स्फोरयति । तस्मादिति ॥ ब्राह्मणा-
नामनया विद्यया प्रशास्तृत्वस्य प्रागभावादिति यावत् ॥ इतिशब्दोपास-
मर्थं कथयति । क्षत्रियेति ॥ उक्तप्रत्याख्यानादिकारणमतःशब्दार्थः ॥ ३ ॥
ननु यथाप्रश्नमेव प्रतिवचनमुचितं पञ्चमन्तु प्रश्नं प्राथम्येन प्रतिवदता
क्रमो निराकृतस्तत्र किं कारणमत आह । पञ्चम्यामिति ॥ अर्थक्रममनु-
सृत्य पाठक्रमोऽभिधातव्य इत्यर्थः ॥ ननु वाजसनेयकेऽग्निहोत्रप्रकरणे-
ऽग्निहोत्राहुतत्त्वपूर्वपरिणामं जगदित्युक्तं तदेवेहापि विवक्षितमिति
चेत् किमनेन पिष्टपेषणन्यायेनेत्याशङ्क्यार्थभेदं वक्तुमग्निहोत्रप्रकरणस्थित
मर्थमनुवदति । अग्निहोत्राहुतयोरिति ॥ उक्तप्रकारमेव प्रदर्शयन् प्रथमं
याज्ञवल्क्यस्य जनकं प्रति षट् प्रश्नानुत्थापयति । तं प्रतीति ॥ कार्या-
रम्भकस्तत्त्वार्थः । अग्निहोत्राहुतत्त्वपूर्वपरिणामो जगदिष्यते । तत्राग्नि-
होत्रे सायं प्रातश्चक्रतयोराहुतयोरक्षाक्षोकादुत्क्रान्तिः । उत्क्रान्तयोः
परलोकं प्रति गतयोस्तत्र प्रतिष्ठा । प्रतिष्ठितयोः स्वान्त्ये सम्पाद्यमाना
हविः । हविमापाद्यावस्थितयोः पुनरिह लोकं प्रत्यावृत्तिः । आहुतयो-

प्रति प्रश्ना । उत्क्रान्तिराहुत्योर्गतिः प्रतिष्ठा तृप्तिः पुन-
रावृत्तिर्लोकं प्रत्युत्थायीति तेषाञ्चापाकरणमुक्तं तत्रैव ॥

ते एते आहुती हुते उत्क्रामतस्तेऽन्तरिक्षमाविशत-
स्तेऽन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वन्ति वायुं समिधं मरी-
चिरेव शुक्लामाहुतिं तेऽन्तरिक्षं तर्पयतस्ते तत उत्क्रा-
मत इत्यादि । एवमेव पूर्ववद्विषं तर्पयतस्ते तत
आवर्तन्ते । इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविशतः । ततः

राश्रयः पुमान् कथमस्य लोकं प्रत्युत्थानशीलो भवतीति कार्यारम्भमधि-
कृत्य षट् प्रश्नाः प्रवृत्ता इत्यर्थः ॥ तत्रैव वाजसनेयके याज्ञवल्क्यं प्रतिजन-
कस्य प्रतिवचनं दर्शयति । तेषाञ्चेति ॥

अपूर्वरूपे खलुाहुती यजमानमुत्क्रामन्तं परिवेष्ट्योत्क्रामतः । ते
च धूमादिना यजमानेऽन्तरिक्षमाविशति तदाश्रितत्वात्तदाविशतः । ते
पुनरन्तरिक्षस्ययजमानानुक्कूलतया स्थिते स्वयमन्तरिक्षाधिकरणे तदाह-
वनीयमिव कुर्वन्ति । आहुत्यधिकरणः अहवनीयत्वात् । तत्र वायुं समिध-
मिव कुरुतः । वायुनाऽन्तरिक्षस्य समिध्यमानत्वात् । शुक्लं शुक्लामाहुतिं
मिव मरीचिरेवाधत्ते । मरीचीनामन्तरिक्षे व्याप्तत्वात् । ते चान्तरिक्षस्ये
तद्विषं यजमानं फलोन्मुखमादधाते । ते पुनरन्तरिक्षादुत्क्रामति यजमाने
सहोत्क्रामतः । यजमाने च दुलोकमाविशति सहाविशतः । तमाविश्य
तमेवाहवनीयं कुर्वन्ति । आदित्यं समिधमित्याद्यन्तरिक्षे च यदेवोक्तम् ।
यथा वाहुती पूर्वमन्तरिक्षं तर्पयत इत्युक्तं तथैव दुलोकस्थयजमानं फल-
दानेन सुखिन्मातन्वाते । ते चारब्धकृते ततो दुलोकाद्यजमाने पृथिवी-
माविशति अबभूते सहावर्तन्ते । पृथिवीश्चाविश्य बीज्यादिना स्वाश्रयं
श्लेषयित्वा रेतस्सिचं पुरुषमाश्रयद्वारेणाविशतः । पुरुषाञ्च रेतोद्वारा
द्वितीयां प्रकृतिमाविश्य गर्भीभूतं स्वाश्रयं कर्मानुष्ठानयोग्यं देहभागिन-
मापादयतः । ततोऽसौ पारलौकिकं कर्मानुष्ठायान्ते लोकं प्रत्युत्थानशीलो

स्त्रियमाविश्य लोकों प्रत्युत्थायी भवतीति । तदाग्नि-
होवाहुत्योः कार्यारम्भमात्रमेव प्रकारं भवतीत्युक्तम् ॥

इह तु तं कार्यारम्भमग्निहोवापूर्वपरिणामलक्षणं
पञ्चधा प्रविभज्याग्नित्वेनोपासनमुत्तरमागप्रतिपत्तिसा-
धनं विधित्स्नानाहाऽसौ वाव लोकोऽग्निरित्यादि । इह
सायम्प्रातरग्निहोवाहुती हुते पयआदिसाधने अद्वा-
पुरःसरे आहवनीयाग्निसमिद्धुर्माचिरेङ्गारविस्तुलिङ्गभा-
विते कर्त्तादिकारकभाविते चान्तरिक्षं क्रमेणोत्क्रम्य
दुलोकों प्रविशन्त्यौ सूक्ष्मभूतेऽप्समवायित्वाद्पशब्दवाच्ये
अद्वाहेतुत्वाच्च अद्वाशब्दवाच्ये तयोरधिकरणमग्निः ।
अन्यच्च तत्सम्बन्धं समिदादीत्युच्यते ॥

भवति । इति सर्वं जनकेनोक्तमित्यर्थः । तथापि कथमर्थभेदसिद्धिरित्या-
शङ्कोक्तमेव सङ्क्षिप्याह । तत्रेति ॥ वाजसनेयिकं सप्रत्यर्थः ॥

प्रकृतश्रुतेरर्थविशेषं दर्शयति । इह त्विति ॥ पञ्चधा दुपर्जन्य-
ष्टयिवीपुरुषयोषित्प्रकारैरिति यावत् । पञ्चाग्निसम्बन्धमवतार्य प्रथम-
पर्यायस्य तात्पर्यमाह । इहेति ॥ अयं लोको भूलोकस्तस्मिन्नित्यर्थः ।
आहुत्योरप्समवायित्वसिद्ध्यर्थं विशिनष्टि । पयआदीति ॥ तयोः अद्वात्व-
सिद्ध्यर्थं अद्वापुरःसरे इत्युक्तम् । तयोरधिकरणमग्निरित्यादिकल्प-
नोपयोगित्वेन विशेषणान्तरसं दत्ते । आहवनीयेति ॥ तयोः स्वातन्त्र्यं
परिहरति । कर्त्तादीति ॥ अधिकरणशब्दो भावप्रधानो धर्मिपरः । काल-
निको दुलोकाद्याख्योऽग्निसत्त्वसम्बन्धमिति तच्छब्दोऽग्निविषयः ॥ अन्यच्च-
त्युक्तं स्पष्टयति समिदादीति ॥ आदिशब्दो धूमाचिरेङ्गारादिविषयः ॥

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव
समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्विचन्द्रमा अङ्गारा नक्ष-
त्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ

असावग्न्यादिभावनाद्धृत्योः सापि तथैव निर्दिश्यते ।
असौ वाव लोकोऽग्निर्हे गौतम ! यथाऽग्निहोत्राधिकरणं
आहवनीयम् । इह तस्याग्नेर्दुर्लोकाख्यस्यादित्य एव समित्
तेन हीहोऽसौ लोको दीयते । अतः समिन्धनात् समि-
दादित्यः । रश्मयो धूमस्तदुत्थानात् । समिधो हि धूम
उत्तिष्ठति । अहरर्चिः प्रकाशसामान्यात् । आदित्यकार्य-
त्वाच्च । चन्द्रमा अङ्गाराः । अङ्गः प्रशमेऽभिव्यक्तेः । अर्चिषो
हि प्रशमेऽङ्गारा अभिव्यज्यन्ते । नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाश्चन्द्र-
मसोऽवयवा इव विप्रकीर्णत्वसामान्यात् । तस्मिन्नेतस्मिन् य-
थोक्तलक्षणेऽग्नौ देवाः । यजमानप्राणा अग्न्यादिरूपाः ।
अधिदैवतं अङ्गाम् । अग्निहोत्राहुतिपरिणामावस्थरूपाः
सूक्ष्मा आपः अङ्गाभाविताः अङ्गा उच्यन्ते । पञ्चस्यामोऽहुता-
वापः पुरुषवचसो भवन्तीत्यपां ह्यैस्यतया प्रश्ने श्रुतत्वात् ॥

पर्यायतात्पर्यमुक्त्वाऽक्षराणि व्याकरोति । असावित्यादिना ॥ इहे-
त्येतत्त्वोक्तनिर्देशः पूर्वेषु सम्बध्यते । तदुत्थानादित्यत्र तच्छब्देनादित्यो
व्यहृतिः ॥ अध्यात्माधिदैवविभागेन देवान् विशदयति । यजमानेति ॥
प्रत्ययविशेषत्वेन अङ्गाया ह्यैस्यत्वानुपपत्तिरित्याशङ्क्य अङ्गां व्याकरोति ।
अग्निहोत्रेति ॥ किञ्च प्रअप्रतिवचनयोरेकार्थत्वात्, प्रश्ने चापां ह्यैस्य-
तया श्रुतत्वात्प्रतिवचनेऽपि ताः अङ्गाशब्दिता ह्यैस्यतया विवक्षिता इत्याह ।
पञ्चस्यामिति ॥

देवाः अद्वां जुह्वति तस्या आहुतिः सोमो राजा
सम्भवति ॥ २ ॥ ४ ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिद्भं

अद्वा वा आपः अद्वामेवारभ्य प्रणीय प्रचरन्तीति
च विज्ञायते । तां अद्वामब्रूपां जुह्वति । तस्या आहुतेः
सोमो राजा । अपां अद्वाशब्दवाच्यानां द्युलोकान्गौ
हुतानां परिणामः सोमो राजा सम्भवति । यथा ऋग्वे-
दादिपुष्परसा ऋगादिमधुकरोपनीतास्त आदित्ये यथा
आदिकार्यं रोहितादिरूपलक्षणमारम्भन्त इत्युक्तम् । तथेमा
अग्निहोताहुतिसमवायिन्यः सूच्याः अद्वाशब्दवाच्या आपो
द्युलोकमनुप्रविश्य चान्द्रं कार्यमारभन्ते फलरूपमग्निहो-
ताहुत्योः । यजमानाश्च तत्कर्तार आहुतिमया आहुति-
भावनाभाविता आहुतिरूपेण कर्मणा ऽऽकृष्टाः अद्वाप्स-

अशु अद्वाशब्दस्य "दृष्टव्यवहारप्रयोगाभावाच्चैवमित्याशङ्क्याह ।
अद्वेति ॥ कथमापः अद्वाशब्देन प्रसिद्धवदुच्यन्ते तत्राह । अद्वा
इति ॥ अद्वापूर्वकहोमसुद्दिश्य पयः सोमाज्याहुतिसाधनं सम्पाद्य
जुहोतीति तैत्तिरीयकाः पठन्ति । तथा चाशु अद्वाशब्दः सम्भवती-
त्यर्थः ॥ उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथेत्यादिना ॥ उक्तं मधु-
विद्यायामिति शेषः । चान्द्रं कार्यं चन्द्रसमीपस्थं तत्त्वदृशं शरीर-
मित्यर्थः ॥ तथापि यजमानानां कथं फलितत्वमत आह । यजमाना-
श्चेति ॥ आहुती तच्छब्देन गृह्यते । प्राधान्यं मयिदित्यर्थः ॥ तदेव
स्पष्टयति । आहुतिभावनाभाविता इति ॥ तत्संस्तुतास्तदनुसारिणस्तदा-
श्रया इत्यर्थः ॥ तद्भावितत्वफलमाह । आहुतिरूपेणेति ॥ तेनाकृतत्वं
वशीकृतत्वम् ॥ आहुतिभाविता इत्युक्तं स्पष्टयति । अद्वेति ॥ तत्पूर्वकं

धूमो विद्युदर्विरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फु-
लिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः
सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षं
सम्भवति ॥ २ ॥ ५ ॥

मवायिनो दुर्लोकमनुप्रविश्य सोमभूता भवन्ति । तदर्थं हि
तैरग्निहोत्रं हुतम् । आहुतिपरिणाम एव पञ्चाग्नि-
सम्बन्धक्रमेण प्राधान्येन विवक्षित उपासनार्थम् । न यजमा-
नानां गतिम् । तां त्वविदुषां धूमादिक्रमेणोत्तरतः वक्ष्यति
विदुषाञ्चोत्तरां विद्याकृताम् ॥ ४ ॥ द्वितीयहोमपर्यायार्थ-
माह । पर्जन्यो वायु पर्जन्य एव गौतमाग्निः पर्जन्यो नाम
वृष्ट्युपकरणाभिमानिनी देवताविशेषः । तस्य वायुरेव समित् ।
वायुना हि पर्जन्योऽग्निः समिध्यते । पुरोवातादिप्राबल्ये
वृष्टिदर्शनात् ॥

पयः सोमादिसाध्यं यत्कर्म्म तदाश्रया इत्यर्थः । सोमभूतास्तत्समीपस्थं
शरीरं प्राप्य तत्स्वरूपा इत्यर्थः ॥ कथं सोमसारूप्यं धर्मिणं फलमित्या-
शङ्क्याह । तदर्थमिति ॥ यजमानानां सोमभावो गतिमन्तरेण न सिध्यति ।
तथाच वक्तव्या गतिरित्याशङ्क्याह । अत्रेति । आहुतवनो योऽग्निः
सप्रत्यर्थः । सा तर्हि कुलोच्यते । न हि तदुक्तिमन्तरेण यथोक्तं फलं
सिध्यत्यत आह । तान्त्वति ॥ ४ ॥ द्वितीयहोमसम्बन्धी द्वितीयः
पर्यायस्तस्यार्थं निश्चितं तमेव पर्यायमादत्ते श्रुतिरित्यर्थः । पुरोवाता-
दीत्यादिशब्देन वर्षहेतुर्वायुभेदो गृह्यते ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर
एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा
अवान्तरदिशो विष्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेत-
स्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आजतेरन्नः
सम्भवति ॥ २ ॥ ६ ॥

अन्नं धूमो धूमकार्यत्वाद्भूमवच्च लक्ष्यमाणत्वात् । विदु-
दर्चिः । प्रकाशसामान्यात् । अशनिरङ्गाराः । काठिन्यात्
विदुत्सम्बन्धाद्वा । ह्लादुनयो विष्फुलिङ्गाः । ह्लादुनयो
गर्जितशब्दाः । मेघानां विप्रकीर्णत्वसामान्यात् । तस्मिन्ने-
तस्मिन्नग्नौ देवाः पूर्ववत्सोमं राजानं जुह्वति । तस्या
आहुतेर्वर्षं सम्भवति । अद्वाख्या आपः सोमाकारपरिणता
द्वितीये पथ्याये पर्जन्याग्निं प्राप्य पृथित्वेन परिणमन्ते ॥ ५ ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निरित्यादि पूर्ववत् । तस्याः पृथि-
व्याख्यस्याग्नेः संवत्सर एव समित् । संवत्सरेण हि कालेन
समिद्धा पृथिवी ब्रीह्यादिनिष्पत्तये भवति । आकाशो
धूमः पृथिव्या इवोत्थित आकाशो दृश्यते । यथाऽग्नेर्धूमो
रात्रिरर्चिः पृथिव्या ह्यप्रकाशात्मिकाया अनुरूपा रात्रिः ।
तमोरूपत्वात् । अग्नेरिवानुरूपमर्चिर्दिशोऽङ्गारा उपशा-

उक्तञ्चाभाषां धूमकार्यत्वं पौराणिकैः । यत्तद्धूमोद्भवं त्वन्नं द्वि-
जानां च हितं सदा । दावाग्निधूमसम्भूतमन्नं वनहितं ह्यतम् ॥ ऋत-
धूमोद्भवन्त्वन्नमशुभाय भविष्यति । अग्निराग्निधूमोऽयं भूतनाशाय
वै द्विजा इति ॥ अर्ध्यात्म' यजमानस्य प्राणाः । इन्द्रादयस्त्वाधिदैवतं

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समि-
 त्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः ओत्रं विष्फु-
 लिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं
 जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवति ॥ २ ॥ ७ ॥
 योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्य एव

न्तत्सामान्यात् । अवान्तरदिशो विष्फुलिङ्गाः । क्षुद्रत्व-
 सामान्यात् । तस्मिन्नित्यादि समानम् । तस्या आहुतेरन्नं
 व्रीहियवादि सम्भवति ॥ ६ ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निः । तस्य वागेव समित् । वाचा हि
 मुखेन समिध्यते पुरुषो नमूकः । प्राणो धूमो धूम इव सुखा-
 न्निर्गमनात् । जिह्वार्चिर्लोहितत्वात् । चक्षुरङ्गारा भास
 आश्रयत्वात् । ओत्रं विष्फुलिङ्गाः । त्रिप्रकीर्णत्वसाभ्याम् ।
 समानमन्यत् । अन्नं जुह्वति व्रीह्यादिसंस्कृतम् । तस्य
 आहुते रेतः सम्भवति ॥ ७ ॥

योषा वाव गौतमाग्निः । तस्या उपस्य एव समित् ।
 तेन हि सा पुत्त्रादुत्पादनाय समिध्यते । यदुपमन्त्रयते स
 देवा इत्याह । पूर्ववदिति ॥ सोमं राजानमित्यादि व्याचष्टे । अङ्गाख्या
 इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति इत्युक्तं व्यक्तीकरोति । एवमिति ॥
 यथोक्तरीत्या अङ्गादीनां रेतोऽन्नानां यानि दुलोकादिषु योपिदन्तेष्व-
 म्निषु हवनानि तेषामेकैकमस्मिन् पर्याये यः ऋभो व्याख्यातस्तेनेति
 यावत् ॥

कथं पुनरापो गर्भीभवन्ति भूतान्तराणामपि तृत्थो गर्भीभावस्तस्य
 पाञ्चभौतिकत्वादत आह । नन्वेति ॥ भूतानां मध्ये किमित्यपां प्राधान्य-

समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्च्चिर्यदन्तः
करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या
आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥ २ ॥ ८ ॥

धूमः । स्त्रीसम्भवादुपमन्त्रणस्य । योनिरर्च्चिर्लोहितत्वात् ।
यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अग्निसम्बन्धात् । अभिनन्दाः
सुखलवा विस्फुलिङ्गाः क्षुद्रत्वात् ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ
देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवतीति । एवं
अङ्गासोमवर्षान्वरेतो हवनपर्यायक्रमेणाप एव गर्भोभूता-
स्ताः । तत्रापामाहुतिसमवायित्वात् प्राधान्यविवक्षा आपः
पञ्चस्थामाहुतौ पुरुषवचसो भवन्तीति । न तत्राप एव केवलाः
सोमादिकार्यमारभन्ते । न चापोऽतिवृत्तताः सन्तीति ।
विवृत्ततत्वेऽपि विशेषसञ्चालाभो दृष्टः । पृथिवीयमिमा
आपोऽयमग्निरित्यन्यतमवाहुत्यनिमित्तः । तस्मात्सुदिता-

विवक्षयैव निर्देशः ॥ तासामेव केवलानां कार्यारम्भकत्वविवक्षा किं न
स्यात्तत्राह । न त्विति ॥ भूतान्तरासङ्गतानां केवलानामपामारम्भकत्वे
यदारब्धं कार्यं न तज्ज्ञो गायतनं तस्य जलबुद्धुदवदत्यन्तचञ्चलत्वादित्यर्थः ॥
केवलानामप्यपत्यसुप्तेत्योक्तमिदानीं तदेव नास्तीत्याह । न चेति ॥ इति-
शब्दस्तासां विवृतम् । विवृतमेकैकामकरोदिति श्रुतेरिति हेत्वर्थः ॥
सर्वस्य विवृततत्वे कथं दृष्टो विशेषव्यपदेशो युज्यतेत्याशङ्क्याह । विवृत्-
ततत्वेऽपीति ॥ अपां प्राधान्यविवक्षया प्रत्यप्रतिवचनयोरप्यशब्द इत्युप-
सङ्हरति । तस्मादिति ॥ केवलानामपामसत्त्वादिति यावत् ॥ कथमार-
म्भकेषु भूतेष्वपां बाहुल्यमवगतमित्याशङ्क्य कार्यद्वारा तदधिगतिरि-

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो
भवन्तीति स उल्बाटतो गर्भी दश वा मासानन्तः
शयित्वा यावद्वाय जायते ॥ १ ॥

वभृतानि बाहुल्यात्कर्म्मसमवायीनि सोमादिकार्यार-
म्भकार्याप इत्युच्यन्ते । दृश्यते च द्रवबाहुल्यं सोमवृष्ट्यान्-
रेतोदेहेषु । बहुद्रवञ्च शरीरं यद्यपि पार्थिवं तत्र पञ्चम्या-
माहुतौ हुतायां रेतोरूपा आपो गर्भीभूताः ॥ ८ ॥

इति त्वेवन्तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो
भवन्तीति व्याख्यात एकः प्रश्नः । यत्तु दुर्लोकादिमां
प्रत्यावृत्तयोराहुत्योः पृथिवीं पुरुषं स्त्रियं क्रमेणाविश्य
लोकं प्रत्युत्थायी भवतीति वाजसनेयक उक्तं तत्प्रासङ्गि-
कमिहोच्यते । इह च प्रथमे प्रश्ने उक्तं वेत्य यदितोऽधि
प्रजाः प्रयन्तीति । तस्य चायमुपक्रमः । स गर्भीऽपां पञ्चमः

त्वाह । दृश्यते चेति ॥ सोमादीनामव्वाहुल्येऽपि कथं पार्थिवशरीरस्य
तद्वाहुल्यमित्यशङ्काह । बहुद्रवञ्चेति ॥ पञ्चमप्रश्ननिर्णयमुपसंगृह्य
पातनिकां करोति । तत्रेति ॥ योषाग्नाविति यावत् ॥ गर्भीभूताः
पुरुषवचसो भवन्तीति सम्बन्धः ॥ ७ ॥ ८ ॥

उक्तार्थे वक्ष्यं योजयति । इति त्विति ॥ अपां गर्भीभावोक्ति-
मात्रेण पुरुषवचस्त्वस्य निर्णीतत्वादलमुत्तरपन्थेनेत्याशङ्क्य तस्य तात्पर्य-
माह । यत्त्विति ॥ आहुत्योः सम्बन्धोति शेषः । प्रासङ्गिकं गर्भीभावोक्ति-
प्रसङ्गादागतमिति यवत् ॥ इहेति प्रकृतस्तुत्युक्तिः ॥ प्रासङ्गिकीं सङ्गतिं
त्यक्त्वा साक्षादेव पूर्वोत्तरपन्थयोरस्ति सङ्गतिरिति तात्पर्यान्तरमाह ।
इह चेति ॥ प्रजानामूर्द्धगमनमुत्तरत्वं निरूपयिष्यते । तादर्थ्येन तासा-

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्ट-

परिणामविशेषः । आहुतिकर्मसमवायिनीनां श्रद्धाशब्दा-
च्यानां उल्बाहत उल्बेन जरायुणाऽऽहतो वेष्टितो दश
वा नव वा मासानन्तर्मातुः कुक्षौ शयित्वा यावता कालेन
न्यूनेनातिरिक्तोनानन्तरं जायते ॥

उल्बाहत इत्यादिवैराग्यहेतोरिदमुच्यते । कष्टं हि
मातुः कुक्षौ मूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्मादिपूषे तदनुलिप्तस्य
गर्भस्योल्बाऽशुचिपूयाहतस्य लोहितरेतोऽशुचिवीजस्य
मातुरशितपीतरसानुप्रवेशेन विवर्द्धमानस्य निरुद्धशक्ति-
बलीवीर्यतेजः प्रज्ञाचेष्टस्य शयनम् । ततो योनिद्वारेण पीड-

स्यत्तिरादावुच्यत इत्यर्थः ॥ द्विविधां सङ्गतिमुक्त्वा वाक्याचराणि योज-
यति । स गर्भ इति । सोमवृष्ट्यचरेतांस्यपेक्ष्यं पञ्चमत्वं गर्भाख्यस्य परि-
णामस्य द्रष्टव्यम् । अपां प्रकृतत्वद्योतनार्थमाहुतीत्यादि विशेषणद्वयम् ।
अथवा पूर्वोक्तात्कालान्यूनधिक्तेन वा कालेन यावता जन्तुः समयाङ्गो
जायते तावता कालेन कुक्षौ शयित्वेति सम्बन्धः । अनन्तरं योनितो
निर्गमनकारणोभूतकर्माभिव्यक्तेरिति शेषः ॥

उल्बाहतत्वं कुक्षौ चिरं शयनं योनितो निःसरणमित्येतदशेषमिति
प्रसिद्धं किमिति श्रुत्वा व्यपदिश्यते तत्राह । उल्बाहत इत्यादीति ॥
वैराग्यार्थत्वस्य स्फुटयति । कष्टं ह्येति ॥ श्लेष्मादीत्यादिशब्देनाहृक्
पूयश्लयुमज्जादीनि षट्छान्ते । तदनुलिप्तस्येति तच्छब्दो मूत्रपुरीषादि-
विषयः । शक्तिर्बुद्धिसामर्थ्यम् । बलं देहसामर्थ्यम् । तेजः शरीरगता
काम्निः । प्रज्ञा चेतना जीवनचर्मः । चेष्टा प्राणधर्मः । ता निरुद्धा
यस्य तस्येति विग्रहः ॥ मातुरुदरे शयानस्य कष्टत्वेऽपि तदुदराद्योनि-
द्वारा निःसरणं सुखकरमिति चेष्टेत्याह । तत इति ॥ तद्वाह्यप्रकार-

मितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः सम्भूतो
भवति ॥ २ ॥ ६ ॥

मानस्य कष्टतरा निःसृतिर्जम्बोति वैराग्यं जयति ।
सुहृत्समप्यसह्यं दश वा मामानतिदीर्घकालमन्तः शयि-
त्वेति । स एवं जातो यावदायुषं पुनर्घटीयन्त्ववङ्गमनागम-
नाय कर्म कुर्वन् कुलालचक्रवद्वा तिर्यग्भ्रमणाय
यावत्कर्मणोपात्तमायुस्तावज्जीवति । तमेवं क्षीणायुषं
प्रेतं हतं दिष्टं कर्मणा निर्दिष्टं परलोकं प्रति । यदि
चेज्जीवन् वैदिके कर्मणि ज्ञाने बाधितस्तस्मिन् हत-
मितोऽस्मादुग्रामादग्नयेऽग्न्यर्थं हविर्जो हरन्ति पुत्रा वान्त्य-
कर्मणे । यत एव इत आगतोऽग्नेः सकाशाच्छ्रद्धा-
द्याहुतिक्रमेण । यतश्च पञ्चभ्योऽग्निभ्यः सम्भूत उत्पन्ने

मेवाभिनयति । सुहृत्समपीति ॥ यन्मातुरन्तः शयनं सुहृत्समपि दुःसहं
तत्कथं दीर्घकालं शयितुं शक्यम् । कथञ्च दश वा नव वा भासानन्तः
शयित्वा पुनर्योनिद्वारा दुष्करं निश्चारणं दुःसह्यं स्यादिति वैराग्यं प्राह-
यति श्रुतिरित्यर्थः ॥ जातस्य पुनरनर्थो नास्तीत्याशङ्क्याह । स एवमिति ॥
यावदायुषमित्येतस्याचष्टे । पुनरिति ॥ घटीयन्त्ववङ्गं गमनार्थं वा
निमित्तं कर्म पौनःपुन्येनाचरन् यावत्कर्मणार्जितमायुस्तावदस्मिन्देहे
जीवति ततो म्रियते । तथा च जातस्य ह्यत्युग्रौघ्यादास्ति सभ्यगन्तानं
विना स्तस्तिप्राम्निरित्यर्थः ॥ अस्तु तर्हि हतस्य हतकृत्यतेत्याशङ्क्याह ।
तमेवमिति ॥ सर्वस्य तर्हि हतस्य पारलौकिकत्वं स्यादिति चेन्नेत्याह ।



भवति तस्मा एवाग्नये हरन्ति स्वामेवयोनिमग्निमापाद-
यन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

वेत्य यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीत्ययं प्रश्नः प्रत्युपस्थितोऽ-
पाकर्त्तव्यतया । तत्र लोकं प्रत्युत्थितानामधिष्ठितानां गृह-
मेधिनां य इत्थमेवं यथोक्तं पञ्चाग्निदर्शनं दुर्लोकाद्य-
ग्निभ्यो वयं क्रमेण जाता अग्निस्वरूपाः पञ्चाग्न्यान्मान
इत्थेवं विदुर्जानीयुः । कथमवगम्यते इत्थं विदुरिति । गृहस्था
एव उच्यन्ते नान्य इति । गृहस्थानां ये त्वनित्यं विदुः
केवलेष्टापूर्त्तदत्तपरास्ते धूमादिना चन्द्रं गच्छन्तीति
वक्ष्यति । ये चारण्योपलक्षिता वैखानसाः परिव्राजकाश्च
ऋद्धातप इत्युपासते तेषाञ्चेत्यविद्धिः सहार्चिरादिना

यदीति ॥ तदा परलोकं प्रति कर्मणा निदिष्टमिति पूर्वेषु सम्बन्धः ।
युक्तञ्च तन्मृतस्याग्न्यर्थं नयनमित्याह । यत इति ॥ ६ ॥

स उल्बाहत इत्यादिनोक्तमनुवदति । वेत्येति ॥ प्रत्युपस्थितः प्रजो-
त्पत्तिदर्शनेन प्रसङ्गत इति यावत् । तद्य इत्थं विदुरित्येतद्वाच्ये । तत्रे-
त्यादिना ॥ सप्रस्यर्थमेव स्फुटयति । लोकमिति ॥ निर्धारणार्था षष्ठी ॥
वेदनप्रकारमनुवदति । दुर्लोकादीति ॥ तेऽर्विषमभिसम्भवन्तीत्युत्तरत्र
सम्बन्धः ॥ साधारणोक्तेर्विशेषे सङ्कोचो हेतुं विना न सिध्यतीति शङ्कते ।
कथमिति ॥ पारिशेष्यं सङ्कोचकमिति परिहरति । गृहस्थानामिति ॥
षष्ठी निर्धारणे । अतश्च केवलकर्मिणो गृहस्था न विदुरिति ग्रहण-
मर्हन्तीति शेषः ॥ परिव्राजका वानप्रस्थाश्च गृहस्थानामिति चेत्तेत्याह ।
ये चेति ॥ केषां तर्हि ग्रहणमत आह । पारिशेष्यादिति ॥ गृहस्थ
एव । हेत्वन्तरमाह । अग्निहोत्रेति ॥ तदाऽऽत्यपूर्वपरिणामात्मकं जग-
दत्र पञ्चधा प्रविभज्याग्नित्वेन दर्शनसुत्तरमार्गप्राप्तिरधनं चोद्यते ।

गमनं वक्ष्यति । पारिशेष्यात् अग्निहोवाहुतिसम्बन्धाच्च
गृहस्था एव गृह्यन्ते इत्यं विदुरिति ॥

ननु ब्रह्मचारिणोऽप्यगृहीता ग्रामश्रुत्यारण्यश्रुत्या
चानुपलक्षिताश्च विद्यन्ते कथं पारिशेष्यसिद्धिः । नैष दोषः ।
पुराणस्मृतिप्रामाण्यात् । ऊर्द्धरेतसां नैष्ठिकब्रह्मचारिणामु-
त्तरेणाप्यर्च्यभूयः प्रस्थाः प्रसिद्धाः । अतस्तेऽप्यरण्यवासिभिः सह
गमिष्यन्ति । उपकुर्वाणकास्तु स्वाध्यायग्रहणार्था इति न
विशेषनिर्देशार्हाः । ननूर्द्धरेतस्त्वं चेदुत्तरमार्गप्रतिपत्ति-
कारणं पुराणस्मृतिप्रामाण्यादिष्यते इत्यं वित्त्वमनर्थकं प्राप्तम् ॥

अतो विद्यायास्तत्सम्बन्धः गृहस्थानामपि तत्सम्बन्धस्य प्राप्तत्वात् तेषामेवैह
ग्रहणसुचितमित्यर्थः ॥

पारिशेष्यमाक्षिपति । नन्विति ॥ ग्रामे सपत्नीको वासः । न च
ब्रह्मचारिणं पत्नीसम्बन्धः । तत्र ग्रामश्रुत्या ब्रह्मचारिणो गृहीताः ।
गुरुकुलवासित्वाच्च नारण्यश्रुतयोपलक्षिताः । ततस्तेषामिह ग्रहणसम्भ-
वाच्च पारिशेष्यमित्यर्थः ॥ किं नैष्ठिकब्रह्मचारिणोऽत्रेत्यं विदुरिति
गृह्येण किं वोपकुर्वाणा इति विकल्पप्राद्यं दूषयति । नैष दोष इति ।
अष्टाशेति सहस्राणि यतीनामूर्द्धरेतसाम् । स्मृतं स्थानं तु यत्तेषां तदेव
गुरुवासिनामित्यादिपुराणस्मृतेः श्रुतिमूलत्वेन प्रामाण्यान्नैष्ठिकब्रह्म-
चारिणामूर्द्धरेतसामादित्यसम्बन्धेनोत्तरायणेनोपलक्षितो देवयानाख्यो
मार्गो यावता त्रसिद्धस्तस्मात्तेषामरण्यवासिभिः सहस्रखण्डितब्रह्मचर्येणैवा-
चिरादिगतिलाभाच्च पञ्चाग्निवित्त्वेन प्रयोजनमिति पारिशेष्यसिद्धि-
रित्यर्थः ॥ द्वितीयं प्रत्याह । उपकुर्वाणकास्त्विति ॥ ते हि स्वाध्याय-
ग्रहणार्थास्तस्मिन् गृहीते स्वेच्छावशादाश्रमान्तरं गृह्णन्तस्तत्फलमेव
फलवन्तो भवन्तीति न गृहस्थादिभ्यो विभज्येत्यं विदुरिति निर्देशमर्हन्ती-
त्यर्थः । किं नैष्ठिकानां ब्रह्मचारिणामुत्तरमार्गप्राप्तिसम्भवादनर्थकं-
इत्यं वित्त्वं प्राप्तमिति श्रुति विरोधात् । द्वितीये तु पारिशेष्यसिद्धि-
तादवस्थप्रमिति शङ्कार्थः ॥

न गृहस्थान् प्रत्यर्थवत्त्वात् । ये गृहस्था अनित्यं विदु-
 स्तेषां स्वभावतो दक्षिणो धूमादिः पथ्याः प्रसिद्धस्तेषां ये
 इत्थं विदुः सगुणं वाऽन्यद्ब्रह्म विदुः । अथ यदु चैवास्मिन् शब्दं
 कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवेति लिङ्गादुत्तरेण ते गच्छन्ति ॥
 न नूहरेतसां गृहस्थानाञ्च समाने आश्रमित्वे ऊर्द्धरे-
 तसामेवोत्तरेण, पथा गमनं न गृहस्थानामिति न युक्तम् ।
 अग्निहोत्रादिवैदिककर्म बाहुल्ये च सति नैष दोषः ।
 अपूता हि ते ॥ शत्रुमित्संयोगनिमित्तौ हि तेषां

किमिच्छं विचित्रं नैष्ठिकान् प्रत्यनर्थकमित्युच्यते किं वा सञ्चानेव
 प्रतीति विकल्पप्राद्यमङ्गोक्त्य द्वितीयं दूषयति । न गृहस्थानिति ॥ तान्
 प्रत्यर्थवत्त्वमेवेत्यां विचित्रस्य विभज्य समर्पयते । ये गृहस्था इति ॥ स्वभावत-
 स्तदनुष्ठितेष्टापूर्त्तबलादित्यर्थः । तेषामेव गृहस्थानां मध्ये ये केचिदुक्तेन
 प्रकारेणेत्यं पञ्चाग्निदर्शनं विदुरग्निभ्योऽन्यद्वा सगुणं ब्रह्म विदुस्ते देव-
 यानोत्तरेण पथा गच्छन्तीति सम्बन्धः । न केवलं गृहस्थानां पञ्चाग्निविच-
 मेव किन्तु सगुणब्रह्मविचित्रमपि तेषामस्तीति प्रमाणमाह । अथेति ॥
 अन्येष्टिकरणाकरणयोरविशेषेण ब्रह्मविदामर्चिरादिगतिश्रवणादस्ति
 गृहस्थानामपि ब्रह्मविचित्रमिति गम्यते । पारिव्राजकादिष्वन्येष्ट्यसम्भ-
 वेन विद्यास्तुतेरपि दुष्चिन्तत्वादित्यर्थः ॥ विहितत्वाविशेषादाश्रमाणां
 तुल्यत्वमाश्रित्य शङ्कते । नन्विति ॥ साम्यसङ्गा गृहस्थेषु विशेषं दर्शयति ।
 अग्निहोत्रादीति ॥ वैदिकानि कर्माणि भूयांसि सन्ति । तेषाञ्च बाहुल्ये
 सत्यविदुषामूर्द्धरेतसामेव देवयानेन पथा गमनं न गृहस्थानामित्युक्तम् ।
 साधनभूयस्त्वे फलभूयस्त्वन्यायविरोधादित्यर्थः ॥ आश्रमित्वाविशेषेऽपि
 धर्मविशेषाद्विशुद्धितारतम्यसम्भवाच्चैकव्यमिति परिहरति । नैष दोष
 इति ॥

रागद्वेषौ । तथा धर्माधर्मौ हिंसानुग्रहनिमित्तौ ।
 हिंसावृत्तमायाब्रह्मचर्यादि च ब्रह्मशुद्धिकारणमप्यपरि-
 हार्यं तेषाम् । अतोऽपूताः । अपूतत्वान्नोत्तरेण पथा
 गमनम् । हिंसावृत्तमायाब्रह्मचर्यादिपरिहाराच्च ।
 शुद्धात्मनो हीतरे शत्रुमित्वरागद्वेषादिपरिहाराच्च
 विरजसस्तेषां युक्त उत्तरः पन्थाः । तथाच पौराणिकाः ।
 ये प्रजामीषिरेऽधीरास्ते प्रमथानानि भोजिरे । ये प्रजां
 नेषिरे धीरास्तेऽस्य तत्त्वं हि भोजिर इत्याहुः । इत्थं-
 विदां गृहस्थानामरण्यवासिनाञ्च समानमार्गत्वेऽस्य तत्त्वे
 फले च सत्यरण्यवासिनां विद्यानर्थक्यं प्राप्तम् । तथाच
 श्रुतिविरोधः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविदांसस्तपस्विन
 इति । स एवमविदितो न भुनक्तीति च विरुद्धम् । न ।
 आभूतसंभवस्यानस्यास्य तत्त्वेन विवक्षितत्वात् ॥

कथं गृहस्थानामग्निहोत्रादिभूयोधर्मावतां विद्याहीनानामप्यपू-
 तत्वं तत्त्वाह । शत्रुमित्वेति ॥ अब्रह्मचर्यादीत्यादिपदेन परिगृहीतादि
 गृह्यते । अगुह्यब्राह्मणकारणमतः शब्दार्थः । तस्य मूर्द्धरेतसामप्यशुद्धि-
 चेत्तुवाञ्छत्यादपूतत्वमित्याशङ्क्याह । हिंसेति ॥ ऊर्द्धरेतसां पूतत्वे सिद्धे
 फलितमाह । तेषामिति ॥ ऊर्द्धरेतसां देवयाने पथ्यनुप्रवेशे प्रमाण-
 माह । तथा चेति ॥ पौराणिका आहुरिति सम्बन्धः । आश्रमधर्मात्मात्र
 मार्गद्वारेणास्य तत्त्वमूर्द्धरेतसासक्तमाप्तिपति । इत्थं विदामिति ॥ तेषां वि-
 द्यानर्थक्यमिदमेवेत्याशङ्क्याह । तथा चेति ॥ स परमात्मा स्वयमज्ञातः सत्त्वेन
 अधिकारिणमपवर्गप्रदानेन न पालयतीति च वक्तव्यं विद्यामन्तरेणास्य तत्त्वं
 ब्रुवतो विरुद्धमित्यर्थः ॥ ऊर्द्धरेतसामस्य तत्त्वस्यापेक्षितत्वात्तत्र विद्यानर्थक्य
 भवेति परिहरति । नाभूतेति ॥

तत्त्वैवोक्तं पौराणिकैः । आभूतसंज्ञवं स्थानमसृष्टत्वं
हि भाष्यत इति । यच्चात्यन्तिकमसृष्टत्वं तदपेक्षया न तत्
दक्षिणा यन्ति स एनमविदितो न भुनक्तीत्याद्याः अतय
इत्यतो न विरोधः । न च पुनरावर्त्तन्त इतीमं मानव-
मावर्त्तं न वर्त्तन्त इत्यादिश्रुतिविरोध इति चेत् । न । इमं
मानवमिति विशेषणात्तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति च ।
यदि ह्येकान्तेनैव नावर्त्तेरन्निमं मानवमिहेति च विशे-
षणमनर्थकं स्यात् । इममिहेत्याकृतिमात्रमुच्यत इति चेत् ।
न । अनावृत्तिशब्देनैव नित्यानावृत्तार्थस्य प्रतीतत्वादा-
वृत्तिकल्पनाऽनर्थिका । अत इममिहेति च विशेषणार्थव-
त्त्वाय अन्यदावृत्तिः कल्पनीया । न च सदेकमेवाद्वितीय-
मित्येवं प्रत्ययवतां मूर्द्धन्या नाद्याऽर्चिरादिमार्गेण गमनम् ॥

आपेक्षिकमसृष्टत्वमित्यत्र प्रमाणमाह । तत्त्वैवेति ॥ यत्र प्रजाः का-
मयमाना सुक्तिभाजो न भवन्तीत्युक्तं तत्त्वैव तत्त्वन्निधाविति यावत् ॥
कथं तर्हि यथोक्तश्रुतिविरोधसमाधिरित्याशङ्काह । यच्चेति ॥ आदि-
शब्दस्तमेवं विद्वानसृष्ट इह भवतीत्यादिश्रुतिसङ्ग्रहार्थः ॥ आपेक्षिका-
सृष्टत्वे श्रुतिविरोधो न शक्यते परिहर्तुमिति शङ्कते । न चेति ॥
आदिशब्दस्तेषामिह न पुनरावृत्तिरित्यादिवाक्यसङ्ग्रहार्थः ॥ इममिहेति
विशेषणावष्टम्भेन निराचष्टे ॥ नेत्यादिना ॥ तदेव व्यतिरेकमुखेन विश-
दयति । यदीति ॥ सर्वकल्पेषु श्रुतेरेतादृशत्वादिममिहेति पदद्वयसामा-
न्येन सर्वकल्पविषये विशेषणानर्थक्यं दुर्वारमित्युत्तरमाह । नाना-
वृत्तीति ॥ विधानरेण विशेषणार्थसम्भवे फलितमाह । अत इति ॥ यस्मिन्
कल्पे ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तस्मात्कल्पान्तरमन्यतेत्युक्तम् । ऊर्ध्वरेतसामान्य-
धर्मभावनविधानमसृष्टत्वमपेक्षिकमुपपत्तिप्रम् । सम्प्रति तेषामेव साक्षात्-
कृतब्रह्मतत्त्वानामात्यन्तिकमसृष्टत्वं गतिनिरपेक्षं सिध्यतीत्याह । न
चेति ॥

ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । तस्मात्तत्सर्वमभवत् । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति । अत्रैव समवलीयन्त इत्यादिश्रुतिश्रुतेभ्यः । न तस्माज्जीवादुच्चिक्रमिषोः प्राणा नोत्क्रामन्ति सहेव गच्छन्तीत्ययमर्थः कल्पत इति चेत् । न । अत्रैव समवलीयन्त इति विशेषणानर्थक्यात् । सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्तीति च प्राणैर्गमनस्य प्राप्तत्वात् । तस्मादुत्क्रामन्तीत्यनाशङ्कैवैषा । यदापि मोक्षस्य संसारगतिवैलक्षण्यप्राणानां जीवेन सहागमनमाशङ्क्य तस्मान्नोत्क्रामन्तीत्युच्यते तदाप्यत्रैव समवलीयत इति विशेषणमनर्थकं स्यात् । न च प्राणैर्वियुक्तस्य गतिरुपपद्यते ॥ जीवत्वं वा । सर्वगतत्वात्सदात्मनो निरवयवत्वात् प्राण सम्बन्धमात्रमेव ह्यग्निविस्फुलिङ्गवज्जीवत्वं भेदकारणमिति ॥

तेषां गत्यादिनिरपेक्षमात्यन्तिकममृतत्वं भवतीत्यत्र प्रमाणमाह । ब्रह्मैवेति ॥ न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति साध्यन्दिनश्रुतिमनुसृत्य न तस्येत्यादिका नवश्रुतिरपि नेतव्येति शङ्कते । न तस्मादिति ॥ वाक्यशेषविरोधान्नैवमिति दूषयति । नात्रेति ॥ श्रुत्यन्तरालोचनायामपि न स्वयूच्यकल्पनेत्याह । सर्वे प्राणा इति ॥ प्राणैः सह जीवस्येति शेषः । संसारदशायां प्राणैः सह विज्ञानात्मनो गमनेऽपि मोक्षे नास्ति प्राणानां जीवेन सह गमनमित्याशङ्कायां न तस्मादित्यादिवाक्यमित्याशङ्काह । यदापीति ॥ भवतु प्राणानामत्रैव समवल्यस्तथापि जीवस्य गमनायत्तममृतत्वमित्याशङ्काह । न चेति ॥ कस्मिन्नहमृतकाले उत्क्रान्तो भविष्यामि । कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति । स प्राणममृतजतेति श्रुतेरिति शेषः ॥ किञ्च प्राणैर्वियुक्तस्य विदात्मनो जीवत्वं नोपपद्यते प्राणो पाधिकस्यैव तस्य जीवशब्दाच्च्यत्वादित्याह । जीवत्वं वेति ॥ उक्तमर्थं

अतस्तद्वियोगे जीवत्वं गतिर्वा न शक्या परिकल्पयितुम् । अत-
यश्चेत्प्रमाणम् । न च सतोऽणुरवयवः स्फुटितो जीवाख्यः सद्रूप
छिद्रीकुर्वन् गच्छतीति शक्यं कल्पयितुम् । तस्मात्तयोर्द्ध-
मायन्नस्तत्त्वमेतीति सगुणब्रह्मोपासकस्य प्राणैः सह नाद्या
गमनं सापेक्षमेव चास्तत्वम् । न साक्षान्मोक्ष इति गम्यते ।
तदपराजितापूस्तदैरं मदीयं सर इत्याद्युक्ता तेषामेवैष
ब्रह्मलोक इति विशेषणात् । अतः पञ्चाग्निविदो गृहस्था
ये चेमेऽरण्ये वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्च सह नैष्ठिकब्रह्म-
चारिभिः अद्धातप इत्येवमाद्युपासते । अद्धानास्तप-
स्विनश्चेत्यर्थः । उपासनशब्दतात्पर्यार्थः । इष्टापूर्तदत्त-

समर्थयते । सर्वगतत्वादिति ॥ चिदात्मा हि कल्पनायामधिष्ठाने सति ह्यतो
निर्भागं सर्वस्यात्मा । तस्मादग्नेर्विस्फुलिङ्गवज्जीवत्वाख्यभेदसम्पादनं तस्य
प्राणशब्दमात्रमेवेति वैदिकानां प्रसिद्धम् । तथा च प्राणवियोगे चिदा-
त्मनो जीवत्वं गतिर्वा न शक्यते कल्पयितुम् । तस्मात्पूर्वत्वादप्रतिपादक
श्रुतीनां प्रमाणत्वादित्यर्थः । सदात्मनः सर्वगतस्य जीवाख्यभेदकरणे न
प्राणोपाधिकतम् । किन्तु स्वत एव तस्यांशो जीवस्तथा चाग्निविस्फु-
लिङ्गवत्तस्य गत्यर्थोपपत्तेरित्याशङ्क्याह । न चेति ॥ निष्कलं निष्क्रियं
शान्तिमत्यादिश्रुतेरिति शेषः । प्रकरणार्थमुपसंहरति । तस्मादिति ॥
निर्गुणब्रह्मविदामात्यन्तिकास्तत्वस्य गमनादिनिरपेक्षत्वादिति यावत् ॥

सगुणब्रह्मोपासकस्य सापेक्षमस्तत्वमित्यत्र विशेषणश्रुतिमनुकूल-
यति । तदपराजितेति ॥ आदिपदेन तदश्रयः सोमसवन इत्यादि
गृह्यते । तेषामेवब्रह्मविदांषु पूर्वोक्तविशेषण गुणो ब्रह्मणः सत्याख्यस्य
लोको नान्येषामस्तत्त्वनामिति विशेषदर्शनादस्तत्वं तेषां तत्त्वोक्त-
निवासिभिः सप्तं सापेक्षमेवेति निर्वहिरितमित्यर्थः । अद्धरेतसामाश्रम-

य चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषामभि-
सम्भवत्यर्चिषोऽहरङ्ग आपूर्यमाण पक्षमापूर्य-
माणपक्षाद्यान् षडुदङ्गुति मासास्तान् ॥१॥
मासेभ्यः सम्बत्सरः सम्बत्सरादादित्यमादि-

मित्युपासत इति यद्वत् ॥ श्रुत्यन्तराद्ये च सत्यं ब्रह्म हिर-
ण्यगर्भाख्यमुपासते ते सर्वेऽर्चिषमर्चिरभिमानीनीन्देवता-
मभिसंविशन्ति प्रतिपद्यन्ते ॥

समानमन्यच्च चतुर्थगतिव्याख्यानेन । एष देवयानः
पथा व्याख्यातः सत्यलोकावसानो नाण्डाद्वह्निः । यद-
न्तरा पितरं मातरञ्चेति मन्त्रवर्णात् । अथेत्यर्थान्तर-

मात्रनिष्ठानामपि ब्रह्म लोको लभ्यते । गृहस्थानां पुनर्विदुषामेवेत्युप-
पाद्य प्रकृतिवृत्तिश्चाख्यानमनुवर्त्तयति । अत इति ॥ पूर्वोक्तपारि-
शेषादिति यावत् । पारिव्रजकाश्चेत्यसुख्य सख्यासिन स्निग्धगुणो
गृह्यान्ते सुख्यस्य श्यासिनां ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति पृथग्भूतत्वात् । अङ्गां
सत्यमुपासत इति श्रुत्यन्तरम् । पञ्चाग्निविदो गृहस्थाः स्वाश्रममात्र-
प्रवणादूर्ध्वरेतसः सत्यब्रह्मोपासकाश्चोभवे सर्व्वगन्देनोच्यन्ते ॥

चतुर्थे यदुपकोशव्याख्यायां गतिं व्याख्यानमतिवृत्तं तेन समानमर्चि-
षोऽहरित्यादि वाक्यव्याख्यानम् । तथाच तत्र पृथक्कर्त्तव्यमित्याह । समान
मिति । समानमित्यन्तरमार्गव्याख्यानमुपसंहरति । एष इति ॥ देवयानेन
पथा वह्निगुणोपासितं ब्रह्मगन्तव्यमित्येके तान्प्रत्याह । नाण्डादिति ॥
तत्र हेतुमाह । यदन्तरेति ॥ पितरं द्युलोकं मातरञ्च पृथिवीं मध्ये द्वे
मृती अष्टाणं ताभ्यामिदं विश्वं कर्म ज्ञानाधिकृतं गच्छति । नचाण्डा-
द्वहिरस्ति गतिद्वयमित्यर्थः । वेत्यदिगोऽधिप्रजाः प्रयन्तीत्यस्य प्रत्यस्य
प्रतिवचनं देवयानोपदेशेन व्याख्यातम् । सम्प्रति पितृयाणोपदेशेनाऽपि

त्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः
 स एनां ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति
 ॥२॥ अथ य इमे ग्राम इष्टापूजो दत्तमित्युपासते
 ते धूममभि सम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेर-
 परपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते

प्रस्तावनार्थो य इमे गृहस्थाः । ग्राम इति गृहस्था-
 नामसाधारणं विशेषणमरण्यवासिभ्यो व्यावृत्त्यर्थम् ।

यथा वानप्रस्थपरिव्राजकानामरण्यं विशेषणं गृहस्थेभ्यो
 व्यावृत्त्यर्थं तद्वत् । इष्टापूजो इष्टमग्निहोत्रादिवैदिकं कर्म ।
 पूजो वापीकूपतडागारामादिकरणम् । दत्तं च वह्निर्वैदि-
 यथा शक्त्यर्हेभ्यो द्रव्यसम्भागो दत्तम् । इत्येवंविधं परिचरण-
 परित्वाणाद्युपासते इति शब्दस्य प्रकारदर्शनार्थत्वात् । ते
 दर्शनवर्जितत्वाद्धूमं धूमाभिमानिनीं देवतामाभिसुख्येन
 सम्भवन्ति प्रतिपद्यन्ते । तथाऽतिवाहिताधूमाद्रात्रिं रात्रि-
 देवतां रात्रेरपरपक्षदेवतां एवमेव कृष्णपक्षाभिमानि-
 नीमपरपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणा दक्षिणां दिशमेति

ग्रामनिवासित्वाविशेषादित्याशङ्क्याह । ग्राम इतीति ॥ सपत्नीको हि
 वासो ग्राम इत्युच्यते । न च सपत्नीकत्वमूर्द्धरेतसां युक्तं तथाच गृहस्थानां
 मेव ग्रामविशेषणमसाधारणं न च तदर्थकमूर्द्धरेतस्थस्तेषां व्यावृत्त्यर्थत्वा-
 दित्यर्थः । तदेव वृष्टान्तेन स्फुटयति ।

यथेति ॥ वेद्यनर्भावव्यासेधाद्विज्ञेयं इति विशेषणमादौ दत्तमिति
 प्रतीकोपादानं पुनर्व्याख्याऽस्यानुवाद इत्युपनृक्तिः । इतिशब्दार्थमाह ।
 इत्येवंविधमिति ॥ परिचरणं युर्वादिशुश्रूषा परित्वाणं रक्षणम् । आदि

सम्बत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥ मासेभ्यः पितृ-
लोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्च ससमेष
सोमो राजा तद्देवानामन्तं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

सविता । तान् मासान् दक्षिणायनान् षण्मासाभिमानी-
नीर्देवताः प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । सङ्ख्यचारिण्यो हि षण्मासदे-
वता इति मासानिति ब्रह्मवचनप्रयोगस्तासु । नैते कर्मिणः
प्रकृताः सम्बत्सरं सम्बत्सराभिमानीनीं देवतामभिप्राप्नु-
वन्ति । कुतः पुनः सम्बत्सरप्राप्तिप्रसङ्गो यतः प्रतिपिध्यते ।
अस्ति हि सम्बत्सरस्य प्रसङ्गोऽन्त्येकस्यावयवभूते दक्षि-
णोत्तरायणे तत्तार्चिरादिमार्गप्रवृत्तानामुदगयनमासेभ्यो
ऽवयविनः सम्बत्सरस्य प्राप्तिरुक्ता । अत इहापि तदवयव-
भूतानां दक्षिणायनमासानां प्राप्तिं श्रुत्वा तदवयविनः
सम्बत्सरस्यापि पूर्ववत्प्राप्तिरापन्नेत्यतस्तत्प्राप्तिं प्रतिषि-
न्ते नैते सम्बत्सरमभिप्राप्नुवन्तीति । मासेभ्यः पितृलोकं

पदं नित्यस्वाध्यायादिसङ्ग्रहार्थम् । उपासते तात्पर्येणावुतिष्ठन्तीति
यावत् । कथमिति शब्दस्य यथोक्तार्थत्वमिति हस्मोपाध्यायः कथयतीति-
वत्प्रकृतमात्रगामित्वदित्याशङ्क्याह । शब्दस्येति ॥ देवयानाधिक्रतेभ्यः
सकाशात् पितृयाणाधिक्रतेषु विशेषान्तरमाह । नैत इति ॥ अप्राप्त-
प्रतिषेधोऽयमिति शङ्कते । कुत इति ॥

प्राप्तिं दशयन्नुत्तरमाह । अस्ति हीति ॥ पूर्ववद्यथापूर्वं देव-
यानेन पथाऽवयवेभ्योऽवयविनः सम्बत्सरस्य प्राप्तिस्तथेति यावत् । अस्त-
शब्दस्य यथाश्रुतमर्थं श्रुत्वा चोदयति । नन्विति ॥ औपचारिकमर्थं

पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् । कोऽसौ यस्यैः प्राप्यते
चन्द्रमा य एष दृश्यतेऽन्तरिक्षे सोमो राजा ब्राह्मणानां
तदन्नं देवानां तं चन्द्रमसमन्नं देवता इन्द्रादयो भक्षयन्ति ।
अतस्ते धूमादिना गत्वा चन्द्रभूताः कर्मिणो देवैर्भक्ष्यन्ते
नन्वनर्थायेष्टादिकरणं यद्यन्नभूता देवैर्भक्ष्येरन् नैष
दोषः । अन्नमित्युपकरणमात्रस्य विवक्षितत्वात् । न हि ते
कवलोत्क्षेपेण देवैर्भक्ष्यन्ते । किं तर्ह्युपकरणमात्रं देवानां
भवन्ति । ते स्त्रीपशुभृत्यादिवत् । दृष्टवान्शब्द उप-
करणेषु स्त्रियोऽन्नं पशवोऽन्नं विशोऽन्नं राज्ञामित्यादि ॥

न च तेषां स्यादीनां पुरुषोपभोग्यत्वेऽप्युपभोगो
नास्ति । तस्मात्कर्मिणो देवतानामुपभोग्यापि सन्तः सुखिनो
देवैः क्रीडन्ते । शरीरञ्च तेषां सुखोपभोगयोग्यं चन्द्र-
मण्डले आप्यमारभ्यते । तदुक्तं पुरस्ताच्छ्रद्धा शब्दा आपो
द्युलाकाग्नौ हुताः सोमो राजा सम्भवतीति । ता आपः
कर्मसमवायिन्य इतरैश्च भूतैरनुगताः द्युलोकं प्राप्य चन्द्र-
त्वमापन्नाः शरीराद्यारम्भिका इष्टाद्युपासकानां भवन्ति ।

गृहीत्वा परिहरति । नैष दोष इति ॥ दृष्टप्रयोगमन्त्रेण कथमुपकरणवि-
षयोऽन्नशब्दो वा ख्यायते तत्राह । दृष्टचेति ।

भवतु कर्मिणां देवान्प्रत्युपकरणत्वं तथापि स्वयमुपभोगभावा-
दनर्थकमिष्टादिकरणमित्याशङ्काह । न चेति ॥ अन्योपभोग्यानामपि
स्वयं भोगमत्वं तस्मादित्युच्यते । तथापि तेषां कृतानामशरीरिणां कथं
सुखोपभोगः सम्भवतीत्याशङ्काह । शरीरञ्चेति ॥ कथमपि चन्द्रलोके
तद्देहारम्भकत्वं तदाह । तदुक्तमिति ॥ अथापि सोमत्वमेवास्त्वग्रतीयते

तस्मिन्त्यावत्सम्पातमुषित्वाऽयैतमध्वानं पुन- र्निवर्तन्ते

अन्यायाञ्च शरीराहुतावग्नौ हुतायामग्निना दह्यमाने
शरीरे तदुत्था आपो धूमेन सहोर्द्धं यजमानमावेष्ट्य चन्द्र-
मण्डलं प्राप्य कुशस्तिकास्थानीया वाह्यशरीरारम्भिका
भवन्ति । तदारब्धेन च शरीरेणैष्टादिफलमुपभुञ्जाना
आसते यावत्तद्रूपभोगनिमित्तस्य क्षयः कर्मणः । सम्पतन्ति
येनेति सम्पातः कर्मणः क्षयो यावत्सम्पातं यावत्कर्मणः
क्षय इत्यर्थः । तावत्तस्मिन्चन्द्रमण्डले उषित्वा अथाऽन-
न्तरमेतमेव वक्ष्यमाणमध्वानं मार्गम् पुनर्निवर्तन्त इति
प्रयोगात्पूर्वमप्यसकृच्चन्द्रमण्डलं गता निवृत्ताश्वासन्निति
गम्यते । तस्मादिह लोके इष्टादिकर्मोपचित्य चन्द्रं
गच्छन्ति । तत्क्षये चावर्तन्ते । क्षणमात्रमपि तत्र स्थातुं न

नतु कस्मिंश्चिद्देहारम्भकत्वमित्याशङ्क्याह । ता आप इति ॥ कर्मसमवायिनी-
नामपां कर्मापूर्वद्वारा यजमानदेहे प्रतिष्ठानां कथं दुलोकप्रवेष्टादि सम्भ-
वतीत्याशङ्क्याह । अन्यायाञ्चेति अङ्गिरारब्धस्य शरीरस्य भोगयतनत्वं
दर्शयति । तदारब्धेनेति ॥

तद्देवानामन्नमित्यादि व्याख्याय तस्मिन्नित्यादि व्याचष्टे । याव-
दिति ॥ चन्द्रलोकस्तच्छब्दार्थः । यावत्सम्पातमुषित्वेति श्रूयते । कथ-
मन्यथा व्याख्यायते तत्राह । सम्पतन्तीति ॥ पुनः शब्दप्रयोगस्य तात्पर्य-
माह । पुनरिति ॥ अथेत्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति । तस्मादिति ॥
तच्छब्दपरावृत्तेऽहं स्पष्टयति । स्थितेति ॥ यथा दीपस्य ज्ञेहक्षये
स्थितिनिमित्ताभावादस्थितिस्तथा चन्द्रलोके स्थितिनिमित्तस्येष्टादे-
र्भोगेन क्षयात्तत्र स्थित्यसम्भवादव्यतिरेकेत्यर्थः । तस्मिन्त्यावत् सम्पातमुषित्वे

लभ्यते । स्थितिनिमित्तकर्मक्षयात् । स्नेहक्षयादिव प्रदी-
पस्य । किं तत्र येन कर्मणा चन्द्रमण्डलमाकूटस्तस्य सर्वस्य
क्षये तस्मादवरोहणं किं वा सावशेष इति । किन्ततः ॥

यदि सर्वस्यैव क्षयः कर्मणश्चन्द्रमण्डलस्यैव मोक्षः प्राप्नो-
तीति । तिष्ठतु तावत्तदैव मोक्षः स्यान्वेति । तत आगत-
स्येह शरीरोपभोगादि न सम्भवति । ततः शेषेणेत्यादि-
स्रुतिविरोधश्च स्यात् । नन्विष्टापूर्त्तदक्षव्यतिरेकेणऽपि
मनुष्यलोके शरीरोपभोगनिमित्तानि कर्माण्यनेकानि
सम्भवन्ति न च तेषां चन्द्रमण्डल उपभोगः । अतः

त्यत्र विचारयति । किन्तवेति ॥ तस्य चन्द्रमण्डलप्रापकस्यातिरिक्तस्य
च सर्वस्य कर्मणः क्षये सतीति यावत् । सावशेषोद्भुक्तात्कर्मणः सकाशाद-
तिरिक्तेन केनचित्कर्मणा सहितः सन्नित्यर्थः ॥ पक्षद्वयेऽपि फलं पृच्छति ।
किन्तत इति ॥

तत्राद्यं पञ्च पूर्वपक्षमुखेन प्रतिचिक्षिप्सुस्तत्फलमाह । यदीति ॥
तत्रैव दूषणान्तरमाह । तिष्ठत्विति ॥ चन्द्रमण्डलं सप्तम्यर्थः । ततश्चन्द्रम-
ण्डलादित्येतत् इहेत्येतल्लोकोक्तिः । आदिपदं शुभाशुभकर्मानुसारिसर्वव्या-
पारसंघट्टार्थम् । न केवलं सर्वकर्मक्षयपक्षे मुक्तिरेव विरुध्यते किन्तु स्रुति
श्चेत्याह । तत इति ॥ चन्द्रलोके भोक्तव्यस्य कर्माणो भोगेन क्षयादूर्ध्वं
शेषेणानुपभुक्तेन कर्मणा जन्म प्रतिपद्यन्त इत्याद्या स्रुतिः सर्वकर्मक्षयपक्षे
विरुध्यत इत्यर्थः । सर्वकर्मक्षयपक्षे पूर्वपक्षिणाऽन्यथावादिना प्रतिक्षिप्ते
सावशेषपक्षसुत्तरवादी प्रतिपद्यते । नन्विति ॥ तान्यपि चन्द्रमण्डले भुक्ता-
न्येवेति नावशेषोऽस्तीत्याशङ्क्याह । न चेति ॥ न हि सर्वकर्मवशाच्चन्द्र-
मण्डलप्राप्तिरिति भावः । तर्हि चन्द्रमण्डले कर्मफलोपभोगाभावा-
दनं तदारोहेणेत्याशङ्क्याह । यच्चिमित्तमिति ॥ अविरोधश्चन्द्रमण्डले
भोगस्य शेषकर्मसङ्गावस्य चेति शेषः ॥ यत्तु ततः शेषेणेत्यादिस्रुति-

क्षीणानि तानि । यन्निमित्तं चन्द्रमण्डलमारुढस्तान्येव
क्षीणानीत्यविरोधः । शेषशब्दश्च सर्वेषां कर्मत्वसामान्याद-
विरुद्धः ॥

अत एव च तत्रैव मोक्षः स्यादिति दोषाभावः । विरु-
द्धानिकयोन्युपभोगफलानाञ्च कर्मणामेकैकस्य जन्तोरा-
रम्भकत्वसम्भवात् । न चैकस्मिन्जन्मनि सर्वकर्मणां क्षय
उपपद्यते । ब्रह्म इत्यादेशैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मारम्भक-
त्वस्मरणात् । स्यावरादिप्राप्तानाञ्चात्यन्तमूढानामुत्कर्ष-
हेतोः कर्मण आरम्भकत्वासम्भवात् । गर्भभूतानाञ्च
स्वसमानानां कर्मासम्भवे संसारानुपपत्तिः ! तस्मान्नैकस्मि-

विरोध इति तत्राह । शेषशब्दश्चेति ॥ निःशेषेष्वपि भुक्तेषु कर्मस्वभुक्त-
कर्मसु शेषशब्दो न विरुध्यतेऽभुक्तानां कर्मणां कर्मत्वस्य तुल्यत्वाच्चात्र
सावशेषपक्षे सृष्टिविरोधोऽस्तीत्यर्थः ॥

यच्चन्द्रमण्डलस्यस्यैव मोक्षः स्यादिति तत्राह । अत एवेति ॥ शेष-
कर्मासङ्गावादेनेति यावत् । इतश्च कर्मशेषसिद्धिरित्याह । विरुद्धेति ॥
आरम्भकत्वसम्भवादेकजात्युपभोग्यकर्मक्षयेऽपि कर्मशेषः सम्भवतीति ॥
अथैकस्मिन्जन्मनि सर्वाणि क्षीयन्ते कर्माशयस्यैकभविकत्वादित्यशङ्काह ।
न चेति ॥ एकभविकन्यायस्योपरिष्ठाच्चिराकरिष्यमाणत्वादित्यर्थः ॥ इतश्च
शेषकर्मसिद्धिरित्याह । ब्रह्म इत्यादेशेति ॥ स्वसृकरस्मरद्वाराणामित्यादि-
स्मरणं घृतभारुद्धोद्देश्येणैव भुक्तस्यैव कर्मणः शेषान्त्पुनरावृत्तिर्भविष्यती-
त्यत आह । स्यावरादीति ॥ शेषकर्मसिद्धौ हेतुनरमाह । गर्भभूताना-
मिति ॥ कर्मशेषसङ्गावरुपसंहरति । तस्मादिति ॥ एकस्यापि कर्मणोऽनेक
जन्महेतुत्वं तच्छब्दार्थः । मतान्तरमुत्थापयति । अचिविति ॥ यावत्प्रवृत्त-
फलं कर्म न क्षीयते तावत्प्रवृत्तिप्रतिबन्धादन्यानि कर्माणि स्वपक्षं नार-

ज्जन्मनि सर्वेषां कर्मणामुपभोगः । यत्तु कैश्चिदुच्यते
सर्वकर्माश्रयोपमर्द्देन प्रायेण कर्मणां जन्यारम्भवत्वम् ॥

तत्र कानिचित्कर्माश्रयनारम्भकत्वेनैव तिष्ठन्ति कानि-
चिज्जन्मान्तरमारभन्त इति नोपपद्यते । मरणस्य सर्वकर्मा-
भिव्यञ्जकत्वात् स्वगोचराभिव्यञ्जकप्रदीपवदिति । तदसत् ।
सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युपगमात् । न हि सर्वस्य सर्वात्मकत्वे
देशकालनिमित्ताविरुद्धत्वात् सर्वात्मनोपमर्द्दः । कस्यचि-
त्कचिदभिव्यक्तिर्वा सर्वात्मनोपपद्यते । तथा कर्मणामपि
साश्रयाणामुपपमर्द्दी भवेत् । यथा च पूर्वानुभूतमनुष्य-
मयूरमर्कटादिजन्माभिसंस्कृताविरुद्धानेकवासना मर्कटत्व-

भन्ते । मरणकाले तु प्रतिबन्धकाभावात्सर्वकर्माश्रयसङ्गतोपमर्द्देन तेषा-
मुत्तरशरीरारम्भकत्वमविरुद्धमित्यर्थः ॥

तथापि कथं शेषकर्मसङ्गावासिद्धिरित्यत आह । तत्रेति ॥ अनारब्ध-
कर्मणां सर्वेषामुत्तरशरीरारम्भकत्वे सतीति यावत् ॥ प्रयाणकाले यानि
कर्माश्रयभिव्यक्तानि तान्येवोत्तरशरीरारम्भकाणि इतरेषान्तु न शरीरा-
रम्भकत्वमिति दूषयति । तदसदिति ॥ मधुमाङ्गणोक्तेन न्यायेन सर्वस्य
सर्वात्मकत्वाङ्गीकाराद्देहस्यापि तथात्वान्न सर्वात्मनोपमर्द्दी पपत्तिरित्यर्थः ॥
उक्तमर्थमुपपादयितुं सामान्यन्यायमाह । न हीति ॥ सर्वं सर्वस्य कारणं
कार्यञ्चेति न्यायेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वे स्थिते सति कस्यचित् कचित्सर्वा-
त्मनोपमर्द्दः । तथाभिव्यक्तिर्वा नोप पद्यते । प्रतीयमानोपमर्द्दादेदेशविशे-
षादिकृतत्वादित्यर्थः ॥ उक्तन्यायं प्रकृते योजयति । तथेति ॥ इतश्च
कर्मशेषः सम्भवतीति क्रमवत्तायां दृष्टान्तमाह । यथा चेति ॥ पूर्वं क्रमे-
णानुभूतानि यानि अनुष्यादिजन्मानि तैरभिसंस्कृताः सम्पादिता विरुद्धा

प्रापकेन कर्मणा मर्कटजन्मारम्भमाणेन नोपपद्यन्ते तथा कर्माख्ययन्यजन्मप्राप्तिनिमित्तानि नोपपद्यन्त इति युक्तम् ॥

यदि हि सर्वाः पूर्वजन्मानुभववासना उपपद्येरन् मर्कटादिजन्मनिमित्तेन कर्मणा मर्कटजन्मन्यारब्धे मर्कटस्य जातमात्रस्य मातुः शाखायाः शाखान्तरगमने मातुरुदरसंलग्नत्वादिकौशलं न प्राप्नोति । इह जन्मन्यनभ्यस्तत्वात् । न चातीतानन्तरजन्मनि मर्कटत्वमेवासीत्तस्येति शक्यं वक्तुम् । तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चेति श्रुतेः । तस्माद्वासनावन्नाशेषकर्म्मोपमर्द्द इति शेषकर्मसम्भवः । यत एवं तस्माच्छेषेणोपयुक्तात्कर्मणः संसारः उपपद्यत इति न कश्चिद्विरोधः । कोऽसावध्वा यं प्रति निवर्त्तन्त इत्युच्यते । यथेतं यथागतं निवर्त्तन्ते । ननु मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चान्द्रमसमिति गमन-

या भूयस्यो वासनास्तज्जातिविशेषप्रापकेन कर्मणा तस्मिन्नारम्भमाणेन निरुद्धान्त इत्यर्थः । दार्ष्टान्तिकमाह । तथेति ॥

दृष्टान्तं विदुषोति । यदि हीति ॥ व्यवहितवासनोच्छेदेऽपि नाव्यवहितदेश उच्छिद्यते ॥ तथाचानन्तरजन्मोत्पत्त्यवासनासामर्थ्यान्मर्कटशिशो र्यथोक्तकौशलमविरुद्धमित्याशङ्क्याह । न चेति ॥ किञ्च पूर्वप्रज्ञा चेत्यविशेषेण पूर्वजन्मार्जितवासना जीवमनुगच्छतीति श्रवणादव्यवहितपूर्वजन्मवासनैव तमन्वेतीति न शक्यं विशेषतो वक्तुमित्याह । तं विद्वेति ॥ दृष्टान्तसुपपाद्य दार्ष्टान्तिकं निगमयति । तस्मादिति ॥ शेषकर्मसङ्गावफलितमाह । यत इति ॥ उपयुक्तात्कर्मणः शेषेण्येति सम्बन्धः । कश्चिदिति श्रौतो वा स्मार्त्तो वा यौक्तिको वा लौकिको वेत्यर्थः ॥ एतमेवाध्वानमिति प्रकृतमध्वानं प्रश्नपूर्वकं विशदयति । कोऽसावित्यादिना ॥ यथे-

यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो
भवति धूमो भूत्वाऽम्भं भवति ॥ ५ ॥ अम्भं भूत्वा
मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह ब्रौहि

क्रम उक्तो न तथा निवृत्तिः । किन्तुर्ह्याकाशाद्वायुमि-
त्यादि कथं यथेतमित्युच्यते । नैष दोषः । आकाश-
प्राप्तेस्तुल्यत्वात्पृथिवीप्राप्तेश्च ॥

न चात्र यथेतमेवेति नियमोऽनैवंविधमपि निवर्त्तन्ते
पुनर्निवर्त्तन्त इति तु नियमः । अत उपलक्षणार्थमे-
तद्यथेतमिति । अतो भौतिकमाकाशं तावत्प्रतिपद्यन्ते ।
यास्तेषां चन्द्रमण्डले शरीरारम्भका आप आसंस्तास्तेषां
तत्रोपभोगनिमित्तानां कर्मणां क्षये विलीयन्ते । दृढ-

तमित्युक्तमाक्षिपति । नन्विति ॥ किं यथेतमित्येतदेव न सम्भवति ॥ किं
वा यथेतमेवेति नियमो नोपपद्यते ॥ तत्राद्यं दूषयति । नैष दोष इति ॥

द्वितीयं प्रत्याह । न चेति ॥ अत्रेति निवृत्तिरुक्ता । अनैवंविध-
मपीति यथागतिक्रमो दर्शितो न तथा निवृत्तिर्नियता । किन्तु विधन्तरे-
णापि सम्भवतीत्यर्थः । निवृत्तेः क्रमनियमाभावे कीदृशो नियमो विव-
क्षित इत्याशङ्काह । पुनरिति ॥ केनाभिप्रायेण तर्हि यथेतमित्युक्तमत्र
आह । अत इति ॥ गतिक्रमवन्निवृत्तिक्रमे नियमाभावोऽतः शब्दार्थः ।
उक्तञ्च यथेतमनैवंविधञ्चेति । निवृत्तिनियमे फलितमाह । अत इति ॥
परमात्मानं व्यावर्त्तयितुं भौतिकमित्युक्तम् । कथं पूर्वसिद्धाकाशता-
दात्मग्रापत्तिरवरोहतां सिध्यतीत्याशङ्क्य तत्साम्यगमनमेव तद्भावापत्ति-
रित्युपचर्यते । स्वाभाव्यापत्तिरिति न्यायादित्याह । यास्तेषामिति ॥
दृढस्य संस्थानं काठिन्यतास्त्राकाशभूतास्तु तत्परिवेष्टिताः कर्मणोऽध्यव-

यवा ओषधिवनस्यतयस्तिलमाषा इति जायन्ते
ऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमन्ति यो

संस्थानमिवारिनसंयोगे ता विलीना अन्तरिक्षस्था आकाश-
भूता इव सूक्ष्मा भवन्ति । ता अन्तरिक्षाद्वायुर्भवन्ति । वायु-
प्रतिष्ठा वायुभूता इतश्चासुतश्चोक्ष्यमानास्ताभिः सह क्षीण-
कर्म्मा वायुभूतो भवति । वायुभूत्वा ताभिः सहैव धूमो
भवति । धूमो भूत्वाऽभ्रं अब्रभरणमात्ररूपो भवति । अब्रं
भूत्वा ततः सेचनसमर्थो मेघो भूत्वा उन्नतेषु प्रदेशेष्वथ-
प्रवर्षति । वर्षधारारूपेण शेषकर्म्मा पततीत्यर्थः । त इह
ब्रीहियवा ओषधिवनस्यतयस्तिलमाषा इत्येवमकारा
क्षीणकर्म्माणो जायन्ते । क्षीणकर्म्मणामनेकत्वाद्बहुवचन-
निर्देशः । मेघादिषु पूर्वेष्वेकरूपत्वादेकवचननिर्देशः ।
यस्माद्भिरितटदुर्गनदीसमुद्रारण्यमरुदेशादिसन्निवेशसह-

रोहन् सङ्गृता इव भवन्तीत्यर्थः ॥ आकाशाद्वायुमित्यस्यार्थं साधयति ।
ता अन्तरिक्षादिति ॥ उन्नतेषु समुद्रादिव्यतिरिक्तेषु प्रदेशेष्विति यावत् ॥
त इत्यनुशायिनो निर्दिश्यन्ते । इहेति पृथिवी कथ्यते । कथमस्मिन्
वाक्ये बहुवचनेनानुशायिनां बहुवचनं निर्देशस्तत्वाह । क्षीणकर्म्मणामिति ॥
कथं मेघो भूत्वा प्रवर्षतीत्यादावेकवचननिर्देशस्तत्वाह । मेघादिव्यति ॥
ये पूर्वे मेघादयो नभोऽन्तास्तेषु प्रत्येकमभिमानिदेवतानामेकरूपत्वात्तदु-
पस्मिद्वानामनुशायिनामप्येकवचनेन निर्देशो युक्त इत्यर्थः ॥ अतो वै
खल्वित्यादिवाक्यं व्याचष्टे । यस्मादिति ॥ अनुशायिनां दुःशङ्कनिःसरण-
मित्युक्तं प्रपञ्चयति । यत इत्यादिना ॥ मकरादिभिर्भक्षितानामनुशायिनां
तेभ्यस्तत्समनजातीयत्वेन समुद्भवो भविष्यतीति चेन्नेत्याह । तेऽपीति ॥

रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

स्त्राणि वर्षधाराभिः पतितानाम् । अतस्तस्माद्धेतोर्वै खलु
दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्क्रमणं दुर्निःसरणम् । यतो गिरितटा-
दुदकस्रोतसोद्द्यमाना नदीः प्राप्नुवन्ती ततः समुद्रम् ।
ततो मकरादिभिर्भक्ष्यन्ते । तेऽप्यन्येन । तत्रैव च सह
मकरेण समुद्रे विलीनाः समुद्रान्मोभिर्जलधरैराकृष्टाः
पुनर्वर्षधाराभिर्भक्ष्यदेशे शिलातटे वाऽगस्ये पतितास्तिष्ठन्ति
कदाचिद्द्वालम्बगादिपीता भक्षिताश्चान्यैः ॥

तेऽप्यन्यैरित्येवम्प्रकारा, परिवर्त्तेरन् । कदाचिद्-
भक्ष्येषु स्थावरेषु जातास्तत्रैव श्रुत्येरन् । भक्ष्येष्वपि
स्थावरेषु प्रजातानां रेतःसिग्देहसम्बन्धो दुर्लभ एव । बहु-
त्वात् स्थावराणामिति । अतो दुर्निष्क्रमणत्वम् । अथवाऽतो
ऽस्माद्धोहियवादिभावाद्दुर्निष्प्रपतरं दुर्निगमनतरम् ।
दुर्निष्प्रपतरमिति तकार एको लुप्तो द्रष्टव्यः । व्रीहिय-

मकरादयोऽपि जलचारिभिरन्यैर्भक्ष्यन्ते तथाच समुद्रे पतितानामनु-
शायिनां तत्रैव लयः स्यादित्यर्थः । नन्वेवमनुशायिनः समुद्रे लीना न ततः
पुनरुद्भूतं शक्यन्ते ॥ तथाच कृतविनाशः स्यादित्याशङ्क्याह । जलधरै-
रिति ॥ समुद्रीऽन्मोभिरिति तृतीया सङ्गर्धे ॥ तर्हि सर्पव्याघ्रोपभुक्ताना
मनुशायिनां तत्समाभजातीयदेहभोगः स्यादिति चेन्नेत्याह । भक्षिता-
श्चेति ॥

यैस्तर्हि सर्पादयो भक्ष्यन्ते तेभ्यस्तत्समानजातीयत्वेनानुशायिनामु-
द्भवाः स्यादिति चेन्नेत्याह । तेऽपीति ॥ तथापि यथोक्तरीत्या परिवर्त्त-

वादिभावो दुर्निष्पत्ततरस्तस्मादपि दुर्निष्पत्तराद्रेतः-
सिग्देहसम्बन्धो दुर्निष्पत्ततर इत्यर्थः । यस्मादूर्द्ध्वरेतोभि-
र्बालैः पुंस्तरहितैः स्थविरैर्वा भक्षिता अन्तराले शीर्यन्ते ।
अनेकत्वादन्नादानाम् । कदाचिन्नाकतालीयन्यायेन रेतः-
सिग्भिर्भक्ष्यन्ते यदा तदा रेतःसिग्भावं गतानां कर्मणो
वृत्तिजायते । कथं यो यो ह्यन्नमन्ति अन्नगृहिभिः संक्षिप्तं
रेतःसिक् यश्च रेतः सिञ्चत्यृतुकाले योषिति तद्भूय एव
तदाकृतिरेव भवति । रेतोरूपेण तदवयव आकृति-
भूयस्त्वं भूय इत्युच्यते रेतोरूपेण योषिति ॥

रेतसो रेतःसिगाकृतिभावितत्वात् । सर्वेभ्योऽङ्गेभ्य-
स्तेजः सम्भूतमिति हि श्रुत्यन्तरात् । अतो रेतःसिगा-
कृतिरेव भवतीत्यर्थः । तथा हि पुरुषात्पुरुषो जायते

नास्ते रेतःसिग्योगमपि यदा कदाचित्प्रपद्येरन्निति चेत्तेत्याह । कदा-
चिदिति ॥ तथापि भक्ष्येषु जातानां रेतः सिग्योग्यः सुलभः स्यादिति ॥
चेत्तेत्याह । भक्ष्येषुपीति ॥ इतिशब्दो यच्छब्देन पूर्वेषु सम्भूतः ।
पूर्वमतःशब्दो हेतुपरतया व्याख्यातः । सम्प्रति ब्रौह्माद्यावधिवाचकत्वेन
तं व्याचष्टे । अथवेति ॥ दुर्निष्पत्ततरमितितकारसहिते पाठे सति
विवक्षितमर्थमाह । ब्रौह्मादीति ॥ तत्र हेतुमाह । यस्मादिति ॥ तर्हि
तेषामन्तराले विशेषानां देहभागित्वाभावादनुशयवैयर्थ्यास्त्याशङ्क्याह ।
कदाचिदिति ॥ काकतालीयया वृत्त्या यावच्छिक्कन्यायेनेति यावत् ॥ अनु-
शयाख्यस्य कर्मणो भाविदेहारम्भायं सुखं प्रश्नपूर्वकं विवृणोति । कथ-
मित्यादिना ॥

अनुशयिनो रेतःसिगाकारभाक्ते हेतुमाह । रेतस इति ॥ तस्य
रेतःसिगाकृत्वा तदंशेन भावितत्वात्संस्कृतत्वासदङ्गसम्भूतत्वासद्रूपेण
गर्भाशयमनुप्रविष्टोऽनुशयी रेतःसिगाकृतिर्भवतीत्यर्थः । रेतसो रेतःसिगङ्ग-
समुत्पत्ते प्रमाणमस्तीत्युक्त्यतिरिक्त्याह । सर्वेभ्य इति ॥ रेतोरूपेण गर्भा-

गोर्गवास्ततिरेव न जात्यन्तरास्तस्माद्युक्तं तद्वय एव
भवतीति । ये त्वन्येऽनुशयिभ्यश्चन्द्रमण्डलमनारुह्यैव पापक-
र्माभिर्वोरैर्बोहियवादिभावं प्रतिपद्यन्ते पुनर्मनुष्यादिभावं
गतास्तेषां नानुशयिनामिव दुर्निष्पतरं । कस्मात् कर्मा-
णा हि तैर्बोहियवादिदेह उपात्त इति । तदुपभोगनि-
मित्तक्षये व्रीह्यादेस्तम्बदेहविनाशे यथा कर्मार्जितं देहा-
न्तरं नवं नवं जलूकावत्सङ्गमन्ते सविज्ञाना एव । सविज्ञानो
भवति सविज्ञानमेवाम्बवक्रामतीति श्रुत्यन्तरात् ॥

यद्यप्युपसंहृतकरणाः सन्तो देहान्तरं गच्छन्ति
तथापि स्वप्नवद्देहान्तरप्राप्तिनिमित्तकर्माङ्गावितवासना-

शयं प्रविष्टस्य रेतःसिगाकारत्वमुक्तं निगमयति । अत इति ॥ अनुशयिनो
रेतःसिगाकारत्वे लौकिकानुभवमनुकूलयति । तथेति ॥ चन्द्रस्यलम्बाल-
तानामवरोहतां व्रीह्यादिदेहसंस्तिष्ठानां द्राघीयसा कालेन देहान्तर-
लाभश्चेत्तर्हि व्रीह्यादिदेहाभिमानिनामपि दुःशक्यं निष्क्रमणम् ॥ व्रीह्या
दिदेहसम्बन्धाविशेषादित्यत आह । ये त्विति ॥ व्रीह्यादिदेहसम्बन्धा-
विशेषे कुतस्तद्देहभाजां ततो निःसरणमशक्यं न भवतोत्याशङ्क्य विशेष-
माह । कस्मादित्यादिना ॥ शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर
इत्यादिश्रुतिस्मृत्योर्येषां कर्मनिमित्तं स्थावरं जन्म तेषां कर्मक्षय एवा-
वधिः । अवरोहतान्तु कर्मासङ्कीर्तनाद्भेदमिति व्यर्थः । यथा जलूका
दृष्टान्तृणान्तरं दीर्घभूता सङ्गमने न तथाऽनुशयिनो व्रीह्यादिदेहभाजो-
ऽपि तत्त्यागेन देहान्तरं गच्छन्तस्त्रिषयविज्ञानवन्त एव गच्छन्तीत्यत्र
बृहदारण्यकश्रुतिं प्रमाणयति । सविज्ञान इति ॥

अथोपसंहृतकरणानां विज्ञाने कारणासम्भवात्कथं सविज्ञानत्वं
तत्राह । यद्यपीति ॥ दृष्टकारणाभावेऽप्यदृष्टमेवैकं वासनात्मकं ज्ञानोत्पत्तौ
निमित्तमिति तेन सविज्ञाना एव गच्छन्ति देहान्तरमित्यत्र हेतुमाह ।

ज्ञानेन सविज्ञाना एव देहान्तरं गच्छन्ति । श्रुतिप्रामा-
ण्यात् । तथाचिंरादिना धूमादिना च गमनम् । स्वप्न इवो-
द्भूतविज्ञानेन लब्धवृत्तिकर्मनिमित्तत्वाद्गमनस्य । न तथा
अनुशयिनां ब्रह्मादिभावेन जातानां च सविज्ञानमेव
रेतःसिन्धोषिद्देहसम्बन्ध उपपद्यते । न हि ब्रह्मादि-
लवनकण्डनपेण्यादौ च सविज्ञानानां स्थितिरस्ति । ननु
चन्द्रमण्डलादप्यवरोहतां देहान्तरगमनस्य तुल्यत्वाज्ज-
लूकावत्सविज्ञानतैव युक्ता । तथा सति घोरो नरकानुभवः ॥

इष्टापूर्त्तादिकारिणां चन्द्रमण्डलत्वादारभ्य प्राप्तो
यावत् ब्राह्मणादिजन्म । तथा च सत्यनर्थायैवेष्टापूर्त्ता-
द्युपासनं विहितं स्यात् । श्रुतेश्चाप्रामाण्यं प्राप्तं बैदि-

श्रुतिप्रामाण्यादिति ॥ श्रुतिरत्र बृहदारण्यकश्रुतिः । यथा सविज्ञानाना-
मेव ब्रह्मादिदेहान्तरगमनं तथा ज्ञानिनामचिंरादिना कर्मिणां
धूमादिना च गमनं स्वप्न इवोद्भूतवासनात्मकविज्ञानानामेवेत्याह । तथेति ॥
तेषां सविज्ञानत्वे हेतुमाह । लब्धवृत्तीति ॥ अनुशयिनामपि तर्हि ब्रह्मा-
दिषु संस्त्रिष्टानां रेतःसिन्धोषिद्देहसम्बन्धः सविज्ञानानामेवेति चेन्नेत्याह ।
न तथेति ॥ अनुपपत्तौ हेतुमाह । न हीति ॥ ब्रह्मादिसंस्त्रिष्टाना-
मनुशयिनां सविज्ञानत्वे तल्लवनादौ तज्जीववत्तेषामपि प्रवासप्रसङ्गाच्च
रेतःसिन्धोषिद्देहसम्बन्धः सिध्येदित्यर्थः । ब्रह्मादिषु देहान्तरं गच्छन्तु विज्ञा-
नत्पोषलम्भादननुशयिष्वपि देहान्तरप्राप्तेरविशेषाद्युक्तं सविज्ञानत्वमिति
शङ्कते । नन्वेति ॥ तृष्णाचतुर्णान्तरं प्रति जलूकागमनवदवरोहतामपि
देहः देहान्तरं प्रति गमनस्य तुल्यत्वाद्ब्रह्मादिवद्युक्ता सविज्ञानतेति
योजना । अस्तु तेषां विज्ञानत्वं का हानिरित्यत आह । तथा सतीति ॥

इष्टापूर्त्तादिकारिणामनराले नरकानुभवः । तथा च सति तदनुष्ठानस्या-
नर्थार्थं विहितत्वे अयःसाधनविषयककर्माकाण्डं विरुध्येतेत्याह । श्रुते-

कानां कर्मणामनर्थानुबन्धित्वात् । न वृक्षारोहणपतनवत्
विशेषसम्भवात् । देहाद्देहान्तरं प्रतिप्रित्तोः कर्मणा
लब्धवृत्तित्वात् । कर्मणोद्भावितेन विज्ञानेन सविज्ञानत्वं
युक्तम् । वृक्षाग्रमारोहत इव फलं जिघृक्षोः । तथार्चि-
रादिना गच्छतां सविज्ञानत्वं भवेत् । धूमादिना च
चन्द्रमण्डलमारुह्यतां न तथा चन्द्रमण्डलादवरुह्यतां
वृक्षाग्रादिव पततां सचेतनत्वम् । यथा च सुङ्गराद्य-
भिहतानां तदभिघातवेदनान्निमित्तसंमूर्च्छितप्रतिबन्ध-
करणानां स्वदेहेनैव देशाद्देशान्तरं नीयमानानां
विज्ञानशून्यता दृष्टा तथा चन्द्रमण्डलान्मानुषादि-
देहान्तरं प्रत्यवरुह्यतां स्वर्गभोगनिमित्तकर्मक्षया-

चेति ॥ यथा बुद्धिपूर्वं वृक्षमारोहतो सविज्ञानत्वेऽपि तस्मादबुद्धिपूर्वं
पततां न सविज्ञानत्वं विज्ञायते । तथा चन्द्रमण्डलमारोहतां सविज्ञानत्वे-
ऽपि ततोऽवरोहतां नैव तदस्ति उद्धूतकर्माभावात् । इत्यारोहावरोहयो-
रज्ञानविशेषसम्भवान्कैवमिति परिहरति । न वृत्तेति ॥ सङ्गृह्णवाक्यं विवृ-
णोति । देहादित्यादिना ॥ चकारात् गच्छतां सविज्ञानत्वं भवेदिति
सम्बन्धः । अवारोहतां जीवानां सर्वथा विज्ञानशून्यत्वमयुक्तं तेषां चैतन्य
स्वाभाव्यादृक्तात्यततामपि विज्ञानमालम्ब्येवेत्याशङ्को दाहरणान्तरमाह ।
यथा चेति ॥ तेन सुङ्गरादिना योऽभिघातस्तेन हेतुना यद्देदनाख्यं निमित्तं
तेनसंमूर्च्छितानि प्रतिबद्धानि वा करणानि येषान्नेषामिति यावत् ।
अदितोऽभिनष्टो देहोऽवमयः स्थूलो देहो येषां तेषान्त एव प्रतिबद्ध-
करणानां युक्ता विज्ञानशून्यतेति सम्बन्धः । यथोक्तदृष्टान्तवशाच्चन्द्रमण्डला-
दवारोहन्तो विज्ञानशून्याः सिद्ध्यन्तीति निगमयति । अत इति ॥ तथापि

नृदिताद्देहानां प्रतिबद्धकरणानाम् । अतस्तेऽपरित्यक्तदेह-
बीजभूताभिरङ्गिर्मूर्च्छिता इवाकायादिक्रमेणोभयवस्तु
कर्मनिमित्तजातिस्थावरदेहैः संश्लिष्यन्ते । प्रतिबद्धकरण-
तयाऽनुद्भूतविज्ञाना एव ॥

तथा लवनकण्डनपेषणसंस्कारभक्ष्यरसादिपरिणा-
मरेतःसेककालेषु मूर्च्छितवदेव । देहान्तरारम्भकस्य

मूर्च्छितानां स्थूलदेहसङ्गावाहे शान्तरगमनं न युक्तम् । अवरोहतान्तु तद-
भावे कथं ब्रीह्यादिभावः सम्भवतीत्यत आह । अपरित्यक्तेति ॥ न परि-
त्यक्तं देहभावस्य बीजं कर्मापूर्वं याभिरङ्गिस्ताभिरुपहिता जीवामूर्च्छित
वद्विज्ञानमून्यगगनादिक्रमेण पृथिवीं प्राप्य कर्मफलभूतजातिस्थावर-
शरीरैः संश्लिष्यन्त इति सम्बन्धः । स्थावरदेहसम्बन्धित्वात्तद्वतजीववत्तदा
सविज्ञानत्वं सम्भवतीत्यःशङ्काह । प्रतिबद्धेति ॥ ब्रीह्यादिसंज्ञे भावस्या-
य मनुशयिनां कर्मणोऽनुद्भूतवृत्तित्वात् करणानां च तत्र वृत्तिलाभाभा-
वादनुद्भूतविज्ञानत्वं युक्तमित्यर्थः ।

न केवलं ब्रीह्यादिसंज्ञेककालेऽनुद्भूत विज्ञानत्वं किन्तु ब्रीह्यादेर्ल-
वनादिकालेऽपीत्याह । तथेति ॥ पाकसंस्कारो रसादीत्यादिष्वदे न
शोणितमांसमेदोऽस्थिमज्जारेतस्सुच्यन्ते । तस्मिन् काले मूर्च्छितवदनुद्भूत
विज्ञानत्वे देहाद्वहिर्निर्गतानां प्राग्देहान्तरप्राप्तेस्तद्व्यवेति हेतु
मह । देहेति ॥ अतस्त्वद्वृत्तित्वादिति छेदः कथं पुनरनुशयिनां विज्ञान
मून्यत्वे ॥ तदथा दृणजलायुक्ता दृणस्थान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमु-
पसंहरतीत्यादौ सचेतना जलूका दृष्टान्तत्वेनोपादीयते तत्राह । देहबी-
जभूतेति ॥ सर्वास्ववस्थासु तासु ब्रीह्यादिसंज्ञे षतक्षत्रनादिवशादिति या-
वत् । न चेतनावत्त्वं जलूकादृष्टान्ते विवक्षितम् । किन्तु सातत्यभावमिति
भावः । अनुकावत्त्वं जलूकासु दृश्यमनुशयिनामित्यर्थः । आरोहतां सवि-
ज्ञानत्वमवरोहतां विज्ञानरहितत्वमित्युपपादयारोहतामपि यावत्स्वावस्था

कर्मणोऽलम्ब्यत्तत्वात् । देहबीजभृताप्ससूत्र्यापरित्यागे-
वनै सर्वास्ववस्थासु वर्तन्त इति जलूकावृत्तेतनावत्वं न
विरुध्यते ॥ अन्तराले त्वविज्ञानं मूर्च्छितवदेवेत्यदोषः ।
न च वैदिकानां कर्मणां हिंसायुक्तत्वेनोभयहेतुत्वं शक्य-
मनुमातुम् । हिंसायाः शास्त्रचोदितत्वात् । अहिंसन् सर्वभू-
तान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति श्रुतेः । शास्त्रचोदिताया हिंसाया
नाधर्म्यं हेतुत्वमभ्युपगम्यते । अभ्युपगतेऽप्यधर्म्यं हेतुत्वे मन्त्रै-
र्विषादिवत्तदपनयोपपत्तेर्न दुःखकार्यारम्भकत्वोपपत्ति-
वैदिकानां कर्मणां मन्त्रेणैव विषभक्षणस्येति ॥

नेभ्यः करणान्युपसंहृत्य हृदयेऽवस्थानं तावदेव सविज्ञानत्वम् । न देहा-
द्विहिर्निर्गतानां प्राग्देहान्तरप्राप्तेः । तदस्यनुशयिनां तु चन्द्रमण्डला-
दवश्रुतामपि न भाविदेहपर्यन्ता वासना दीर्घा भवति प्रमाणा-
भावादित्याह । अन्तराले त्विति ॥ चन्द्रमण्डलादवरोहतां देहान्तर-
गमनस्य त्वत्यत्वेऽपि विज्ञानशून्यत्वमदुष्टमित्युपसंहरति । इत्यदोष इति ॥

यत्तु हिंसानुग्रहात्मकत्वादित्यादिकर्मणां स्यावरत्वमपि तत्फलमेव ।
तथाप्य वैदिकानां कर्मणासनर्थानुबन्धित्वादप्रामाण्यं श्रुतेरिति तत्राह ।
न चेति ॥ उभयहेतुत्वमर्थानर्थहेतुत्वमिति यावत् ॥ अहिंसन्नित्यादि-
श्रुतेः शास्त्रचोदितवैदिकेषु कर्मसु हिंसा नानर्थहेतुरित्याह । अभ्युपगतेऽ
पीति ॥ यद्यपि स्वरूपेण हिंसानर्थहेतुरभ्युपगम्यते । तथापि तद्विज्ञानां
वैदिककर्मणां नानर्थारम्भकत्वम् । यथा स्वरूपेण विषदध्यादेर्मरणज्वरादि
हेतुत्वेऽपि मन्त्रशर्करादिभिः सहोपयुक्तं सन्न तत्कार्यारम्भकत्वम् । तथा
हिंसायाः स्वतोऽधर्महेतुत्वेऽपि वैदिककर्मनिष्ठाया न तद्वेत्यम् । वैदिकै-
रेव कर्मभिस्तत्तृतीयापनयनसिद्धेरित्यर्थः ॥ पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तं स्पष्ट-
यति । मन्त्रेणेति ॥ तेन सहोपभुक्तस्य विषयानर्थहेतुत्वेन पुष्टिहेतुत्वमि-
दिककर्मणानुप्रविष्टया हिंसायाः पुरुषार्थमेव शुद्धमिति चेन्न शब्दादिति
न्यायादित्यर्थः ॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रम-
णीयां योनिमापदोरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिय-
योनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयच-
रणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापदोरन्

तत्तत्र तेष्वनुशयिनां य इह लोके रमणीयं शोभनं
चरणं शीलं येषां ते रमणीयचरणा रमणीयचरणे-
नोपलक्षितः शोभनोऽनुशयः पुण्यं कर्म येषां ते रमणीय-
चरणा उच्यन्ते । क्रौर्यावृत्तमायावर्जितानां हि शक्य उप-
लक्षयितुं शुभानुशयसङ्गावः । तेनानुशयेन पुण्येन कर्मणा
चन्द्रमण्डले भुक्तशेषेणाभ्याशो ह क्षिप्रमेव यदिति क्रिया-
विशेषणम् । ते रमणीयां क्रौर्यादिवर्जितां योनिमापदोरन्
प्राप्नुयुः । ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा
स्वस्वकर्मानुरूपेण ॥

अथ पुनर्ये तद्विपरीताः कपूयचरणोपलक्षितकर्मा-

तदुभय एव भवति इत्येतत्प्रसङ्गागतं परिसमाप्य प्रकृतं श्रुतिव्याख्या
नमनुवर्त्तयति । तत्तत्रेति ॥ अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिन्नापादिति न्यायेन
तेषु व्रीह्यादिषु संश्लिष्टा येऽनुशयिनस्तेषां मध्ये ये केचिदस्मिन्लोके
चन्द्रमण्डलप्राप्तेः प्रागवस्था यामनुविताभुक्तरमणीयचरणास्ते रमणीयां
योनिं प्रापदोरक्षिति सम्बन्धः ॥ उक्तमेव स्पष्टयति । शोभनमिति ॥ कथं
रमणीयचरणानुरोधेन शोभनोऽनुशयो लक्ष्यते तत्राह । क्रौर्येति ॥ ते
स्मलानुशयिनो रेतःसिन्धयोगानन्तरं तेन कर्मणा रमणीयां योनिमापदोर-
क्षिति यत्क्षिप्रमेवेति योजना । तत्रापि हेतुमाह । स्वकर्मेति ॥

अथेति प्रतीकं गृहीत्वा व्याचष्टे । पुनरिति ॥ तद्विपरीतास्तेभ्यो

अथोनिं वा शुकरयोनिं वा चण्डालयोनिं
वा ॥ ७ ॥ अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानी-
मानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति
जायस्व न्वियस्वेत्येतच्तृतीयं स्थानं तेनासौ
लोको न सम्पूर्यते

योऽशुभानुशया अभ्याशो ह यत्ते कपूयां यथा कर्मयोनि-
मापद्येरन् कपूयामेव । धर्मसम्बन्धवर्जितां जुगुप्सितां योनि
मापद्येरन् । श्वयोनिं वा शुकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा
स्वकर्मानुरूपेणैव । ये तु रमणीयचरणाद्विजातयस्तो स्वकर्म
स्याद्येदिष्टापूजादिकारिणस्तो धूमादिना गच्छन्त्यागच्छन्ति ।
च पुनः पुनर्वर्तीयन्त्रवद्विद्यां चेत्प्राप्नुयुस्तदार्चिरादिना
गच्छन्ति । यदा तु न विद्यासेविनो नापीष्टापूजादिकर्म
सेवन्ते तदाऽथैतयोः पथोर्यथोक्तयोरर्चिर्धूमादिलक्षणयोर्न
कतरेणान्यतरेण च नापि यन्ति । तानीमानि भूतानि

विलक्षणा इति यावत् । ते कपूयां योनिमशुभानुशयवशाद्रेतः सिङ्घोगान-
न्तरमापद्येरन्निति यस्तदपि क्षिप्रमेवेति योजन ॥ तत्रापि विकल्पे कारण-
माह । स्वकर्मेति ॥ योनिविकल्पे तृतीयं पन्थानमवतारयितुं पूर्वोक्तौ
पन्थानौ सङ्क्षिप्यानुवदति । ये त्विति ॥ शुभानुशयवशाद्येकेचिद्ब्राह्मणादि
योनिमापन्नास्तो स्ववर्णान्ध्रमविकृतकर्मनिष्ठाः सन्तो यदीष्टादिकर्मकृतवन्त-
स्तदा दक्षिणेन पथा चन्द्रं गच्छन्ति । तत्र च भोक्तव्ये कर्मणि भोगेन
लोके पुनरवशिष्टेन कर्मणा पृथिवीमागच्छन्ति । एवं घटीयन्त्रवत्पुनः
पुनरातोऽहन्तोऽवरोहन्त्य कोशलकर्मिणो दृश्यन्ते । यदि चेद् द्विजातयः

क्षुद्राणि दंशमशककीटादीव्यसकृदावर्त्तीनि भवन्त्यत
उभयमार्गपरिधृष्टा ह्यसकृज्जादन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः ॥

तेषां जननमरणसन्ततेरनुकरणमिदमुच्यते । जायस्व
म्रियस्वेति ईश्वरनिमित्तचेष्टोच्यते । जननमरणक्षणेनैव
कालयापनं भवति । न तु क्रियासु शोभनेषु भोगेषु वा
कालोऽस्तीत्यर्थः । एतत्क्षुद्रजन्तुलक्षणं तृतीयं पूर्वोक्तौ
पथ्यानावपेक्ष्य स्थानं संसरताम् । येनैव दक्षिणमार्गगा
अपि पुनरागच्छन्ति । अनधिकृतानां ज्ञानकर्माणोरगमन-
मेव दक्षिणेन पथेति । तेनासौ लोको न सम्पूर्यते । पञ्च-
मस्तु प्रश्नः पञ्चाग्निविद्यायां व्याख्यातः । प्रथमो दक्षिणेत-
रमार्गाभ्यामपाकतो दक्षिणेतरयोः पथोर्व्यावर्त्तनापि
सृतानामग्नौ प्रक्षेपः समानः । ततो व्यावर्त्तनान्यर्चिरादिना
यन्तान्ये धूमादिना । पुनरुत्तरदक्षिणायने षण्मासान् प्राप्नु-
वन्तः संयुज्य पुनर्व्यावर्त्तन्ते । अन्ये संवत्सरमन्ये मासेभ्यः

स्वकर्मस्थाः सन्तो ज्ञानं लभेरनुत्तरेण यानेनेतो ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यर्थः ॥
इदानीं तृतीयस्थानमुपदिशति । यदा त्विति ॥

पौनःपुन्येन लोणमध्यमैकवचनान्तयोः सर्वाख्यातेषु विधानात् पुनः
पुनर्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यस्मिन्नर्थे जायस्व म्रियस्वेति प्रयोग इत्याह ।
तेषामिति ॥ यद्वा सर्वेश्वरो मार्गद्वयभ्रष्टं दृष्ट्वा तं जायस्व म्रियस्वेति प्रेरय-
त्येतदिहोच्यत इति द्रष्टव्यम् ॥ तेनासावित्यादिवाक्यं व्याचष्टे । येनैव-
मिति ॥ उक्त्या रीत्या निर्णीतान् प्रश्नान् विविध्य प्रतिपत्तिरौकर्यार्थं
कथयति । पञ्चमस्त्विति ॥ व्यावर्त्तनापि व्याख्यातेत्युत्तरत्र सम्बन्धः ।
सृतानामविदुषाञ्चेत्यर्थः । अन्येऽन्यन्नरं विदुषां कर्मिणाञ्च समुत्सर-
मिति ज्ञानिनोऽप्यन्ये । अन्ये पितृलोकमिति केवलकर्मिण इति
विभागः ।

तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥८॥ स्तेनो हिरण्यस्य
सुरां पिबन्श्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते
पतन्ति चत्वारः पञ्चमाश्चाचरन्सैरिति ॥ ८ ॥

पितृलोकमिति व्याख्याता । पुनरावृत्तिरपि क्षीणानुश-
यानां चन्द्रमण्डलादाकाशादिक्रमेणोक्ता । अमुष्य लोक-
स्यापूरणं स्वशब्देनैवोक्तम् । तेनासौ लोको न सम्पूर्यत इति ॥
यस्मादेवं कष्टा संसारगतिस्तस्माज्जुगुप्सेत । यस्माच्च
जन्ममरणजनितवेदनानुभवकृतक्षणाः क्षुद्रजन्तवो ध्वान्ते
घोरे दुस्तरे प्रवेशिताः सागर इवागाधे अश्वे निराशा-
श्चोत्तरणं प्रति तस्माच्चैवंविधां संसारगतिं जुगुप्सेत
बीभक्षेत दृणीभवेत् । माभूदेवंविधे संसारे महोदधौ घोरे
पात इति । तदेतस्मिन्बर्थे एष श्लोकः पञ्चाग्निविद्यास्तुतये ॥
स्तेनो हिरण्यस्य ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता । सुरां पिबन् ब्राह्मणः
सन् । गुरोश्च तल्पं दारानावसन् । ब्रह्महा ब्राह्मणस्य हन्ता
चेत्येते पतन्ति चत्वारः । पञ्चमश्च पतितैः सहाचरन्निति ॥

क्षीणानुशयानां चन्द्रलोके भोक्तव्यं कर्म भोगेन चयितव्यमिति यावत् ।
स्वशब्देनैवानुवदति । तेनेति ॥ किमर्थमेषां महायासवती तीव्रा संसार-
गतिरुक्तेत्याशङ्क्याह । यस्मादिति ॥ तृतीयस्यानस्य कष्टत्वं स्पष्टयति ।
यस्माच्चैति ॥ जन्मादिना जनिता या वेदना तदनुभवे कृतः क्षणोऽवसरो
नान्यत्र येषाम् । तथाऽप्युक्त इति शब्देः ॥ तृतीयस्यानवदितरयोरावृत्ति-
मत्त्वात्तुल्या कष्टतेत्यभिप्रेत्याह । तस्माच्चैति ॥ संसारगत्युपवर्णनस्य
तात्पर्यमुक्त्वा पञ्चाग्निविद्यायामनुष्ठानसिद्धयर्थं तस्य स्तावकं श्लोकमुदाहृत्य
व्याचष्टे । तदेतस्मिन्निश्चित्यादिना ॥ पञ्चाग्निविद्यामाहात्म्यं सप्तम्यर्थः ॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद न सह
तैरथाचरन् पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्य-
लोको भवति य एवंवेद य एवंवेद ॥ १० ॥ १० ॥
प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषि-

अथ ह पुनर्यो यथोक्तान् पञ्चाग्नीन् वेद स तैरप्याचर-
न्महापातकिभिः सह न पाप्मना लिप्यते शुद्ध एव । तेन
पञ्चाग्निदर्शनेन पावितो यस्मात्पूतः पुण्यलोकः प्राजाप-
त्यादिर्दस्य सोऽयं पुण्यलोको भवति य एवं वेद यथोक्तं
समस्तं पञ्चभिः प्रश्नैः पृष्टमर्थजातं वेद । द्विरुक्तिः सरस्व-
प्रश्ननिर्णयप्रदर्शनार्था ॥ १० ॥ दक्षिणेन पथा गच्छता-
मन्नभाव उक्तस्तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्तीति क्षुद्रज-
न्तुलक्षणा च कथा संसारगतिरुक्ता । तदुभयदोषपरि-
जिहीर्षया वैश्वानरात्तृभावप्रतिपत्त्यर्थमुत्तरो ग्रन्थ आर-
भ्यते । अथान्नं पश्यसि प्रियमित्यादिलिङ्गादाख्यायिका
सुखावबोधार्था विद्यासम्पदानन्यायप्रदर्शनार्था च ॥

प्राचीनशाल इति नामत उपमन्योरपत्यमौपमन्यवः ।

पञ्चमहापातकिनः श्लोके निर्दिश्यन्ते न तु पञ्चाग्निविद्यास्तुतिरिह
भातीत्याशङ्कमाह । अथेति ॥ शुद्धत्वे हेतुमाह । तेनेति ॥ कष्टेन फल-
मित्यपेक्षायां पूर्वोक्तविद्यावन्तस्तुवदति । य एवमिति ॥ १० ॥ पूर्वो-
त्तरयोः सन्दर्भयोः सम्बन्धं दर्शयन्नुत्तरसन्दर्भमवतारयति । दक्षिणेने-
त्यादिना ॥ उत्तरपन्थस्य वैश्वानरात्तृभावप्रतिपत्त्यर्थत्वे गमकमाह ।
अस्तीति ॥

विद्यायाः सम्पदानं शिष्यस्य न्यायो विनयादिसम्पत्तिस्तत्र दर्श-

न्द्रद्युम्नो भाल्लवयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्व-
तराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य
मीमांसाञ्चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

सत्ययज्ञो नामतः पुलुषस्यापत्यं पौलुषिः । तथेन्द्र द्युम्नो नामतो
भल्लवेरपत्यं भाल्लबिस्तस्यापत्यं भाल्लवेयः । जन इति नामतः
शार्कराक्ष्यस्यापत्यं शार्कराक्ष्यः । बुडिलो नामतोऽश्वतराश्व-
स्यापत्यमाश्वतराश्विः । पञ्चापि ते हैते महाशाला महाश्र-
वस्या विस्तीर्णाभिः शालाभिर्युक्ताः सम्पन्नाः । महाश्रोत्रियाः
श्रुताध्ययनवृत्तसम्पन्ना इत्यर्थः । त एवम्भूताः सन्तः समेत्य
सम्भूय क्वचिन्मीमांसां विचारणाञ्चक्रुः कृतवन्त इत्यर्थः ।
कथम् । को नोऽस्माकमात्मा किं ब्रह्मेत्यात्मब्रह्मशब्दयोरित-
रेतरविशेषणविशेष्यत्वं ब्रह्मेत्यात्मापरिच्छिन्नमात्मानं
निर्वर्त्तयत्यात्मेति च आत्मव्यतिरिक्तस्यादित्यादिब्रह्मणो
उपास्यत्वं निवर्त्तयति । अभेदेनात्मैव ब्रह्म ब्रह्मैवात्मेत्येवं
सर्वात्मा वैश्वानरो ब्रह्म स आत्मेत्येतत्सिद्धं भवति ॥

नार्था चाख्यायिका ॥ दृश्यते चाल प्राचीनशालप्रभृतीनां तत्सम्पत्ति-
रित्याह । विद्येति ॥ कथमात्मब्रह्मशब्दयोरितरेतरविशेषणविशेष्यत्वं
व्यावर्त्याभावादित्याशङ्क्याह । ब्रह्मेति ॥ उक्तरीत्या मिथो विशेषणविशे-
ष्यत्वे फलितमाह । अभेदेति ॥

ते ह सम्पादयाञ्चक्रुर्दालको वै भगवन्तोऽय-
 मारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं
 हन्ताभ्यागच्छामेति तं हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥ स
 ह सम्पादयाञ्चकार प्रच्यन्ति मामिमे महाशाला
 महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये
 हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥ तान् होवा-
 चाञ्चपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रतीममा-

मूर्द्धा ते व्यपतिष्यदन्धोऽभविष्यदित्यादिलिङ्गात् । ते
 ह मीमांसन्तोऽपि निश्चयमलभमानाः सम्पादयाञ्चक्रुः
 सम्पादितवन्त आत्मन उपदेष्टारम् । उदालको वै प्रसिद्धो
 नामतः । हे भगवन्तः पूजावन्तोऽयमारुणिः अरुणस्या-
 पत्यं सम्प्रति सम्यगिममात्मानं वैश्वानरमस्मदभिप्रेतमध्येति
 स्मरति । तं हन्तेदानीमभ्यागच्छामेत्येवं निश्चित्य तं
 हाभ्याजग्मुस्तं गतवन्तः । आरुणिः स ह तान् दृष्ट्वैव तेषा-
 मागमनप्रयोजनं बुध्वा सम्पादयाञ्चकार । कथम् । प्रच्यन्ति
 मां वैश्वानरं इमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्योऽहं न
 सर्वमिव पृष्टं प्रतिपत्स्येवक्तुं नोत्सहे । अतो हन्ताहमिदा-
 नीमन्यमेषामभ्यनुशासानीति वक्ष्याम्युपदेष्टारमित्येवं सम्पाद्य
 तान् होवाच । अश्वपतिर्वै नामतो भगवन्तोऽयं कैकेय-

इतश्चोपास्यस्य सखीकृत्यं गम्यते । परिच्छिन्नोपासनस्य निन्दि-
 तत्वाद्भूम्नः क्रतुवज्जत्रायस्वमिति न्यायादित्याह । मूर्ध्वेति ॥ भगवन्तः

त्मानं वैश्वानरमध्येति तए हन्ताभ्यागच्छामेति
 तए हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥ तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः
 पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार सह प्रातः सञ्जिहान
 उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
 नानाहिताग्निर्नाविद्वान् स्वैरौ स्वैरिणी कुतो
 यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा
 ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भगो दास्यामि

स्थापत्यं कैकेयः सम्यगिममात्मानं वैश्वानरमध्येतीत्यादि
 समानम् । तेभ्यो ह राजा प्राप्तेभ्यः पृथक् पृथगर्हाण्य-
 र्हाणानि पुरोहितैर्भृत्यैश्च कारयाञ्चकार कारितवान् ॥
 स हान्येद्विराजा प्रातः सञ्जिहान उवाच विनयेनोप-
 गम्यैतद्धनं मत्त उपादध्वमिति । तैः प्रत्याख्याता मयि
 दोषं पश्यन्ति नूनं यतो न प्रतिगृह्णन्ति मत्तो धनमिति
 मन्वान आत्मनः सदृत्ततां प्रतिपिपादयिष्यन्नाह । न मे
 मम जनपदे स्तेनः परस्वहर्त्ता विद्यते । न कदर्योऽदाता
 सति विभवे । न मद्यपो द्विजोत्तमः सन् । नानाहिताग्निः
 शतशः । नाविद्वानधिकारालुरूपम् । न स्वैरौ परदारेषु गन्ता ।
 अत एव स्वैरिणी कुतो दुष्टचारिणी न सम्भवतीत्यर्थः । तैश्च
 न वयं धनार्थिन इत्युक्त आहात्यं मत्वैते धनं न गृह्णन्तीति ।

सन्तः सम्पादयाञ्चकुरिति पूर्वेषु सम्बन्धः । अत्रपतिरिच्छादौ भगवन्त
 इति प्राचीनशास्त्रप्रभृतयः सम्बोध्यन्ते ॥ सहेत्यादि सोपस्कारं व्याचष्टे ।

वसन्तु भगवन्त इति ॥ ५ ॥ ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत् ॥ हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥ तान् होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्ताऽस्मीति ते ह

यज्यमाणो वै कतिभिरहोभिरहं हे भगवन्तोऽस्मि । तदर्थं क्लृप्तं धनं मा यावदेकैकस्मै यथोक्तमृत्विजे धनं दास्यामि तावत्प्रत्येकं भगवद्भ्योऽपि दास्यामि । वसन्तु भगवन्तः पश्यन्तु च मम यागमित्युक्तास्ते होचुः । येन हैवार्थेन प्रयोजनेन यं प्रति चरेद्भूच्छेत्युरुषं तं हैवार्थं वदेत् । इदमेव प्रयोजनमागमनस्येत्ययं न्यायः सताम् । वयस्य वैश्वानरज्ञानार्थिनः ॥ आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि सम्यग्जानासि अतस्तमेव नोऽस्माभ्य ब्रूहीत्युक्तस्तान् होवाच । प्रातर्वो युष्मभ्यं प्रतिवक्तास्मि प्रतिवाक्यं दातास्मीत्युक्तास्ते ह राज्ञोऽभिप्रायज्ञाः समित्प्राणयः समिद्धारहस्ता अपरेद्युः पृथ्वाङ्गे राजानं प्रतिचक्रमिरे गतवन्तः । यत एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्धारहस्ता जातितो हीनं राजानं विद्वार्थिनो विनयेनोपजग्मुः । तथाऽन्यैर्विद्योपादित्सुभिर्भवितव्यम् ।

स हान्येदुरित्यादिना ॥ यथोक्तं शास्त्रप्रसिद्धमिति यावत् । किन्तु हि भगवदागमनप्रयोजनं तदाह । वयञ्चेति ॥

तन्ममापि नास्तीति शङ्कां निरस्यति । आत्मानमिति ॥ शिष्यभावेनोपसङ्गेभ्यो विद्या दातव्या न यथा कथञ्चिदिति राज्ञोऽभि-

समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान् हानुप-
नीयैवैतदुवाच ॥ ७ ॥ ११ ॥

अपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्ते इति दिवमेव
भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा
वैश्वानरो ऽयं त्वमात्मानमुपास्ते तस्मात्तव सुतं
प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥ अत्यन्तं पश्यसि

तेभ्यश्चादादिद्यां विद्वानुपनीयैवापनयनमस्त्यैव तान्
यथायोग्येभ्यो विद्यामदात् तथाऽन्येनापि विद्या दात-
व्येत्याख्याधिकार्यः । एतद्वैश्वानरविज्ञानमुवाचेति वक्ष्य-
माणेन सम्बन्धः ॥ ११ ॥

स कथमुवाचेत्याह । अपमन्यव हे कमात्मानं वैश्वानरं
त्वमुपास्ते इति पप्रच्छ । नम्यमन्याय आचार्यः, सन् शिष्यं
पृच्छतीति । नैष दोषः । यदेत्य तेन भोपसीद ततस्त
ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति न्यायदर्शनात् । अन्यत्राप्यप्रतिभानवति
शिष्ये प्रतिभोत्पादनार्थः प्रश्नो दृष्टोऽजातशत्रोः । कैष
तदाऽभूत्कुत एतदागादिति । दिवमेव दुर्लोकमेव वैश्वान-

प्रायः । तेहेत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यं दर्शयति । यत इति ॥ योग्येभ्यो
राजानं प्रत्युपगमनमित्येवेति मन्वानो विशिनष्टि । विद्यार्थिन इति ॥
तथेत्यत्रातःशब्दो द्रष्टव्यः । उपनयनं पादयोर्निपतनं वक्ष्यमाणवैश्वानर-
विज्ञानम् । तेनैतदित्यस्य सम्बन्ध इति यावत् ॥ व्याख्यायिकातात्पर्य-
मुपसंहरति । यथेति ॥ ११ ॥

शिष्या हि प्रष्टारः । आचार्यस्तु प्रतिवक्तेति न्यायेन शङ्कते ।
नन्विति ॥ वाक्याशेषावष्टम्भेन दूषयति । नैष दोष इति ॥ उद्गदारय्यक-

प्रियमत्तग्रन्थं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं
कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्ध्ना-
त्वेष्ट आत्मन इति होवाच मूर्ध्ना ते विपतिष्य-
द्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥ १२ ॥ अथ होवाच
सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्यं कं त्वमात्मानमु-

नरमुपास्ते भगवो राजन्निति होवाच । एष वै सुतेजाः
शोभनं तेजो यस्य सोऽयं सुतेजा इति प्रसिद्धो वैश्वानर
आत्मा । अयमात्मनोऽवयवभूतत्वाद्यं त्वमात्मानमात्मैकदेश-
मुपास्ते तस्मात्सुतेजसो वैश्वानरस्योप(सनात्तव सुतमभिषुतं
सोमरूपं कर्माणि प्रसुतं प्रकर्षेण च सुतमासुतश्चाहर्गणा-
दिषु तव कुले दृश्यते अतीव कर्मिणस्त्वत्कुलीना इत्यर्थः ।
अत्यग्रं दीप्ताग्निः सन् पश्यसि च पुत्रपौत्रादिप्रियमिष्टम् ॥

अन्योऽप्यन्वमत्ति पश्यति च प्रियं भवत्यस्य सुतं प्रसु-
सुतमित्यादिकर्मित्वं ब्रह्मवर्चसं कुले यः कश्चिदेतं यथोक्त-
मेवं वैश्वानरमुपास्ते मूर्ध्ना तु वैश्वानरस्यैष न समस्तो वैश्वा-
नरः । अतः समस्तबुद्ध्या वैश्वानरस्योपासनाच्छिरो मूर्ध्ना ते

श्रुत्वालोकनामानि नैतदन्याय्यमित्याह । अन्वतापीति ॥ आचार्यस्या-
जातयत्नोरिति सम्बन्धः । तस्यात्मत्वेहेतुमाह । आत्मन इति ॥ एकाहदि-
रूपो ज्योतिष्टोमादिरहर्गणस्य सुतं सोमरूपं सताद्रूपं अग्निने प्रसुतं
सत्वे त्वासुतमिति भेदः । तवेति पुनर्वचनमन्वयदर्शनार्थम् ॥

न वेष्टं प्राचीनयाज्ञनिष्ठमिदं फलं किन्त्वन्वयापि भवतीत्याह ।
अन्वोऽपीति ॥ तर्हि यथोक्तवैश्वानरज्ञानादेव कृतकत्यतेत्याशङ्क्याह ।

पाश्च इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवा-
चैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरोऽयं त्वमात्मान-
मुपास्म्ये तस्मात्तव वज्र विश्वरूपं कुले दृश्यते
॥ १ ॥ प्रष्टोऽश्वतररीरथो दासीनिष्कोऽत्सग्रन्नं
पश्यसि प्रियमत्तग्रन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य
ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते
चक्षुर्देतदात्मन इति होवाचाभ्योऽभविष्यद्वन्मां

विपरीतग्राहिणो व्यपतिष्यद्विपतितमभविष्यत् । यद्यदिमां
नागतोऽभविष्यत् साध्वकार्पोर्यन्मागतोऽसीत्यभिप्रायः
॥ १२ ॥ अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं हे प्राचीनयोश्च कं
त्वमात्मानमुपास्म्य इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच ।
शुक्लनीलादिरूपत्वाद्विश्वरूपत्वमादित्यस्य सर्वरूपत्वाद्वा ॥
सर्वाणि रूपाणि हि त्वाद्वाचि यतोऽतो वा विश्वरूप
आदित्यस्तदुपासनात्तव वज्र विश्वरूपमिहामुत्तार्थमुप-
करणं दृश्यते कुले । किञ्च त्वामनुप्रष्टोऽश्वतररीरथां युक्तो
रथोऽथोतररीरथो दासीनिष्को दासीभिर्युक्तो निष्को
हारो दासीनिष्कोऽत्सग्रन्नमित्यादि समानम् । चक्षुर्वैश्वानरस्य

मूर्ध्ना त्विति ॥ अक्षरार्थशुक्ला विवक्षितार्थमाह । साध्विति ॥ १२ ॥ अथ
प्राचीनशाले तूष्णीम्भूते जिज्ञासमाने सत्यनन्दरमित्यर्थः । आदित्यस्य
शुक्लत्वादिरूपत्वमप्ये स्पष्टी भविष्यति ॥ तस्य सर्वरूपत्वेन विश्वरूपत्वमुप-
पादयति । सर्वाणीति ॥ अक्षग्रन्थमित्यादि चक्षुर्देतदित्यतः प्राक्तनमिति
शेषः । चक्षुर्देतदित्यादिवाक्यं व्याचष्टे । चक्षुरित्यादिना ॥ तत्रापि तात्पर्यं

नागमिष्य इति ॥ २ ॥ १३ ॥ अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं
 भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्य इति
 वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्व-
 र्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्ये तस्मात्त्वां
 पृथग्वलय आययन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥
 अत्प्रनुं पश्यसि प्रियमत्प्रनुं पश्यति प्रियं भव-
 त्स्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-
 मुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त

तु सविता । तस्य समस्तबुद्धोपासनादन्धो भविष्यच्चक्षुर्हीनो
 भविष्यो यन्मां नागमिष्य इति पूर्ववत् ॥ १३ ॥ अथ
 होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्य
 इत्यादि समानम् । पृथग्वर्माऽऽत्मा नाना वर्तमानस्य
 वायोरावहोदहादिभिर्भेदैर्वर्त्तमानस्य सोऽयं पृथग्वर्मात्मा
 वायुः । तस्मात् पृथग्वर्मात्मनो वैश्वानरस्योपासनात् पृथङ्-
 नानादिक्कास्त्वां प्रति वतयो वस्त्वान्नादिलक्षणा बलय आय-
 यन्ति आगच्छन्ति । पृथग्रथश्रेणयो रथपङ्क्तयोऽपि त्वामनु-
 यन्ति । अतस्त्यन्ममित्यादि समानम् । प्राणस्त्वेष आत्मन इति

यथा पूर्वं द्रष्टव्यमित्याह । पूर्ववदिति ॥ १३ ॥ सत्ययज्ञोपरमानन्तरमित्य-
 थयद्भार्यः । पृथगित्यतः प्राक्तनमादिपदेन गृहीतम् । पृथग्वर्मेति प्रतीक-
 मादाय व्याचष्टे । नानेति ॥ आभिसृज्येनागच्छन्नावहः जह्वेन वहती
 त्युद्धः ॥ तस्मात्तामित्यादि व्याचष्टे । तस्मादिति ॥ नानादिक्का नाना-
 विधासु दिक्षु भवा इत्येतत् । अत्प्रनुमित्यादि समानमित्यन्नादिपद-

उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥ १४ ॥
 अथ होवाच जनः शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमु-
 पास्ते इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष
 वै बहल आत्मा वैश्वानरो ऽयं त्वमात्मानमुपास्ते
 तस्मात्त्वं बहलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥
 अत्सन्नं पश्यसि प्रियमत्तन्नं पश्यति प्रियं भव-
 त्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-
 मुपास्ते सन्देहस्त्वेष आत्मन इति होवाच सन्दे-

होवाच प्राणस्ते तव उदक्रमिष्यद्युत्क्रान्तो ऽभविष्यद्यन्मां
 नागमिष्य इति ॥ १४ ॥ अथ होवाच जनमित्यादि समानम् ।
 एष वै बहल आत्मा वैश्वानरः । बहलत्वमाकाशस्य सर्वग-
 तत्वाद्बहलशुणोपासनाच्च । त्वं बहलोऽसि प्रजया पुत्रपौत्रा-
 दित्यक्षणाया धनेन च हिरण्यादिना । सन्देहस्त्वेषः सन्देहो
 मध्यमशरीरं वैश्वानरस्य । दिहतेर्धातोरुपचर्यार्थत्वान्मां-
 सरुधिरास्थ्यादिभिश्च बहलं शरीरम् । तत्सन्देहस्ते तव
 शरीरं व्यशीर्यत शीर्णमभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ १५ ॥

मुपास्ते इत्यक्षवाक्यसङ्ग्रहार्थमुत्तरवाक्येऽयमभिप्रायसाध्यं सत्वाह । प्राण-
 स्त्विति ॥ १४ ॥ इन्द्रद्युम्नोपरमानन्तर्यमयशब्दार्थः । अक्षादिपदभेद
 इत्यन्मात्माज्ञानवाक्यसंग्रहार्थम् । कथमाकाशस्य बहलत्वमत आह ।
 बहलत्वमिति ॥ कथं शरीरस्य मध्यमे भागे संशयवाची सन्देहशब्दो वर्तते
 तत्वाह । दिहतेरिति ॥ आकाशस्य सर्वगतत्वेन बहलत्वाद्देहस्य च परि-
 ष्विन्नत्वेन तदभावात् । कथमाकाशं वैश्वानरस्य शरीरं स्यादित्याशङ्काह ।

हस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥१५॥ अथ
 होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वै व्याघ्रपद्य कं त्व-
 मात्मानमुपास्ते इत्यप एव भगवो राजन्निति
 होवाचैष वै रथिरात्मा वैश्वानरो ऽय त्वमात्मान-
 मुपास्ते तस्माच्चर्गयिमान् पुष्टिमानसि ॥ १ ॥
 अत्स्रान्नं पश्यसि प्रियमत्स्रान्नं पश्यति प्रियं
 भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं
 वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच
 बस्तिस्ते व्यभेत्स्रद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥१६॥

अथ होवाच बुडिलं आश्वतराश्वमित्यादि समानम् । एष
 वै रथिरात्मा वैश्वानरो धनरूपः । अद्भ्योऽन्नं ततो धन-
 मिति । तस्माद्गयिमान् धनवांस्त्वं पुष्टिमांश्च शरीरेण पुष्टे-
 श्चान्ननिमित्तत्वात् । बस्तिस्त्वेष आत्मनो वैश्वानरस्य बस्ति-
 मूत्रसंग्रहस्थानं बस्तिस्ते व्यभेत्स्रद्यन्मो ऽभविष्यद्यन्मां
 नागमिष्य इति ॥ १६ ॥

मांसेति ॥ तच्छरीरमिति सम्बन्धः ॥ १५ ॥ जनस्योपरमानन्तरमथशब्दार्थः ।
 कथमवात्मको वैश्वानरो रथिरिति धनेन निर्दिश्यते तत्वाद् । अद्भ्य इति ॥
 आयुर्वैधृतमिति वक्तव्यं वाचकेन कारणं ब्रूयत इत्यर्थः । तस्माद्यथोक्त-
 वैश्वानरोपासनादित्येतद्वनरूपवैश्वानरोपासनाद्वनवानित्येव वक्तव्ये कथं
 पुष्टिमानित्यधिका वाऽऽपस्तत्वाद् । पुष्टिश्चेति ॥ मूत्राशयो धनुर्वक्रो
 बस्तिरित्यभिधीयत इत्याशयेनाह । बस्तिरिति ॥ १६ ॥

अथ होवाचौहालकमारुणिं गौतम कं त्वमा-
 त्मानमुपास्म्य इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति
 होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरोऽयं त्वमात्मान-
 मुपास्म्ये तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशु-
 भिश्च ॥ १ ॥ अत्सप्रन्नं पश्यसि प्रियमत्तप्रन्नं पश्यति
 प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं
 वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच
 पादौ ते व्यञ्ज्यास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥
 १७॥तान्होवाचैतेवै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं

अथ होवाचौहालकमित्यादि समानम् । पृथिवीमेव
 भगवो राजन्निति होवाच । एष वै प्रतिष्ठा पादौ वैश्वान-
 रस्य । पादौ ते व्यञ्ज्यास्येतां विञ्ज्यानावभविष्येतां शिथि-
 लीभूतौ यन्मां नागमिष्य इति ॥ १७ ॥ तान् यथोक्तवैश्वा-
 नरदर्शनवतो ह उवाच । एते यूयं वै खल्वित्यनर्थकौ यूयं

प्राचीनशालग्रहप्रतिष्ठे पञ्चसु भौनमातिष्ठमानेष्वनन्तरमित्यथशब्दार्थः ।
 उहालकान्तेषूपसन्नेषु सामन्तेन वैश्वानरविद्यां वक्तुकामस्तेषां मिथ्या-
 ज्ञानमनुवदति । तानित्यादिना ॥ अनर्थकाविवाचनार्थकौ निपातौ न त्वन-
 र्थकानेव । तेषां मिथ्याज्ञानत्वसिद्धिश्चारकात्वाद्यूयमित्यन्यथार्थम् । प्रायुक्त-
 मपि पाठक्रमेण पुनरनूद्य पृथगिव विद्वांस इति सम्बन्धः । यथा जाल्यन्वा
 हस्तिदर्शने भिन्नदृष्टयो भवन्ति तथा यूयं वैश्वानरमात्मानमेकमपि सर्वार्थ-
 त्मकं सन्नं भिन्नभिन्नं विद्वांसः परिच्छिन्नाक्षरूपेणात्मानं बुद्धवन्तः । तथा
 च मिथ्यादर्शिनो यूयं प्रागेव प्रत्यवायान्मासागतवन्तः साधु कृतवन्त
 इत्यर्थः ॥ १७ ॥ प्रधानविद्यां वक्तुं पातनिकां कृत्वा तामिदा-

वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्य यस्त्वेतमेवं प्रादेश-
मात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते सर्वेषु
लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमन्ति ॥१॥

पृथग्विवाद्यक सन्तमिममेकं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्न-
मत्य परिच्छिन्नात्मबुद्ध्या एतद्वस्तिदर्शन इव जात्यन्धाः ॥
यस्त्वेतमेवं यथोक्तावयवैर्द्युमूर्द्धादिभिर्विशिष्टमेकं प्रादेश-
मात्रं प्रादेशैर्द्युमूर्द्धादिभिः पृथिवीपादान्तैरध्यात्मं भीयते
ज्ञायत इति प्रादेशमात्रम् । सुखादिषु वा करणेष्वकर्तृत्वेन
भीयत इति प्रादेशमात्रः । द्युलोकादिपृथिव्यन्तप्रदेशपरि-
माणो वा प्रादेशमात्रः । प्रकर्षेण शास्त्रेणादिश्यन्त इति
प्रादेशा द्युलोकादय एव तावत्परिमाणः प्रादेशमात्रः ।
शाखान्तरे तु मूर्द्धादिस्त्रिविकप्रतिष्ठ इति प्रादेशमात्रं
कल्पयन्ति । इह तु न तथाभिप्रेतः । तस्य ह वा एतस्या-
त्मन इत्याद्युपसंहारात् ॥ प्रत्यगात्मतया ऽभिविभीयतेः -

नीचपदिशति । यस्त्वित्यादिना ॥ एतमेवभूतं यस्तुपास्ते स
सर्वेष्वन्नमन्तीति सम्बन्धः ॥ एवं शब्दार्थमाह । यथोक्तेति ॥ एवं समस्तं
तैल्लोक्यात्मकमिति यावत् । प्रादेशमात्रमित्येतद्विभजते । प्रादेशैरिति ।
यथोक्तैराधिदैविकावयवैरध्यात्मं प्रत्यगात्मन्येवायं भीयत इति व्युत्पत्त्या
प्रादेशमात्रस्तमिति यावत् ॥ प्रकारान्तरेण । व्याचष्टे । सुखादिषु वेति ॥
तेषु हि प्रदेशेष्वयमकर्तृत्वेन साक्षितया भीयत इति व्युत्पत्त्या तथोच्यत
इत्यर्थः । विधान्तरेण व्याचष्टे । द्युलोकादिति ॥ अर्थान्तरमाह । प्रकर्षे-
येति ॥ आत्मनस्त्विन्नमन्ति न्यायेन पक्षान्तरमाह । शाखान्तरे
त्विति ॥ अस्तु तर्हि जावालश्रुत्यनुसारेण भूदानमारभ्याधरफलपर्यन्ते

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वं
सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो
बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ उर

मिति ज्ञायत इत्यभिषिमानस्तमेतमात्मानं वैश्वानरं विश्वा-
न्वरान्नयति पुण्यपापानुरूपां गतिम् । सर्वात्मैष ईश्वरो
वैश्वानरो विश्वो नर एव वा सर्वात्मत्वात् । विश्वैर्वा नरैः
प्रत्यगात्मतया प्रविभज्य नीयत इति वैश्वानरः । तमेव-
मुपास्यो यः सोऽदन्नन्नादी सर्वेषु लोकेषु द्युलोकादिषु
सर्वेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेष्व्वात्मसु शरीरैन्द्रियमनो-
बुद्धिषु तेषु ह्यात्मकल्पनाव्यपदेशः प्राणिनामन्वमन्ति ।
वैश्वानरविस्मर्त्वात्मा सन्नन्नमन्ति । न यथाज्ञः पिण्डमात्रा-
भिमानः सन्नित्यर्थः । कस्मादेवम् । यस्मात्तस्य ह वै प्रकृतस्यै-
वैतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वं सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः
पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ

देहावयवे सम्पादितो वैश्वानरः प्रादेशमात्र इति नेत्याह । इह त्विति ॥
सर्वात्मत्वेन वैश्वानरस्योपसंहारदर्शनाच्चात्र जाबालश्रुतिरनुसर्त्तव्येत्यर्थः ॥
विशेषणान्तरं व्याचष्टे । प्रत्यगात्मतयेति ॥ सर्वेश्वरत्वं सर्वात्मत्वं सर्व-
प्रत्यक्षत्वं वा हेतुकृत्य वैश्वानरशब्दमनेकधा व्याकरोति । विश्वानित्या-
दिना । ईश्वरो वैश्वानर इत्यत्र वैश्वानरपदसुभयत्र सम्बध्यते । स वैश्वा-
नर विदन्नमदन् सर्वेषु लोकादिषु स्थित्वाऽन्नमन्तीति सम्बन्धः ।
कथमात्मशब्देन शरीरादयो षट्छान्ते तत्राह । तेषु हीति ॥ सर्वेषु
लोकेष्वित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यार्थं दर्शयति । वैश्वानरविदिति ॥
वैश्वानरोपासकः सर्वात्मा सन्नन्नमन्तीत्येवं कस्माद्भेतोर्निश्चितमि-

एव वेदिर्लोमानि वह्निर्हृदयं गार्हपत्यो मनो
 ऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ १८ ॥
 तद्यज्ञं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमा-
 माज्जतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति
 प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥ प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति

अथ वा विध्यर्थमेतद्वचनमेव उपास्य इति । अथेदानीं
 वैश्वानरविदो भोजनेऽग्निहोत्रं सम्पिपादयिषन्नाह एतस्य
 वैश्वानरस्य भोक्तुर एव वेदिराकारसामान्यात् । लोमानि
 वह्निर्वेद्यामिवोरसि लोमान्यास्तीर्णानि दृश्यन्ते । हृदयं
 गार्हपत्यो हृदेयाद्वि मनः प्रणीतमिवानन्तरीभवति । अतो
 ऽन्वाहार्यपचनोऽग्निर्मनः । आस्यं मुखमाहवनीयः ।
 आहवनीयो ह्ययतेऽस्मिन्नन्नमिति ॥ १८ ॥ तत्रैवं सति यज्जुक्तं
 भोजनकाले आगच्छेद्भोजनार्थं तद्धोमार्थं तद्धोमीयं

त्याशङ्कामनूद्य हेतुप्रदर्शनपरत्वेनोत्तरं वाक्यमुपादत्ते । कक्षादित्या-
 दिना ॥ वैश्वानरस्य सर्वात्मत्वात्तदुपासकस्यापि तदात्मतया सर्वात्मत्वादसौ
 सर्वात्मभूताः सर्व्वत्वाच्चमत्तीति युक्तमित्यर्थः ॥ तस्येत्यादिवाक्यस्य तात्पर्य्या
 न्नरमाह । अथ वेति ॥ प्रधानविद्यासुक्ता तदङ्गप्राणाग्निहोत्रं दर्शयितु-
 कामो भूमिकां करोति । अथेति ॥ सम्पिपादयितुमिच्छन्नादौ तदङ्गान्य-
 श्वपतिराहेत्यर्थः । वेदिरिति स्थण्डिलमात्रं गृह्यते । अग्निहोत्रे
 तावन्मात्रस्योपयुक्तत्वादितरस्य दर्शपूर्णमासाद्यं गत्वा वेद्यामास्तीर्यन्ते
 वेदोर्भावह्निःशब्दनोच्यन्ते । हृदयस्य गार्हपत्यत्वं मनः प्रणयनहेतुत्वा-
 त्प्रणीतसुत्यन्नमित्यर्थः । आहवनीयसादृश्यं च मुखस्य दर्शयति । आहव-
 नीय इति ॥ १८ ॥ एवं सतीत्युक्तन्यायेनाग्निहोत्रे सम्पिपादिते सतीत्यर्थः ।

चक्षुषि तृष्यत्यादित्यस्तृष्यत्यादित्ये तृष्यति
 द्यौस्तृष्यति दिवि तृष्यत्यां यत्किञ्च द्यौश्चा-
 दित्यश्चाधिष्ठितस्तृष्यति तस्यानुवृत्तिं तृष्यति
 प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति
 ॥ २ ॥ १६ ॥ अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां
 जुहुयादपानाय स्वाहेति व्यानस्तृष्यति ॥ १ ॥
 व्याने तृष्यति श्रोत्रं तृष्यति श्रोत्रे तृष्यति चन्द्र-
 मास्तृष्यति चन्द्रमसि तृष्यति दिशस्तृष्यन्ति
 दिक्षु तृष्यतौषु यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधि-
 ठिष्ठन्ति तत्तृष्यति तस्यानुवृत्तिं तृष्यति प्रजया
 पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥
 २० ॥ अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपा-
 नाय स्वाहेत्यपानस्तृष्यति ॥ १ ॥ अपाने

तद्धोतव्यं अग्निहोतसम्पन्नास्य विवक्षितत्वान्नाग्निहोताङ्गेति
 कर्त्तव्यताप्राप्तिः । इह स भोक्ता यां प्रथमामाहुतिं
 जुहुयात्तां कथं जुहुयादित्याह । प्राणाय स्वाहेत्यनेन
 मन्त्रेणाहुतिशब्दादवदानप्रमाणमन्त्रं प्रक्षिपेदित्यर्थः । तेन

सम्पादितस्याग्निहोतत्वस्य सामान्यादग्न्युद्धरणादीनि तदङ्गान्यत्र भवेयु-
 रित्याशङ्क्य तदुक्तत्वात् विवक्षितत्वान्नेवमित्याह । अग्निहोत्रेति ॥
 इहेति वैश्वानरविदो भोजनमुच्यते ॥ प्रकृतहोमान्तावान्तरविभागमाह । स
 भोक्तेति ॥ कथमिति मन्त्रो वा द्रव्यपरिमाणं वा फलं वा पृच्छते यत्न

तप्यति वाक्त्वयति वाचि तप्यत्यामग्नस्तृप्य-
 त्यग्नौ तप्यति पृथिवी तप्यति पृथिव्यां तप्यत्यां
 यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति
 तस्यानुदत्तिं तप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन
 तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥ २१ ॥ अथ यां
 चतुर्थी जुहुयात्तां जुहुयात् समानाय स्वाहेति
 समानस्तृप्यति ॥ १ ॥ समाने तप्यति मनस्तृ-
 प्यति मनसि तप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये
 तप्यति विद्युस्तृप्यति विद्युति तप्यत्यां यत्किञ्च
 विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु-
 दत्तिं तप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा
 ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥२२॥ अथ यां पञ्चमीं जुहु-
 यात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥१॥
 उदाने तप्यति वायुस्तृप्यति वायौ तप्यत्याकाश-

द्यौश्चेत्यादि तप्यति प्राणस्तृप्यति प्राणे तप्यति चक्षुस्तृप्यति
 चक्षुरादित्यो यच्चान्यद्व्यौश्चादित्यच्च स्वामित्वेनाधितिष्ठत-
 स्तच्च तप्यति तस्य दत्तिमनु स्वयं भुञ्जानस्तृप्यत्येवं प्रत्यक्षम् ।
 किञ्च प्रजादिभिश्च । तेजः शरीरस्या दीप्तिरुज्ज्वलत्वं प्रागुक्तं

प्रथमं प्रत्याह । प्राणार्थेति ॥ यदि द्वितीयस्तत्वाह । आकृतीति ॥ अ-
 दानस्य प्रमाणं परिमाणं कर्मिणां परिमाणं प्रसिद्धं तेन परिमितमिति
 यावत् । तृतीयश्चेत्तत्वाह । तेनेति ॥ भुञ्जानस्य तप्तौ प्रत्यक्षं प्रमाणं प्राणा-

स्तृपत्याकाशे तृपति यत्किञ्च वायुश्चाकाशाश्चा-
धितिष्ठतस्तृपति तस्यानुत्पत्तिं तृपति प्रजया
पशुभिरनुद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥२३॥

स य इहमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारा-
नपोह्य भस्मानि जुहुयात्तादृक् तत्प्रात् ॥१॥ अथ

वा ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं तेजः ॥ १८ ॥ अथ
यां द्वितीयाम् ॥ २० ॥ अथ यां तृतीयाम् ॥ २१ ॥ अथ यां
चतुर्थी ॥ २२ ॥ अथ यां पञ्चमीमिति समानम् ॥ २३ ॥

स यः कश्चिदिदं वैश्वानरदर्शनं यथोक्तमविद्वान्सन्नि-
होत्रं प्रसिद्धं जुहोति यथाङ्गारानाहुतियोग्यानपोह्या-
नाहुतिस्थाने भस्मानि जुहुयात्तादृक् तत्तुल्यं तस्य
तदग्निहोत्रहवनं स्याद्वैश्वानरविदोऽग्निहोत्रमपेक्ष्येति
प्रसिद्धाग्निहोत्रनिन्दया वैश्वानरविदोऽग्निहोत्रं स्तूयते ।
अतश्चैतद्विगिष्टमग्निहोत्रं कथं अथ य एतदेवं विद्वान-

देस्तुप्तौ शास्त्रमिति विभागमभिप्रेत्याह । प्रत्यक्षमिति ॥ प्रजादिभिश्च
भोक्ता दृश्यतीति सम्बन्धः ॥ १८ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

प्रसिद्धाग्निहोत्रनिन्दाद्वारेण वैश्वानरविदो यथोक्तमग्निहोत्रमव-
श्यकर्त्तव्यतायै स्तौति । स यः कश्चिदित्यादिनां प्राणाग्निहोत्रस्य वैशिष्ट्ये
हेत्वन्तरमतःशब्दोपात्तं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति । कथमित्यादिना ॥ नैय-
मिकाग्निहोत्रनिन्दाद्वारा प्राणाग्निहोत्रस्तुत्पन्नरं विधान्तरेण तस्यैव नि-
रवद्यता कीर्त्तयति इत्यथशब्दार्थः । एतदिति वैश्वानरदर्शनमुक्तम् । एव-
मिति वैश्वानरसोक्तसर्व्वात्मत्वादिप्रकारेणेत्यर्थः । अग्निहोत्रमिति साम्या
दिक्कमग्निहोत्रं नृह्यते । कथमिदमुक्तार्थं सर्वेषु लोकोष्वन्नसत्तीति वाक्यं

य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु
लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मसु ऊतं भवति॥२॥

तद्यथेषीका तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव ह्यस्य
सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्नि-

ग्निहोत्रं जुहोति तस्य यथोक्तवैश्वानरविद्यावत्तः सर्वेषु
लोकेष्वित्यादुक्तार्थम् । ऊतमन्नमन्तीत्यनयोरेकाध्यायान् ॥

किञ्च तद्यथा इषीकायास्तूलमग्रमग्नौ प्रोतं प्रक्षिप्तं
प्रदूयेत प्रदह्येत क्षिप्रमेव ह्यस्य विदुषः सर्वात्मभूतस्य
सर्वान्नामन्तुः सर्वे निरवशिष्टाः पाप्मानो धर्माधर्माख्या
अनेकजन्मसञ्चिता इह च प्राक् ज्ञानोत्पत्तेर्ज्ञानसहभा-
विनश्च प्रदूयन्ते प्रदह्येरन् । वर्त्तमानशरीरान्मकपापवर्जं
लब्धं प्रतिमुक्तेषुवत् प्रवृत्तफलत्वान्तस्य न दाहः ।

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति भुङ्क्ते । यद्यपि
चण्डालाद्योच्छिष्टानर्हायोच्छिष्टं प्रयच्छेदुच्छिष्टं दद्यात् ।
पतिषिद्धमुच्छिष्टदानं यद्यपि कुर्यादात्मनि हैवास्य चण्डा-

व्याख्यातम् । तस्य सर्वेषु लोकादिषु ऊतं भवति इत्यन्यादशभिदं वाक्यं
तत्राह । ऊतमिति ॥

इतश्च वैश्वानरविद्यावतोऽग्निहोत्रं विशिष्टमिति वक्तुं वैश्वानर-
विद्यां स्तौति । किञ्चेति ॥ तत्र वैश्वानरविद्यामाहात्म्ये दृष्टान् इति
यावत् । ईषिका रुद्रामध्यवर्त्तिहणस्यैतत् ॥ सर्वशब्दात्पारमार्थिकार्थोऽपि
दाहमाशङ्क्याह । वर्त्तमानेति ॥

वैश्वानरविद्याया महाफलत्वे सिद्धे तद्वतोऽग्निहोत्रं विशिष्टमिति
तत्कर्तुः सर्वदोषास्पर्शित्वमित्याशयेनाह । य एतदिति ॥ विद्यामेव

होत्रं जुहोति ॥ ३ ॥ तस्माद् वैवंविद्यपि
चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वै-
श्वानरे ज्ञतः स्यादिति तदेष श्लोकः ॥४॥ यथेह
क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एव सर्वाणि
भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत
इति ॥ ५ ॥ २४ ॥ इति छान्दोग्योपनिषत्सु
पञ्चमः प्रपाठकः ॥ ॐ तत्सत् ॥

लदेहस्य वैश्वानरे तद्धुतं स्यान्नाधर्मानिमित्तमिति विद्या-
मेव सौति । तदेतस्मिन् सुत्यर्थे श्लोको मन्त्रोऽप्येष भवति ।
यथेह लोके क्षुधिता बुभुक्षिता बाला मातरं पर्युपासते
कदा नो मातान् प्रयच्छतीत्येवं सर्वाणि भूतान्यन्नादान्येवं
विदोऽग्निहोत्रं भोजनमुपासते कदा त्वसौ भोक्ष्यत इति
जगत्सर्वं विद्वद्भोजनेन तृप्तं भवतीत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्याय-
परिसमाप्त्यर्था ॥ २४ ॥ इति श्रीमद्भोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः
कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे पञ्चमः प्रपाठकः ॥ ५ ॥

विद्यास्तुतिद्वाराऽग्निहोत्रमिति यावत् सुत्यर्थेऽग्निहोत्रस्य स्तुतिरूपो
योऽर्थस्तस्मिन्नित्येतन्मन्त्रस्य तात्पर्यार्थं दर्शयति । अगदिति ॥ विदुषो
वैश्वानरात्मनः सर्वात्मत्वादित्यर्थः ॥ २४ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरि-
व्राजकाचार्यश्रीशुभानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दशानकतायां छान्दो-
ग्यभाष्यटीकायां पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ५ ॥ ॐ तत्सत् ॥

हरिः ॐ ॥ श्वेतकेतुर्हारीण्येय आस तं ह
पितोवाच श्वेतकेतो ! वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्या
ऽस्मात्कुलीनो ऽननूच्य ब्रह्मवन्धुरिव भवतीति ॥

ॐ श्वेतकेतुर्हारीण्येय आसेत्याद्यध्यायसम्बन्धः । सर्वं
खल्विदं ब्रह्म तज्जलानित्युक्तं कथं तस्माज्जगदि जायते
तस्मिन्नेव च लीयते ऽनिति च तेनैवेत्येतदुक्तव्यम् । अनन्तर-
सैकस्मिन्भुक्ते विदुषि सर्वं जगत्तृप्तं भवतीत्युक्तं तदेकत्वे
सदात्मनः सर्वभूतस्थस्योपपद्यते नात्मभेदे कथञ्च तदेक-
त्वमिति तदर्थाऽयं षष्ठोऽध्याय आरभ्यते । पितापुत्रा
ख्यायिका विद्यायाः सारिष्ठत्वप्रदर्शनार्था । श्वेतकेतुरिति
नामतो ह इत्येतिद्वयार्थम् । आरुणेयोऽस्य पौत्र आस
बभूव । तं पुत्रं हारुणिः पिता योग्यं विद्याभाजनं मन्वान-
स्तस्योपनयनकालात्ययञ्च पश्यन्नुवाच हे श्वेतकेतो ऽनुरूपं ग
कुलस्य नो गृत्वा वस ब्रह्मचर्यम् । न चैतदात्तं यदस्माद्गुनी ॥

औं वर्तित्वमाणाध्यायस्याऽतीतेन सन्दर्भेण सम्बन्धं वक्ता प्रतीकं गृहीत्वा
तं प्रतिजानीते । श्वेतकेतुरिति ॥ तमेव प्रकटयन्प्रथमं तृतीयेनाध्याये-
नास्य सम्बन्धं कथयति । सर्वमिति ॥ एतदुक्तव्यं तदर्थाऽयं षष्ठोऽध्याय आर-
भ्यत इति सम्बन्धः । व्यवहितं सम्बन्धसङ्गाऽव्यवहितं तमादर्शयति । अन-
न्तरश्चेति ॥ अध्यायतात्पर्यसङ्गाऽऽख्यायिकातात्पर्यमाह । पितेति ॥
पिता प्रतिवक्ता पुत्रश्च पृष्ठे त्वेवं विधेयमाख्यायिका । सा च विद्यायाः
सारिष्ठत्वद्योतनार्था । पिता हि पुत्राय सारतममेवोपदिशतीत्यर्थः ।
कुलस्यानुरूपमित्यादिवचनाच्च कुलाद्यस्य गुरुत्वमिति गम्यते ब्रह्मचर्य-
मध्ययनार्थमिति शेषः । नत्वेत्यादिवचनात्प्राणवकाशो न मध्ययनमिति

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः
सर्वान् वेदानधीत्य महामनाऽनूचानमानी स्तब्ध
एयाय त् हि पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सौम्येदं
महामनाऽनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशम-

हे सोम्याननूचानधीत्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ब्राह्म-
णान् बन्धून् व्यपदिशति न स्वयं ब्राह्मणवृत्त इति ॥

तस्यातः प्रवासोऽनुमीयते पितुः । येन स्वयं गुणवान्
सन्पुत्रं नोपनेष्यति स पितोक्तः श्वेतकेतुर्द्वादशवर्षः सन्नुपे-
त्याचार्यं यावच्चतुर्विंशतिवर्षो बभूव तावत्सर्वान् वेदांश्चतु-
रोऽप्यधीत्य तदर्थं बुद्ध्वा महामना महद्ब्रह्मरं मनो
यस्य स ममात्मानमन्यैर्मन्यमानं मनो यस्य सोऽयं महा-
मना अनूचानमान्यनूचात्मानं मन्यत इत्येवं शीलो यः सोऽ
नूचानमानी स्तब्धोऽप्रणतस्वभाव एयाय गृहम् । तमेवम्भूतं
हात्मनोऽनुरूपं शीलं स्तब्धं मानिनं पुत्रं दृष्ट्वा पितोवाच
सद्ब्रह्मावतारचिकीर्षया श्वेतकेतो यन्निन्द्यदं महामना अनू-
चानमानी स्तब्धश्चासि कस्तेऽतिशयः प्राप्त उपाध्यायादु-
तापि तमादेशमादिश्यत इत्यादेशः । केवलशास्त्राचार्या-
पदेशगम्यमित्येतद्येन वा परं ब्रह्मादिश्यते ऽसावादेशस्तम-
प्राक्यः दृष्टवानस्याचार्यं तमादेशं विशिनष्टि येनादेशेन श्रुते-

स्त्वितिम् । माभूदुपनयनमध्ययतश्चेत्याशङ्क्याह । न चैतद्युक्तमिति ॥

किमिति पिता स्वयमेवोपनीय पुत्रं नाध्यापयति तत्राह । तस्येति ॥
अतःशब्दः स्वयमेवविषयः । अनुमानं कल्पनं तत्र कल्पकमाह । येनेति ॥

प्राच्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं
विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति
यथा सोम्यैकेन ऋत्पिण्डेन सर्वं ऋणमयं विज्ञातं

नाश्रुतमप्यन्यश्रुतं भवत्यमतं मतमतर्कितं तर्कितं भवत्यवि-
ज्ञातं विज्ञातमनिश्चितं निश्चितं भवतीति ॥ सर्वानपि वेदा-
नधीत्य सर्वं चान्यद्देहमधिगम्याप्यकृतार्थ एव भवति याव-
दात्मतत्त्वं न जानात्याख्यायिकाऽतोऽवगम्यते । तदेतदङ्गुतं
श्रुत्वाह कथञ्चेत्तदप्रसिद्धमन्यविज्ञानेनान्यद्विज्ञातं भवतीत्येवं
मन्वानः पृच्छति कथं नु केन प्रकारेण हे भगवः स आदेशो
भवतीति । यथा स आदेशो भवति तच्छृणु हे सोम्य ! यथा
लोके एकेन ऋत्पिण्डेन रुचककुम्भादिकारणभूतेन
विज्ञातेन सर्वमन्यत्तद्विकारजातं ऋणमयं ऋद्विकार-
जातं विज्ञातं स्यात् । कथं ऋत्पिण्डे कारणे विज्ञाते कार्यं
मन्यद्विज्ञातं स्यात् । नैष दोषः । कारणेनानन्यत्वात् कार्यं स्य

अनूचानोऽनुवचनसमर्थः । कर्मव्युत्पत्त्या कुरणव्युत्पत्त्या आदेशशब्दो
व्याख्यातः ॥ किमित्यधीत्य सर्ववेदमधिगततदर्थं च पुत्रमात्मविद्या-
मधिकृत्य पिता पृच्छति तस्य सर्ववेदाध्ययनादिनैव कृतार्थत्वादित्या-
शङ्कग्राह । सर्वानपीति ॥ तदेतदङ्गुतं श्रुत्वा हेत्युक्तं विवृणोति । कथं
न्विति ॥ ऋणमयमित्यस्य व्याख्या ऋद्विकारजातमिति । तद्यथा ऋत्-
पिण्डेन विज्ञातेन विज्ञातं स्यात्तथाऽन्यदपि सर्वं कारणेन विज्ञातेन
तद्विकारजातं विज्ञातं भवतीति योजना ॥ अन्यविज्ञानादन्यविज्ञान-

स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव
सत्यम् ॥ ४ ॥ यथा सोम्यैकेन लोहमणिज्ञा सर्वं
लोहमयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥ यथा सोम्यैकेन
नखनिष्ठान्तनेन सर्वं काष्णायसं विज्ञातं स्याद्वा-

यन्मन्यसेऽन्यस्मिन् विज्ञातेऽन्यन्न ज्ञायत इति । सत्यमेवं
स्यात् । यद्यन्यत्कारणात्कार्यं स्यान्नत्वेवमन्यत्कारणात्कार्यम् ॥
कथं तर्हीदं लोके इदं कारणमयमस्य विकार इति । शृणु
वाचारम्भणं वागारम्भणं वागालम्बनमित्येत् । कोऽसौ । वि-
कारो नामधेयम् । नामैव नामधेयं स्वार्थे धेयट्प्रत्ययः ।
वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं विकारो नामवस्त्वस्ति पर-
मार्थतो मृत्तिकेत्येव मृत्तिकैव सत्यं वक्ष्यति ॥ यथा च
सोम्यैकेन लोहमणिना सुवर्णपिण्डेन सर्वमन्यद्विकारजातं
कटकमुकुटकेयूरादिविज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणमित्यादि
समानम् । यथा सोम्यैकेन नखनिष्ठान्तनेनोपलक्षितेन कृष्णा-
यसपिण्डेनेत्यर्थः । सर्वं काष्णायसं कृष्णायसो विकारजातं
विज्ञातं स्यात् । समानमन्यत् । अनेकदृष्टान्तोपादानं दार्ष्ट-

मदृष्टत्वादस्तिष्ठमिति शङ्कते । कथमिति ॥ कार्यकारणयोरन्यत्वासिद्धे-
र्मेवमिति परिहरति । नैव दोष इति ॥ तदेव स्फुटयति । यन्मन्यस
इत्यादिना ॥ अन्यत्वाभावे लोकप्रसिद्धिविरोधं शङ्कते । कथं तर्हीति ॥
वाचारम्भणमित्यत्र वाचेति तृतीया षष्ठ्यर्थे दृष्टव्या ॥ नामधेयमित्यस्यार्थं
कथयति । नामैवेति ॥ विकारस्य सिध्यात्वे किं परमार्थतोऽस्तीत्याशङ्क्याह ॥

चारम्भणं विकारो नामधेयं कृणायसमित्वेव
सत्यं एतत् सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥ न
वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्वेतदवेदिष्यन्

न्तिकानेकभेदानुगमार्थं दृढप्रतीत्यर्थञ्चैव सोम्य स आदेशो
यो मयोक्तो भवतीत्युक्तवति पितर्याहेतरो न वै नूनं भग-
वन्तः पूजावन्तो गुरवो मम ये ते एतद्भगवदुक्तवस्तुनाऽवे-
दिषुर्न विज्ञातवन्तो नूनम् ॥ यद्यदि ह्यवेदिष्यन् विदित-
वन्त एतद्वस्तु कथं मे गुणवते भक्तायानुगताय नावक्ष्य-
न्नीकवन्तस्तेनाहं मन्ये न विदितवन्त इति । अवाच्यमपि
गुरोर्न्यग्भावमवादीत्युनर्गुरुकुलं प्रति प्रेषणभयात् । अतो
भगवांस्त्वेव मे मच्च तद्वस्तु येन सर्वज्ञत्वं ज्ञातेन मे
स्यान्तद्भवीतु कथयत्वित्युक्तः पितोवाच तथास्तु सोम्येति ॥
१ ॥ सदेव । सदित्यास्तामात्रं वस्तु सूक्ष्मं निर्विशेषं
सर्वगतम् । एकं निरञ्जनं निरवयवं विज्ञानं यदवमम्यते

वृत्तिकेत्वेवेति ॥ एकेनैव दृष्टान्तेन विवक्षितार्थसिद्धौ किमनेकदृष्टान्तो-
पादानेनेत्याशङ्क्याह । अनेकेति ॥ न वा इत्यादि प्रतीकमादाय व्यावटे ।
भगवन्त इति ॥ तेषामज्ञाने हेतुमाह । यदित्यादिना ॥ ननु अतकेतु-
र्गुरुणामज्ञानमात्राणो गुरुद्रोही प्रत्यवायी स्यादित्याशङ्क्याह । अवाच्य
मपीति ॥ गुरुणामज्ञानमतःशब्दार्थः ॥ १ ॥ यद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानं लभ्यते
तद्विज्ञानं प्रतिज्ञातं प्रकटीकर्तुं सर्वस्य सन्नातत्वं प्रतिजानीते । सदे-
वेति ॥ सञ्चरन्त्यस्य सामान्यविषयत्वं व्युद्स्यति ॥ सदित्येति । तस्य पृथिव्या-
दिभ्यो विशेषं दर्शयति । सूक्ष्ममिति ॥ आकाशादिभ्यो विशेषमाह ।
निर्विशेषमिति ॥ अन्तःप्रविशेषव्याप्यार्थं विशेषमाह । सर्वगतमिति ॥ तस्य

कथं मे नावच्छन्निति भगवांस्त्वेवमेतद्वचो-
त्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥ १ ॥ स देव
सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् ॥

सर्ववेदान्तेभ्यः । एवमब्धोऽवधारणार्थः । किन्तु दवधियत
इत्याह । इदं जगन्नामरूपक्रियावद्विस्तृतमुपलभ्यते यत्त-
त्सदेवासीदित्यासीच्छब्देन सम्बध्यते । कदा सदेवेदमासी-
दित्युच्यते अग्रे जगतः प्रागुत्पत्तेः ॥

किं नेदानीमिदं सद्येनाग्रऽआसीदिति विशेष्यते न
कथं तर्हि विशेषणं इदानीमपीदं सदेव किन्तु नामरू-
पविशेषणवदिदं शब्दबुद्धिविषयं चेतीदञ्च भवति । प्रागु-
त्पत्तेस्त्वग्रे केवलसच्छब्दबुद्धिमात्रगम्यमेवेति सदेवेद-

ताठस्यं व्यावर्त्तयति । एकमिति ॥ प्रत्यगभिन्नस्य तस्य संसारित्वं वारयति ।
निरञ्जनमिति ॥ निष्क्रियत्वेन तत्कूटस्थत्वमाह । निरवयवमिति ॥ यथोक्ते
वस्तुनि प्रमाणमाह । यदवगम्यत इति ॥

विशेषणानुसारेण शङ्कते । किं नेदानीमिति ॥ वर्त्तमानदशायां-
सत्त्वं जगतो नास्तीत्याह । नेति ॥ सदा सत्त्वाविशेषे विशेषणं न निर्वह-
तीति शङ्कते । कथमिति ॥ किं विशेषणसामर्थ्यादिदानीमसत्त्वं जगत-
स्योद्यते किं वा विशेषणस्यार्थवत्त्वं पृच्छ्यते तत्वाद्यं दूषयति । इदानी-
मपीति ॥ प्रत्यक्षविरोधान्न वर्त्तमानावस्थायां जगदसत्त्वविद्विरित्यर्थः ॥
द्वितीयं प्रत्याह । किन्त्विति ॥ यच्च इदं वर्त्तमानं जगन्नामरूपविशेषण-
वदालक्ष्यते तदिदं शब्दस्य तद्बुद्धेः विषयभावेन स्थितं भवतीति कृत्वेदमि-
दानीमित्यपि व्यवहियते तदेव त्वग्रे-प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दस्तद्बुद्धिस्तत्वेताव
न्नात्रगम्यमेव न त्विदं शब्दस्य तद्बुद्धेः विषयो भवतीत्यग्रे सदेवेदमग्र

मय आसीदित्यवधार्यते । न हि प्रागुत्पत्तेर्नामवद्रूपव-
द्देमिति ग्रहीतुं शक्यं वस्तु । सुषुप्तकाल इव । यथा सुषु-
प्तादुत्थितः सत्त्वमात्रमवगच्छति सुषुप्ते सन्मात्रमेव केवलं
वस्त्विति तथा प्रागुत्पत्तेरित्यभिप्रायः ॥

यथेदमुच्यते लोके । पूर्वाह्णे घटादिसिद्धान्त्या
कुलालेन चत्पिण्डं प्रसारितमुपलभ्य ग्रामान्तरं गत्वा
प्रत्यागतोऽपराह्णे तत्रैव घटशरावाद्यनेकभेदभिन्नं कार्य-
मुपलभ्य सदेवेदं घटशरावादि केवलं पूर्वाह्णे आसी-
दिति तथेहोच्यते सदेवेदमय आसीदिति ॥ एकमे-
वेति । स्वकार्यपतितमन्यन्नासीत्येकमेवेत्युच्यते । अद्विती-
यमिति ॥ सद्यतिरेकेण सद्यो यथाऽन्यद्घटाद्याकारेण

आसीदित्यवधार्यते तस्माद्विशेषणमिदं शब्दबुद्धिव्यावृत्त्यपेक्षं प्राक्कालीने
जगत्प्रवृत्तिमित्यर्थः ॥ अथावर्त्तमानावस्थायामपि जगतः सत्त्वे नियति
तत्त्वेदं शब्दबुद्धिर्न क्रमतेऽत आह । न हीति ॥ यथा सुषुप्ते काले सदपि
वस्तु नेदं शब्दबुद्धौ गौरवरं तथा प्रागुत्पत्तेः सदपि जगन्नामवत्त्वेन रूप-
वत्त्वेन वेदमिति न व्यवहर्त्तुं शक्यं कारणोपसंहारस्योभयत्र तुल्यत्वादि
त्यर्थः ॥ सुषुप्तेऽपि वस्तुनो न सत्त्वं मानाभावादित्याशङ्क्याह । यथेति ॥
तत्र वस्तुनोऽसत्त्वस्य तस्य परामर्शादनुभूतस्यानुभविताभावे तदयोगात् ।
न च तत्र विभक्तं वस्तु दृश्यते सुषुप्त्यभावप्रसङ्गादतस्तत्र केवलसन्मात्रं
वस्त्विति यथावगमस्तथा प्रागुत्पत्तेरपि सर्वं सन्मात्रमुक्तमेवेत्यर्थः । उक्त-
मेवार्थं सम्प्रतिपक्षेनोदाहरणान्तरेण समर्थयते ॥ यथेत्यादिना ॥ किमिदं
सदित्यपेक्षायां तद्वक्तव्यमाह । एकमिति ॥ अवतारिते लक्षणवाक्ये प्रथमं
विशेषणयोरर्थमाह । स्वकार्येति ॥ स्वजातीयसंगतभेदहीनमित्यर्थः ॥
विशेषणान्तरमादाय व्याकरोति । अद्वितीयमिति ॥ विजातीयभेदमन्य-

तच्चैक आङ्गिरसदेवेदमग्रऽआसीदेकमेवाहि-
तीयं तस्मादसतः सज्जायेत ॥ १ ॥

परिणमयित्कुलालादिनिमित्तकारणं दृष्टं तथा सद्ग्र-
तिरेकेण सतः सहकारिकारणं द्वितीयं वस्वन्तरं प्राप्तं
प्रतिषिध्यते । अद्वितीयमिति नास्य द्वितीयं वस्वन्तरं-
विद्यत इत्यद्वितीयम् । ननु वैशेषिकपक्षेऽपि सत्सामानाधि-
करण्यं सर्वं स्थोपपद्यते । द्रव्यगुणादिषु सच्छब्दबुद्धानुवृत्तेः ।
सद्द्रव्यं सन्गुणः सत्कर्म्मत्यादिदर्शनात् । सत्यमेवं स्यादि-
दानो प्रागुत्पत्तेस्तु नैवेदं कार्यं सदेवासीदित्यभ्युपगम्यते ।
वैशेषिकैः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वाभ्युपगमात् । न चैक-
मेव सदद्वितीयं प्रागुत्पत्तेरिच्छन्ति । तस्माद्वैशेषिकपरि-
कल्पितात् सतोऽन्यत्कारणमिदं सदुच्यते ॥

ऋदादिदृष्टान्तेभ्यस्तत्तत्र हैतस्मिन् प्रागुत्पत्तेर्वस्तुनि-
रूपणे एके वैनाशिका आङ्गर्वस्तुनिरूपयन्तोऽसदभावमात्रं
प्रागुत्पत्तेरिदं जगदेकमेवाग्रेऽद्वितीयमासीदिति ।

मित्यर्थः । यदुक्तं सत्सामानाधिकरण्यात्सदेव सर्वमिति तत्वारम्भवादो
शङ्कते । नन्विति । किं कार्यस्य सत्सामानाधिकरण्यं वर्त्तमान-
दशायां परपक्षेऽपि सम्भवतीत्युच्यते किं वा प्रागवस्थयासपीति
विकल्पप्रादुर्भागीकरोति । सत्यमिति ॥ द्वितीयं दूषयति । प्रागुत्-
पत्तेस्त्विति । लक्षणवाक्यञ्च परपक्षे दुर्योज्यमित्याह । न चेति । वाक्यद्वय-
पर्यालोचनया परपक्षासम्भवमुपसंहरति । तस्मादिति ॥

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरैकस्याद्दृष्टान्तानां कार्यकारणाभेदनिष्ठत्वाच्च
वैशेषिकपक्षासिद्धिरित्याह । ऋदादीति ॥ वैशेषिकपक्षासम्भवेऽपि वैना

सद्भावमात्रं हि प्रागुत्पत्तेश्च कल्पयन्ति वैशाः । न तु
सत्प्रतिद्वन्द्वस्वन्तरमिच्छन्ति । यथा सञ्ज्ञासदिति गृह्य-
माणं यथा भूतं तद्विपरीतं तत्त्वं भवतीति नैयायिकाः ॥
ननु सद्भावमात्रं प्रागुत्पत्तेश्चेदभिप्रेतं वैनाशिकैः । कथं
प्रागुत्पत्तेरिदमासीदसदेकमेवाद्वितीयश्चेति कालसम्बन्धः
सञ्ज्ञासम्बन्धोऽद्वितेयत्वं चोच्यते तैः ॥

वाढम् । न युक्तं तेषां भावाभावमात्रमभ्युपगच्छताम् ।
असत्त्वमात्राभ्युपगमोऽप्ययुक्त एवाभ्युपगन्तुरनभ्युपगमानुप-
पत्तेः । इदानीमभ्युपगन्ताभ्युपगम्यते न प्रागुत्पत्तेरिति

शिकपक्षो भविष्यतीति शङ्कते । तत्तत्वेति ॥ असच्छब्दस्य तु व्यावृत्ति-
विषयत्वं वारयति । अभावमात्रमिति ॥ सतोऽन्यदसदिति स्थितेः सत्तादि-
नाऽपि प्रतियोगिभूतं सदा स्थितमित्याशङ्क्याह । सद्भावमात्रमिति ॥
तदेव वैधर्म्यदृष्टान्तेन स्फुटयति । यथेति ॥ सदिति यथाभूतमिति
चेत्ततो विपरीतं गृह्यमाणं सञ्ज्ञासञ्ज्ञेति द्विविधं तत्त्वं भवतीति यथा नैया-
यिका वदन्ति द्वे तत्त्वे सदसतो भावाभावविति तैरभ्युपगमाद् तथा
नौ द्वैद्विविधं तत्त्वमिदं सदत्यन्ताभावोऽसदित्यभ्युपगमाद् । अप्रतीत-
प्रतियोगिकाभावस्यात्यन्ताभावतया शशविषाणं नास्तीत्यादौ प्रसिद्धत्वादि-
त्यर्थः ॥ तन्मिमं वैनाशिकपक्षं शिष्यसुखेन दूषयति । नन्वित्यादिना ॥

शिष्योक्तमङ्गीकरोति । वाढमिति ॥ भावस्य योऽभावस्तन्मात्रमसदित्यभ्युप-
गच्छतां तेषां पक्षे न युक्तं कालसम्बन्धाद्यसत इति युक्तमेव त्वयोक्तमित्यर्थः ।
किञ्च तन्मते यस्य कस्यचिदसत्त्वमिदम् ॥ सर्वस्य वेति विकल्पग्राह्य-
सपेक्ष्य द्वितीयं दूषयति । असत्त्वेति ॥ किमभ्युपगन्ता यदा कदाचिदभ्युप-
गन्तव्यः किं वा प्रागवस्थायामपीति विकल्पग्राह्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं दूषय-
न्प्राशङ्कते । इदानीमिति ॥ स किं तदानीमसत्त्वाच्चाभ्युपगम्यते तथा
प्रागवस्थायामभ्युपगन्ता सन्नित्यस्याभ्युपगन्तुरिदानीमभ्युपगमसम्ब-

चेत् । न । प्रागुत्पत्तेः सदभावस्य प्रामाण्याभावात् ।
प्रागुत्पत्तेरसदेवेति कल्पनामुपपत्तिः । ननु कथं वस्त्वाकृते
शब्दार्थत्वे ऽसदेवमेवाद्वितीयमिति पदार्थवाक्यार्थोपपत्ति-
स्तदनुपपत्तौ चेदं वाक्यमप्रमाणं प्रसज्येतेति चेत् । नैष
दोषः । सदग्रहणनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य ॥

सदित्ययं तावच्छब्दः सदाकृतिवाचकः । एकमेवाद्वितीय-
मित्येतौ च सच्छब्देन च समानाधिकरणौ । तथेदमासी-
दिति च । तत्र नञ् सहाक्ये प्रयुक्तः सहाक्यमेवावलम्ब्य
सहाक्यार्थविषयां बुद्धिं सदेकमेवाद्वितीयमिदमासीदित्येवं-

वाच्यं हि प्रागुत्पत्तेस्तत्सत्त्वे मानाभावः । विमतः कालो ज्ञातृसत्तावान्
कालत्वात्सम्मतवदित्यनुमानादित्याह । प्रागुत्पत्तेरिति ॥ परंपरं दूष-
यित्वा वाक्यतात्पर्यं दर्शयितुं चोदयति । नन्विति ॥ अन्योपपत्त्यं शब्दा-
र्थत्वे सत्यपोह्य वस्तुनस्तदर्थत्वे वा कथमसदिति शब्दस्यार्थसिद्धिराकृतेषु
भीमांसकप्रक्रियया शब्दार्थत्वे सत्त्वेकमद्वितीयमिति पदयोराकृतिवाचक-
त्वायोगादर्थानुपपत्तिस्तदभावे च पदार्थसंसर्गाद्यात्मनो वाक्यार्थस्यानुप-
पत्तिः । वाक्यार्थस्यानुपपत्तौ च निर्विषयमिदं वाक्यमप्रमाणं स्यादित्यर्थः ।
सदभिनिवेशनिवृत्त्यर्थमिदं वाक्यं न तु शून्यमेव साक्षादभिधत्ते ॥ तत्र
वाक्याप्रामाण्यमिति परिहरति । नैष दोष इति ॥

तथापि कथमसदादिशब्दानामगृहीतशक्तित्वे वाक्यार्थोपपत्ति-
रित्याशङ्क्याह । सदित्येवमिति ॥ एकमद्वितीयमिति शब्दद्वयवदिदमासी-
दिति च शब्दौ सच्छब्देन समानाधिकरणावेवेत्याह । तथेति ॥ सदेवेत्या-
दिवाक्यस्योक्तविधयार्थवत्त्वे ऽपि कथमसदेवेत्यादिवाक्यमर्थवदित्याशङ्क्याह ।
तत्रेति ॥ इवशब्दो यद्वदस्मिन्नर्थे तद्वदिति पृथक्प्रयोगादित्यर्थः ॥ किमिति
वाक्यस्य सदभिनिवेशनिवृत्तिपरत्वं सदभावपरत्वमेव किं न स्यादि-

कुतस्तु खलु सोम्यैव स्यादिति होवाच
कथमसतः सज्जायतेति ॥

लक्षणां ततः सद्वाक्यार्थान्निवर्त्तयति । अत्राकृष्ट इवाश्वाल-
म्बनोऽश्वं तदभिसुखविषयान्निवर्त्तयति तद्वत् । न तु पुनः
सदभावमेवाभिपद्यते; पुरुषस्य विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थ-
परमिदमसदेवेत्यादि वाक्यं प्रयुज्यते । दर्शयित्वा हि विप-
रीतग्रहणं ततो निवर्त्तयितुं शक्यत इत्यर्थवन्ताऽसदादि-
वाक्यस्य औतत्वं प्रामाण्यञ्च सिद्धमित्यदोषः । तस्माद-
सतः सर्वाभावरूपास्तद्विद्यमानमजायत समुत्पन्नम् । अडा-
भावश्चान्दसः । तदेतद्विपरीतग्रहणं महावैनाशिकपक्षं
दर्शयित्वा प्रतिषेधति । कुतस्तु प्रमाणात् खलु हे सोम्य
एवं स्यादसतः सज्जायत इत्येवं कुतो भवेन्न कुतश्चित्प्रमा-

त्याशङ्क्याह । न त्विति ॥ सदभावस्याख्यानभावलक्षणस्य तु क्त्वाकृष्ट-
क्तिगोचरत्वासम्भवादित्यर्थः ॥ अन्यपरत्वासम्भवे सदाभिनिवेशनिवृत्तिपरत्वं
वाक्यस्य सिद्धमित्युपसंहरति । अत इति ॥ प्राक्कावे पुरुषस्य सदभिनिवे-
शनिवृत्तिरत्र विवक्षिता चेत्तर्हि नञ्पदमेव प्रयोक्तव्यं किमित्यसदेवेदमप्य
आसीदिति प्रयुक्तमित्याशङ्क्याह । दर्शयित्वा हीति ॥ अथवा सदेवेत्या-
दिना स्वपक्षसङ्गा तदुद्दीकरणार्थत्वे गच्छदेवेत्यादिनानुवादोऽयमिति
तात्पर्यान्तरमाह । दर्शयित्वा हीति ॥ प्रथमे पक्षे तस्मादित्यादिवाक्यस्या-
र्थान्नावाहितोयः पक्षो गृहीतः । तत्र कारणस्यासत्पक्षसङ्गमिदानीं कार्यं
स्यापि तद्दर्शयति । तस्मादिति ॥ अजायतेति वक्तव्ये कथं न्यत्या जायतेति
प्रयुक्तमित्याशङ्क्याह । अडाभाव इति ॥ कुतस्तु खलित्यादिवाक्याली-
चनायामपि द्वितीयः पक्षो ग्राह्य इत्यभिप्रेत्याह । तदेतदिति ॥

णादेवं सम्भवतीत्यर्थः । यदपि बीजोपमर्देऽङ्कुरो जाय-
मानो दृष्टोऽभावादेवेति तदप्यभ्युपगमविरोधं तेषाम् । कथं
ये तावद्बीजावयवा बीजसंस्थानविशिष्टास्तेऽङ्कुरेऽप्यनुवर्तन्त
एव न तेषामुपमर्दोऽङ्कुरजन्मनि । यत्पुनर्वीजाकारसं-
स्थानं तद्बीजावयवव्यतिरेकेण वस्तुभूतं न वैनाशिकैरभ्युप-
गम्यते यदङ्कुरजन्मन्युपमृद्येताथ तदस्यवयवव्यतिरिक्तं
वस्तुभूतं तथाच सत्यभ्युपगमविरोधः । अथ संवृत्ताभ्युप-
गतं बीजसंस्थानरूपमुपमृद्यत इति चेत् । केयं संवृत्ति-
र्नाम किमसावभाव उत भाव इति । यद्यभावो दृष्टान्ता-
भावः ॥

अथ भावस्तथापि नाभावादङ्कुरोत्पत्तिः । बीजावयवभ्यो
ह्यङ्कुरोत्पत्तिः । अवयवा अप्युपमृद्यन्त इति चेत् । न । तद-
वयवेषु तुल्यत्वात् । यथा वैनाशिकानां बीजसंस्थानरूपोऽ-

विमतमभावपुरस्सरं कार्यत्यादङ्कुरवदिति शङ्कते । यदपीति ॥ अप्रसिद्ध-
विशेषणत्वं सत्त्वा परिहरति । तदपीति ॥ बीजोपमर्देनाङ्कुरोत्पत्तेरिष्ट-
त्वात्कथमप्रसिद्धविशेषणतेति शङ्कते । कथमिति ॥ किमङ्कुरोत्पत्तौ
बीजावयवा उपमृद्यन्ते किं वा बीजाकारसंस्थानमिति विकल्पग्राह्यं
प्रत्याह । ये तावदिति ॥ द्वितीयं दूषयति । यत्पुनरिति ॥ तर्हि किं
परमार्थवस्तु किं वा संवृत्तिसिद्धम् । नाद्योऽभ्युपगमविरोधादित्युक्तं द्विती-
यमुत्थापयति । अथ संवृत्तेरिति । संवृत्तिं विकल्पयति । केयमिति ॥ आद्यो
भावस्याभावादुत्पत्तौ दृष्टान्ताभावः संवृत्तेरवस्तुत्वे न च बीजसत्त्वासाध-
कत्वादित्याह । यदीति ॥

द्वितीयमनूद्य दूषयति । अथेति ॥ तत्त्वं यथा संब्रियते आच्छाद्यते
सा संवृत्तिलौकिकी बुद्धिः सा चेद्भावरूपेष्टा तर्हि तया बीजावयवानाम-
ङ्कुराकारपरिणामसिद्धेर्दृष्टान्तासिद्धिरित्यर्थः ॥ लौकिकबुद्धिमनाश्रित्य

सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्

वयवो नास्ति । तथावयवा अपीति । तेषामप्युपमर्दानुप-
पत्तिः । बीजावयवानामपि सूक्ष्मावयवास्तदवयवानामप्यन्ये
सूक्ष्मास्तदवयवा इत्येवं प्रसङ्गस्यानिवृत्तेः सर्वतोपमर्दा-
नुपपत्तिः । सद्बुद्धानुवृत्तेः सत्त्वानिवृत्तिश्चेति सद्वादिनां
सत एव सद्बुत्पत्तिः सेत्स्यति । न त्वसद्वादिनां दृष्टान्तो
ऽस्त्यसतः सद्बुत्पत्तेः । च्छत्तिपिण्डाद्बुत्पत्तिर्दृश्यते सद्वा-
दिनां तद्भावे च भावान्तदभावे चाभावात् ॥ यद्यभावा-
देव घट उत्पद्येत घटार्थिना च्छत्तिपिण्डे नोपादीयेत ॥

अभावश्चद्बुद्धानुवृत्तिश्च घटादौ प्रसज्येत न त्वेतद-

परमतमेवादाय शङ्कते । अवयवा इति ॥ असत्त्ववयवविन्युपमर्दायोगव-
दवयवेष्वपि तदयोगस्य तल्ल्यत्वाच्चेदं चोच्यमित्युत्तरमाह न तदवयवेष्विति ॥
तदेव स्फुटयति । यथेति ॥ नन्वसत्पक्षे परमावयवो नास्त्यवयवास्तु
सन्त्वेवेति तत्वाह । बीजावयवानामपीति ॥ तर्हि तेषामङ्गुरजन्मन्मु-
मर्दः स्यादिति चेत्तत्वाह । तदवयवानामपीति ॥ न चाङ्गुरजन्मन्मयव-
परम्पराविन्नान्निभूमिरुपपद्यते तस्याः न्यूनत्वे तदुपमर्दे सत्कारणवादा-
पातात् । अन्त्यत्वेऽपि कार्यत्वे कादाचित्कद्रव्यस्य सावयवत्वे नोक्त-
दोषतादवस्थग्रादकार्यत्वे भावश्चेदुपमर्दासिद्धिरभावश्चेत्तदुपमर्दे सत्कारण-
वादापत्तिरेवेति भावः ॥ असद्वादास्याप्रामाण्यकत्वमुक्त्वा सद्वादस्य प्रामाण्यक-
त्वमाह । सद्बुद्दीति ॥ परमते दृष्टान्ताभावस्तन्मन्व्य स्वमते तत्सत्यं च
असृजिनोति । न त्विति ॥ घटस्याप्यभावादेवोत्पत्तेरित्युक्त्वा दृष्टान्ता-
सम्प्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याह । यदीति ॥

किञ्च यद्यस्योपादानं दृष्टं तच्छब्दप्रत्ययौ तत्त्वानुवर्त्तते यथा तथा
भावश्चेद्घटादेरुपादानं तच्छब्दप्रत्ययौ तत्त्वानुवृत्ते स्थाताम् ॥ न चावुवर्त्तते

स्थितो नासतः सदुत्पत्तिः । यदप्याहृद्बुद्धिर्घटबुद्धेर्निमित्तमिति अहृद्बुद्धिर्घटबुद्धेः कारणमुच्यते न तु परमार्थत एव अहृदो वास्तीति तदपि अहृद्बुद्धिर्विद्यमानाविद्यमानाया एव घटबुद्धेः कारणमिति नासतः सदुत्पत्तिः । अहृद्बुद्धि-घटबुद्धोर्निमित्तनैमित्तिकतयानन्तर्यमात्रं न तु कार्यकारणत्वमिति चेत् । न । बुद्धीनां नैरन्तर्येण गम्यमाने वैभाविकानां वहिर्दृष्टान्ताभावात् । अतः कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथं केन प्रकारेणासतः सज्जायेतेति । असतः सदुत्पत्तौ न कश्चिदपि दृष्टान्तप्रकारोऽस्तीत्यभिप्रायः । एवमसहादिपक्षमुन्मथ्योपसंहरति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदिति स्वपक्षसिद्धिः ॥

तस्मादसतः सदुत्पत्तिरयुक्तोक्त्याह । अभावेति ॥ भावस्य सतो अतृपिण्डस्य घटादिकारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तं तत्त्वान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिमुज्जावयति । यदपीति ॥ तस्मिन्नपि पक्षे न सत्पक्षमिति मित्युत्तरमाह । तदपीति ॥ यदुक्तं सद्रूपया बुद्धेः सद्रूपां बुद्धिं प्रति कारणत्वमिति तदसिद्धमिति शङ्कते । अहृद्बुद्धिर्घटबुद्धोरिति ॥ सत्त्वसिद्धौ हि पूर्वभावित्वं कारणत्वं कार्यत्वञ्चोत्तरभावित्वं युक्तं बुद्धीनां ह्यासत्त्वादानन्तर्यमात्रेण व्यवहियते निमित्तनैमित्तिकत्वमित्यर्थः । असतो नासपि बुद्धीनामानन्तर्येण निमित्तनैमित्तिकमित्येतच्च शक्यं सम्भावयितुं दृष्टान्ताभावादित्युत्तरमाह । बुद्धीनामिति । कुतस्तु खल्वित्यादि वाक्यं व्याख्यातमुपसंहरति । अत इति । पूर्वमसतः सदुत्पत्तौ दृष्टान्ताभाव उक्त इदानीमन्यदुपसंस्तुतमिति शङ्कां वारयति । असत इति ॥ स्वपक्षसिद्धिमुपसंहरतीति सन्वयः ॥

ननु सहादिनोऽपि सतः सदुत्पद्यत इति नैव दृष्टान्तो
 ऽस्ति । घटाद्वृष्टान्तरोत्पत्तादर्शनात् । सत्यमेवं न सतः सद-
 न्तरसुत्पद्यते किं तर्हि सदेव संस्थानान्तरेणावतिष्ठते । यथा
 सर्पः कुण्डली भवति । यथा च स्रज्जूर्णं पिण्डघटकपालादि-
 प्रभेदैः । यदेवं सदेव सर्वं प्रकारावस्थं कथं प्रागुत्पत्तेरि-
 दमासीदित्युच्यते । ननु न श्रुतं त्वया सदेवेत्यवधारण-
 मिदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्राप्तं तर्हि प्रागुत्पत्तेरसदेवा-
 सीन्नेदंशब्दवाच्यमिदानीमिदं जातमिति । न सत एवेदं
 शब्दबुद्धिविषयतयावस्थानाद्यथा सदेव पिण्डघटादिश-
 ब्दबुद्धिविषयत्वेनावतिष्ठते तद्वत् ॥

सिद्धान्तेऽपि दृष्टान्तासिद्धिस्तुल्येति । शङ्कते । नन्विति ॥ यद्यपि
 स्रजो घटोत्पत्तिर्दृष्टा तथापि न स्रजो स्रदनन्तरं घटाद्वृष्टान्तरसुत्पद्यमान-
 सुपलभ्यते तस्मान्न सतः सदनन्तरोत्पत्तिरित्यर्थः । किं सदनन्तरस्य सतः
 सकाशादुत्पत्तिरेव वार्यते किं वा कारणत्वं सतो निराक्रियते तत्वाद्यमङ्गी
 करोति । सत्यमिति ॥ द्वितीयं निराकरोति । किं तर्हीति ॥ तस्मापि
 दृष्टान्ताभावमाशङ्क्याह । यथेति ॥ कुण्डलीभावे कार्यत्वप्रसिद्धिर्नास्ती-
 त्वाशङ्क्योदाहरणान्तरमाह । यथा चेति ॥ प्रभेदैरवतिष्ठत इति सम्बन्धः ।
 सत एव सर्वप्रकारेणावस्थाने प्राक्कालिकं कार्यस्य सत्त्ववचनमयुक्तं तस्य
 सर्वदा सत्त्वाविशेषादिति शङ्कते । यद्येवमिति ॥ प्रागवस्थं हि कारणं
 सम्भाव्यत्वं च कार्यस्यावधार्यते तथाच कारणस्यैव सतस्तेन तेनाकारेणाव-
 स्थानमित्यङ्गीकारेऽपि कार्यस्य प्राक्कालिकं सत्त्वावधारणमविरुद्धमित्यु-
 च्तरमाह । नन्विति ॥ कार्यस्य कारणमात्वत्वञ्चेदवधत्तं तर्हि कारण-
 मेवासौ च कार्यं तदसदेवेदानीं जातमित्यसत्कार्यवादिमतमायातमिति
 शङ्कते । प्राप्तमिति ॥ कारणस्यैव कार्यरूपेणावस्थानाद्वासत्कार्यवादा-
 पत्तिरिति दृष्टान्तेन परिहरति । नेत्यादिना ॥

ननु यथा मृदस्त्वेवं पिण्डघटाद्यपि तद्वत्सदृशबुद्धेरन्य-
 बुद्धिविषयत्वात्कार्यस्य सतोऽन्यदस्त्वन्तरं स्यात्कार्यजातं
 यथाऽश्वाङ्गौर्न पिण्डघटादीनामितरेतरव्यभिचारेऽपि ।
 मृत्वाव्यभिचारात् । यद्यपि घटः पिण्डं व्यभिचरति पिण्डश्च
 घटं तथापि पिण्डघटौ मृत्त्वं न व्यभिचरतस्तस्मान्मृत्मात्रं
 पिण्डघटौ व्यभिचरत्यश्वं गौरश्चो वा गाम् । तस्मान्मृदादि
 संस्थानमात्रं घटादयः । एवं सत्संस्थानमात्रमिदं सर्वमिति
 युक्तं प्रागुत्पत्तेः सदेवेति । वाचारम्भणमात्रत्वाद्विकारसं-
 स्थानमात्रस्य । ननु निरवयवं सन्निष्कलं निष्क्रियं शान्तं
 निरवद्यं निरञ्जनं दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः सवाच्याभ्यन्तरो
 ह्यज इत्यादियुतिभ्यो निरवयवस्य सतः कथं विकारसं-
 स्थानमुपपद्यते ॥

विमतमुपादानाद्भिद्यते तद्विलक्षणबुद्धिविषयत्वाद्यथाश्वबुद्धिविलक्षणो
 विषयो महिषस्ततो भिद्यते । तथाच कथं सत एवेदंधीविषयता निर्व्या-
 च्यावस्थाङ्गीकारेणामत्कार्यवादापत्तिसमाधिरिति चोदयति । नन्विति ॥
 विलक्षणबुद्धिविषयत्वस्य भेदमात्रसाधकत्वे सिद्धसाधनं तात्त्विकभेदे
 साधकत्वे दृष्टान्तसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह । नेति ॥ किञ्च कार्यस्य व्यभिचारि-
 त्वेन रज्जुसर्पादिवन्निष्ठात्वानुमानादनिर्याच्यसंस्थानादेव कार्यबु-
 द्धालम्बनत्वं सतोऽङ्गीकर्त्तव्यमित्याह । पिण्डेति ॥ तदेव स्फुटयति ।
 यद्यपीति ॥ मृदन्तरेण पिण्डघटयोः स्वरूपाभावादितितच्छब्दार्थः ।
 अव्यभिचारेण गोत्वमित्यादिदृष्टान्तः ॥ अव्यभिचारफलमाह । तस्मादिति ॥
 दृष्टान्तगतमर्थं दाष्टानि समर्थयति । एवमिति ॥ प्रथमेव प्रथमानस्य
 कार्यस्य कथं सम्भाव्यत्वमित्याशङ्क्याह । वाचारम्भयेति ॥ कार्यमित्यात्वं
 स्फुटीकर्त्तुं चोदयति । नन्विति ॥

एकमेवाद्वितीयम् ॥२॥ तदेक्षत वज्र स्यांप्रजायेयेति

नैष दोषो रज्जाद्यवयवेभ्यः सर्पादिसंस्थानबुद्धि-
परिकल्पितेभ्यः सदवयवेभ्यो विकारसंस्थानोपपत्तेः ।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमेवं सदेव
सत्यमिति श्रुतेः । एकमेवाद्वितीयं परमार्थत इदंबुद्धि-
कालेऽपि तत्सत् ऐक्षतेक्षां दर्शनं कृतवान् । अतश्च न प्रधानं
साङ्ख्यपरिकल्पितं जगत्कारणम् । प्रधानस्याचेतनत्वाभ्युपग-
मात् । इदन्तु सञ्चेतनमीक्षितत्वात्तत्कथमैक्षतेत्याह वज्र
प्रभूतं स्यां भवेयं प्रजायेय प्रकर्षेणोत्पद्येय । यथा खड्गटा-
द्याकारेण यथा वा रज्जादिसर्पाद्याकारेण बुद्धिपरिकल्पि-
तेन । असदेव तर्हि सर्वं यद्वृक्ष्यते रज्जुरिव सर्पाद्याका-

यथा खल्वज्ञातेभ्यो रज्जाद्यवयवेभ्यः सर्पादिसंस्थानमनिर्वाच्य-
मिदं तथा श्रुतिजनितजगत्कारणत्वबुद्ध्यनुपपत्त्या कल्पितेभ्यः सतो मायो-
पाधिकस्यावयवेभ्यो विकारसंस्थानमुपपद्यते । तस्यादयं द्वैतप्रपञ्चो ब्रह्म-
विवर्त्तः सम्भवतीति परिहरति । नैष दोष इति ॥ ब्रह्मविवर्त्तो जग-
दित्यत्र अतिमहदुक्तवति । वाचारम्भणमिति ॥ प्रपञ्चमिच्छात्वे फलित-
मुपसंहरति । एकमेवेति ॥ अद्वितीयत्वसमर्थनार्थमुत्तरवाक्यसुत्याख्य
व्याचष्टे । तत्सदिति ॥ सख्यन्द्वाच्यं जगत्कारणं प्रधानमिति केचित्सद-
येतेन निरस्तमित्याह । अतश्चेति ॥ ईक्षापूर्वकारित्वादिति वाचत् ।
अचेतनत्वाभ्युपगमाच्च तस्येक्षापूर्वकं सृष्टृत्वमिति शेषः । परिणामविवर्त्त-
वादावाप्तिर्योदाहरणद्वयम् । वज्रस्यामित्यादि श्रुतितात्पर्यं वक्तुं निरस्त-
मेव शौद्यमुक्तावयति । असदेवेति ॥ वज्र स्यां प्रजायेयेत्यनेनेषितरेव

तत्तेजोऽसृजत

रेण । न सत एव द्वैतभेदेनान्यथा गृह्यमाणत्वाच्चासृज्यं
कस्यचित्कचिदिति ब्रूमः ॥

यथा सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं परिकल्प्य पुनस्तस्यैव प्रागु-
त्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्वमसत्त्वं ब्रुवते तार्किका न तथाऽस्याभिः
कदाचित्कचिदपि सतोऽन्यदभिधानमभिधेयं वा वस्तु
परिकल्प्यते सदेव तु सर्वमभिधानमभिधीयते च यदन्य-
बुद्ध्या यथा रज्जुरेव सर्पबुद्ध्या सर्प इत्यभिधीयते यथा
वा पिण्डघटादिर्मृदोऽन्यबुद्ध्या पिण्डघटादिशब्देनाभि-
धीयते लोके रज्जुविवेकदर्शिना तु सर्पाभिधानबुद्धी
निवर्त्तते यथा च सृष्टिवेकदर्शिनां घटादिशब्दबुद्धी तद्व-
त्सृष्टिवेकदर्शिनामन्यविकारशब्दबुद्धी निवर्त्तते । यतो वाचो
निवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा सहेति अनिरुक्तेऽनिलयन इत्या-
दिश्रुतिभ्यः । एवमीक्षित्वा तत्तेजोऽसृजत तेजः सृष्टवत् ।

कार्यकारणापत्तिवचनेन वैशेषिकादिमतभेदविरस्तमिति श्रुतिमात्यर्थं
दर्शयन्नुत्तरमाह । नेत्यादिना ॥

तदेव प्रपञ्चयति । यथेत्यादिना ॥ प्रतिज्ञातमर्थं मतद्वयानुसारेण
दृष्टान्ताभ्यां स्पष्टयति । यथा रज्जुरिति ॥ अज्ञानान्वयव्यतिरेकाभ्यां
रज्जु सर्पादेरज्ञानमयत्वं च द्वैताभिनिवेशस्य सन्धात्वाविवेके सत्त्वेवोत्प-
त्तेर्विचारेण तद्विवेके चानुत्पत्ते इतमप्यज्ञानमयमेव तस्य तु तत्त्वं सन्धा-
त्ममधिष्ठानं वाङ्मनसातीतमित्यर्थः ॥ तस्य बाङ्मनसातीतत्वे प्रमाणमाह ।
यत इति ॥ अन्यदेव तद्विदितादित्यादिवाक्यभादिपदार्थः । तैत्तिरीय
कश्रुतिविरोधमाशङ्कते । नन्विदं ॥ तथापि कथं विरोधधीरित्याशङ्क्याह ।
इति विरुद्धमिति ॥ अस्यां श्रुतौ सत्तः सकाशादेव प्राचक्ष्येन तेजः सृष्टव-

तत्तेज एक्षत बज्ज स्यां प्रजायेयेति तदपो- ऽसृजत ॥

ननु तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इति श्रुत्य-
न्तरः । आकाशाहायुस्तत्तृतीयं तेजः श्रुतमिह कथं प्राथ-
म्येन तस्मादेव तेजः सृज्यते तत एव चाकाशमिति विरुद्धम् ॥

नैष दोषः । आकाशवार्थमर्गानन्तरं तत्सत्तेजोऽसृजतेति
कल्पनोपपत्तेः । अथ वाऽविवक्षित इह सृष्टिक्रमः सत्का-
र्यमिदं सर्वमतः सदेकमेवाद्वितीयमित्येतद्विवक्षितम् ।
सृदादिदृष्टान्तात् । अथ वा त्विवत्करणस्य विवक्षित-
त्वात् । तेजोबन्धानामेव सृष्टिमाचष्टे । तेज इति प्रसिद्धं

मानमुच्यते श्रुत्यन्तरे तु तस्मादेव सतः सकाशादाकाशं प्राथम्येन
सृष्टमित्यपदिष्टं तथा च कथमिदं मिथो विरुद्धं सिध्यतीत्यर्थः ॥

तैत्तिरीयश्रुत्यनुसारेण कान्दोग्यश्रुतेर्व्याख्यानसम्भवाच्च विरो-
धोऽस्तीति परिहरति । नैष दोष इति ॥ सृष्टिक्रमस्य विवक्षितत्वमङ्गी-
कृत्योक्तं तदेव नाख्यद्वितीयत्वं तु सतो विवक्षितमिति पक्षान्तरमाश्रि-
त्याह । अथ वेति ॥ तत्र गमकं दर्शयति । सृदादीति ॥ सृदादिकार्यं
षट्पादित्वातिरेकेण नास्ति सृदाद्येव तु सत्यमिति दृष्टान्तोपादानाङ्गत्वात्
सतस्तेजोबन्नादिकार्यं तदतिरेकेण नास्ति सम्भावमेव सत्यमिति दाष्टा-
न्तिकेऽपि विवक्षितं प्रतिभातीत्यर्थः ॥ तत्तेजोऽसृजतेत्यादिश्रुतेस्तात्प-
र्यान्तरमाह । अथवा त्विवत्करणस्येति ॥ तासां त्विवत् त्विवत्मेकैकां
करवाणोत्पादौ त्विवत्करणस्येत्पात्तयाणामेव भूतानामिह सृष्टिरु-
च्यते । न चैवंपञ्चीकरणमविवक्षितमिति वाच्यं भूतत्वस्य सृष्टिश्रुतौ श्रुत्यन्त-
रसिद्धाकाशादिसृष्टेरपलक्ष्यवत् त्विवत्करणश्रुत्या पञ्चीकरणोपलक्ष्यं

तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस
एव तदध्यापो जायन्ते ॥३॥ तात्राप एक्षन्त बह्व्यः
स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र

लोके दग्धृपक्तृप्रकाशकं रोहितश्चेति तत्सृष्टं तेज एक्षत ।
तेजोरूपसंस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः । बह्व्यः स्यां प्रजायेवेति
पूर्ववत्तदपोऽसृजत । आपो द्रवाः क्षिप्त्वाः स्यन्दित्यः
शुक्लाश्चेति प्रसिद्धं लोके ॥

यस्यात्तेजसः कार्यभूता आपस्तस्मादात्र क्व च देशे काले
वा शोचति सन्तप्यते स्वेदते प्रसिद्ध्यते वा पुरुषस्तेजस
एव तदध्यापोऽधिजायन्ते । तात्राप एक्षन्तेति पूर्ववदेव वाका-
रसंस्थितं सदैक्षतेत्यर्थः । बह्व्यः प्रभूताः स्याम भवेम प्रजायेम
क्षुत्प्रदेमहीति । ता अन्नमसृजन्त पृथिवीलक्षणम् । पार्थिवं
क्षुत्त्वं यस्यादप्यकार्यमन्त्रम् । तस्मादात्र क्व च वर्षति देशे
तत्तत्रैव भूयिष्ठं घट्टतरमन्त्रं भवति । अतोऽयं एव तदन्ना-
द्यमधिजायत इति । ता अन्नमसृजन्तेति पृथिव्युक्ता पूर्वमिह

तथाच श्रुत्यन्तरसिद्धयोराकाशवाय्वोस्तेजःप्रभृतिष्वलर्भावमभिप्रेत्य लघू-
पायेन सर्वस्य सम्भावित्वं सन्तव्यमिति सन्धाना श्रुतिस्तिवित्करणमेवा-
चक्षाणा तदनुलोपेन तयाणामेव सृष्टिमाहेत्यर्थः । तेजसोऽचेतनस्य कथमो-
क्षित्वमित्याशङ्क्य वाक्यार्थमाह । तेजोरूपेति ॥

अपां तेजःकार्यत्वे लोकातुभवमनुलक्षयति । यस्यादिति ॥ पृथि-
व्यामन्नयन्प्रयोगे हेतुमाह । पार्थिवं हीति ॥ अपां कार्यं सन्नमित्यत्रापि
लोकप्रसिद्धिं दर्शयति । यस्यादिति । यस्यादिति ॥ ता अन्नमसृजन्ते-
त्यत्राहोऽसृष्टिरुपदिष्टा । इदानींऽपि ताभ्यस्तत्सृष्टिरुपदिश्यते । तथाच
पौनरव्यमित्याशङ्क्यार्थविशेषं दर्शयति । अन्नमिति ॥ तत्रेव एव तत्तदादौ

क च वर्षति तदेव मूयिष्ठमन्नं भवत्यत्र एव
तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥ २ ॥

दृष्टान्तेऽन्नञ्च तदद्यश्चेति विशेषणाद्वीक्ष्यवाद्या उच्यन्ते
ऽन्नञ्च गुरु स्थिरञ्च धारणं कृष्णञ्च रूपतः प्रसिद्धम् । ननु
तेजःप्रभृतिष्वीक्षणं न गम्यते हिंसादिप्रतिषेधाभावात्ता-
सादिकाव्यानुलम्भाच्च तत्र कथं तत्तेज ऐक्षतेत्यादि । नैष
दोषः । ईक्षितकारणपरिणामत्वात्तेजःप्रभृतीनां सत एवे-
क्षितुर्नियतक्रमविशिष्टकार्थोत्पादकत्वाच्च तेजःप्रभृतीक्षत
इवेक्षित इत्युच्यते भूतम् ॥

ननु सतोऽप्युपचरितमेवेक्षितत्वम् । न सदीक्ष्यस्य केवल-
शब्दगम्यत्वान्न शक्यमुपचरितं कल्पयितुम् । तेजःप्रभृतीनां
त्वनुमीयते मुख्य ईक्षणाभाव इति युक्तमुपचरितं कल्पयितुम् ।
ननु सतोऽपि च्छब्दत्वात्कारणत्वादचेतनत्वं शक्यमनुमातुम् ।

यथाश्रुतमर्थं गृहीत्वा चोदयति । नन्विति । प्राक्किं हिंसाप्रतिषे-
धवदुपपन्नविधानाच्च तेजःप्रभृतिषु तदभावात्तेष्वीक्ष्यकार्यवष्टिः तदेतेषु
तदङ्गभावाच्च नैतेष्वीक्षणं प्रामाणिकम् । तथा च प्रकृतं वाक्यं प्रसक्तगीत-
मित्यर्थः ॥ तेषां गौणमोक्षितत्वमुपेत्य परिहरति । नैष दोष इति ॥

सतोऽपि गौणमोक्ष्यस्युपचारमात्रे पाठादिति शङ्कते । नन्विति ॥
उचिधेः शब्दस्य वहीयस्त्वमुपेत्य परिहरति । न सदीक्ष्यस्येति ॥ त्वत्वं
तेजःप्रभृतिष्वपि शब्दगम्यत्वमीक्षणस्येति चेन्नोत्तराह । तेजःप्रभृतीना-
न्विति ॥ विमतमोक्षितं न भवत्यचेतनत्वात्कुलपदिक्ष्यतुभानात्तेजीशब्दे
जगदीक्ष्यस्यभावाच्च त्वत्वं तदीयचारिकमुचितमित्यर्थः । शास्त्रेऽनुभा-

अतः प्रधानस्यैवाचेतनस्य सतचेतनार्थत्वान्वियतकाल-
क्रमविशिष्टकार्योत्पादकत्वाच्चैक्षत इवैक्षत इति शक्यम-
नुमातुमुपचरितमेवेक्षणम् । दृष्टञ्च लोकेऽचेतने चेतनवदु-
पचारः । यथा कूलं पिपतिषतीति तद्वत्सतोऽपि स्यात् । न
तत्सत्यम् । स आमेति तस्मिन्नात्मोपदेशात् । आत्मोपदेशोऽप्यु-
पचरित इति चेत् । यथा ममात्मा भद्रसेन इति सर्वार्थ-
कारिष्यनात्मन्यात्मोपचारं तद्वत् । न सदस्मीति सत्सत्या-
भिसन्धस्य तस्य तावदेव चिरमिति मोक्षोपदेशात् ॥

मोक्षोऽप्युपचार इति चेत् । प्रधानात्माभिसन्धस्य मोक्ष-
सामीप्यं वर्त्तत इति मोक्षोपदेशोऽप्युपचरित एव । यथा
लोके ग्रामं गन्तुं प्रस्थितः प्राप्तवानहं ग्राममिति ब्रुयाद्दू-
रापेक्षया तद्वत् । नयेन विज्ञानेनाविज्ञातं विज्ञातं भव-

नावदम्बेन शङ्कते ॥ गन्धिति ॥ अचेतनस्य कचमोक्षमिति शङ्काह । अत
इति ॥ अनुभातं कस्ययितमिति जायते । कचमचेतने चेतनवदुपचारस्तत्वाह ।
दृष्टञ्चेति ॥ आत्मवद्वदम्बेन परिहरति । नेत्यादिना ॥ आत्मोपदेशोऽपि
प्रधाने गौणो भविष्यतीति शङ्कते । आत्मोपदेशोऽपीति ॥ तामेव शङ्कां
दृष्टान्तद्वारा विदधोति । यथेति ॥ इदं परिहरन्नस्मिन्नात्मोपदेशो गौणो
न भवति तस्मिन् स मोक्षोपदेशादित्युत्तरमाह । नेत्यादिना ॥

मोक्षोपदेशोऽप्युपचरितो भविष्यतीति शङ्कते । सोऽपीति ॥ शङ्कामेव
विदधोति । प्रधानात्मेति ॥ एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशमन्वित्य
परिहरति । न वेनेति ॥ अज्ञमेव विदधोति अत्येकविज्ञिति ॥ अतोऽन्यस्य
ज्ञ तद्वत्त्वाप्राभाषिकत्वाच्च सर्वो ज्ञाने सर्वज्ञानोपदेशो युक्तियोगित्वाह ।
न चेति ॥ अस्मति हि प्रधानज्ञाने तद्विकारस्य तदभिषेकस्य ज्ञानं तस्य च
उद्वहार्थत्वाच्च ज्ञाने पुराणावपि ज्ञानस्युपचर्यते । तस्मादेकविज्ञानेन

तेषां खल्वेषां भूतानां जीव्येव बीजानि भव-
न्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

तौत्यपक्रमात् । सत्येकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति तद-
नन्वत्वाच्च सर्वस्याद्वितीयवचनाच्च । न चान्यद्विज्ञातव्यमव-
शिष्टं आवितं श्रुत्या अनुमेयं बालिङ्गतोऽस्ति येन मोक्षोपदेश
उपचरितः स्यात् । सर्वस्य च प्रपाठकस्योपचरितत्वपरि-
कल्पानायां वृथा श्रमः परिकल्पयितुः स्यात् पुरुषार्थसा-
धनविज्ञानस्य तर्कैर्वाधिगतत्वान्नस्य । तस्माद्देहप्रामा-
ण्यान् युक्तः श्रुतार्थपरित्यागः । अतश्चेतनावत्कारणं जगत
इति सिद्धम् ॥ २ ॥

तेषां जीवाविष्टानां खल्वेषां पद्यादीनां भूतानामे-
षामिति प्रत्यक्षनिर्देशान्नतु तेजःप्रभृतीनां तेषां विवृ-

सर्वविज्ञानोपदेशाच्च मोक्षोपदेशसम्बन्धविधिरित्याशङ्क्याह । सर्वं स
चेति ॥ कथमुपनिषदारम्भो दृष्टेत्युच्यते । पुनर्यथाधनज्ञानार्थत्वादित्या-
शङ्क्याह । पुरुषार्थेति ॥ तस्मानुमानवादिनः साङ्ख्यस्य मते उक्तिहेतोर्ज्ञा-
नस्य जडाजडयोदैक्यानुपपत्तिरित्यादिना तर्कैर्वाच्यं सिद्धत्वादुपनिषदा-
म्भो व्यर्थो वेत्यर्थः । श्रुतेर्न स्यार्थत्वे बाधकाभावात्तत्परित्यागाद्योजादीन्सम्ब-
न्धिरसम्बन्धादेन प्रधानवादादिद्विरिति परमतनिरसनमुपसंहरति । तस्मा-
दिति ॥ प्रधानवादाभावे परिशेषाभावं स्वमतं निगमयति । अत इति ॥२॥

महाभूतावामचेतनानां ब्रह्मकार्यतोक्ता सम्प्रति जीवाविष्टानां
भौतिकानामपि परम्परया ब्रह्मकार्यतैवेति वक्तुं तान्यनुवदति । तेषा-
मिति ॥ पूर्वाध्याये तेषां गत्यागती दर्शिते तृतीयां स्थानसक्तं नानि
वक्तव्येन परान्वक्ष्यन्ते । तेषां प्रसिद्धत्वद्योतनार्थं खल्वित्युक्तम् । भूतानां

त्करणस्य वक्ष्यमाणत्वादसति त्रिवृत्करणे प्रत्यक्षनिर्देशानु-
पपत्तिः । देवताशब्दप्रयोगाच्च तेजःप्रभृतिषु इमास्त्रिस्तो-
देवता इति । तस्मात्तेषां खल्वेषां भूतानां पशुपक्षिस्या-
वरादीनां त्रीण्येव नातिरिक्तानि बीजानि कारणानि
भवन्ति । कानि तानीत्युच्यन्ते । अण्डजमण्डाज्जातं अण्ड-
जमेवाण्डजं पक्ष्यादि । पक्षिसर्पादिभ्यो हि पक्षिसर्पा-
दयो जायमाना दृश्यन्ते । तेन पक्षी पक्षिणां बीजम् । सर्पः
सर्पाणां बीजम् । तथाऽन्यदप्यण्डाज्जातं तज्जातीयानां बीज-
मित्यर्थः ॥

नन्यण्डाज्जातमण्डजमुच्यते ऽतोऽण्डमेव बीजमिति युक्तं
कथमण्डजं बीजमुच्यते । सत्यमेवं स्यादादि त्वदिच्छातन्वा
श्रुतिः स्यात्सतन्वा श्रुतिर्यत आहाण्डजादेव बीजं नाण्डा-

त्रीण्येव बीजानि भवन्तीत्युत्तरत्वं सम्भवः । भूतशब्दस्य तेजःप्रभृतिषु
रूढत्वात्तेषामिह ग्रहणं किं न स्यादित्याशङ्काह । एषामिति ॥
भूतानां प्रत्यक्षत्वमेषामिति निर्दिश्यते । सम्भवति च पक्ष्यादीनां प्रत्यक्ष-
तेति । तान्येवात्र भूतानि विवक्षितानि न तु तेजःप्रभृतीनि । तेषां
प्रत्यक्षत्वायोगादित्यर्थः । तेजःप्रभृतीनां प्रत्यक्षत्वायोगादेषामिति निर्दे-
शानुपपत्तिं समर्थयति । तेषामिति ॥ तेषां प्रत्यक्षतया निर्देशासम्भवे हेत्व-
न्तरमाह । देवताशब्देति ॥ देवतानां परोक्षत्वप्रसिद्धेरेतेषु च देवता-
प्रयोगाच्चैतेषां प्रत्यक्षत्वोपपत्तिरित्यर्थः । तस्मान्नाहामूतानामत्र भूत-
शब्देनोपादानायोगादित्यर्थः ॥ अण्डजं पक्ष्यादीत्येतत्प्रत्यक्षेणोपपाद-
यति । पक्षिसर्पादिभ्यो हीति ॥ अन्यदपीति गोधाद्युच्यते ॥

अण्डाज्जातमिति व्युत्पत्त्यनुसारेणाण्डमेव बीजं न त्वण्डजमिति
युक्तं । नत्विति ॥ पौरुषेयी व्युत्पत्तिः श्रुत्या बाधेति परिहरति ।

सेयं देवतैश्चत हन्ताहमिमास्मि सो देवता

दीति । दृश्यते चाण्डजाद्यभावे तज्जातीयसन्तत्यभावे
नाण्डाद्यभावे । अतोऽण्डजादीन्येव बीजान्यण्डजादीनाम् ।
तथा जीवाज्जातं जीवजं जरायुजमित्येतत्पुनः प्रवादः ।
उद्भिज्जं उद्भि त्स्यावरं ततो जातमुद्भिज्जं धाना वादभित्त-
तो जायत इत्युद्भिज्जं स्यावरबीजं स्यावराणां बीजमित्यर्थः ।
स्वेदजसंशोकजयोराण्डजोद्भिज्जयोरेव यथा सम्भवमन्त-
र्भावः । एवं ह्यवधारणं त्रीण्येव बीजानीत्युपपन्नं भवति ॥

सेयं प्रकृता सदाख्या तेजोवन्मयोनिर्देवतोक्ता ईक्षते-
क्षितवती यथा पूर्वं ब्रह्म स्यामिति । तदेव ब्रह्मभवनं

सत्त्वमित्यादिना ॥ न केवलं श्रुतेरेषा व्यवस्था किन्तुपपत्तेरपि । दृश्यते
चेति ॥ सत्त्वेवाण्डजादे तज्जातीयमण्डजादि सन्तत्या जायते । तदभवे
तदभाव इत्यन्यथ्यतिरेकाभ्यामण्डजाद्येवाण्डजादिकारणम् । अण्ड-
जाद्यभावेनाण्डादि जायते तथाप्यण्डाद्यभावेऽण्डजाद्यभावेऽपि
सीति नान्यथः । तस्मादण्डजादीनामण्डजान्येव बीजानि नाण्डादीनी-
त्यर्थः । धानाद्यदो बीजविषयः ॥ ननु स्वेदजं संशोकजमिति बीजद्वय-
मवशिष्यते तत्किमिति न व्युत्पाद्यते तत्राह । स्वेदजेति ॥ स्वेदमुद्भिद्य
जायमानं दंशमशकादि तदुद्भिज्जेऽन्तर्भवति । संशोकादीणां जायमानं
यूकादि तदण्डजेऽन्तर्भवति । यद्वा स्वेदजं यूकादि तदण्डजेऽन्तर्भूतं
संशोकादीणां भिन्नुद्भिद्य जातं मशकादि तस्योद्भिज्जेऽन्तर्भावः ।
तथा च न तयोरेस्ति पृथग्व्युत्पादनापेक्षेत्यर्थः । स्वेदजादेरण्डजादा-
वन्तर्भावश्च प्रापकमाह । एवमिति ॥

जीवाविष्टानां भूतानां सत्कार्यत्वं प्रकरणप्राभाष्यादुक्तम् । इदानीं
जीवानां विशिष्टरूपत्वेन ब्रह्मकार्यत्वेऽपि न सत्त्वरूपेण तत्कार्यत्वं ब्रह्म
बोधाधिप्रविष्टम् । जीवव्यवहारास्तदमित्यङ्गीकारात् । तथा च

अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-
वाणीति ॥ २ ॥

प्रयोजनं नाद्यापि निर्वृत्तमित्यत ईक्षां पुनः कृतवती
वज्रभवनमेव प्रयोजनसुररीकृत्य । कथं हन्तेदानीमहमिमा
यथोक्तासेजसाद्यासिद्धो देवता अनेन जीवेनेति स्वबु-
द्धिस्थं पूर्ववृष्टानुभूतं प्राणधारणमात्मानमेव स्मरन्त्याहा-
नेन जीवेनात्मनेति । प्राणधारणकर्तात्मनेति वचनात् ।
स्वात्मनोऽप्यतिरिक्तेन चैतन्यस्वरूपतया अविशिष्टेनेत्ये-
तद्वर्णयति ॥

अनुप्रविश्य तेजोबन्धभूतमात्रासंसर्गेण लब्धविशेषविज्ञाना
सती नाम च रूपञ्च नामरूपे व्याकरवाणि विसृष्ट-
माकरवाणि असौ नामायमिदंरूपमिति व्याकुर्व्यामी
त्यर्थः । ननु न युक्तमिदमसंसारिण्याः सर्वज्ञाया देवताया

ब्रह्मणि विज्ञाते जीवविज्ञानं सित्यति ॥ जीवानाञ्च भोगावतनानि
भौतिकानि कार्याणि । तेषां नामरूपञ्च निष्प्राप्तं वक्तव्यमित्यभिप्रेत्यो-
त्तरयन्वमादाय व्याकरोति । शेषमित्यादिना ॥ यथा वज्रं स्वामिति
पूर्वमीक्षितवती तथा किमिति पुनरैकत प्रयोजनाभावादित्याहङ्कारः ।
तदेवेति ॥ इदानीं महाभूतवृष्टेरनन्तरमिति यावत् । ब्रह्मणो भावो-
पाधिकस्य कारणत्वात्मायोपाधिवशात्पूर्ववृष्टावनुभूतत्वं तत्त्वं स्मारस्य
बुद्धिस्थत्वं स्मरणक्षेत्रादि न विरुद्धमिति द्रष्टव्यम् ॥ आत्मनेति विशे-
षणस्य तात्पर्यमाह । प्रायेति ॥

निर्विकल्पचिन्तास्वरूपा देवता भावावशान्कहाभूतानि कृदा तेषु
यदा प्रविष्टा तदारब्धेषु सूत्रविराट्प्रभृतिषु समष्टिव्यङ्गात्मसु देवेषु
प्रविश्य तत्तद्देहाभिमानवती देवदत्तादिनाम्ना रूपेण च शौक्यादिना

बुद्धिपूर्वकमनेकशतसहस्रानर्थान् यं देहमनुप्रविश्य दुःख-
मनुभविष्यामीति सङ्कल्पनम् । अनुप्रवेशश्च स्वान्त्ये सति ।
सत्यमेवं न युक्तं स्याद्यदि स्वेनैवाविक्रतेन रूपेणानुप्रवि-
शेयं दुःखमनुभवेयमिति च सङ्कल्पितवती नत्येवम् । कथं
नर्त्तनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्येति वचनात् । जीवो हि
नामदेवताया आभासमात्रम् ॥

बुद्ध्यादिभूतमात्रासंसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्टः
पुरुषप्रतिबिम्बो जलादिष्विव च सूर्यादीनाम् । अचिन्त्यान-
न्तशक्तिमत्या देवताया बुद्ध्यादिसम्बन्धः । चैतन्यावभासो
देवतास्वरूपविवेकाग्रहणनिमित्तः । सुखी दुःखी मूढ

संयोज्य पिण्डं व्याकरोतीत्याह । अनुप्रविश्येति ॥ देवतायाः सर्वज्ञ-
त्वादसंसारित्वात्स्वातन्त्र्यञ्च संकल्पप्रवेशावयुक्ताविति शङ्कते । नन्विति ॥
किं साक्षादनुप्रवेशादि विरुध्यते किंवा जीवद्वारापीति विकल्पमाद्यमङ्ग-
करोति । सत्यमिति ॥ साक्षादनुप्रवेशादि नास्ति चेत्तर्हि कथं द-
त्याकाङ्क्षापूर्वकं द्वितीयं दूषयति । कथमिति ॥ देवताया जीवद्वारेणानु
प्रवेशाद्यविरुद्धमिति शेषः । अविरोधमेव साधयितुं जीवस्वरूप-
माह । जीवो हीति ॥ आभिसुख्येनाहमित्यापरोक्षेणाभासत इत्या-
भासः । स्वतोऽपरोक्षश्चिप्रतिबिम्बस्तन्मात्रं जीवो नामेत्यर्थः ॥

तस्य स्वरूपेणानादित्येऽपि विशिष्टरूपेण सादित्वं दर्शयति । बुद्ध्या-
दिति ॥ बुद्ध्यादिभिः भूतमात्रादिभिश्चिदात्मनः संसर्गस्तेन जनितस्तत्तत्वेति
यवत् । ननु चिदात्मा कूटस्थोऽसङ्गोऽद्वितीयश्चेत्येते स कथं बुद्ध्यादिभि-
र्भूतमात्रादिभिश्च संसृज्यते तत्राह । अचिन्त्येति सत्त्वादिप्रकारैरशक्य-
चिन्तनीयाऽनादिरनिर्व्याख्या सत्यगुप्तानमन्तरेण नाशशून्या दण्डाय-
माना या स यशस्तिस्तस्या विषयत्वेनाश्रयत्वेन च परा देवता वर्त्तिष्यते ।
तस्याश्च स्वनिष्ठमाहाशक्तिवशाद्बुद्ध्याभिरात्मनः सम्बन्धः सिध्य-

इत्याद्यनेकविकल्पप्रत्ययहेतुः । ज्ञायामात्रेण जीवरूपे
णानुप्रविष्टत्वात् देवता न दैहिकैः स्वतः सुखदुःखादिभिः
सम्बध्यते । यथा पुष्पादित्यादय आदर्शोदकादिषु ज्ञाया-
मात्रेणानुप्रविष्टा आदर्शोदकादिदोषैर्न सम्बध्यन्ते तद्वद्-
देवतापि ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्य-
दोषैरेकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यतेलोकदुःखेन
वाह्य आकाशवत् । सर्वगतश्च नित्य इति हि काठके । ध्याय-
तीव लेलायतीवेति च वाजसनेयके । ननु वाचारम्भणमा-
त्रस्येज्जीवो ह्येषैव प्राप्तः तथा परलोकेऽलोकादि च कथं
तस्य । नैष दोषः । सदात्मना सत्यत्वाभ्युपगमात् । सर्वस्य

तीत्यर्थः ॥ बुद्ध्यादिसम्बन्धफलमाह । चैतन्येति ॥ तदाभासो जीवशब्द-
वाच्यः सिध्यतीति शेषः ॥ बुद्ध्यादिभिरात्मनः सम्बन्धे मायाशक्तिरूपा-
दानमित्युक्तं तत्रैव निमित्तकारणमाह । देवतेति ॥ आवरणविशेषशक्ति
सम्बन्धा हि मायाशक्ति स्ततोऽविद्योत्यदेशकालाद्यानवच्छिन्नदेवतास्वरूपोऽहं
मिति विशेषायहणमावरणं निमित्तं कृत्वा बुद्ध्याद्यध्यासः सिध्यती-
त्यर्थः ॥ बुद्ध्याद्यध्यासस्य कार्यान्तरं दर्शयति । सुखीति ॥ परैव तर्हि देवता सं-
सारिणी स्यादिति चेत्सत्यम् । अज्ञानद्वारा बुद्ध्यादिसम्बन्धमनुभूय जीवत्वं
प्राप्य सैव संसरतीत्याह । ज्ञायामात्रेणेति ॥ परस्या देवतायाः स्वतः
संसाराभावं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथेत्यादिना ।

तस्याः स्वतो दुःखाद्यसम्बन्धे श्रुतिं प्रमाणयति । सूर्य इति ॥ उपाधि-
द्वारा तस्याः संसारित्वे च श्रुतिरस्तीत्याह । ध्यायतीति ॥ प्रतिबिम्बे
ज्ञायाशब्दप्रयोगान्निष्ठत्वात्प्रतिबिम्बमिति अन्वयः शङ्कते । गन्धिति ॥ तन्-
मृधात्प्रतिबिम्बमेवेत्याशङ्क्याह । तथेति ॥ जीवस्य मृधात्वे स्वीकृते सति
तस्यैहलोकपरलोकौ तद्वैतर्भावोपपद्येत्येति सर्वं मृधा स्यादित्यर्थः ॥

तासां त्रिटतं त्रिटतमेकैकां करवाणीति सेयं

नामरूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातं स्वतस्त्वृतमेव ॥
वाचारम्भणं विकारो नामधेयमित्युक्तत्वात् । तथा जीवो-
ऽपीति । यच्चानुरूपो हि बलिरिति न्यायप्रसिद्धिः ॥

अतः शब्दात्मना सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणाञ्च
सत्यत्वं सतोऽन्यत्वे चावृतत्वमिति न कश्चिदोपस्तार्किकै-
रिहानुवक्तुं शक्यः । यथेतरेतरविरुद्धद्वैतवादाः स्वबुद्धिवि-
कल्पनामात्रा अतत्त्वनिष्ठा इति शक्यं वक्तुम् । सैवं तिस्रो
देवता अनुप्रविश्य स्वाभावस्य वीजभूतेऽव्याकृते नामरूपे
व्याकरवाणीतीक्ष्णत्वा तासाञ्च तिसृणां देवतानामेकैकां
त्रिटतं त्रिटतं करवाणि एकैकस्याः त्रिविकरणे एकै-

विशिष्टरूपेण मिथ्यात्वेऽपि स्वरूपेण सत्यत्वाज्जीवस्य ब्रह्मास्मीतिज्ञाना-
नुक्तिः सम्भवतीति समाधत्ते । नैष दोष इति ॥ यत्तु परलोकोहृषो-
कादि कृषा स्यादिति तत्राह । सर्वज्ञेति ॥ कथं तर्हि तस्य मिथ्यात्वोक्ति-
रित्याशङ्क्याह । स्वत इति ॥ यथा प्रपञ्चो ब्रह्मात्मना सत्योऽपि स्वरू-
पेण मिथ्येत्युक्तं तथा जीवशब्दवाच्योऽपि ब्रह्मात्मना सत्यस्वरूपेण मिथ्येति
स्वीकर्तव्यमित्याह । तथेति ॥ अथ भोक्ता स्वरूपेणापि सत्योऽस्तु भोग्य-
प्रपञ्चस्यैव मिथ्यात्वमिष्यतामित्याशङ्क्याह । यच्चानुरूपो होति ॥ लौकिक-
न्यायानुसारेण भोग्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे भोक्तरपि विभक्तस्वरूपेण तत्र-
सिद्धिरतो जीवशब्दवाच्यस्य मिथ्यात्वेऽपि तद्व्यस्य सन्भूतसत्यत्वमिति
व्यवस्थेत्यर्थः ॥

यच्च तार्किकैश्च्यते प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे सौगतमृतानुमतिः । सत्यत्वे
चाद्वैतव्याहृतिरिति तदभ्युक्त्यावेन निरस्तमित्याह । अत इति ॥ अद्वैत
वादे दोषाभावं वैधर्म्यप्रदत्तानेन स्पष्टयति । यथेति ॥ व्याकरवाणीत्येतदन्
वाक्यं व्याख्याय तदनूद्य तासामित्यादि व्याचष्टे । सैवमित्यादिना ॥

त्रिवितं त्रिवितमेकैकामकरोद्यथा तु खलु सोम्ये-
मास्तिस्त्रो देवतास्त्रिष्टुष्टिदेकैका भवति तन्मे
विजानीहीति ॥ ४ ॥ ३ ॥

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं
तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्ने रमित्वं वाचा-

रूपाभ्यां व्याकृतानां तोजोवध्नमयत्वेन विधात्वं यथा तु
खलु वह्निरिमाः पिण्डेभ्यस्तिस्त्रो देवतास्त्रिष्टुष्टिदेकैका
भवति तन्मे मम निगदतो विजानीहि विस्मयमवधार-
योदाहरणतः ॥ ३ ॥ यत्तद्देवतानां त्रिष्टुष्टिदेकैका तस्यै-
वोदाहरणमुच्यते । उदाहरणं नामैकदेशप्रसिद्धाशेषप्रसि-
द्धयमुदाह्रियत इति ॥

तदेतदाह यदग्नेः त्रिष्टुष्टितस्य रोहितं रूपं प्रसिद्धं
लोके तदत्रिष्टुष्टितस्य तेजसो रूपमिति विद्धि । तथा च
यच्छुक्लं रूपमग्नेरेव तदपामत्रिष्टुष्टितानां यत्कृष्णं तस्यै-
वाग्ने रूपं तदन्नस्य पृथिव्या अत्रिष्टुष्टिताया इति विद्धि ।
तत्रैवं सति रूपत्रयव्यतिरेकेणाग्निरिति यन्नन्यसे त्वं
तस्याग्नेरग्नित्वमिदानीमपागादपगतम् । प्राग्रूपत्रयविवेक-

कर्तव्यत्वाद्देहातिरिक्तेषु प्रथमं तदुदाहर्तुं सुप्रक्रमते । तिरस्तु ताव-
दिति ॥ ३ ॥ कथमुदाहरणतोऽवधारणमित्याशङ्क्यान्नन्तरवाक्यमवतारयति ।
यत्तदिति ॥ उदाहरणशब्दं व्युत्पादयति । उदाहरणं नामेति ॥

तत्रैवं स्तुतिमवतार्य व्याचष्टे । तदेतदित्यादिना ॥ अत्रिष्टुष्टितानां
रूपमिति विद्धीति सम्बन्धः । तत्राग्नौ रूपत्रये पूर्वोक्तरीत्या पृथक्कृते
सतीति वाच्यम् । इदानीं विवेकदशायामित्यर्थः । अक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्य-

देवतेमास्तिष्ठो देवता अनेनैव जीवेनात्मना-
मुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥ तासां

कस्याः प्राधान्यं द्वयोर्हयोर्गुणभावोऽन्यथा हि रज्जा इवै-
कमेव त्रिवित्करणं स्यात् । न तु तिसृणां पृथक् त्रिवित्क-
रणमिति । एवं हि तेजोवद्भानां पृथङ्नामप्रत्ययलाभः
स्यात्तेज इदमिमा अपोऽन्वमिदमिति च । प्रथङ्नामप्रत्य-
यलाभे देवतानां सम्यग्व्यवहारस्य प्रसिद्धिः प्रयोजनं
स्यात् ।

एवमीक्षित्वा सेयं देवतेमास्तिष्ठो देवता अनेनैव यथो-
क्तेनैव जीवेन सूर्यविम्बवदन्तः प्रविश्य वैराजं पिण्डं
प्रथमं देवतादीनां च पिण्डाननुप्रविश्य यथा सङ्कल्पमेव
नामरूपे व्याकरोदसौनामायमिदंरूप इति तासाञ्च
देवतानां गुणप्रधानभावेन त्रित्तं त्रित्तमेकैकामक-
रोत्कृतवती देवता । तिष्ठतु तावद्देवतादिपिण्डानां नाम-

व्याकरवाणीत्येवमेति सम्भवः । कथं पुनरिदं त्रिवित्करणमित्याह
प्रथममेकैकां देवतां द्विधा द्विधा विभक्त्य पुनरेकैकं भागं द्विधा द्विधा कृत्वा
तदितरभागयोर्निक्षिप्य त्रिवित्करणं विवक्षितमित्याह । एकैकस्या
इति । गुणप्रधानभावानङ्गीकारे समानपरिमाणसूत्रवत्यनिर्णीतरञ्जुवति
वृत्करणमेकमेव स्यादित्याह । अन्यथेति ॥ एवकारार्थं दर्शयति । न
त्विति । गुणप्रधानभावेन त्रिवित्करणमुपसंस्कृतिमिति शब्दः ॥ इतश्च
गुणप्रधानभावेन त्रिवित्करणमेष्टव्यमित्याह । एवं ह्येति ॥ पृथङ्नाम-
प्रत्ययलाभेनापि किं स्यादित्याशङ्क्याह । पृथगिति ॥

‘सेयमित्यादि व्याचष्टे । एवमित्यादिना ॥ सङ्क्षेपेण त्रिवृत्करणं प्रति-
पाद्योदाहरणतः स्फुटीकर्तुं भारभभाषा देहे त्रिवृत्करणस्याप्ये स्फुटी

रन्मणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव
सत्यम् ॥ १ ॥ यदादित्यस्य रोहितः रूपं तेजस-
स्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्तस्यापागादा-
दित्यादित्यस्यादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो
नामधेय त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥ यच्चन्द्रमसो

विज्ञानाद्याग्निबुद्धिरासीत्तेजसाग्निबुद्धिरपगताग्निशब्दे-
त्यर्थः । यथा दृष्टमानरक्तोपधानसंयुक्तः स्फटिको
गृह्यमाणः पद्मरागोऽयमिति शब्दबुद्धौः प्रयोजको भवति
प्रागुपधानस्फटिकयोर्विवेकविज्ञानान्तद्विवेकविज्ञाने तु पद्म-
रागशब्दबुद्धौ निवर्त्तते तद्विवेकविज्ञानतुल्यत्वं । ननु
किमत्र बुद्धिशब्दकल्पनया क्रियते प्राग्रूपत्वविवेककर-
णादग्निरेवासीत्तदग्नेरग्नित्वं रोहितादिरूपविवेककरणा-
दपागादिति युक्तम् । यथा तन्त्रपकर्षण्ये पटाभावः ।
नैवं बुद्धिशब्दमात्रमेव ह्यग्निर्यत आह वाचारम्भण-
मग्निर्नाम विकारो नामधेयं नाममात्रमित्यर्थोऽतोऽग्नि-
बुद्धिरपि सत्यैव । तर्हि किं तत्र सत्यं त्रीणि रूपाणीत्येव

माह । प्रागिति ॥ रूपत्वविवेकात्प्रागवस्थायावग्निशब्दबुद्धिस्तद्विवे-
कादूर्ध्वं तद्विदित्तरित्येतमर्थं दृष्टान्ते न समर्थयते । यथेत्यादिना ॥ अग्नि-
विशेषे श्रुतं हित्वाधिककल्पनायां वास्ति निवन्धनमिति शङ्कते । नन्विति ।
रोहितादिरूपत्वयं विवेके सत्यग्नेरग्नित्वमपगतात्त्वत्वं दृष्टान्तमाह ।
यथेति ॥ शब्दबुद्धिप्रत्ययेऽपि न श्रुतत्वामोऽस्तीति परिहरति । नैद-
धितिः । तत्र प्रमाणत्वे नामान्तरवाक्यभादाय व्याचष्टे । अत इति ॥ अन्त्ये

रोहित् रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं
तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥ यद्विद्युतो
रोहित् रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं
तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं वि-
कारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

सत्यं नाणुमात्रमपि रूपतयव्यतिरेकेण सत्यमस्तीत्यवधा-
रणार्थः । तथा यदादित्यस्य यच्चन्द्रमसो यद्विद्युत इत्या-
दि समानम् । ननु यथा नु खलु सोम्येमास्तिष्ठो देवता-
स्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीत्युक्ता तेजस
एव चतुर्भिरेषुदाहरणैरग्न्यादिभिस्त्रिवृत्करणं दर्शितं
नावन्नयोरुदाहरणं दर्शितं त्रिवृत्करणे ॥

नैष दोषः । अबन्नविषयाख्येषुदाहरणान्येवमेव च
द्रष्टव्यानीति मन्यते श्रुतिः । तेजस उदाहरणमुपलक्षणा-
र्थम् । रूपवत्त्वात्स्यष्टार्थत्वोपपत्तेश्च । गन्धरसयोरनुदाहरणं

नाममात्रमतःशब्दार्थः ॥ प्रक्रमपर्यालोचनायामुदाहरणे नूनत्वमस्तीति
यङ्गते । नन्विति ॥

यद्वापीकृपादे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं
तदन्नस्य यच्च त्रीह्रियवादे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्येत्युदाहरणसम्भवाच्च नूनतेति परिहरति । नैष दोष
इति ॥ तर्हि तेजोविषयमेषुदाहरणमङ्गीयं किमित्युदाहृतमित्वा-
यङ्गग्राह । तेजस इति ॥ यदि कचिदपि नोदाहरणमुच्यते नोपलक्षण-
मेव सिद्धेदतस्तथापि रूपवत्त्वेन यथोक्तरूपविभागस्य तेषु स्फुटत्वसम्भ-

त्वदाणामसम्भवात् न हि गन्धरसौ तेजसि स्तः । स्पर्शशब्दयोरनुदाहरणं विभागेन दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥

यदि सर्वं जगत्त्रितृकृतमित्यग्न्यादिवत्तीणि रूपाणीत्येव सत्यमग्नेरग्नित्ववदपागाज्जगतो जगत्त्वम् । तथाऽब्जस्यापि अप्पशुङ्गत्वादाप इत्येव सत्यं वाचारम्भणमात्रमन्वम् । तथापामपि तेजःपशुङ्गत्वादाचारम्भणत्वे तेज इत्येव सत्यम् । तेजसोऽपि सच्छुङ्गत्वादाचारम्भणत्वं सदित्येव सत्यमित्येषोऽर्थो विवक्षितः । ननु वाच्यन्तरिक्षे त्वत्त्रितृकृते तेजः-

वाक्तेजसो दृष्टान्तप्रदर्शनमन्नादिविषयोदाहरणोपलक्ष्यार्थं तेनोपेक्षितमित्यर्थः । अथचयोरपि त्रितृककरणसुपलक्षितं चेत्तर्हि तत्र रसगन्धयोस्त्रितृककरणमुदाहृतं व्यमित्याशङ्क्याह । गन्धरसयोरिति ॥ यथा यदवज्जयोर्भास्वरं लोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुङ्गं तदपां यत्कण्यं तदन्नस्येति शक्यते रूपं विवेक्तुं न तथाऽसुको रसो गन्धो वा तेजसोऽपामग्नेश्चास्तीति ज्ञातं शक्यमित्यनुदाहरणं तयोरित्यर्थः । ननु त्रितृककरणयोस्त्रिज्जपि रूपवद्भास्वरसौ सम्भावितौ तत्कथं तयोस्त्रयाणामसम्भवोक्तिस्तत्ताह । न हीति । सम्भावितावपि तौ त्रिषु विवेक्तुमशक्यावित्यनुदाहरणीयावित्यर्थः । तर्हि सर्वेषु भूतेषु सम्भावितयोः स्पर्शशब्दयोरनुदाहरणं किं न स्यादित्याशङ्क्याह । स्पर्शशब्दयोरिति ॥ यथा लोहितादिरूपत्वयं त्वयाणां विभागेन दर्शयितुं शक्यं न तथा शब्दत्वयं स्पर्शत्वयं च त्वयाणां विभागेन दर्शयितुं शक्यं न खलु कलोष्णशीतानुष्णाशीतत्वयं दृश्यते नापि स्वरमधु-रमध्यमशब्दत्वयमेकलोपलब्धमित्यर्थः ॥

सर्वस्य त्रितृकतत्वे फलितमाह । यदीति ॥ यथाऽग्न्यादि त्रितृकृतं तथासर्वमेव जगद्यदि त्रितृकृतमित्यङ्गीकृतं तदाग्नेरग्नित्ववज्जगतो जगत्त्वमपगतं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यमिति योजना ॥ तथापि कथं अनुमात्रपरिणेशः स्यादित्याशङ्क्याह । तथेति ॥ रूपत्वव्यतिरेकेण जगतोऽभाववत्कणास्यापि रूपस्य पृथिवीशब्दितस्य शुक्लरूपमात्रज-

प्रभृतिष्वनन्तभूतत्वादविशिष्यते । एवं गन्धरसशब्दस्पर्शा-
च्चावशिष्टा इति । कथं सतो विज्ञानेन सर्वमन्वदविज्ञातं
भवत्तद्विज्ञाने वा प्रकारान्तरं वाच्यम् । नैष दोषो रूप-
वद्द्रव्ये सर्वस्य दर्शनात् ।

कथं तेजसि तादद्रूपवति शब्दस्पर्शयोरप्युपलब्धाद्य-
न्तरिक्षयोस्तत्र स्पर्शशब्दगुणवतोः सङ्गावोऽनुमीयते । तथा
वन्नयो रूपवतो रसगन्धान्तर्भाव इति । रूपवतां त्रयाणां
तेजोऽवन्नानां त्रितत्करणप्रदर्शनेन सर्वं तदन्तर्भूतं सद्भि-
कारत्वात्तीत्येव रूपाणि विज्ञातं मन्यते अतिः । न हि
मर्त्तं रूपवत् द्रव्यं प्रत्याख्याय वाय्वाकाशयोस्तद्गुणयो

कार्यत्वात्तद्विरेकेषास्त्वं पृथिवीवदप्यस्य शुक्लरूपमालायां लोहित-
रूपमालतेजोविकारत्वात्तद्व्यतिरेकेषाभावस्तस्यापि सत्कार्यत्वात्ततो
भेदेनास्त्वं सन्नमात्रमेव परिशिष्टमित्येतन्निवृत्तकरणप्रकरणे विव-
क्षितमित्यर्थः । त्रितत्करणपक्षे नैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं सिद्धति ॥
परिशिष्टविशेषसङ्गावादिति शङ्कते । नन्विति ॥ इतिपदं कथमिन्वा-
दिवा सम्बध्यते । गन्धादयश्च शब्दान्ता गुणा गुणेष्वनन्तभूताः सन्तीति न
सद्विज्ञानेन तद्विज्ञानोपपत्तिरित्याह । मध्येति ॥ तद्विज्ञानं सद्विज्ञानेन
वाय्वादिविज्ञानं तत्र प्रकारान्तरं तत्कार्यत्वादतिरिक्तमिति यावत् ॥
वाकाशादेस्त्वन्ते वान्तर्भाव सम्भवान्न परिशिष्ट विशेयमस्तीति परि-
हरति । नैष दोष इति ॥ कथं तेजोऽवन्नेषु सर्वस्वाकाशादेर्दर्शनमित्याह ।
कथमिति ॥

तत्र शब्दस्पर्शयोरकाशवाय्वोश्च भूतत्वमेव प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलब्धिं
दर्शयति । तेजसीति ॥ तेजोऽपह्णमवन्नयोरुपलब्धत्वं तत्रापि स्पर्शाद्युप-
लब्धेरविशेषाद्यस्तु गन्धादि ज्ञेयान्तरमिति तत्राह । तथेति ॥ भूतत्वमे-
व स्पर्शाद्यन्तर्भाववदिति यावत् । त्रित्वेवान्तर्भावे कथितमाह । रूपवता-
न्विति ॥ भूतत्वमेव रूपवत्वाकाशादेरन्तर्भावं व्यतिरेकद्वारा समर्थयते । न

एतद्वच्च वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वं महाभासा
महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञात-

गन्धरसयोर्वा ग्रहणमस्ति । अथवा रूपवतामपि त्रिवृत्क-
रणं प्रदर्शनार्थमेव मन्यते श्रुतिः । यथा तु त्रिवृत्कृते
तृण्येव रूपाणीत्येव सत्यं तथा पञ्चीकरणेऽपि समानो
न्याय इत्यतः सर्वस्य संहिकारत्वात्सतो विज्ञानेन सर्वमिदं
विज्ञातं स्यात्सदेकमेवाद्वितीयं सत्यमिति सिद्धिमेव भवति ॥

तदेकस्मिन् सति ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवतीति सूक्तम् ।
एतद्विद्वांसो विदितवन्तः पूर्वेऽतिक्लान्ता महाशाला महा-
श्रोत्रिया आहुर्ह स्म वै किञ्च । किमुक्तवन्त इत्याह । न
नोऽस्माकं कुलेऽद्येदानीं यथोक्तविज्ञानवतां कश्चन कश्चि-
दप्यश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यति नोदाहरिष्यति सर्वं

हीति ॥ अन्तर्भावोक्तिप्रयासं परिहर्तुं पञ्चान्नरमाह । अथवेति ॥
प्रदर्शनार्थं पञ्चीकरास्तेति शेषः ॥ कथं पञ्चीकरणे सन्भात्वपरिशेषः
सिद्धतीत्याशङ्क्याह । यथेति ॥ यदा पञ्चापि भूतानि प्रत्येकं द्वेधा
विभज्य पुनरेकैकं भागं चतुर्धा कृत्वा स्वभागातिरिक्तेषु पूर्वेषु भागेष्वेकै-
कयो निश्चिष्यन्ते तदा पञ्चीकरणं श्रुत्युपलक्षितं लभ्यते तत्रापि पञ्चानां
भागानां पृथक्करणे पञ्चैव तन्भावात्प्रत्यवशिष्यन्ते तान्यपि पृथिव्यादीन्ध-
र्वादिकार्यत्वात्तत्कारणव्यतिरेकेण न सिद्ध्यतीति त्रिवृत्करणवत्पञ्चीकर-
णेऽपि न्यायसाध्यात्सर्वस्य संहिकारत्वात्तद्व्यतिरेकेणाभावात्तेन विज्ञातेन
तदपि विज्ञातमेव स्यात्सन्भावं तु परमार्थसत्त्वं परिशिष्टं भवतीत्यर्थः ॥

उक्तन्यायेनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुतिरविच्छेत्सुपसङ्हरति ।
तदेकस्मिन्निति । त्रिवृत्करणस्येऽप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुतिरविच्छे-
द्वत्सुपपाद्य त्रिवृत्करणमुदाहरणान्तरेण दर्शयितुं शारभते । एतदिति ॥

सदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥ यदु-
रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्वि-
दाञ्चक्रुः यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति
तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति

विज्ञातमेवास्मात्कुलीनानां सद्विज्ञानत्वादित्यभिप्रायः । ते
पुनः कथं सर्वं विज्ञातवन्त इत्याह । एभ्यस्त्रिभ्यो रोहि-
तादिरूपेभ्यस्त्रिदृक्तेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमप्यन्यच्छिष्ट-
मेवमेवेति विदाञ्चक्रुर्विज्ञातवन्तो यस्मात्तस्मात्सर्वज्ञा
एव सद्विज्ञानान्त आह्वरित्यर्थः । अथ वैभ्यो विदाञ्चक्रु-
रित्यग्न्यादिभ्यो दृष्टान्तेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमन्यद्विदा-
ञ्चक्रुरित्येतत्कथं यदन्यद्रूपेण सन्दिह्यमाने कपोतादिरूपे
रोहितमेव यद्वृह्यमाणमभूत्तेषां पूर्वेषां ब्रह्मविदां तत्ते-
जसो रूपमिति विदाञ्चक्रुः ॥

तथा यच्छुक्लमिवाभूद्वृह्यमाणं तदपां यत्कृष्णमिव
गृह्यमाणं तदन्नस्येति विदाञ्चक्रुरेवमेवात्यन्तदुर्लभ्यं यत्
उ अप्यविज्ञातमिव विशेषतो गृह्यमाणमभूत्तदप्येतत्ता-

त्रित्करणमिति यावत् । ते पुनरिति त्रित्करणविज्ञानवन्तो निर्दि-
श्यन्ते ॥ वेदनप्रकारमेवाकाङ्क्षापूर्वकं प्रकटयति । कथमित्यादिना ॥
अन्यदग्न्यादिभ्यः सकाशादिति शेषः यदनेकरूपत्वात्कपोतादिरूपेण
सन्दिह्यमानमेतदुदृश्यते तस्मिन्कपोतादिस्वरूपे यत्किञ्चिद्रोहितमिव
रूपं गृह्यमाणं पूर्वेषामासीत्तज्जसो रूपमिति ते, विदितवन्त इति
योजना ॥

अत्यन्तदुर्लभ्यं नामरूपाभ्यां दुर्ज्ञानं द्वीपान्तरादागतं पक्ष्यादीत्यर्थः ।
अगृह्यमाणमिति शब्दः । यथानु खलु इत्यादिवाक्यं वृत्तानुवादपूर्वक-

तद्विदाञ्चक्रुः ॥ ६ ॥ यद्विद्विज्ञातमेवाभूदित्येता-
 षामेव देवतानां समास इति तद्विदाञ्चक्रुर्न
 नु खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य
 त्रिष्टुप्त्रिष्टुदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति
 ॥ ७ ॥ ४ ॥ अन्नमशितं त्रेधा विधीयते
 तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुत्रीषं भवति यो
 मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

मेव तिसृणां देवतानां समासः समुदाय इति विदा-
 ञ्चक्रुः । एवं तावदाह्यं वस्त्वग्नादिवद्विज्ञातं तथेदानीं
 यथा नु खलु सोम्येमा यथोक्तास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं शिरः-
 पापाण्यादिलक्षणं कार्यकारणसङ्घातं प्राप्य पुरुषेणोपयु-
 ज्यमानास्त्रिष्टुप्त्रिष्टुदेकैका भवति तन्मे विजानीहि निग-
 दत इत्युक्त्वा आह ॥ ४ ॥ अन्नमशितं भुक्तं त्रेधा
 विधीयते जाठरेणाग्निना पच्यमानं त्रिधा विभजते ।
 कथं तस्यान्नस्य त्रेधा विधीयमानस्य यः स्थविष्ठः
 स्थूलतमो धातुः स्थूलतमं वस्तु विभक्तस्य स्थूलोऽग्रस्तत्पु-
 रीषं भवति । यो मध्यमोऽग्नौ धातुरन्नस्य तद्रसादिक्रमेण

भवतारयति । एवं तावदिति यथा खलु कैका देवता पुरुषं प्राप्य त्रिष्टुप्त्रि-
 ष्टुभवति तथेदानीं तदाध्यात्मिकं त्रिष्टुत्करणमेवेति जानीहीति सम्बन्धः ।
 अध्यात्मं त्रिष्टुत्करणमिति शेषः ॥ ४ ॥ कथं त्रेधा विभज्यमानत्वं कथं
 वा तस्य विनियोग इति प्रश्नपूर्वकं विष्टुणीति । कथमित्यादिना । रसा-
 दीत्यादिशब्देन रुधिरादि गृह्यते । तस्य कर्म्मफलस्य नाडीचरो

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्यविष्ठो
धातुस्तन्मूलं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं यो-

परिणम्य मांसं भवति योऽणिष्ठोऽणुतमो धातुः स ऊर्द्धं
हृदयं प्राप्य सूक्ष्मासु हिताख्यासू नाडीष्वनुप्रविश्य वागा-
दिकरणसङ्घातस्य स्थितिमुत्पादयन्मनोभवति । -५५०
रूपेण विपरिणमन्मनस उपचयं करोति । ततश्चान्नोप-
चितत्वान्मानसो भौतिकत्वमेव न वैशेषिकतन्त्रोक्तं लक्षणं
नित्यं निरवयवश्चेति गृह्यते । यदपि मनोऽस्य दैवश्चक्षुरिति
वक्ष्यति तदपि न नित्यत्वापेक्षया किं तर्हि सूक्ष्मव्यवहित-
विप्रकृष्टादिसर्वेन्द्रियविषयव्यापकत्वापेक्षया । यच्चान्येन्द्रिय-
विषयापेक्षया नित्यत्वं तदप्यापेक्षिकमेवेति वक्ष्यामः ।
सदेकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः । तथापः पीतास्त्रेधा-
विधीयन्ते तासां यः स्यविष्ठो धातुस्तन्मूलं भवति । यो
मध्यमस्तल्लोहितं भवति । योऽणिष्ठः स प्राणो भवति ।

भोक्तेति हिताख्या नाद्यास्ताम्रिति यावत् ॥ कथमग्नीपयोगात्प्राणो
मनसः सिद्धत्वात्तन्मनो भवतीत्युच्यते तत्राह । मनोरूपेणेति ॥ मनसोऽ-
न्नोपचितत्ववचनाद्वैशेषिकपरिभाषापि दूषिता वेदितव्येत्याह । तत-
श्चेति ॥ मनसो दैवत्वविशेषणासित्यत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याह । यदपीति ॥
कोनाभिप्रायेण तर्हि विशेषणमित्याशङ्क्याह । किं तर्हीति ॥ तर्हि
चक्षुरादिभ्यो वैलक्षण्यादस्ति तदपेक्षया नित्यत्वमित्याशङ्क्याह । यच्चेति ॥
यद्वा चक्षुरादिष्वसत्सपि मनसः सत्त्वापशब्दात्तदपेक्षया तस्य नित्यत्वमेव
व्यमित्याशङ्क्याह । यच्चेति ॥

आत्मवन्मनसो न किं स्यादित्याशङ्क्याह । सदिति ॥ भुक्तस्यान्नस्य
त्रैविध्यमुक्त्वा पीतानाशपानमपि त्रैविध्यमाह । तथेति ॥ कथं तेजसोऽन्नप्रा

ऽणिष्ठः स प्राणः ॥२॥ तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते
तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो
मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

वक्ष्यति ह्यापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्वत इति ।
तथा तेजोऽशितं तैलघृतादि भक्षितं त्रेधा विधीयते तस्य
यः स्थविष्ठो धातुस्तत् अस्थि भवति । यो मध्यमः स मज्जा
ऽस्थान्तर्गतश्चेहः । योऽणिष्ठः सा वाक् । तैलघृतादिभक्ष-
णाद्धि वाग्विषदाभाषणे समर्था भवतीति प्रसिद्धं लोके ।
यत एवमन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी
वाक् । ननु केवलान्नभक्षिण आसुप्रभृतयो वाग्मिनः प्राण-
वन्तश्च । तथाऽब्रमात्रभक्ष्याः सामुद्रा मीनमकरप्रभृतयो
मनस्विनो वाग्मिनस्तथा स्नेहपानानामपि प्राणवत्त्वं मन-
स्वित्वं चानुमेयं यदि सन्ति तत्र कथमन्नमयं हि सोम्य
मन इत्याद्युच्यते ॥

नैष दोषः । सर्वस्य त्रिवृत्करणत्वात्सर्वत्र सर्वोपपत्तेः ।
न ह्यत्रिवृत्कृतमन्नमन्नाति कश्चिदापो वा अत्रिवृत्कृताः

देहयनमित्याद्यङ्गं विशिनष्टि । तैवेति ॥ मज्जाशब्दार्थमाह । अस्थीति ॥
योऽणिष्ठः सा वागित्युक्तं व्याकरोति । तैलघृतादीति ॥ भुक्तस्यान्नस्य
पीतानामप्यपामयितस्य तैलादेश्योऽणिष्ठा धातवस्ते मनोवाक्प्राणा इत्येवं
यतः सिद्धमतस्तेषामन्नादिमयत्वं युक्तमित्याह । यत इति ॥ तेषामन्नादि-
मयत्वं व्यतिरेकसिद्धिमाश्रित्याक्षिपति । नन्विति ॥

आसुप्रभृत्पानां स्फुटोदपानाद्यनुपपन्नान्येऽपि यत्तेषां भक्ष्यं तल्लोद-
काद्यन्तर्भावसम्भवात्प्राणादेरवमयत्वाद्युपपन्नमित्युत्तरमाह । नैष दोष

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजो-
मयी वागिति भूय एव मा भगवान् विज्ञा-
पयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥ ५ ॥

पीयन्ते तेजो वा अत्रितृप्ततमश्नाति कश्चिदित्यन्नादा-
नामाखुप्रभृतीनां वाग्मित्वं प्राणधत्तश्चेत्याद्यविरुद्धम् । इत्येवं
प्रत्यायितः श्वेतकेतुराह भूय एव पुनरेव मा मा भग-
वान्नन्वमयं हि सोम्य मन इत्यादि विज्ञापयतु दृष्टान्ते-
नावगमयतु नाद्यापि ममास्मिन्नर्थे सम्यङ्निश्चयो जातः ।
यस्मात्तेजोऽन्नमयत्वेनाविशिष्टे देह एकस्मिन्नुपयुज्यमाना-
न्यवन्नस्त्रेहभक्ष्याणि जातान्यणिष्टधातुरूपेण मनः प्राण-
वाचमुपचिन्वन्ति स्वजात्यनतिक्रमेणेति दुर्विद्ध्येयमित्यभि-
प्रायोऽतो भूय एवेत्याद्याह । तमेवमुक्तवन्तं तथास्तु

इति ॥ सर्वस्यान्नादेस्त्रितृत्करणस्योक्तत्वात्तस्य सर्वस्यैव भक्ष्यस्य भूत-
त्वयात्मत्वसम्भवादेकैकं भक्षयतोऽपि सर्वभक्षकत्वोपपत्तेर्भनन्नादेरन्नादि-
मयत्वमविरुद्धमित्यर्थः । उक्तमेव व्यक्तोक्तोक्ति । न होत्यादिना ॥
उक्तोक्त्या भनन्नादेरन्नादिमयत्वप्रत्याख्यानद्वारा प्रनाद्या सनुमात्रपरिशेषे
प्रत्यायिते सति श्वेतकेतुश्चोदयतीत्याह । इत्येवमिति ॥ सर्वेषां सन्निधाना-
विशेषेऽस्य सूक्ष्मांशो मन एवोपचिनोति । न प्राणमिति ॥ निश्चया-
सिद्धिरित्याह । नाद्यापीति ॥ पार्थिवमेवोपचिनोतीति विशेषमा-
शङ्काह । यस्मादिति ॥ एकस्मिन्नुदरे प्रविष्टानामन्नादीनां भिन्नीभूत-
त्वानुमनसश्च सर्वभूतगुणव्यञ्जकत्वेन सर्वभूतारब्धत्वात्पार्थिवत्वासिद्धिर्नोक्तो
विशेषः सम्भवतीत्यर्थः । यस्यादेवमभिप्रायः श्वेतकेतोरत इति योजना ॥
भनन्नादेरन्नादिमयत्वसुपपादयितुमुत्तरपन्थमवतारयति । तमेवमिति ॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः
समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥ एवमेव खलु
सोम्यान्त्रस्याश्वमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समु-
दीषति तन्मनो भवति ॥ २ ॥ अपां सोम्य
पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स

सोम्येति होवाच पिता शृणु एव यत् दृष्टान्तं यथैतदु-
पपद्यते यत्पृच्छसि ॥ ५ ॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमागुभागः स ऊर्ध्वः
समुदीषति सम्भूयोर्ध्वं नवनीतभावेन गच्छति तत्सर्पिर्भ-
वति । यथाऽयं दृष्टान्त एवमेव खलु सोम्यान्त्रस्यौदनादे-
रस्य भुज्यमानस्यौदर्थ्येणाग्निना वायुसहितेन खजेनैव
मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ।
मनोऽवयवैः सह सम्भूय मन उपचिनोति इत्येतत् । तथापां
सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स
प्राणो भवत्येवमेव खलु सोम्य तोजसोऽप्समानस्य योऽ-
णिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवत्यन्त्रमयं हि
सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति युक्तमित्य-

यत्वं मन कादेरक्षादिमयत्वं कथमिति पृच्छसि तदिदं दधोपपाद्य तथा
ते तत्वाक्षादिमयत्वे तस्य दृष्टान्तमुच्यमानं शृण्वति योजना ॥ ५ ॥

मिन्त्रीभावेऽपि सूक्ष्मभागस्य पृथगेव कार्यकारणत्वे दृष्टान्तमाह ।
दध्न इति ॥ दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह । यथेति ॥ खजो मन्त्रास्तेन
मथ्यमानस्य दध्नो यथाणिमा तथा यद्योक्तस्याक्षस्य योऽणिमेति योजनम् ॥

प्राणो भवति ॥ ३ ॥ तेजसः सोम्याश्चमा-
नस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्म-
वति ॥ ४ ॥ अन्नमय् हि सोम्य मन आपो-
मयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा
भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच
॥ ५ ॥ ६ ॥

षोडशकलः सोम्यं पुरुषः पञ्चदशाङ्गानि
माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो

भिप्रायोऽतोऽप्तेजसोरस्तु एतत्सर्वमेवम् । मनस्वन्नमय-
मित्यत्र नैकान्तेन मम निश्चयो जातो भूय एव मा भग-
वान्मनसोऽन्नमयत्वं दृष्टान्तेन विज्ञापयत्विति । तथा
सोम्येति होवाच पिता ॥ ६ ॥

अन्नस्य भुक्तस्य योऽणिष्ठो धातुः स मनसि शक्तिम-
धात्माऽन्वोपचिता मनसः शक्तिः षोडशधा प्रविभज्य पुरु-
षस्य कलात्वेन निर्दिदीक्षिता । तथा मनस्यन्वोपचितया

कणं तनुमनो भवतीत्युच्यते प्रागपि मनसः सिद्धत्वादित्याशङ्क्याह । मनोऽ-
वयवैरिति ॥ मनश्चादेरक्षादिमयत्वमुपसंहरति । अन्नमयं ह्येति ॥ अतो
भवदभिप्रायादिति यावत् ॥ एतत्सर्वमिति प्राणस्यान्नमयत्वं वाचस्तेजो
मयत्वञ्चोच्यते हृदयप्रदेशे प्राणादिसन्निधानाविशेषे कथं मनस एवाक्षर-
सेनोपचय इत्येतच्चाद्यापि समाहितमित्याह । मनस्त्विति ॥ मनसो
विशेषतोऽन्नमयत्वमुपपादयितुमुत्तरपञ्चमुत्पापयति । तथेति ॥ ६ ॥

अन्नमय्यतिरेकाभ्यां मनसोऽक्षरस्योपचितत्वं दर्शयितुमक्षरसंजनितो

विच्छेत्स्यत इति ॥१॥ सह पञ्चदशाहानि नाशाय
हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्युचः सोम्य यजु-

शक्त्या षोडशधा प्रविभक्त्या संयुक्तसद्धान् कार्यकार-
णसङ्घातलक्षणो जीवविशिष्टः षोडशकल उच्यते । यस्यां
सत्यां द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञाता सर्वक्रि-
यासमर्थः पुरुषो भवति हीयमानायां च तस्यां सामर्थ्य-
हानिः । वक्ष्यति चान्वस्यापि द्रष्टेत्यादि । सर्वस्य कार्य-
कारणसङ्घातस्य सामर्थ्यं मनःकृतमेव । मानसेन हि
बलेन सम्पन्ना बलिनो दृश्यन्ते लोके । ध्यानाद्वाराच्च
केचिदन्वस्य सर्वात्मकत्वात् । अतोऽन्वहतं मानसं वीर्यम् ।
षोडशकला यस्य पुरुषस्य सोऽयं षोडशकलः पुरुष एत-
न्नेत्यक्षीकर्तुमिच्छसि पञ्चदशमङ्गाकान्यहानि माशीर-
शनं माकार्षीः काममिच्छातोऽपः पिब यस्मान्न पिबतोऽ-
पस्ते प्राणो विच्छेदमापद्यते तस्मादाप्रोमयोऽविकारः
प्राण इत्यवोचाम । न हि कार्यं स्वकारणोपष्टम्भमन्तरेणा-
विभ्रंशमानं स्यादुमुत्सृजते स ह एवं श्रुत्वा मनसोऽन्वमयत्वं
प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छन्पञ्चदशाहानि नाशयनं न कृतवान् ।

शक्तिं कलात्वेन कल्पयति । अन्वस्येत्यादिना ॥ षोडशदिनावच्छेदेन
षोडशधा कल्पनं द्रष्टव्यं तथापि पुरुषस्य कथं षोडशकलवत्त्वमत आह ।
तथेति ॥ तामेव प्रकृतामक्षरसङ्गतां शक्तिं विशिनष्टि । यस्यामिति ॥ तया
संयुक्तपुरुषः षोडशकल इति पूर्वोक्तं सम्बन्धः । अक्षरसङ्गतिनां मानसश-
क्तिप्रयुक्तं सङ्घातस्य सामर्थ्यमित्यत्र वाक्यशेषं प्रमाणायति । वक्ष्यति चेति ॥

पि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति
भो इति ॥ २ ॥

तए होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यै-
कोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततो
ऽपि न बल्ल दहेदेव सोम्य ते षोडशानां कला-
नामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानु-

अथ षोडशेऽङ्गनि चैनं पितरनुपससादोपगतवानुपगम्य
होवाच किं ब्रवीमि भो इति इतर आह ऋचः सोम्य यजूं पि
सामान्यधीष्वेत्येवमुक्तः पिताह । न वै मा मामृगादीनि
प्रतिभान्ति मम मनसि न दृश्यन्त इत्यर्थो हे भो भग-
वन्मित्येवमुक्तवन्तं पिताह ऋष्यु ॥ तत्र कारणं येन ते
तान्यृगादीनि न प्रतिभान्तीति तं होवाच यथा लोके
हे सोम्य महतो महत्परिमाणस्याभ्याहितस्योपचितस्यै-
व्यनैरग्नेरेकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः खद्योतपरिमाण-
ज्ज्ञान्तस्य परिशिष्टोऽवशिष्टः स्याद्वेत्तेनाङ्गरेण ततोऽपि
तत्परिमाणादीषदपि न बल्ल दहेदेवमेव खलु सोम्य ते
तवान्नोपचितानां षोडशानामेका कलावयवोऽतिशिष्टाऽ-

आपोऽन्नामोऽन्नास्तीत्यपि नावदत्तं प्राप्यातो अवति तावदेवाह दूटे-
त्वादित्यवहारः बल्लवतीत्यर्थः ॥ उक्तेऽर्थे होवाचुधमस्तु कथयति । कथं
स्येति । मदेव कथयति । मानयेति ॥ किञ्च केचिज्ज्ञानसेनैव बलेन ध्याना-
द्वारा इत्यस्मै तत्र ध्यानमत्रपरम्परापरिनिष्पन्नमज्ञानं देहादिदृष्टेः
परिचयत्मादिताह । ध्यानेति ॥ एवं पातविका कृत्वा षोडशकलय-

भवस्यशान ॥ ३ ॥ अथ मे विज्ञास्यसीति स हा-
शाय हैनमुपससाद् त ए ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्व ए
ह प्रतिपेदे त ए होवाच ॥४॥ यथा सोम्य महतो-
ऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं
तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत् । तेन ततोऽपि

वशिष्टा स्नातया त्वं खद्योतमात्राङ्गारतुल्यतवेतर्हीदानीं
वेदान्मानुभवसि न प्रतिपद्यसे श्रुत्वा च मे मम वाचम-
याशेषं विज्ञास्यस्यशान भूय तावत्स ह तथैवात्र भुङ्क्त्वान-
थानन्तरं हैनं पितरं श्रुत्वा उपससाद् तं होषानतं पुत्रं
यत्किञ्चर्गादिषु पप्रच्छ ग्रन्थरूपमर्थजातं वा पितासं श्वेत-
केतुः सर्वं हैतत्प्रतिपेदे अनाद्यर्थतो ग्रन्थतश्च तं होवाच
पुनः पिता यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्येत्वादिसमानमे-
कमङ्गारं शान्तस्वाग्नेः खद्योतमात्रं परिशिष्टं तत् तृणैश्चू-
र्णैरुपसमाधाय प्रज्वालयेद्दृष्टयेत् । तेनेद्वेनाङ्गारेण
ततोऽपि पूर्वपरिमाणाद्वृद्धं दहेद्देवं सोम्य ते षोडशा-
नामन्त्रकलानां सामर्थ्यरूपाणामेका कलातिशिष्टाऽभू-

न्दार्थमाह । अत इति ॥ यतोऽङ्गकतं मानसं वीर्यं अतस्तदेव षोडशधा
विभज्य कला वस्येति योजना । एतच्छब्देनाङ्गकतं मानसं वीर्यं वराह-
मिश्रे विच्छेद्यते विच्छेदनापत्यते यथा अन्तकादपः पिबेति पूर्वेषु
सम्बन्धः ॥ अपां पानपरित्यागे प्राणविच्छेदे कारणमाह । वक्ष्यादिति ॥
प्राणस्वाप्यत्येऽपि किञ्चित्पानं परित्यागे तस्योच्छेदस्तथाह । नहीति ॥
अनाद्यप्रतिभानं तत्वेत्युच्यते ईशदपि न दहेत्कतो वृद्ध दहेदिति ।

वज्र दहेत् ॥ ५ ॥ एव ए सोम्य ते षोडशानां
 कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमा-
 हिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्य नू-
 मय ए हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजो-
 मयी वागिति तद्वास्य विजज्ञाविति विजज्ञा-
 विति ॥ ६ ॥ ७ ॥

दतिशिष्टासीत्पञ्चदशाहान्यभुक्तवत् एकैकेनान्धैका कला
 चन्द्रमस इवामरपक्षे क्षीणातिशिष्टा कला तवान्नेन
 भुक्तेनोपसमाहिता वर्द्धितोपचिता प्राज्वालीत् । दैर्घ्यं
 छान्दसम् । प्रज्वलिता वर्द्धितेत्यर्थः । प्राज्वलीदिति
 पाठान्तरम् । तदा तेनोपसमाहिता सुप्रज्वलितवतीत्यर्थः ॥
 तथा वर्द्धितयैतर्हिदानीं वेदाननुभवसुरूपलभसे । एवं
 व्यष्टिस्तुष्टिभ्यामन्वयमयत्वं मनसः सिद्धमित्युपरुह-
 रत्यन्वयमयं हि सौम्य मन इत्यादि । यथैतन्मनसोऽन्वयमयत्वं
 तव सिद्धं तथापोमयः प्राणस्तेजोमयी वागित्येतदपि
 सिद्धमेवेत्यभिप्रायस्तदेतद्वास्य पितुरुक्तं मनसादीना-
 मन्वादिमयत्वं विजज्ञौ विज्ञातवान् श्वेतकेतुः । द्विर-
 भ्यासस्त्रिष्टुत्करणप्रकरणपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ७ ॥

योजना । व्यावृत्तिर्व्यतिरेकोऽज्ञोपयोगाभावे मनसः सामर्थ्याभावः ।
 अतुष्टित्तरन्वयोऽज्ञोपयोगे मनसः सामर्थ्यमिति भेदः । मनसोऽन्वयमयत्वं सुप-
 पादयितुमुपक्रान्तमापोमयः प्राण इत्यादि कथमिहोच्यते तत्राह । यथेत-
 दिति ॥ विद्यासमाप्तिमन्तरेण कथं द्विर्वचनमित्याशङ्क्याह । द्विरभ्यास
 इति ॥ ७ ॥

उद्दालको हारणिः श्वेतकेतुं पुनमुवाच स्वप्नान्तं

यस्मिन्मनसि जीवेनात्मनानुप्रविष्टा परा देवतादर्श इव
पुरुषः प्रतिबिम्बेन जलादिष्विव सूर्यादयः प्रतिबिम्बैः ।
तन्मतोऽन्वयमयं तेजोऽव्ययमयाभ्यां वाक्प्राणाभ्यां सङ्गतमधि-
गतम् । यन्मयो यत्स्थश्च जीवो मननदर्शनश्रवणादिव्यवहा-
राय कल्पते तदुपरमे च स्वं देवतारूपमेव प्रतिपद्यते । तदुक्तं
श्रुत्यन्तरे । ध्यायतीव लेलायतीव सधीः सप्रो भूत्वेमं लोक-
मतिक्रामति स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय
इत्यादिस्वप्नेन शरीरमित्यादि प्राणान्वेव प्राणो नाम
भवतीत्यादि । तस्यास्य मनस्थस्य मनश्चाख्यां गतस्य मन-
उपशमद्वारेणेन्द्रियविषयेभ्यो निवृत्तस्य यस्यां देवतायां
स्वात्मभूतायां यदवस्थानं तत्पुत्रायाचिख्यासु उद्दालको
ह किलाहणिः श्वेतकेतुं पुनमुवाचोक्तवान् । स्वप्नान्तं स्वप्न-
मध्यं स्वप्न इति दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्याख्यातस्य मध्यं स्वप्नान्तं
सुषुप्तमित्येतत् । अथवा स्वप्नान्तं स्वप्नसतत्त्वमित्यर्थः ॥

त्रिदशकणनिर्णयविषयमवान्तरप्रकरणं परिसमाप्त्य महाप्रकरणं
सद्विषयमेवानुवर्तयन्मनसो लये सुषुप्तौ जीवस्य सत्त्वव्यक्तिं ब्रह्म मनउपा-
धिकत्वसुक्तमनुवदति । यस्मिन्निति ॥ उपाधेः स्वरूपसुक्तं सञ्चारयति
तन्मन इति उपाध्युपहिते कार्यकरणं दर्शयति । यन्मय इति । मनसो
भावे जायस्वप्नव्यवहारसिद्धिरित्युक्ता तदभावे सुषुप्तिमवतारयति । तदु-
परमे चेति ॥ आत्मनि मनोवशादेव दर्शनादिव्यवहारो नञ्सारस्वेनेत्यत्र
दृष्टद्वारण्यकश्रुतिं प्रमाणयति । तदुक्तमिति ॥ द्वितीये वाक्ये सधीरित्ये

मे सोम्य विजानीहीति यच्चैतत्पुरुषः स्वपिति

तत्रापि अर्थात्सुषुप्तमेव भवति । स्वमपीतो भवतीति वचनात् । न ह्यन्यत्र सुषुप्तात्स्वमपीति जीवस्येच्छन्ति ब्रह्म-विदः । तत्र ह्यादर्शपनयने पुरुषप्रतिबिम्ब आदर्शगतो यथा स्वमेव पुरुषमपीतो भवत्येवं मनश्चाद्युपरमे चैत-न्यप्रतिबिम्बरूपेण जीप्तेनाग्नना मनसि प्रविष्टा नामरूप-व्याकरणाय परा देवता सा स्वमेवात्मानं प्रतिपद्यते जीव-रूपतां मन आख्यां हित्वा । अतः सुषुप्त एव स्वप्नान्तशब्द-वाच्य इत्यवगम्यते । यत्र तु सुप्तः स्वप्नान् पश्यति तत्स्वप्नं दर्शनं सुखदुःखसंयुक्तमिति पुण्यापुण्यकार्थम् । पुण्यापुण्ययोर्हि सुखदुःखारम्भकत्वं प्रसिद्धम् । पुण्यापुण्ययोर्वाद्या-कामोपष्टम्भेनैव सुखदुःखतद्दर्शनकार्थारम्भकत्वमुपपद्यते

तदुपपद्यत । द्वितीयेषु विज्ञानमयो मनोमव इति च पदद्वयमुपपद्यते ॥ एवं भूमिकां कृत्वा समनन्तरवाक्यभादक्षे । तस्येति ॥ तत्पुत्रायेत्यत्र तस्यां देवतायां तदवस्थानमिति तच्छब्दार्थः ॥ तत्रेति द्वितीयपक्षोक्तिः । अर्थादिति स्वप्नस्य हि कार्यस्य घतत्वं कारणं तत्र सुषुप्तमेव सुषुप्ताख्यं ततोऽज्ञानं बीजं स्वप्नप्रबोधयोरित्युभयापगमनात् । द्वितीयव्याख्याने सुषुप्तमेवार्थवशात्फलबीजत्वार्थः । इतश्च स्वप्नान्तशब्देन साक्षादर्थाद्वा सुषुप्तमेवोक्तमित्याह । स्वमिति ॥ नन्ववस्थान्तरेऽपि स्वमपीतो भवतीति-वचनमविरुद्धमिति चेन्नैत्याह । नहीति ॥ तत्रापि कथं स्वापः स्वादि-त्याशङ्क्याह । तत्रेति ॥ स्वपितिनामनिर्वचनसामर्थ्यं सिद्धमर्थं निगमयति । अत इति ॥ ननु स्वप्नान्तशब्दो बुद्धान्तशब्दवदद्या स्वप्नमेवाग्राहये । तदापि स्वमपीतो भवतीत्यविरुद्धं सर्वदा जीवस्य सद्रूपब्रह्मप्राप्तेस्तुत्यादात

नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो

नान्यथेत्यविद्याकामकर्माभिः संसारहेतुभिः संयुक्त एव स्वप्न इति न स्वमपीतो भवति ॥ अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तोर्णो हि तदा सर्वाण्येकान् हृदयस्य भवति तद्वाऽस्यैतदतिच्छन्दा एष परम आनन्द इत्यादिश्रुतिभ्यः सुषुप्ते एव स्वं देवतारूपं जीवत्वविनिर्मुक्तं दर्शयिष्यामीत्याह । स्वप्नान्तं मे मम निगदतो हे सोम्य विजानीहि विस्पष्टमवधारयेत्यर्थः । कदा स्वप्नान्तो भवतीत्युच्यते । यत्र यस्मिन्काले एतन्नाम भवति पुरुषस्य स्वप्नात् प्रसिद्धं हि लोके स्वपितीति गौणश्चेदं नामेत्याह । यदा स्वपितीत्युच्यते पुरुषसादा तस्मिन्काले सता सच्छब्दवाच्यया प्रकृतया देवतया सम्पन्नो भवति सङ्गत एकीभूतो भवति मनसि प्रविष्टं मन आदि-संसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्परमार्थसत्य-

आह । यत्र त्विति ॥ स्वप्नदर्शनस्य पुण्यापुण्यकार्यत्वं प्रकटयति । पुण्यापुण्ययोर्हीति ॥ न केवलं पुण्यापुण्याभ्यामेव स्वप्ने संयुज्यते किन्त्वविद्यादिभिर्ज्ञेति न तत्र स्वाभ्यः सम्भवतीत्याह । पुण्यापुण्ययोश्चेति ॥ तर्हि स्वप्नवन्न सुषुप्तेऽपि स्वाभ्यः स्वात्तत्वापि कामकर्मादिसम्बन्धसम्भवादि-त्याशङ्क्याह । अनन्वागतमिति ॥ इति जीवरूपे कथं देवताभावः सम्भवतीत्याशङ्क्याह । मनसीति ॥ तस्मादित्यस्यातः शब्दो व्याख्यातस्तेन पराकृष्टं हेतुमेव स्पष्टयति । स्वमात्मानमिति ॥ स्वपितिनामनिर्वचनफलं दर्शयति । युणेति ॥ सुषुप्ते स्वरूपावस्थानस्य सुखसासम्भवा-

भवति तस्मादेनं स्वपितृत्वाच्चक्षते स्वच्छ-
पीतो भवति ॥ १ ॥

मपीतोऽपि गतो भवति अतस्तस्मात्स्वपितृत्वं नमाचक्षते
लौकिकाः । स्वमात्मानं हि यस्मादपीतो भवति । गुण्या-
नामप्रसिद्धतोऽपि स्वात्मप्राप्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायः । कथं
पुनर्लौकिकानां प्रसिद्धा स्वात्मसम्पत्तिः ॥ जाग्रदम-
निमित्तोद्भवत्वात्स्वापस्येत्याहुः । जागरिते हि पुण्या-
पुण्यनिमित्तमुखदुःखाद्यनेकायासानुभवाश्चान्तो भवति
ततश्चायस्यानां करणानामनेकव्यापारनिमित्तस्थानानां
स्वव्यापारेभ्य उपरमो भवति । श्रुतेषु आश्रयेन वाक्
आश्रयति चक्षुरित्येवमादि । तथा च गृहीता वाक् गृही-
तश्चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मन इत्येवमादीनि करणानि
प्राणयस्यानि प्राण एकोऽश्रान्तो देहे कुलाये यो जागर्त्ति
तदा जीवः अमापनुत्तये स्वं देवतारूपमात्मानं प्रतीप-
द्यते । नान्यत्र स्वरूपावस्थानाश्चमापनोदः स्यादिति

अनुक्तत्वेनानुत्थानप्रसङ्गात्स्वरूपावस्थानप्रसिद्धे निमित्तं वक्तव्यमिति
पृच्छति । कथं पुनरिति ज्वरादिरोगपक्षस्य सभावस्थितौ प्रसिद्धः अमा-
भावः । सुषुप्तञ्च अमापनोदावस्थानम् । तथाच तत्स्वरूपस्थितिप्रसिद्धिर-
विच्छेत्ताह । जाग्रदिति ॥ सङ्गृहीतं समाधानं विदधोति । जागरिते
हीति ॥ करणानामनेकव्यापारनिमित्ता या ग्यानिर्भवतीत्यत्र मानमाह ।
श्रुतेष्वेति ॥ अनुभवसमुच्चयार्थसंस्कारः । सुषुप्तप्रवस्थायां करणानामु-
परतौ प्रमाद्यमाह । तथाचेति ॥ सुषुप्तौ प्राणस्यापि नागादिवदुपसंहृतत्व-

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रवक्षो दिशं दिशं
पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत
एवमेव खलु सोमः तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽ

युक्ता प्रसिद्धिलौकिकानां स्वं ह्यपीतो भवतीति ।
दृश्यते हि लोके प्वरादिरोग्रस्थानां तद्विनिर्मुक्ति
स्वात्मस्थानां विश्रमणं तद्वदिद्यपि स्यादिति युक्तम् ॥
तद्यथा श्वेनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य आन्त इत्यादि-
श्रुतेः । तत्रायं दृष्टान्तो यथोक्तोऽर्थे स यथा शकुनिः पक्षी
शकुनिघातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण प्रवक्षुः पाशितो दिशं
दिशं बन्धनमोक्षार्थी सन् प्रतिदिशं पतित्वान्यत्र बन्ध-
नादायतनमाश्रयं विश्रमण्यालब्ध्वाऽप्राप्य बन्धनमेवोप-
श्रयते । एवमेव यथाऽयं दृष्टान्तः खलु हे सोमः तन्मनस्त-
त्प्रकृतं षोडशकलमन्वोपचितं मनोनिर्द्धारितं तत्प्रविष्टस-
त्स्थसदुपलक्षितो जीवस्तन्मन इति निर्दिश्यते । मञ्चाक्रोश-

माशङ्काह । करणानीति ॥ अन्यथा नृतन्मान्तिः स्यादिति भावः ।
जीवस्यापि बहिर्व्यापारः स्यादिति चेन्नैवं करणाभावादित्याह । तदेति ॥
ननु सुषुप्ते अमापनोदमात्रं न स्वरूपावस्थानं तत्कुतो लौकिकी
प्रसिद्धिरित्याशङ्काह । नान्यत्वेति ॥ उक्तमर्थं लौकिकदृष्टान्तेन स्पष्टयति
दृश्यते हीति ॥

बृहदारण्यकसूत्रालोचनायामपि सुषुप्तप्रवस्थायामवस्थाद्वयजनि-
तन्मनापोहार्थं ब्रह्मनोऽप्राप्तिर्गम्यत इत्याह । तद्यथेति ॥ तत्वेति सुषु-
प्तप्रवस्थोच्यते । यथोक्तोऽर्थो हि जीवस्य ब्रह्मण्यवस्थानं तद्विनिर्द्धारितं
यावत् । सद्यद्वो दृष्टान्तविषयः शकुनिर्विषयो वा अप्राप्येति शब्दः ।

न्यचायतनमलब्धा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्ध-
नं हि सोमः मन इति ॥ २ ॥ अशनापिपासे
मे सोमः विजानीहीति यन्नैतत्पुरुषोऽशिशि-

नवत्स मन आख्योपाधिर्जीवोऽविद्याकामकर्मापदिष्टो दिशं
दिशं सुखदुःखादिलक्षणां जाग्रत्स्वप्रयोः पतित्वा गत्वानु-
भूयेत्यर्थः । अन्यत्र सदाख्यात्स्वात्मन आयतनं विश्रगणस्था-
नमलब्धा प्राणमेव प्राणेन सर्वकार्यकारणाश्रयेणोपल-
क्षिता प्राण इत्युच्यते सदाख्या परा देवता । प्राणस्य प्राणं
प्राणशरीरो भारूप इत्यादिश्रुतेः । अतस्तां देवतां प्राणं
प्राणाख्यामेवोपश्रयते । प्राणो बन्धनं यस्य मनसस्तत्
प्राणबन्धनं हि यस्मात्सोमः मनः प्राणोपलक्षितदेवताश्रयं
मन इति तदुपलक्षितो जीव इति ॥ एवं स्वपितिना-
मप्रसिद्धिद्वारेण यज्जीवस्य सत्यं स्वरूपं जगतो मूलं
पुनस्त्य दर्शयित्वाह । अन्नादिकार्यकारणपरं परमपि
जगतो मूलं सद्दिदर्शयिषुरशनापिपासे अशितुमिच्छा-
शना सन् यलोपेन । मातुमिच्छा पिपासा ते अशनापि-

यथा मञ्जाक्रोशनेन मञ्जुस्यो देवदत्तो लक्ष्यते तथा तन्मनसि स्थितो जीवो
लक्ष्यो भवतीत्याह । मञ्जाक्रोशनवदिति ॥ न केवलं प्रकरणाप्राणशब्देन
परा देवता लक्ष्यते ऽन्यत्र प्रयोगदर्शनाच्चेत्याह । प्राणश्चेति ॥ प्राण-
शब्देन परदेवतालक्षणायां फलितमाह । अत इति ॥

प्राणमेवोपश्रयति । विज्ञानात्मेति ॥ अत्र हेतुमाह । प्राणबन्धन-
मिति ॥ वृत्तमनूद्यानन्तरवाक्यसत्यापयति ॥ एवमिति ॥ आह्लाश-
नापिपासे सोम्येत्वादीति शेषः । किमभिप्रायः सन् पिता पुत्रं प्रत्येवमा-

षति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोना-
योऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षते
ऽशनायेति तत्रैतच्छुद्धमुत्पतितः सोमः विजा-

पासेऽशनापिपासयोः सतत्त्वं विजानीहीत्येतत् । यत्
यस्मिन् काले एतन्नामपुरुषो भवति । किं तदशिशिषत्यशि-
तुमिच्छतीति । तदा तस्य पुरुषस्य किं निमित्तं नाम
भवतीत्याह । यत्तत्पुरुषेणाशितमन्नं कठिनं पीता आपो
नयन्ते द्रवीकृत्य रसादिभावेन विपरिणामयन्ते तदा
भुक्तमन्नं जीर्यते । अथच भवत्यस्य नामाशिशिषतीति
गौणम् । जीर्णे च्छन्नेऽशितुमिच्छति सर्वो हि जन्तुः ।
तत्तापामशितनेहत्वादशनाया इति नाम प्रसिद्धमित्येत-
स्मिन्नर्थे । यथा गोनायो गां नयतीति गोनायो गोपाल

हेत्याकाङ्क्षायामाह । अन्नादीति ॥ अन्नादीनि कार्याणि कारणान्य-
नादीनि तेषां या परम्परा तथापि जगतो यस्तत्क्षणं सूलं तद्दर्शयितुमि-
च्छन् पिता पुत्रं प्रत्यशनेत्यादिकं वाक्यमाहेत्यर्थः । अशनेत्यस्य सन्नन्तत्वा
भावेऽपि कथं तदर्थो व्याख्यायते तत्राह । अशनेति ॥ यकारस्य लोपे-
नास्मिन्प्रयोगे सम्प्रत्ययः प्रत्युक्तस्तथाच तदर्थोक्तिरविरुद्धेत्यर्थः । तत्राशना-
पिपासयोः सतत्त्वं विज्ञापयति ॥ यत्नेति ॥ सामान्येनोक्तं नाम विशेषतो
ज्ञातं पृच्छति । किन्तदिति ॥ यत्कठिनमन्नं पुरुषेणाशितं तत्पीता
आपोनयन् इति सम्बन्धः । तदेति परिणामावस्थोक्तिः । अथेत्यस्य भुक्तस्य
जीर्यत्वानन्तर्यमुच्यते ॥ कथं तदा नाम्नो गौणत्वं तदाह । जीर्णेहीति ।

अद्येत्यत्र तच्छब्दार्थमाह । तत्नेति ॥ एतच्छब्दार्थे दृष्टान्त उच्यत
इति शेषः । अशनायेति कथमपामाख्यानमशनाया इति हि वक्तव्यं

नीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥३॥ तस्य क मूलं
स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोमग्रान्नेन शुक्ले-

इत्युच्यते । तथा श्वान्नयतीत्यश्वनायोऽश्वपाल इत्युच्यते । पुरु-
षनायः पुरुषान्नयतीति राजा सेनापतिर्वा । एवं तत्तदाम
आचक्षन्ते लौकिका अशनायेति विसर्जनीयलोपेन ।
तत्रैवं सत्यङ्गीरसादिभावेन जीतेनाशितेनान्नेन निष्पादित-
मिदं शरीरं वटकाणकायामिव शुक्लोऽङ्कुरोत्पन्नित्त
उज्जतसमिमं शुङ्गं कार्यं शरीराख्यं वटादिशुङ्गवदुत्प-
तितं हे सोम्य विजानीहि । किं तत्र विज्ञेयमित्युच्यते ।
अष्टमिदं शुङ्गवत्कार्यत्वाच्छरीरं नामूलं मूलरहितं
भविष्यतीत्युक्तं आह श्वेतकेतुः । यद्येवं समूलमिदं शरीरं
वटादिशुङ्गवत्तस्यास्य शरीरस्य क मूलं स्याद्वेदित्येवं
ष्ट आह पिता । तस्य क मूलं स्यादन्यत्रान्नादेन मूलमि-
त्यभिप्रायः । कथम् । अशितं ह्यन्नमङ्गिर्द्रवीकृतं जाठरेणा-
ग्निना पच्यमानं रसादिभावेन परिणमते । रसाच्छोणि-
तान्नांसं मांसान्नेदो मेदसोऽस्थीन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जा-
तः शुक्रम् । तथा योषिद्भुक्तश्चान्नं रसादिक्रमेणैवं परिणतं
लोहितं भवति । ताभ्यां शुक्रशोणिताभ्यामन्नकार्थ्याभ्यां
संयुक्ताभ्यामन्नेनैवं प्रत्यहं भुज्यमानेनापूर्यमाणाभ्यां कुड-

तलाह । विसर्जनीयेति ॥ तत्रैतस्य व्याख्यानम् । एवं सतोत्पन्नमशितने-
दत्वे ब्रवीत्यर्थः । अङ्गिः प्रोताभिरिति शेषः । तत्रेति शरीरनिर्देशः ॥
अन्यस्य देहमूलत्वमाकाङ्क्षापूर्वकं व्युत्पादयति । कथमित्यादिना ॥ तथा

नापो मूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुद्धेन तेजो मूल-
मन्विच्छ तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ
सन्मूलाः सोमेयमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः
सत्यतिष्ठाः ॥ ४ ॥ अथ यन्नैतत्पुरुषः पिपासति

मिव सत्पिण्डैः प्रत्यहमुपचीयमानोऽन्मूलो देहशुद्धः
परिनिष्पन्न इत्यर्थः ॥ यत्तु देहशुद्धस्य मूलमन्नं निर्दिष्टं
तदपि देहवद्विनाशोत्पत्तिमत्त्वात्कस्मान्निन्मूलादुत्पन्नं तं
शुद्धमेवेति कृत्वा आह । यथा देहशुद्धोऽन्मूलः एवमेव खलु
सोम्यान्नेन शुद्धेन कार्य्यभूतेनापो मूलमन्नस्य शुद्धस्यान्विच्छ
प्रतिपद्यस्व । अपासपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वाच्छुद्धत्वमेवेति ।
अद्भिः सोम्य शुद्धेन कार्य्येण कारणं तेजोमूलमन्विच्छ ।
तेजसोऽपि विनाशोत्पत्तिमत्त्वाच्छुद्धत्वमिति । तेजसा सोम्य
शुद्धेन सन्मूलं एकमेवाद्वितीयं परमार्थसत्यम् । यस्मिन्सर्वं
मिदं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं रज्ज्वाभिव सर्पा-
दिविकल्पजातमध्यस्तम् । अविद्यया तदस्य जगतो मूलं अतः
सन्मूलाः सत्कारणा हे सोम्येमाः स्यावरजज्जमलक्षणाः

पुरुषभुक्ताज्ञवदिति यावत् ॥ तथापि कथं सतो मूलस्य सिद्धिरत आह ।
यस्मिन्मिति ॥ सतो मूलस्य वास्तवं रूपं दर्शयति ॥ एकमिति ॥ तस्य सर्वकल्प-
नाधिष्ठानत्वेन परिणामवादं व्युदस्यति । यस्मिन्मिति ॥ अध्यासे मूलकार-
णमाह । अविद्ययेति ॥ प्रजाः सर्वाः सन्मूलाः सदायतनाश्चेत्युक्तमर्थं
दृष्टान्तेन समर्थयते । न हीति ॥ सत्यतिष्ठाः सदायतनाश्चेत्यनयोर्द्वये-
दभावमाशङ्क्याह । अन्ते चेति ॥ प्रतिपाद्यस्य लयवाचित्वादायतन-

नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्व-
नायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति
तच्चैतदेव शुद्धमुत्पतितं सोम्य विजानीहि
नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥ तस्य क मूलं

सर्वाः प्रजा न केवलं सन्मूला एव । इदानीमपि स्थितिकाले
सदायतनाः सदाश्रया एव । नहि हृदमनाश्रित्य घटादेः
सत्त्वं स्थितिर्वास्ति । अतो हृदम्सदायतनं यासां प्रजानां
तन्मूलत्वात्सदायतनाः प्रजाः । अन्ते च सत्प्रतिष्ठाः
सदेव प्रतिष्ठा लयः समाप्तिरवसानं परिशेषे यासान्ताः
सत्प्रतिष्ठाः । अथेदानीमप्युद्गहारेण सतो मूलस्यानुगमः
कार्य इत्याह । यत् यस्मिन् काल एतन्नाम पिपासति
पातुमिच्छतीति पुरुषो भवति । अग्निशिषतीतिवदिदमपि
गौणमेव नाम भवति । द्रवीकृतस्याशितस्यान्वस्य नेत्र
आपोऽन्नुद्गं देहं क्लेदयन्त्यग्निथिलीकुर्षुरब्बाहुल्याद्यदि
तेजसा न शोष्यते । नितरांच तेजसा शोष्यमाणास्तु
देहभावेन परिणममानास्तु पातुमिच्छा पुरुषस्य

शब्दस्य चाश्रयविषयत्वाच्च प्रौढरूपमित्यर्थः ॥ उदशब्दस्य सुषुप्तादि-
विषयत्वं वारयति । समाप्तिरिति ॥ सम्यगाग्निः समाप्तिरिति प्राप्तिरत्र
विवक्षितेति शङ्कां वारयति । अवसानमिति ॥

तस्याभावत्वेन तच्छब्दपत्वं निरस्यति । परिशेष इति ॥ अन्ताख्यउ-
द्गहारा सतोमूलस्याधिगतेरनन्तरमित्ययमर्थः । पिपासतीत्येतन्नाम
पुरुषो यस्मिन्काले भवतीति योजना । कथं पिपासतीत्येतन्नाम पुरुषस्य

स्यादन्यत्राङ्गोऽङ्गिः सोमश्शुक्लेन तेजो मूल-
मन्विच्छ तेजसा सोमश्शुक्लेन सन्मूलमन्विच्छ
सन्मूलाः सोमेयमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः

जायते तदा पुरुषः पिपांसति नाम तदेतदाह । तेज-
एव तत्तदा पीतमवादि शोषयेद्देहगतलोहितप्राणभावेन
नयते परिणमयति । तद्यथा गोनाय इत्यादि समान-
मेव । तत्तेज आचष्टे लोकः । उदन्येति उदकं नय-
तीत्युदन्यं उदन्येतीति छान्दसम् । तत्रापि पूर्व्ववत् अपाम-
प्येतदेव शरीराख्यं शुक्लं नान्यदित्येवमादि । समानमन्यत् ।
सामर्थ्यात्तेजसोऽप्येतदेव शरीराख्यं शुक्लम् । अतोऽप्युक्तेन
देहेनापो मूलं गम्यते । अङ्गिः शुक्लेन तेजो मूलं गम्यते ।

गौणमित्याशङ्क्याह । द्रवीकृतेति ॥ भवत्वपां तेजसा शोषमाणत्वं किं
तावतेत्याशङ्क्याह । नितराञ्चेति ॥ तदा पानेच्छावस्यायामित्यर्थः ॥ तेजसो
यदुदकनेहत्वमुक्तं तत्र श्रुतिमवतार्य व्याचष्टे । तदेतदाहेति ॥ उदकमिति
वक्तव्ये कथमुदन्येतीत्युक्तं तत्राह । छान्दसमिति ॥ तत्रापि तेजस्यपीत्ये-
तत् ॥ यथाऽश्नायेति छान्दसं तथा तेजस्युदन्येतीत्यपि छान्दसमेवेत्याह ।
पूर्व्ववदिति ॥ अङ्गद्वारा सतो मूलस्याधिगमवदम्बुद्वारापि तस्याधिगतिर-
स्तीत्याह । अपामपीति ॥

तेजः शुक्लद्वारापि सतो मूलस्य प्रतिपत्तिरस्तीत्याह । सामर्थ्यादिति ॥
विहृत्करणवशादिति यावत् । शरीरस्य भूतत्वयकार्यत्वमतःशब्दार्थः ॥
यथा पूर्व्वमप्युक्तेन देहेनाद्याख्यं मूलं गम्यते इत्यादि व्याख्यातं तथा
तेजःशुक्लेन देहेन तेजो मूलं गम्यत इत्यादि व्याख्येयमित्याह । पूर्व्व-
वदिति ॥ वृत्तानुवादपूर्व्वकं यथेत्यादिवाक्यमादत्ते । एवं हीति ॥ उक्त्या

सत्यतिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्ति सो देवताः
पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्तिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुर-

शुद्धेन सन्मूलं गम्यते पूर्ववत् । एवं हि तेजोबन्धनमस्य
देहशुद्धस्य वाचारम्भणमात्रस्यान्नादिपरम्परया परमार्थ-
सत्यं सन्मूलमभयमसन्नासं निरायासं सन्मूलमन्विच्छेति
पुत्रं गमयित्वाऽग्निशिषति पिपासतीति नामप्रसिद्धिद्वि-
दारेण । यदन्यदिहास्मिन् प्रकरणे तेजोबन्धानां पुरुषेणोप-
युज्यमानानां कार्यकरणसङ्घातस्य देहशुद्धस्य स्वजात्या
साङ्ख्येणोपचयकरत्वं वक्तव्यं प्राप्तं तदिहोक्तमेवेष्टव्य-
मिति पूर्वोक्तं व्यपदिशति । यथा तु खलु । येन प्रकारेण-
मासो ज्योबन्धाख्यास्ति सो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्तिवृदे-
कैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव । भवत्यन्धमशितं तेषा-
विधीयत इत्यादि । तत्रैवोक्तं अन्नादीनामशितानां ये

रीत्या नामप्रसिद्धिद्विदारेण यथोक्तदेहास्य शुद्धस्यान्नादिकारण-
रया सदास्यं मूलशुद्धविशेषणं सन्मूलमन्विच्छेत्पुपदेयेन अतः केतुं प्राप-
यित्वा व्यवस्थया शरीरमेकैकभूतारब्धमित्वाज्ञेपे प्राप्ते यदास्मिन् प्रकरणे
तेजःप्रभतीनामुपयुज्यमानानां स्वस्वभावावसारेण सङ्घातस्योपचयकरत्वं
वक्तव्यं प्राप्तम् । तदा हि सर्वशरीरेषु सर्वभूतकार्योपलब्धाद्यवस्थायां
प्रमाणाभावाद्दृष्टमाने सङ्घाते कस्य भूतस्य कियत्कार्यमित्यपेक्षायामन-
शितमित्यादावुक्तमेव दृष्टव्यमिति पूर्वोक्तं व्यपदिशतीति योजना ॥
सतो मूलस्य व्यापारसत्यत्वं वारयति । परमार्थेति ॥ वस्तुतो नाविद्यास-
म्बन्धस्य साक्षीत्वाद् । असमयमिति ॥ अविद्याकार्यसम्बन्धोऽपि परमार्थतो
न तस्याक्षीत्वाद् । असम्भासमिति ॥ असमयसम्बन्धाभावे सत्तत्त्वातमिच्छित-
तुः कृत्वेन परमानन्दत्वं तस्य सिद्धतीत्याह । निरायासमिति ॥ पूर्वो-

स्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वचङ्मनसि
सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परमा

मध्यमा धातवस्ते साप्तधातुकं शरीरमुपचिन्वन्तीत्युक्तं
मांसं भवति लोहितं भवति मज्जा भवत्यस्थि भवति
ये त्वनिष्टा धातवो मनः प्राणं वाचं देहस्यान्तःकरण-
सङ्घातमुपचिन्वन्तीति शोक्तं तन्मनो भवति स प्राणो
भवति सा वाग्भवति । सोऽयं प्राणः करणसङ्घातो देहे
विशीर्णो देहान्तरं जीवाधिष्ठितो येन क्रमेण पूर्वदेहात्प्रश्रु-
तो गच्छति तदा हास्य हे सोम्य पुरुषस्य प्रयतो चिन्व-
माणस्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनस्युपसंह्रियते । अथ तदाङ्ग-
ज्ञातयो न वदतीति । मनःपूर्वको हि वाग्व्यापारः
यद्वै मनसा ध्यायति तदाचा वदतीति श्रुतेः । वाच्युप-
संह्रितायां मनसि मननव्यापारेण केवलेन वर्त्तते ।
मनोऽपि यदोपसंह्रियते तदा मनः प्राणे सम्पन्नं भवति
सुषुप्तकाल इव । तदा पार्श्वस्था ज्ञातयो न विजानाती-
त्याहुः । प्राणश्च तदोर्जोच्छ्वासी स्वात्मन्युपसंहृतवाच्य-

क्तमेव व्यक्तीकरोति । तद्वैवेति ॥ किन्तु दसमधितमित्यादावुक्तं तत्राह ।
अद्यादीनामिति ॥ सप्तधातुकं त्वगस्तुङ्मांसमेदीमज्जास्थिशुक्रास्त्राः
सप्तधातवस्तेषां संहृतिरूपमित्यर्थः । तेजोवच्चकार्यभूतदेहशुक्रद्वारा
सतत्त्वं निरूपितं इदानीं अरण्यद्वारेणापि तन्निरूपयितुमारभते ।
सोऽयमिति ॥ तदाहेत्वत्वं क्रमवद्भवनं तदित्युक्तम् ॥ वाग्व्यापारस्य मनसि
लये हेतुमाह । मनःपूर्वकोऽस्तीति ॥ प्राणसम्पत्तिर्भनसस्तदधीनत्वं मनो-
व्यापारनिवृत्त्यवस्था तदेत्युच्यते । प्राणश्च तदेत्यविज्ञानावस्था कथ्यते ।

देवताया स य एषोऽणिमा ॥ ६ ॥ एतदात्म-
मिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेत-

करणः सर्वगविद्यायां दर्शनाद्वसुपादादीन् विक्षिपन्म-
न्यस्थानानि निरुन्तत इवोत्सृजन् क्रमेणोपसंहृतकरण-
स्तेजसि सम्पद्यते । तदाऽऽर्ज्यातयो न चलतीति । मृतो
नेति वा विचिकित्सन्तो देहमालभमाना उष्णश्चोपलभ-
माना देह उष्णो जीवतीति यदा तदायौष्ण्यलिङ्गं तेज
उपसंह्रियते । तदा तत्तेजः परस्यां देवतायां प्रशाम्यति ।
तदेवं क्रमेणोपसंह्रियते । स्वमूलं प्राप्ते च मनसि तत्स्थो
जीवोऽपि सुषुप्तकालवन्निमित्तोपसंहारादुपसंह्रियमाणः
सन् सत्याभिसन्धिपूर्वकं चेदुपसंह्रियते सदेव सम्पद्यते न
पुनर्देहान्तराय सुषुप्तादिवोत्तिष्ठति ॥

यथा लोके सभये देशे वर्त्तमानः क्वचिदेवामयं देशं
प्राप्तस्तद्वत् । इतरस्वनात्मश्च सप्तादेव मूलात्सुषुप्तादिवो-

कथं प्राणस्य स्वात्मन्युपसंहृतवाङ्मकरणत्वं तदाह । सर्वगविद्यायामिति ॥
तत्र हि प्राणः संवृद्धे वागादीनीति इदं अतो युक्तं तस्य स्वात्मन्युप-
संहृतकरणत्वमित्यर्थः । तेजसीति भौतिकमाध्यात्मिकं तेजो गृह्यते ।
जीवतीत्याहु रिति सम्बन्धः । सकरणसंप्राप्तस्य च भूतसर्गस्य परस्यां
देवतायामुक्तक्रमेणोपसंहारेऽपि जीवस्य किमायातमित्यायङ्कप्राह । तदे-
वमिति ॥ तस्यां परस्यां देवतायामुक्तेन क्रमेण तेजस्युपसंहृते सतीति
यावत् । समूलं मनसो मूलं भूतसङ्गकम् । निमित्तोपसंहारादित्यत्र निमित्तं
मनो विवक्षितम् ॥

सत्यम्बस्य सत्याभिसन्धेनापुनरुत्थानमित्येतद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति ।
अथेति ॥ अभयं देशं प्राप्तो न पुनः सभयं देशं गन्तुमिच्छतीति शेषः । यस्त-

केतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति
तथा सोमेति होवाच ॥ ७ ॥ ८ ॥

त्याय सत्त्वा पुनर्देहजालमाविशति । यस्मान्मूलादुत्थाय देह-
माविशति जीवः ॥ स यः सदाख्य एष उक्तोऽग्निमाऽणु-
भावो जगतो मूलमैतदात्ममेतत्सदात्मा यस्य सर्वस्य तदे-
तदात्मा तस्य भाव एतदात्म्यम् । एतेन सदाख्येनात्मनात्मव-
त्सर्वमिदं जगत् । नान्योऽस्यास्यात्मा संसारी नान्यदतोऽस्ति
द्रष्टुं नान्यदतोऽस्ति श्रोत्रित्यादिश्रुत्यन्तरात् । येन चात्म-
नात्मवत्सर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थ-
सत् । अतः स एवात्मा जगतः प्रत्यक्स्वरूपं सतत्त्वं याथात्म्यम् ।
आत्मशब्दस्य निरूपणपदस्य प्रत्यगात्मानि गवादिशब्दवन्नि-
रूढत्वात् । अतश्चात्मत्वमसीति हे श्वेतकेतो इत्येवं प्रत्या-
यितः पुनश्चाह भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु यद्वव-
दुक्तं तत्सन्दिग्धं मम । अहन्महनि सर्वाः प्रजाः सुषुप्तौ
सत्सम्पद्यन्ते इत्येतत् । ये न सत्सम्पद्यन्ति विदुः सत्सम्पद्या

नृताभिसन्धो यथोक्तया रीत्या न सत्सम्पद्यन्त इति । इतरस्त्विति ॥
अस्येति षष्ठ्या सर्वं जगदुक्तमसंसारी वेति शब्देः । मूलादेर्विशेषं दर्शयति ।
परमार्थेति ॥ कल्पितस्य जगतः स्वरूपं प्रत्यन्तमतात्तिकमिति शङ्कां
वारयति । सतत्त्वमिति ॥ तत्त्वेन सहितमपि सतत्त्वमित्याशङ्काह । याथा-
त्म्यमिति ॥ कथमेवमर्थवत्त्वमात्मशब्दस्य लभ्यते तत्राह । आत्मशब्दस्येति ॥
सतो भवत्वात्मात्वं मम किं स्यादित्याशङ्काह । अत इति ॥ सन्देहस्येद-
मेव विशिनष्टि । अहन्महनीति ॥ सन्देहे हेतुमाह । येनेति ॥ तेन सन्दि-
ग्धमेतदिति पूर्वेषु सम्बन्धः ॥ सन्देहव्याप्यसिद्धिर्हि कथमित्यत आह ।

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्व-
यानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं
गमयन्ति ॥ १ ॥ ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽसु-

वयमिति । अतो वृष्टान्ते न मां प्रत्याययत्वित्यर्थः । एवमु-
क्तस्तथाऽसु सोम्येति शेषाच्च पिता ॥ ८ ॥

चतुष्टयस्यैव हि सत्त्वग्नय न विदुः सत्त्वग्नयः स्या
इति तत्कक्षादित्यत्र शृणु वृष्टान्तम् । यथा लोके सोम्य मधु-
कृतो मधु कुर्वन्तीति मधुकृतो मधुकरमक्षिका मधु नि हि-
ष्ठन्ति मधु निष्पादयन्ति तत्पराः सन्तः । कथं नानात्वयानां
नानागतीनां नानादिक्काख्यानां वृक्षाणां रसान् समवहारं
समाहृत्यैकतामेकभावं मधुत्वेन रसान् गमयन्ति मधुत्व-
मापादयन्ति । ते रसा यथा मधुत्वेनैकतां गतास्तत्र
मधूनि विवेकं न लभन्ते । कथमसुष्याहमाप्तस्य पनसस्य
वा वृक्षस्य रसोऽस्मीति च । यथा हि लोके बहूनां चे-
नाशतां समेतानां प्राणिनां विवेकलाभो भवत्यसुष्याहं
पुत्रो नप्तास्मीति । ते च लब्धविवेकाः सन्तो न सङ्कीर्यन्ते न

अत इति ॥ पुनस्तु प्राप्तसन्देहापोहार्यसुतरयन्वसुत्यापयति ।
एवमिति ॥ ८ ॥

यथेत्यादिवृष्टान्तमवतारयति । यत्पृच्छसीति ॥ प्रत्यहं सुषुप्ते सर्वाः
प्रजाः सत्त्वग्नय सत्त्वग्नयः स्यो वयमिति यत्र विदुस्तदज्ञानं कक्षा-
त्कारणादिति यन्मां पृच्छसि तत्र सुषुप्तादावज्ञाने कारणभूतं वृष्टा-
न्तसुषुप्तानां शृणुत्वमिति योजना ॥ यथा वृष्टान्तः स्रष्टो भवति तथो-
च्यत इत्याह । वषेति ॥ पुनर्मधुपदं क्रियापदेन सत्त्वग्नयप्रदर्शनार्थं मधु-

प्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोमेयमाः
सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह
इति ॥ २ ॥ त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको
वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा

तथेहानेकप्रकारवृक्षरसानामपि मधुरान्मृतिक्तकटुका-
दीनां मधुत्वेनैकतां गतानां मधुरादिभावेन विवेको
मृक्ष्यत इत्यभिप्रायः । यथाऽयं वृष्टान्त इत्येवमेव खलु
सोम्येमाः सर्वाः प्रजा अहन्यहनि सति सम्पद्य सुषुप्तकाले
मरणप्रलययोश्च न विदुर्न विजानीशुः सति सम्पद्यामह
इति सम्पद्या इति वा । यस्याञ्चैवमात्मनः सद्रूपतामज्ञा-
त्वेव सत्सम्पद्यन्ते । अतस्त इह लोके यत्कर्म्मनिमित्ताः यां
यां जातिं प्रतिपन्ना आसुर्यान्नादीनां व्याघ्रोऽहं सिंहोऽह-
मित्येवम् । ते तत्कर्म्मज्ञानवासनाङ्किताः सन्तः सत्प्रविष्टा
अपि तद्भावेनैव पुनराभवन्ति । पुनः सत आगत्य व्याघ्रो
वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा

कृतां मधुनिष्पादकत्वमाकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति । कथमित्यदिना ॥
नानागतीनां नानाफलानामित्येतद्बुद्ध्यां रसानां कथमेकतेत्याशङ्क्याह ।
मधुत्वेनेति ॥ तदेव स्पष्टयति ॥ मधुत्वमिति ॥ ते यथेत्यादि व्याचष्टे ।
ते रसा इति ॥ उक्तमर्थं वैधर्म्म्यवृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथा ह्रीत्यादिना ॥
इहेति प्रकटवृष्टान्तोक्तिः । वृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह । यथेति ॥
रसानामचेतनत्वेन विवेकानर्हत्वात्कथं चेतनावतामिव वृष्टान्तः स्यादि-
त्याशङ्क्याह । यस्याञ्चति ॥ एवं यथोक्तवृष्टान्तवशेन यावच्चेतनानामपि
सुषुप्तादौ जात्यास्तन्दिताया रसवृत्त्यत्वात्तेषां विवेकानर्हवस्थापस्ति-

मशको वा यद्यङ्गवन्ति तदा भवन्ति ॥३॥ स य एषो
ऽग्निमैतदात्मामिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा
तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्
विज्ञापयत्विति तथा सोमेति होवाच ॥४॥ ८ ॥

दंशो वा मशको वा यद्यत्पूर्वमिह लोके भवन्ति सम्भव-
रित्यर्थः । तदेव पुनरागत्य भवन्ति । युगसहस्रकोऽनरि-
ताऽपि संसारिणो जन्तोर्वा पुरा भाविता वासना सा न
नश्यतीत्यर्थः । यथाप्रज्ञं हि सम्भवा इति श्रुत्यन्तरात् ।
ताः प्रजा यस्मिन् प्रविश्य पुनराविर्भवन्ति । ये त्वितोऽन्ये
सत्त्वत्याग्राभिसन्वा यमणुभावं सदात्मानं प्रविश्य नाव-
र्त्तन्ते । स य एषोऽग्निमेत्यादि व्याख्यातम् । यथा लोके
स्वकीये गृहे सुप्तं उत्थाय ग्रामान्तरं गतो जानाति
स्वगृहादागतोऽस्मीत्येवं सत आगतोऽस्मीति च जन्तूनां
कस्माद्विज्ञानं न भवतीति भूयएव मा भगवान् विज्ञाप-
यत्वित्युक्तस्तथा सोम्येति होवाच पिता ॥ ८ ॥

आत्मे प्रकृतसदाहरणमविरुद्धमिति भावः । सता सम्पन्नानामपि तत्त्वा-
दित्यायङ्गाह । संसारिण इति ॥ स य एषोऽग्निमेत्याद्यवतारयति । ताः
प्रजा इति ॥ इतः सहिज्ञानरहितेभ्यः सकाशादिति यावत् । यमणुभा-
वमिति यच्छब्दोऽध्याहृत्यर्थः । प्रज्ञानरं इष्टान्तरादुत्थापयति । यथेति ॥
सर्वोऽङ्गमानतोऽस्मीत्युक्तस्तथा ज्ञानाभावं इष्टान्तेनोपपादयितुमशक्य-
मनुत्थापयति । इत्युक्त इति ॥ ८ ॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्थन्दन्ते पश्चा-
त्पतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापि यन्ति समुद्र
एव भवन्ति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मी-
यमहमस्मीति ॥१॥ एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः
प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह
इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो
वा कौटो वा पतङ्गो वा द्श्यो वा मशको वा
सम्पद्य भवन्ति तदा भवन्ति ॥२॥ स य एषोऽणिमै-

शृणु तत्र दृष्टान्तं यथा सोम्येमानद्यो गङ्गाद्याः पुरस्ता-
त्पूर्वां दिशं प्रति प्राच्यः प्रागञ्चनाः स्थन्दन्ते स्त्वन्ति । पश्चा-
त्पतीचीं दिशं प्रति सिन्धुद्याः प्रतीचीमश्नुन्ति गच्छ-
न्तीति प्रतीच्यस्ताः समुद्रादम्नोनिधेर्जलधरैराक्षिताः
पुनर्दृष्टिरूपेण पतिता गङ्गादिनदीरूपिण्यः पुनः समुद्र-
मम्नोनिधिमेवापि यन्ति ससमुद्रा एव भवन्ति ता नद्यो
यथा तत्र समुद्रे समुद्रात्मनैकताङ्गता न विदुर्नजानन्तीयं
गङ्गाहमस्मीयं यमुनाहमस्मीतीयमहमस्मीति चैवमेव खलु
सोमेयमाः सर्वाः प्रजा यस्मात्सति सम्पद्य न विदुस्तस्मात्सत
आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे आगता इति वा । त
इह व्याघ्र इत्यादि समानमन्यत् । दृष्टं लोके जले वीची-

आगमनावध्यपरिज्ञानं तत्वेत्युक्तम् ॥ प्रश्नान्तरं व्याचष्टे । दृष्टमिति ।
विनष्टा इति लोके दृष्टमिति सम्भवः । जीवास्तु प्रत्यक्षं सुषुप्तप्रवस्थायां
अरण्यप्रसवयोश्च कारणभावं गच्छन्तोऽपि न विनश्यन्तीति वदेत्तदिति

तदात्ममिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि
 श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापय-
 त्विति तथा सोमेति होवाच ॥ ३ ॥ १० ॥

अस्य सोममहतो दृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्या-
 ज्जीवन् सवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् सवेद्योऽग्रे-
 ऽभ्याहन्याज्जीवन् सवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्र-
 भूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १॥ यस्य

तरङ्गफेनबहुदादय उल्लिताः पुनस्तद्भावकता विनष्टा
 इति । जीवास्तु तत्कारणभावं प्रत्यक्षं गच्छन्तोऽपि सुप्ते
 मरणप्रलययोश्च न विनश्यन्तीत्येतत् । भूय एव मा भगवान्
 विज्ञापयतु दृष्टान्तेन । तथा सोमेति होवाच पिता ॥ १० ॥

ऋणु दृष्टान्तमस्य हे सोम महतोऽनेकशाखादियुक्तस्य
 स्येत्यग्रतः स्थितं दृक्षं दर्शयन्नाह । यदि कश्चिदस्य स-
 ऽभ्याहन्यात्परश्चादिना सकृद्घातमात्रेण न श्लुष्यतीति
 जीवन्नेव भवति तदा तस्य रसः सवेत् । तथा यो मध्येऽभ्या-
 हन्याजीवं सवेत्तथा योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवं सवेत्स एष

येजना । जीवविनाशं शङ्कमानस्य प्रतिबोधनार्थमुत्तरं वाक्यमुत्थापयति ।
 तथेति ॥ १० ॥

जीवस्य नाशभावं वक्तुमादौ दृष्टान्तमाह । दृष्टिरेव ॥ ननु
 रोगपक्षायां वातोपहृतायां वा शाखायां प्राणोपसंहारेऽपि कृतो
 जीवोपसंहारः सम्भवति तत्राह । वागिति ॥ ननु दृष्टे जीवस्य सङ्कावे
 ततोपसंहारानुपसंहारौ वक्तव्यौ । तत्र तस्य सत्यन्तु कृतव्यमत आह ।
 जीवेन चेति ॥ रसरूपेण वर्ज्यमिति सम्बन्धः ॥ दृक्षशरीरे जीवस्य

यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति
 द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ
 सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु
 सोम्य विद्मीति होवाच ॥ २ ॥ जीवापेतं वाव

एव इदानीं जीवेनात्मनानुप्रभूतो ऽनुव्याप्तः पेपीयमानो
 ऽत्यर्थं पिबन्नुदकं भीमांश्च रसान्मूलैर्गृह्णन्मोदमानो हर्षं
 प्राप्नुवंस्तिष्ठति । तस्यास्य यदेकां शाखां रोगग्रस्तामाहतां
 वा जीवो यहात्युपसंहरति शाखायां विप्रवृत्तमात्मांशम् ।
 अथ सा शुष्यति । वाक्पुनः प्राणकरणग्रामानुप्रविष्टो हि जीव
 इति तदुपसंहारे उपसंक्षिप्यते । जीवेन च प्राणयुक्तेनाश्रितं
 पीतञ्च रसतां गन् जीववच्छरीरं वृक्षञ्च वर्द्धयद्द्रुमरूपेण
 जीवस्य सङ्गावे लिङ्गं भवति ॥ अश्रितपीताभ्यां हि
 देहे जीवस्तिष्ठति ते चाश्रितपीते जीवकर्मानुसारिणीति ।
 तस्यैकाङ्गवैकल्यनिमित्तं कर्म यदोपस्थितं भवति तदा
 जीव एकां शाखां जहाति शाखाया आत्मानमुपसंहरति ।
 अथ तदा सा शाखा शुष्यति । जीवस्थितिनिमित्तो रसो
 जीवकर्माक्षिप्तो जीवोपसंहारे न तिष्ठति । रसापगमे च

सत्वेऽपि किमित्यसौ कदाचित्तदीयानेकां शाखां जहातोत्याशङ्काह ।
 अश्रितेति ॥ जीवोपसंहारे किमिति शाखा शुष्यति तत्राह । जीवस्थि-
 तोति ॥ जीवस्य स्थितिर्निमित्तं तस्येति विग्रहस्तथा शाखायास्तत्प्र-
 कारेणेति यावत् ॥ यत्तु वैशेषिकवैवाशिकाभ्यां स्थावरार्था निर्जीवत्व-
 मचेतनत्वमुक्तं तदेतद्विरस्तमित्याह । एतस्येति ॥ आदिशब्दो वृद्धिबोदा-

क्लिष्टेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषो
ऽग्निमैतदात्ममिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा

आत्माशेषमुपैति । तथा सर्वं दृक्त्वमेव यदायं जहाति तदा
सर्वोऽपि दृक्ः श्रुय्यति । दृक्त्वस्य रसस्वगन्धशेषादिलि-
ङ्गाज्जीवत्वम् । दृष्टान्तश्रुतेषु चेतनावन्तः स्यावरा इति ।
बौद्धकाद्यादमतमचेतनाः स्यावरा इत्येतदासारमिति
दर्शितं भवति । यथाऽस्मिन् दृष्टान्ते दर्शितं जीवेन युक्तो
वृक्षोऽग्न्युक्तो रसपानादियुक्तो जीवतीत्युच्यते यदपेतं च
म्रियत इत्युच्यते । एवमेव खलु सोमं विद्धीति होवाच ।
जीवापेतं जीववियुक्तं वाव क्लिष्टं शरीरं म्रियते न जीवो
म्रियत इति । कार्यशेषे च सुप्तोऽस्ति ममेदं कार्यशेष-
मपरिसमाप्तमिति श्रुत्वा समापनदर्शनात् । जातमाद्या-
द्याश्च जन्तूनां सन्त्याभिलाषभयादिदर्शनाच्चातीतजन्त्या-
न्तरानुभूतस्नानपानदुःखानुभवव्यतिर्गम्यते । अग्निहोता-
दीनां च कर्मणामर्थवत्त्वान्न जीवो म्रियत इति । स

दिसङ्क्रान्त्यर्थः । स एव दृक्षो जीवेनात्मनानुभूत इति दृष्टान्तश्रुतिः । श्रुति-
दृष्टान्तेन विवक्षितमंशमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह । यथेत्यादिना ॥ जीवस्य
सुप्तो नाशभावे हेत्वन्तरमाह । कार्यशेषे चेति ॥ तस्मिन् सति सुप्तो
भूत्वा पुनरुत्थितस्य कार्यस्य शेषो ऽस्ति यस्मिन् कर्मस्य तदिदं समाप्तमाप्त-
मिति श्रुत्वा तस्य समापनदर्शनाच्च स्वामे जीवो नश्यतीत्यर्थः ॥ अरन्ध-
काखे तस्मादाभावे हेत्वन्तरमाह । जातमाद्याद्यामिति ॥ आद्याश्चकारः
सप्तम्यने द्वितीयोऽवधारणे । जीवस्य प्रकृत्यादावविनाशे कारणात्कार-

तत्त्वमसि चेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्
विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥११॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतौदं भगव इति भि-
न्वीति भिन्नं भगव इति किमच पश्यसीत्युक्त्वा

य एषोऽग्निमेत्यादि समानम् । कथं पुनरिदं दृष्टिस्था-
दिनामरूपवज्जगदत्यन्तसूक्ष्मात्सूक्ष्मात्सूक्ष्मपान्नामरूपरहितात्सतो
जायते इत्येतद्वृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान् विज्ञापय-
त्विति । तथास्तु सोम्येति होवाच पिता ॥ ११ ॥

यद्येतत्प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि अतोऽस्मात्कहतो न्यग्रोधा-
त्फलमेकमाहरेत्युक्तस्तथा चकार । स इदं भगव उपाकृतं
फलमिति दर्शितवन्तं प्रत्याह फलं भिन्वीति भिन्नमित्याहे
तरः । तमाह पिता किमत्र पश्यसीत्युक्त आह्वाण्योऽणुतरा
इवेमा धाना बीजानि पश्यामि भगव इति । आसां धाना-
नामेकां धानामङ्ग हे वत्स भिन्वीत्युक्त आह भिन्ना भगव
इति ॥ यदि भिन्ना धाना तस्यां भिन्नायां किं पश्यसीत्युक्त

माह । अग्निहोत्रादीनामिति ॥ इतिशब्दो जीवस्य नित्यत्वोपसंहा-
रार्थः ॥ यदुक्तं सकृदाः सोम्येत्यादि तत्र चोदयति । कथं पुनरिति ॥
विषयस्योर्न कार्यकारणत्वमिति यद्वैतानं प्रति बोधयितुमुत्तरवाक्यसु-
पादत्ते । तथेति ॥ ११ ॥

सूक्ष्मस्य कार्यस्य सूक्ष्मं सूक्ष्मकारणत्वमेतदित्युच्यते ॥ अस्य सोम्य
यदुक्तो दृष्टस्तेति प्रकृतं इदं परावृण्वति । अत इति ॥ चेतमसिचानं न
पश्यस्येतस्यापिन्नो बीजस्तेति सूच्यन्तः । तथापीति अत्यन्ताणुत्वाददर्श-
नेऽपीत्यर्थः । अत्यन्तसूक्ष्माबीजादत्यन्तसूक्ष्मस्य दृष्टस्योत्पत्त्युपसंभोऽतः-

इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्वीति
भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति किञ्चन न
भगव इति ॥१॥ त ए होवाच यं वै सोम्यैतमणि-
मानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिन्न एवं
महान्यग्रोधस्तिष्ठति ॥२॥ अद्वत्स्व सोम्येति स य
एषोऽणिमैतदात्ममिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा

आह न किञ्चन पश्यामि भगव इति । तं पुत्रं होवाच वट-
धानायां भिन्नायां यं वटवीजाणिमानं हे सोम्य एतं न
निभालयसे न पश्यसि । तथाप्येतस्य वै किल सोम्य एष
महान्यग्रोधो बीजस्याणिन्नः सूक्ष्मस्याऽऽश्मन्स्य कार्य-
भूतः स्थूलशब्दास्करुतपलाशवांस्तिष्ठत्युत्पतन्नुत्तिष्ठ-
तीति वोच्छब्दोऽप्याहार्योऽतः अद्वत्स्व सोम्य सत एवा-
णिन्नः स्थूलं नामरूपादिमत्कार्यं जगदुत्पन्नमिति । यद्यपि
न्यायागमाभ्यां निर्द्धारितोऽर्थस्तथैवेत्यवगम्यते तथाप्यस्य
न्तःसूक्ष्मेष्वर्थेषु बाह्यविषयासक्तमनसः स्वभावप्रवृत्तस्यासत्यां
गुरुतरायां अज्ञायां दुरवगमत्वं स्यादित्याह अद्वत्स्वेति ।
अज्ञायान्तु सत्यां मनसः समाधानं बुभुक्षितेऽर्थे भवेत्ततश्च

शब्दार्थः । सूक्ष्मज्ञाः सोम्येत्यादिश्रुत्या दृश्यते त्विति न्यायेन च जगतः
सत्कार्यत्वे विज्ञे अज्ञासन्तरेणापि तद्विषयसम्भवात्किमिति श्वेतकेतः अद्व-
त्स्वेति पितृानुबुध्यते तत्राह ॥ यद्यपीति ॥ सत्यामपि अज्ञायां कथं बाह्य-
विषयासक्तमनसोऽत्यन्तसूक्ष्मेष्वर्थेष्ववगमः स्यादित्याह अज्ञा-
यान्तिविति ॥ मनःसमाधानवशाद्बुभुक्षितस्यार्थस्वावगतिरित्यत्र बृहदारण्य-

तत्त्वमसि श्वेतकीतो इति भूय एव मा भगवान्
विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥ १२ ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा
इति स ह तथा चकार तए होवाच यहोषा
लवणमुदकेऽवधा अङ्ग तदाहरेति तद्भावमृश्य

तदर्थविगतिः । अन्यत्रमना अभूवमित्यादिश्रुतेः । स य
इत्याद्युक्तार्थम् । यदि तत्त्वज्जगतो मूलं कस्मान्नोपलभ्यत
इत्येतदुदष्टान्तेन मामां भगवान् भूय एव विज्ञापयत्विति ।
तथा सोम्येति होवाच पिता ॥ १२ ॥

विद्यमानमपि वस्तु नोपलभ्यते प्रकारान्तरेण रूपलभ्यत
इति नृणवत् दृष्टान्तम् । यदि चेममर्थं प्रत्यक्षीकर्तुं मिच्छसि
पिण्डरूपं लवणमेतत् घटादावुदकेऽवधाय प्रक्षिप्याथ
मा मां श्वः प्रातरुपसीदथा उपगच्छेथा इति । सह पितो-
क्तमर्थं प्रत्यक्षीकर्तुं मिच्छन् तथा चकार । तं होवाच
परेद्युः प्रातो यल्लवणं दोषा रात्रौ उदकेऽवधा निक्षि-

कश्रुतिः संवादयति । अन्यत्रेति ॥ प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वास्तीति
मन्वानः श्रुतेः । यदीति ॥ अनुपलभ्यमानस्यापि सत्त्वमाशङ्काह । इत्ये-
तदिति ॥ अप्रत्यक्षस्यापि जगन्मूलस्यास्तित्वं प्रतिपादयितुमुत्तरपन्थ-
मवतारयति । तथेति ॥ १३ ॥

नोपलभ्यते स्वेव प्रकारेणेति शेषः । इतीममर्थं प्रत्यक्षीकर्तुं यदी-
च्छसि तर्हि दृष्टान्तसत्त्व इच्छति योजना । रात्रेरत्ययानन्तर्यमथश-
ब्दार्थः । जगन्मूलं स्वतोऽप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षसुपायान्तरेणेति पितोक्तोऽर्थस्तं
प्रत्यक्षीचिकीर्षु घटादावुदके पिण्डरूपं लवणं रात्रौ प्रक्षिप्य तद-

न विवेद यथा विलीनमेवाङ्ग ॥ १ ॥ अथान्ता-
दाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति
कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति
लवणमित्यभिप्राश्यैतदथ मोपसीदथा इति तच्च

प्रवानसि अङ्ग हे वत्स तदा-रेत्यङ्गलवणमाजिहीर्षुर्हं
किलावच्छेदके न विवेद न विज्ञातवान् । यथा तल्लवणं
विद्यमानमपि सत् अस्मिन् लीनं संक्षिप्तमभूत् यथा विलीनं
लवणं न वेत्त तथापि तच्चक्षुषा स्पर्शनेन च पिण्डरूपं
लवणमगच्छमाणं विद्यत एवाप्तुं लभ्यते चोपायान्तरेण-
त्येतत्पुत्रं प्रत्याययितुमिच्छन्नाहाहास्योदकान्तादुपरि
गृहीत्वाऽऽचामेत्युक्त्वा पुत्रं तथास्तवन्तमुवाच कथमितीतर
आह लवणं स्वादुत इति । मध्यादुदकस्य गृहीत्वाऽऽ-
चामेति कथमिति लवणमिति । तथान्तादधोदेशाद्गृहीत्वा-
ऽऽचामेति कथमिति लवणमिति । यद्येवमभिप्रायस्य
परित्यज्यैतदुदकमाचम्याथ मोपसीदथा इति तच्च तथा

प्रवानन्तरं प्रातःकाशे पिण्डसमीपे ज्वेतकेतुर्गतवानित्याह ॥ ४ ॥ हेति ॥ यथा
तल्पिण्डरूपं लवणं प्रक्षेपात् प्रागभूत्तथा न विज्ञातवानिति लब्धत्वः ॥
उदके प्रक्षिप्तं लवणं विन्द्यापि न ज्ञायते चेद्वदेव तर्हि तदित्याशङ्क्याह ।
विद्यमानमेवेति ॥ किमिति चक्षुषा स्पर्शेन वा मोपलभ्यते तत्राह ।
अक्षिपति ॥ कथं तर्हि विद्यमानत्वमवगतं तत्राह । वचेति ॥ यद्यपि पिण्ड-
रूपं लवणमुदके जिह्वमवच्छेद्यापि चक्षुःस्पर्शनाभ्यां न त्वं वेत्त तथापि
तत्तत्तं विद्यत एव । यतस्तस्यामष्टद्व्युपायमपि ततोपायान्तरेणोपलभ्यत

तथा चकार तच्छब्दस्यैवर्त्तते त एवोवाचाच वाव
 किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥
 स य एषोऽणिमैतदात्मामिद ए सर्वं तत्त्वत्य ए
 स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकीतो इति भूय एव मा

चकार लवणं परित्यज्य पितृसमीप आजगामेत्यर्थः । इदं
 वचनं ब्रुवन् तल्लवणं तस्मिन्नेवोदके यन्मया रात्रौ क्षिप्तं
 शश्वन्वित्यं संवर्त्तते विद्यमानमेव सत्त्वम्यग्वर्त्तत इत्येवमुक्त-
 वन्तं ह उवाच पिता । यद्येदं लवणं दर्शनस्पर्शनाभ्यां पूर्वमग-
 तीतं पुनरुदके विलीनं ताभ्यामगृह्यमाणमपि विद्यत एवो-
 पायान्तरेण जिह्वयोपलभ्यमानत्वात् । एवमेवात्रैवास्मिन्नेव
 तेजोबन्नादिकार्ये शुद्धे देहे । वाव किलेत्याचार्योपदेशश्च-
 रणप्रदर्शनार्थो । सत्तेजोबन्नादिशुद्धकारणं वटवीजाणि-
 मवद्विद्यमानमेवेन्द्रियैर्नोपलभ्यते न निभालयसे । यथात्रै-
 वोदके दर्शनस्पर्शनाभ्यामुपलभ्यमानं लवणं विद्यमानमेव
 जिह्वयोपलभ्यमानमिदमेवमेवात्रैव किल विद्यमानं सज्ज-
 गन्मूलमुपायान्तरेण लवणमिव तदुपलभ्यस इति वाक्य-

इत्येतमर्थं पुत्रं प्रत्यावयितुमुत्तरं वाक्यमित्यर्थः ॥ यथायदो वटपीत्यर्थे ॥
 तद्वेत्यादि व्याचष्टे । लवणमिति ॥ संवर्त्तत इतीदं वचनं ब्रुवन्मन्वाजगा-
 मेति सम्बन्धः ॥ उटान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह । इत्येवमुक्तवन्तमित्यादिन ॥
 सतो जगन्मूलस्यास्मिन्नेहे सत्त्वं त्वया कथमवगतमित्यत आह । उवाचेति ॥
 अत्र वावेत्यादिनाऽत्रैव किलेत्यस्य पौनरुक्त्यमाशङ्कार्थविशेषं दर्शयति ।
 यथात्रैत्यादिना ॥ उपायान्तरजिज्ञासया प्रवृत्तिः । वदोवमिति ॥ तर्हि

भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोमेति होवाच

॥ ३ ॥ १३ ॥

यथा सोमः पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनवाक्षमा-
नीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् यथा तत्र प्राङ्वा

शेषः । स य इत्यादि समानम् । यद्येवं लवणमिव तदि-
न्द्रियैरनुपलभ्यमानमपि ज्ञानमूलं सदुपायान्तरेणोपलब्धं
शक्यते यदुपलब्धात्कृतार्थः स्यामनुपलब्धाच्चाकृतार्थः स्या-
महं तस्योपलब्धौ क उपाय इत्येतद्भूय एव मा भगवान्
विज्ञापयतु दृष्टान्तेन तथा सोमेति होवाच ॥ १३ ॥

यथा लोके हे सोम्य पुरुषं यं कश्चिद्गन्धारेभ्यो जन-
पदेभ्योऽभिनवाक्षं वद्वचक्षुषमानीय द्रव्यहर्ता तस्कर-
स्तमभिनवाक्षमेव वद्वहस्तमरस्ये ततोऽप्यतिजनेऽतिगत-
जनेऽत्यन्तविगतजने देशे विसृजेत् स तत्र दिग्भ्रमोपेतो
यथा प्राङ्वा प्रागक्षुनः प्राङ्मुखो वेत्यर्थः । तथोदङ्वा-
ऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायितशब्दं कुर्याद्विक्रोशेत् । अभि-

तदेत्यध्याहृतस्य तस्येत्यादिना सम्बन्धः । सतो मूलस्योपलब्धेऽनुपलब्धे वा
किं स्यादित्याशङ्काह । यदुपलब्धादिति । बुभुक्षितसुपायस्य पदार्थवित्तुसत्त-
रपन्वसुपादत्ते । तथेति ॥ १३ ॥

यथायसुपायः शक्यो सादं तथा लोके प्रदृश्यते दृष्टान्त इत्याह ।
यथेति ॥ तमेव दृष्टान्तं व्याचष्टे । हे सोम्येति ॥ यथा दिग्भ्रमोपेतो यत्कि-
ञ्चिद्दिग्भ्रमो विसृज्यति तथा स तत्र विजने देशे शब्दं कुर्यादिति ॥
सम्बन्धः ॥ प्राङ्मुखस्यार्थमाह । प्रागक्षुन इति ॥ तस्यैव विवक्षितमर्थं

उदङ्गाधराङ्गा प्रभायीताभिनवाच्च आनीतो
ऽभिनवाच्चो विदृष्टः ॥ १ ॥ तस्य यथाभिनहनं

नवाच्चोऽहं गन्धारेभ्यस्तस्करेणानीतोऽभिनवाच्च एव
विदृष्ट इत्येवं विक्रोशतस्तस्य यथाभिनहनं यथा बन्धनं
प्रमुच्य सुक्ता कारणिकः कश्चिदेतां दिशमुत्तरतो
गन्धारा एतां दिशं ब्रजेति प्रब्रूयात् स एवं कारणिकेन
बन्धनान्मोक्षितो ग्रामाद्ग्रामान्तरं पृच्छन्पण्डित उपदे-
शवान्मोधावी परोपदिष्टग्रामप्रवेशमार्गावधारणसमर्थः
सन् गन्धारानेवोपसम्यद्येत नेतरो मूढमतिर्देशान्तरद-
र्शनतृडा । यथाऽयं दृष्टान्तो वर्णितः स्वविषयेभ्यो गन्धा-
रेभ्यः पुरुषस्तस्करैरभिनवाच्चोऽविवेको दिङ्मूढोऽग्रनाया-
पिपासादिमान् व्याघ्रतस्कराद्यनेकभयानर्थज्ञातसुतमरण्यं
प्रविशतो दुःखार्तो विक्रोशन् बन्धनेभ्यो सुमुक्षुस्तिष्ठति
स कथञ्चिदिव कारणिकेन केनचिन्मोक्षितः स्वदेशान्

कथयति । प्राञ्जल इति ॥ वक्ष्यमाणप्रकारैर्विकल्पार्थो वाच्यः । यथा
बन्धनं बन्धनमनुसृत्येति यावत् ॥ पण्डितो मोधावोति विशेषणद्वयस्य
व्यवच्छेदं दर्शयति । नेतरइति ॥ व्याख्यातं दृष्टान्तं सोपस्कारमनु-
वदति । वयेत्यादिना । दार्ष्टान्तिकं व्याचष्टे । एवमिति ॥
आदिशब्देन वाच्याकाशौ सङ्गृहेते । अयद्विकारार्थः ॥ देहा-
रण्यस्यानेकानर्थसङ्गटनं कथयति । वातेति । शीतोष्णादीन्मादिशब्देन
रागद्वेषादि हृन्मूढमूर्खत्वम् । तेनानेकेन हन्नेन जातं सुखं च मनुष्येतिमिदं
देहारण्यमिच्छेतत् । बन्धादीन्मादिशब्दो भिलषेणादिभिन्नः । पुण्य-
उण्यादीन्मादिपदं अपिद्याकामवाचनार्थम् । देहारण्यं प्रविष्टस्य

प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं
ब्रजेति स ग्रामाङ्गामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी

गान्धारानेवापन्नो निर्हतः सुख्यभून्मया । एवमेव सतो
जगदात्मनः स्वरूपात्तेजोवत्त्वादिभयं देहारण्यं वा-
तपित्तकफरुधिरमेदोमांसास्थिमज्जाशुक्रकृमिमूत्रपुरीषव-
च्छीतोष्णाद्यनेकद्वन्द्वदुःखवज्जेदं मोहपटाभिनद्धाक्षो भा-
व्यापुत्रपशुबन्धादिदृष्टादृष्टानेकविषये तृष्णापाशितः
पुण्यापुण्यादिकर्म्मतत्कारैः प्रवेशितोऽहममुच्य पुत्रो ममैते
बान्धवाः सुख्यहं दुःखी मूढः पण्डितो धार्मिको बन्धुमान्
जातो घृतो जीर्णः पापी पुत्रो मे घृतो धनं मे नष्टं
हा हतोऽस्मि कथं जीविष्यामि का मे गतिः किं मे
ताणमित्येवमनेकशतसहस्रानर्थजालवानिव क्रोशन् कथञ्चि
दिव पुण्यातिशयात्परमकारुणिकं कश्चित्सद्ब्रह्मात्मविद्
विमुक्तबन्धनं ब्रह्मिष्ठं यदाऽऽसादयति तेन च ब्रह्मविदा

जन्तोर्विक्रोशनप्रकारं सकारणं सूचयति । अङ्गमित्त्वादिना ॥ तस्य सदा
दुःखितशङ्कां वारयति । कथञ्चिदिवेति ॥ व्यापाततो ब्रह्मविषयसात्त्विकेण
सुक्तबन्धनत्वाच्चित्तेर्विशिनष्टि । ब्रह्मिष्ठमिति ॥ यदाऽऽसादयति तदा सुखी
स्वादिसुत्तरत्वं सम्बन्धः । संसारविषयं दोषदर्शनं तस्य क्षयिष्णुत्वादिज्ञानं
तस्य भागौ विवेकः स यस्याचार्येण दर्शितविद्यातः सदर्थितसंसारविषयदोष-
दर्शनमार्गः ॥ आचार्येण साधनचतुष्टयसम्पन्नस्याधिकारिणः संसारान्नो
चित्तत्वप्रकारं दर्शयति । नास्तीति ॥ यद्यपि वाक्यार्थज्ञाने वाक्यमेवोपाय-
स्ताथाप्याचार्योपदेशजनितातिशयदर्शनात्तदुपदेशोऽवगन्तव्यवाक्यार्थज्ञाने
प्रथमो हेतुरपदेशमात्राद्यस्य नावगन्तव्यवाक्यार्थधीकस्य प्रकाशादसम्भा-

गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो

कारण्याहर्षितसंसारविषयदोषदर्शनमार्गो विरक्तः संसार-
विषयेभ्यः । नासि त्वं संसार्यमुष्य पुत्रत्वादिधर्मवान्
किन्तर्हि सद्यस्तत्त्वमसीत्यविद्यामोहपटाभिनहनान्मोक्षितो
गन्धारपुरुषवच्च स्वं सदात्मानमुपसम्पद्य सुखी निर्वृतः
स्य दित्येतमेवार्थमाहाचार्यवान् पुरुषो वेदेति तस्या-
स्यैवमाचार्यवतो मुक्ताविद्याभिनहनस्य तावदेव तावा-
नेव कालश्चिरं क्षेपः सदात्मस्वरूपसम्पत्तेरिति वाक्यशेषः ।
कियान् कालश्चिरमित्युच्यते यावन्न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्य-
ते इत्येतत्पुरुषव्यत्ययेन । सामर्थ्यात् । येन कर्मणा शरीर-
मारब्धं तस्योपभोगेन क्षयाद्देहपातो यावदित्यर्थः । अथ
तदैव सत्सम्पत्प्राप्त इति पूर्ववत् । न हि देहमोक्षस्य सत्स-

वनानिरसनसमर्थो विचारो मेधाविषये न विहितस्तस्य प्रज्ञातिशयवति
प्रयोगादिति भावः ॥ पुरुषव्यत्यये हेतुमाह । सामर्थ्यादिति ॥ अक्षय्युप-
पदेऽसत्त्वत्तमपुरुषप्रयोगानुपपत्तेर्देहादिस्थित्यनुपपत्तेर्वैत्यर्थः ॥ यावदित्या-
दिवाक्यार्थं स्पष्टयति । येनेति ॥ पूर्ववदिति सामर्थ्यात्पुरुषव्यत्ययं लक्ष-
यति । अथ यदस्य सत्सम्पत्तेर्देहमोक्षादानन्त्यर्थमर्थो भविष्यतीत्याश-
ङ्गाह । न हीति ॥ अथ सम्पत्स्य इति विदेहसृष्टिसक्तः प्राप्तिपति । नन्वि-
ति ॥ अप्रवृत्तफलानीति शब्देः । उत्पन्ने चेति चकारोऽन्वर्थः । विमतानि
कर्माणि ब्रह्मज्ञानेन न क्षीयन्ते कर्मत्वात्प्रवृत्त फलकर्मावदित्यर्थः ॥ क्षीयन्ते
प्राप्त कर्माणि । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माशीत्यादि श्रुतिस्मृतिविरोधात्का-
लावयः पट्टतेति शङ्कते । क्षयेति श्रुतिस्मृत्त्याह श्रुतिस्मृत्योर्यथाश्रुता-
र्थतेति परिहरति । तदेति ॥ ज्ञानस्थानर्थक्यसङ्गा पञ्चान्वरमाह । देशा-

वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्त विमोक्ष्येऽथ

म्यत्तेष्व कालभेदोऽस्ति येनाथशब्द आनन्तर्यार्थः स्यात् । ननु यथा सहिज्ञानानन्तरमेव देहपातः सत्यम्यत्तिश्च न भवति कर्मशेषवशात्तथाऽप्रवृत्तफलानि प्राप्नुयानोत्यत्ते-
र्जन्मान्तरसञ्चितान्यपि कर्माणि सन्तीति तत्फलोपभो-
गार्थं पतितेऽस्मिन् शरीरान्तरमारब्धव्यम् । उत्पन्ने च ज्ञाने
यावज्जीवं विहितानि प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि करो-
त्येवेति तत्फलोपभोगार्थश्चावश्यं शरीरान्तरमारब्धं
ततश्च कर्माणि ततः शरीरान्तरमिति ज्ञानानर्थक्यम् ।
कर्माणां फलवत्त्वात् । अप्रवृत्तफलानि कर्माणि न ब्रह्म-
ज्ञानेन क्षीयन्ते कर्मत्वात्प्रवृत्तफलकर्मवदित्युक्तं तत्र
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणीति स्मृतिविरोधः । अथ ज्ञानवतः
क्षीयन्ते कर्माणि । तदा ज्ञानप्राप्तिसमकालमेव ज्ञानस्य

नरेति ॥ यथा पाप्मप्राप्तिप्रपायोऽप्येव रथो वेति ज्ञाने सत्यसत्त्वान्तराये कस्य-
चिदेव पाप्मप्राप्तिर्भवति न त्वन्तरायवत्सत्त्वज्ञानेऽपि तत्प्राप्तिर्यथा
तथा सत्यसत्त्वज्ञानस्यापि कस्यचिदेव भोगेन क्षीयकर्मार्थवत्त्वमप्येव न
ज्ञानमात्रादित्यनियतफलत्वमित्यर्थः ॥ कर्मत्वहेतोः प्रयोजकत्वं वदन्नुक्त-
रमाह । न कर्मणामिति । सङ्गुह्याहमेव प्रपञ्चयत्तदौ नार्थं स्फुट-
यति । यदुक्तमिति ॥ तत्र हेतुमाह । विदुष इति ॥ प्राप्ताख्याहो ज्ञानरा-
रम्भे तर्हिरोधप्रसङ्गादिति शेषः ॥ सत्यन्तरमात्रित्वं यदुक्ते । नमिति ॥
तथाचानारब्धकर्मवशाद्विदुषोऽपि देहान्तरमारब्धव्यमिति शेषः । तत्प्रा-
प्त्याप्यसङ्गीकरोति ॥ सत्यमेवमिति ॥ तर्हि विदुषोऽपि देहान्तरजनारब्ध-
कर्मवशादारब्धव्यं नेत्याह । तथापीति ॥ विशेषमेवाकाङ्क्षाद्वारा वि-
दयति । कथमित्यादिना ॥ प्रवृत्तफलत्वमेव स्फुटयति । वैरिति ॥

सम्पत्त्य इति ॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्म्य-
मिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेत-

तत्त्वमसि हेतुत्वान्मोक्षः स्यादिति शरीरपातः स्यात् । तथा
चाचार्य्यभाव इत्याचार्य्यवान् पुरुषो वेदेति अनुपपत्तिज्ञा-
नान्मोक्षाभावप्रसङ्गश्च । देशान्तरप्राप्त्युपायज्ञानवदनै-
कान्तिकफलत्वं वा ज्ञानस्य । न कर्मणां प्रवृत्ताप्रवृत्त-
फलवत्त्वविशेषोत्पत्तेः । यदुक्तमप्रवृत्तफलानां कर्मणां
प्रवृत्तफलवत्त्वाद्भ्रष्टविदः शरीरे पतिते शरीरान्तरमारब्ध-
व्यमप्रवृत्तकर्म फलोपभोगार्थमित्येतदसत् । विदुषस्तस्य
तावदेव चिरमिति श्रुतेः प्रामाण्यात् । ननु पुण्यो वै पुण्येन
कर्मणा भवतीत्यादिश्रुतेरपि प्रामाण्यमेव । सत्यमेवं तथापि
प्रवृत्तफलानामप्रवृत्तफलानाञ्च कर्मणां विशेषोऽस्ति कथं
यानि प्रवृत्तफलानि कर्माणि । यैर्विदुश्चरारमारब्धन्ते-
षामुपभोगेनैव क्षयः । यथारब्धवेगस्य लक्षमुक्तेष्वादेर्वेग-

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथेति ॥ लक्ष्यस्य वेधो भेदनं तत्त्वमकालमेवे-
ष्वादेरुक्तं गतिप्रयोजनं नास्तीति न स्थितिलक्ष्यसहितस्य उक्तस्य
तत्त्वारब्धवेगस्याप्रतिबन्धेन तेन वेगेनासादितस्य उक्तस्य वेगक्षयादेव
स्थितिर्दृष्टान्तवद्विद्यार्थो देहे विद्यासाधनान्तरं फलं नास्तीति न कर्माणि
निवर्त्तन्ते किन्तु भोगक्षयादेव तस्य लक्ष्यवृत्तित्वादित्यर्थः ॥ प्रवृत्तफले-
भ्योऽप्रवृत्तफलानां कर्मणां विशेषश्चाह । अस्यानि त्विति ॥ न चाप्रवृत्त-
फलानां कर्मणां प्रत्यक्षोऽप्रसिद्धस्तथाविधस्तैव पापस्य प्रायश्चित्तेनेव
प्रत्यक्षोपभोगादित्याह । प्रायश्चित्तेनेवेति ॥ चारब्धफलातिरिक्तानां
कर्मणां ज्ञानाद्विदुस्तौ श्रुतिश्रुतौ दर्शयति । ज्ञानान्निरित्यादिना ॥

केतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोमेति होवाच ॥ ३ ॥ १४ ॥

क्षयादेव स्थितिर्न तु लक्ष्यवैधसमकालमेव प्रयोजनं
नास्तीति तद्वत् । अन्यानि त्वप्रवृत्तफलानीह प्राज्ञानोत्प-
त्तेरुर्द्धं च क्षतानि वा क्रियमाणानि वाऽतीतजन्मात्तर-
क्षतानि वाऽप्रवृत्तफलानि ज्ञानेन दह्यन्ते । प्रायश्चित्ते-
नेव । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुशते तथेति स्मृतेश्च ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणीति चार्थवशे । अतो ब्रह्मविदो
जीवनादिप्रयोजनाभावेऽपि प्रवृत्तफलानां कर्माणामवश्य-
मेव फलोपभोगः स्यादिति सुक्तेषुवत्तस्य तावदेव चिरं
इति युक्तमेव चीकं यथोक्तदोषचोदनानुपपत्तिः । ज्ञानो-
त्पत्तेरुर्द्धं च ब्रह्मविदः कर्माभावमवोचाम । ब्रह्मसंस्थो-
ऽस्तत्त्वमेतीत्यत्र तच्च स्मृत्तमूर्धसि स य इत्याद्युक्तार्थम् ।

प्रवृत्ताप्रवृत्तफलेषु कर्मसु सिद्धे विशेषे फलितमाह । अत इति ॥
जीवनवृद्ध्यादिशब्देन पुत्रकलत्वादि मृच्छते । सुक्तस्याप्रतिबन्धेऽप्यु-
वद्भेगक्षयं गतिप्रौढ्यव्यवहारवदारब्धकर्माणां फलभोगेऽवश्यमेव स्यादिति
सम्बन्धः । यतश्चारब्धकर्माणां भोगादेव क्षयस्तस्येत्यादिना यश्चिरत्वं
सत्सम्पत्तेरुक्तं तदुक्तमेवेति क्त्वा यथोक्तस्य दोषस्य सद्यः शरीरपातादि-
नक्षयस्याशङ्कानुपपत्तिरित्युपसंहरति । इतीति ॥ आद्यस्येतिशब्दस्य
तस्येत्यनेन सम्बन्धः ॥ यत्तत्पक्षेऽपि ज्ञाने यावज्जीवविहितानि करोत्येवेति
तत्माह । ज्ञानोत्पत्तेरिति ॥ ज्ञानस्य नानर्थक्यमविद्यातत्कार्यनिवर्त्तनेन
सत्सम्पत्तिहेतुत्वाच्च । अनेकान्तिकफलत्वमन्तरायाभावादित्युक्तमिदानीम-
र्चिरादिमार्गप्राप्त्या वाऽनैवाविद्यानिर्हासमात्रेण वा सत्सम्पत्तिरिति

पुरुषः सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपा-
सते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न
वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः
परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥ अथ
यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्ते-

आचार्यवानिव । तद्वान् येन क्रमेण सत्सम्पद्यते तं क्रम-
दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति । तथा
सोम्येति होवाच ॥ १४ ॥

पुरुषं हे सोम्य उपतापिनं पुराद्युपतापवन्तं ज्ञातयो
बान्धवाः परिवार्योपासते सुमूर्धुं जानासि मां तव पितरं
पुत्रं ज्ञातरथेति दृष्ट्वन्तस्तस्य सुमूर्धोर्यावन्न वाङ्मनसि
सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामि-
त्येतदुक्तार्थम् । संसारिणो यो मरणक्रमः स एवायं विदुषो
ऽपि सत्सम्पत्तिक्रम इत्येतदाह परस्यां देवतायां तेजसि
सम्पद्येऽयं न जानाति । अविद्वांसु तत उत्थाय प्राग्भा-
वितं व्याघ्रादिभावं देवमनुष्यादिभावं वा विशति ।
विद्वांसु शास्त्राचार्योपदेशजनितज्ञानदीपप्रकाशितं सद्-

सन्दिहानः शक्नुते । आचार्यवानिति ॥ संशयानस्य सम्बोधनार्थमुत्तरं
वाक्यमवतारयति । तथेति ॥ १४ ॥

नन्वेव संसारिणो मरणक्रमो नह्य विदुषः सत्सम्पत्तिक्रमस्तयो-
र्विशेषस्तु वक्तव्यत्वं दंत आह । संसारिण इति ॥ मरणोपरमे तेजः
सहचरितभूतसूक्ष्मोपसंहारे च विशेषविज्ञानाभावः सत्त्व एव विद्वद्वि-
दुषोरित्यर्थः ॥ कस्तर्हि तयोर्विशेषस्तत्वाह । अविद्वांसिति ॥ ततस्तस्या-

जसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति
॥ २ ॥ स य एषोऽणिमैतदात्मामिदं सर्वं
तत्त्वत् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति

ब्रह्मात्मानं प्रविश्य नावर्त्तत इत्येष सत्त्वम्यक्तकर्मः । अन्ये तु
मूर्खं न्याया नाद्योक्तस्यादित्यादिहारेण सङ्गच्छन्तीत्याहुस्त-
दसत् । देशकालनिमित्तफलाभिसन्धानेन गमनदर्शनात् ।
न हि सदात्मैकत्वदर्शिनः सत्याभिसन्धस्य देशकालनिमित्त-
फलाद्यवृत्ताभिसन्धिरूपपद्यते । विरोधात् । अविद्याकाम-
कर्माणाञ्च गमननिमित्तानां सद्भिज्ञानकृताशनविभु एत्वा-
ङ्गमनानुपपत्तिरेव । पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विवैव सर्वे
विलीयन्ते कामा इत्याद्यायर्वणे । नदीसमुद्रदृष्टान्तश्रुतेः ।
स य इत्यादि समानम् । यदि मरिष्यतो मुमुक्ष्यतश्च तुल्या

दद्यात्तदात्मनः सकाशादिति यावत् । एकदेशितसत्त्वत्वाच्च प्रत्याचक्षे ।
अन्ये त्विति ॥ भवतु विदुषोऽपितदभिसन्धिपूर्वकं गमनमित्याशङ्काह ।
नङ्गीति ॥ आदिशब्देन गत्यागतिर्गच्छते ॥ सद्भिज्ञानवतो गमनायोगे
हेत्वन्तरमाह । अविद्येति ॥ विदुषोऽविद्याकामकर्माणांभावे प्रमाणमाह ।
पर्याप्तकामस्येति ॥ ननु कामप्रविलय एवात्र श्रूयते नाविद्याकामकर्मानि-
ष्ठाकस्तत्वाह । नदीति । जघा नद्यो गङ्गाद्या नामरूपे विद्मः य सङ्ग-
प्रविशन्ति तथा विद्वासांरूपे हित्वा परं पुरुषमुपैतीति इष्टान्पूर्वको
यः श्रुतेर्नामरूपबीजावस्थाविद्याया लयो गम्यते नचाविद्याकामयोरभावे
कर्म्मोपपत्तिस्तस्याह विदुषो नतिपूर्विका सत्त्वम्यक्तिरित्यर्थः । विमतः
सत्त्वम्यक्तः पुनरावर्त्तितमर्हति सत्त्वम्यक्तत्वात्परमकावे सत्त्वम्यक्तवद्विमतो वा
विशेषविज्ञानाभावेनात्मनिका विदुषो विज्ञानाभावत्वान्मरणकालीनवि-

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोमेति होवाच ॥ ३ ॥ १५ ॥

पुरुषः सोमरोत हस्तगृहीतमानवन्धप्रहार्षी-
त्स्तेयमकार्षीत्यरशुमन्त्रौ तपतेति स यदि तस्य
कर्त्ता भवति तत एवानृतमात्मानम् कुरुते सोऽनृ-
ताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्द्वाय परशुं तप्तं प्रति-

सत्सम्पत्तिस्तत्र विद्वान् सत्सम्पन्नो नावर्त्तते आवर्त्ततेऽविदा-
नित्यत्र कारणं दृष्टान्तेन भूय एव मा भगवान् विज्ञा-
पयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ १५ ॥

शृणु यथा सोम्य पुरुषं चौर्यकर्मणि सन्दिह्यमानं
निग्रहाय परीक्षणाय चोतापि हस्तगृहीतं बद्धहस्तमान-
यन्ति राजपुरुषाः । किं कृतवानयमिति दृष्टाश्चाङ्गरपहा-
र्षीद्वनमस्थायम् । ते चाङ्गः किमपहरणमात्रेण बन्धनम-
र्हति । अन्यथा दत्तोऽपि धने बन्धनप्रसङ्गादित्युक्ताः पुन-
राङ्गः स्तेयमकार्षीच्चौर्येण धनमपहार्षीदिति । तेष्वेवं वदत्यु-
द्गतरोऽपङ्क्तुते नाहं तत्कर्त्ता इति । ते चाङ्गः सन्दिह्य-
मानाः स्तेयमकार्षीस्त्वमस्य धनस्तेति । तस्मिंश्चापङ्क्तुवति

शेषविज्ञानाभाववदित्यनुमानाद्विद्वद्विदुषोरविशेषं मन्वानः ब्रह्मते ।
यदीति ॥ तत्रानृताभिसन्धत्वं तादृगभिसन्धिमनिष्टत्वक्षोपाधिरित्यनुमान-
द्वयं दूषयितुसत्तरपन्थसत्यापयति । तथेति ॥ परीक्षणाय परीक्षाद्वारेणा-
र्थमिति यावत् ॥ १५ ॥

परशुसङ्ग्रहणमात्रेण बन्धने प्रतिपद्यीतुरपि बन्धनप्रसङ्गात् तन्मात्रं
बन्धनकारणमित्याह । अन्यथेति ॥ तत एवानृताभिसन्धत्वादेवेत्यर्थः ॥ तत

गृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥ अथ यदि
तस्याकर्त्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स
सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्द्वाय परशुं तप्तं

आहुः परशुमस्त्रै तपतेति शोधयत्वात्मानमिति । स यदि
तस्य सैन्यस्य कर्त्ता भवति वहिष्ठापङ्कृते स एवम्भूतस्तत
एवावृत्तमन्यथा भूतं मन्तमन्यथा आत्मानं कुरुते स तथा-
वृताभिसन्धोऽवृतेनात्मानमन्तर्द्वाय व्यवहितं कृत्वा परशुं
तप्तं मोहात्प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते राजपुरुषैः
स्वद्वतेनावृताभिसन्धिदोषेण । अथ यदि तस्य कर्मणोऽ-
कर्त्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स तथा सैन्याक-
र्त्तयात्मानमन्तर्द्वाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति सत्या-
भिसन्धः सन् दह्यते सत्यव्यवधानादथ मुच्यते च वृषा-
भियोक्तृभ्यः । तप्तपरशुहस्ततलसंयोगस्य तुल्यत्वेऽपि स्तेय-
कर्त्तृकलोरावृताभिसन्धो दह्यते न तु सत्याभिसन्धः ।
स यथा सत्याभिसन्धस्तप्तपरशुग्रहणकर्मणि सत्यव्यवहित-
हस्ततलत्वान्नादाह्येत न दह्यते इत्येतदेवं सदृशस्य सत्याभि-
सन्धेतरयोः शरीरपातकाले च तुल्यायां सत्सम्पत्तौ
विद्वान् सत्सम्पद्य न पुनर्यात्रदेवादिदेहग्रहणायावर्त्तते

एनेति सैन्यस्य कर्मणोऽकर्त्तृत्वादेवेत्यर्थः ॥ इटान्ते विवक्षितमंशमनुबर्हति।
तप्तेति ॥ तदनुवादपूर्वकं दार्ष्टान्तिकमाहुः । स वदेति ॥ स न एवोऽणि-
मेत्यादि व्याचष्टे । यदाह्येति ॥ त्वं तदसीति त्वमर्थोद्देशेन तदर्थभावो

प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥२॥ स यथा
तत्र नादाह्येतैतदात्ममिदं स सर्वं तत्त्वमसि स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्वास्य विज-

अविद्वांसु विकारावृताभिसन्धः पुनर्थाग्रादिभावं देवता-
दिभावं वा यथा कर्म यथा श्रुतं प्रतिपद्यते । यदात्माभि-
सन्धनभिसन्धिकृते मोक्षबन्धने यच्च मूलं जगतो यदा-
यतनाः यत्प्रतिष्ठासु सर्वाः प्रजाः यदात्मकसु सर्वं यज्ञा-
यमन्तमभयं शिवमद्वितीयं तत्त्वमसि स आत्मा तवातस्-
त्त्वमसि हे श्वेतकेतो इत्युक्तार्थमसकृदाख्यम् । कः पुनरसौ
श्वेतकेतुस्त्वय्यद्वयः । योऽहं श्वेतकेतुश्चालकस्य पुत्र
इति वेदात्मानमादेशं श्रुत्वा मत्वा विज्ञाय चाश्रुतममत-
मविज्ञातं विज्ञातुं पितरं पप्रच्छ कथं नु भगवः स
आदेशो भवतीति । स एषोऽधिकृतः श्रोता मन्ता विज्ञाता
तेजोबन्धमयकार्यकरणसङ्घातं प्रविष्टापरैव देवता नामरू-
पव्याकरणायादशे इव पुरुषः सूर्यादिरिव जलादौ
प्रतिबिम्बरूपेण स आत्मानं कार्यकारणोभयः प्रविभक्तं
सद्रूपं सर्वात्मानं प्राक् पितुः अवशान्न विजज्ञौ । अथेदानीं

विधीयते तत्रोद्देश्यस्य शरीरद्वयविशिष्टस्य विरोधादशरीरं ब्रह्मात्मत्वं
विधातुमशक्यमिति मन्वानसोदयति । कः पुनरिति ॥ त्वंपदेन वाच्यस्य
लक्ष्यस्य वा ब्राह्मत्वायोगस्त्वयोच्यते । नादोऽङ्गीकाराच्च द्वितीयो शरीरद्व-
यवैशिष्ट्योपलक्षितस्य श्रोतृत्वाद्यध्यासात्तदस्य त्वंपदलक्ष्यस्य ब्रह्मत्वविधाने
विरोधाऽस्करणादिति परिहरति । योऽहमिति ॥ विज्ञाय च वेदेति

ज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ २ ॥ १६ ॥ इति
छान्दोग्योपनिषत्सु षष्ठः प्रपाठकः ॥ ६ ॥

पित्वा प्रतिबोधितस्तत्त्वमसीतिदृष्टान्तैर्हेतुभिश्च तत्पितु-
रस्य च किलोक्तं सदेवाहमस्मीति विजज्ञौ विज्ञातवान् ।
द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्तर्यम् ॥ १६ ॥

किं पुनरत्र षष्ठे वाक्यप्रमाणेन जनितं फलमात्मनि
कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरधिकृतत्वं विज्ञाननिवृत्तिस्तस्य फलं वय-
मवोचाम । त्वंशब्दवाच्यमर्थं श्रोतुं मन्तुश्चाधिकृतमवि-
ज्ञातविज्ञानफलार्थम् । प्राक्चैतस्माद्विज्ञानादहमेवं करि-
ष्याम्यग्निहोत्रादीनि कर्माण्यहमत्वाधिकृतः । एषाञ्च
कर्माणां फलमिहामुत्र च भोक्ष्ये कृतेषु वा कर्मासु कृत-
कर्त्तव्यः स्यामित्येवं कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरधिकृतोऽस्मीत्यात्मनि
यद्विज्ञानमभूत्तस्य यत्सज्जगतो मूलमेकमेवाद्वितीयं
तत्त्वमसीत्यनेन वाक्येन प्रतिबुद्धस्य निवर्त्तते । विरोधः ।

पूर्वेण सह सम्बन्धः । तस्य सतः सकाशादौपाधिको भेदो यस्तु तत्त्वमिति
मत्वाह । तेजोऽवन्नमयमिति ॥ त्वंपदार्थं श्वेतकेतुं निर्द्धार्य तद्वाक्येत्यादि
व्याचष्टे । आत्मानमिति ॥ १६ ॥

अज्ञातार्थप्रकाशनं मानफलं तस्य स्वप्रकाशे ब्रह्मणि नोपपत्तिरिति
मन्वानश्चोदयति । किं पुनरिति ॥ आत्मानमीति सम्बन्धः । स्वप्रकाशे
स्वप्रकाशातिशयस्य मानफलस्यावश्यमेवोपपत्त्याद्व्यावृत्तिस्तत् फलं भविष्यतो-
त्पत्तरमाह । कर्तृत्वेति ॥ अत्र तस्य अवयवाभ्यामतस्य अनन्यायाकिज्ञातस्य
विज्ञानफलसिद्धये चाधिकृतं यमर्थं त्वम्पदवाच्यमवोचाम । तस्य आत्मानि
क्रियाकर्तृत्वे फलभोक्तृत्वे च ब्रह्मिण्येवाधिकृतत्वविज्ञानं तद्विद्वत्तिमान-

न ह्येकस्मिन् द्वितीय आत्मन्ययमहमस्मीति विज्ञाते भेद-
दमनेन कर्तव्यमिदं ज्ञात्वाऽस्य फलं भोक्ष्य इति वा भेद-
विज्ञानमुपपद्यते । तस्मात् सत्याद्वितीयात्मविज्ञाने विका-
रावृत्तजीवात्मविज्ञानं निवर्त्तत इति युक्तम् ॥ ननु तत्त्व-
मसीत्यत्र त्वंशब्दवाच्येऽर्थे सद्वबुद्धिरादिभ्यते । यथा आदि-
त्यमनआदिषु ब्रह्मादिबुद्धिः । यथा च लोके प्रतिमा-
दिषु विष्णुवादिबुद्धिरुदत् । ननु सदेव त्वमिति यदि
सदेव भ्येतकेतुः स्यात् कथमात्मानं न विजानीयात्
येन तस्मै तत्त्वमसीत्युपदिश्यते । न । अदित्यादिवाक्यवैल-
क्षण्यात् । आदित्यो ब्रह्मेत्यादाविति शब्दव्यवधानात् साक्षा-

फलमिति योजना ॥ यद्योक्तं मानफलमेव प्रपद्यति । प्राक् चेति ॥
अहमेवात्माधिकृतश्चेति चकारस्य सम्बन्धस्तस्येत्यस्येत्यर्थः ॥ विरोधमेव
स्फोरयति । न हीति ॥ प्रमथ्यफलमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ तत्त्वमसीति
वाक्यं मुख्यैकत्वपरमिति स्वपक्षसङ्गाः परपक्षं शङ्कते । नन्विति ॥ आध्या-
सिकमेकत्वं सामानाधिकरण्यालम्बनमिति स्वपक्षं दृष्टान्तेनोक्त्वा सिद्धान्तं
दूषयति । नन्विति ॥ भ्येतकेतोः सम्भाव्यत्वे तदज्ञानायोगादसङ्गदुपदे-
शासिद्धिरित्यर्थः । किमध्यासवाक्यसामान्यादाध्यासिकमेकत्वं सामानाधि-
करण्यालम्बनं किं वा मुख्यैकत्वे बाधकसङ्गावादिति विकल्पप्राप्तं दूषयति ।
नेत्यादिना ॥ यथा लोके शुक्लिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यादाविति शब्दपरं
सामानाधिकरण्यं न वस्तुनिष्ठं इदं तथाऽध्यासवाक्यानामध्यादित्यो
ब्रह्मेत्यादेय इत्यादीनामिति शब्दपरसामानाधिकरण्यवशादवस्तुनिष्ठत्वं
गम्यते न तथा तत्त्वमसिवाक्यस्यावस्तुनिष्ठत्वमितिशब्दपरत्वाभावेन सासा-
नाधिकरण्यस्य स्वरूपपर्यवसायित्वनिसयादित्यर्थः । इह त्विति प्रकर-
णोक्तिः । इह प्रवेशं दर्शयित्वेत्तत्र तेजोवत्प्रभयं सङ्गातमिहेति व्यपदि-
शति । जीवब्रह्मणोर्भेदमाह प्रमाणविरोधाच्च मुख्यमेकत्वं किन्तु चैतन्यगु-

‘वृत्रहृत्’ गम्यते । रूपादिमत्त्वाद्यादित्यादीनामाकाशममसी-
 चेति शब्दव्यवधानादेवावृत्त्यमिह सु सत एव देहप्रवेशं
 दर्शयित्वा तत्त्वमसीति निरङ्कुशं सदात्मभावमुपदिशति ।
 ननु पराक्रमादिगुणः सिंहेऽसि त्वमिति वक्तव्यमसीति
 स्यात् न अर्धाक्षयत्वादेकमेवादितीयम् । त्वमिति सुपदे-
 श्यात् । न चोपचारविज्ञानान्तरस्य साधदेव चिरमिति
 सत्त्वमिति रूपदिश्यते । अथात्वादुपचारविज्ञानस्य । त्व-
 मित्यो वम इतिवत् । नापि स्तुतिरनुपास्यत्वात् श्वेतकेतोः ।
 नापि सत् श्वेतकेतुत्वोपदेशेन सूयते । न हि राजा दास-
 स्वमिति स्तुतः स्यात् । नापि सतः सर्वात्मन एकदेशनि-

यवोगाद्गौशमिति द्वितीयं शङ्कते । नन्विति ॥ यथा अर्धादि कारणमेव
 अर्धादि कार्यं न पृथगेति तथा सर्वमिदमाकाशादिकार्यं सन्नात्वं तत्
 सर्वप्रकारभेदरहितमेकरसमबाधितमित्युपदेश्यदर्शनाच्च गौशमेकत्वमित्यु-
 त्तरमाह । नेत्यादिना ॥ इतश्च नोपचरितमेकत्वमित्याह । न चेति ॥ गौष-
 चारिकविज्ञानस्य कृपात्वे ढटान्तमाह । त्वमिति ॥ किञ्च गौषात्त्वमेकत्वं
 वदता स्तुत्यर्थं विधिपरत्वं वा वाक्यस्य वक्तव्यम् । आदेऽपि श्वेतकेतोः सती
 वा वस्तुनः स्तुतिरिति विकल्पग्राह्यं दूषयति । नापीति ॥ अथास्यत्वात् सतः
 स्तुतिरिति द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति । नापि सदिति ॥ इतश्च श्वेतकेतुत्वोप-
 देशेन सती न स्तुतिरित्याह । नापि सत इति ॥ श्वेतकेतो रपास्यत्वेन
 सत्त्वमस्येऽपि कर्तृत्वात्कर्म्मसु तत्सत्तावकत्वं वाक्यस्य युक्तमित्याशङ्क्य
 कर्म्मविध्यसंविधानात्सदात्मत्वमात्मप्रतीतिश्च नैवमित्याह । न चेति ॥
 विकल्पान्तरसंज्ञाययति । ननु सदस्मीतीति ॥ एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानव-
 चनविरोधाच्च ढटविधिपरत्वमित्युत्तरमाह । नन्विति ॥ गौषपक्षेऽपि
 तत्त्वानुपपत्तिरित्यपेक्षः । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानवृत्तेर्न विरीक्षो-
 ऽस्तीति पूर्ववाद्याह । नेति ॥ नेदमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं ढटविधि-

रोधो बुद्धिः । तत्त्वमसीति देशाधिपतिरिव ग्रामाध्यक्षत्व-
मिति । न चास्या गतिरिह सदात्मत्वोपदेशादर्थान्तरभूता-
सम्भक्तिः । ननु सकस्यीति बुद्धिमात्रमिह, कर्त्तव्यतया
चोक्तं नक्त्यातं सकस्यीति चाप्यत इति चेत् ॥ नन्वस्मिन्
पक्षेऽप्युक्तं न्युतं भवतीत्याद्युपपन्नम् । न । सकस्यीति बुद्धि-
विशेषः स्तुत्यर्थत्वम् । नाचार्यवान् पुरुषो वेदः । तस्य ताव-
देव चिरमित्युपदेशात् । यदि हि सकस्यीति बुद्धिमात्रं
कर्त्तव्यतया विधीयते नतु त्वंशब्दवाच्यस्य सद्रूपत्वमेव
तदा नाचार्यवाग्वेदेति ज्ञानोपायोपदेशो वाच्यः स्यात् ।
यथाग्निहोत्रं जुहुयादित्येवमादिष्वर्थमाप्तमेवाचार्यवत्व-

स्तुतिः कार्यकारणान्वत्वादियुक्तिभिरुपपादितत्वादिपक्षे चाकस्मा-
नादिनिराससमर्थाचार्यवत्त्वोपदेशानर्थक्यादौपदेशिकज्ञानक्षालेण विध्य-
नुष्ठानविधेर्विध्यपेक्षितं तस्य च तेनैवाज्ञेपादित्युत्तरमाह । नाचार्यवा-
निति ॥ तदेव विदधोति । यदि होति ॥ आचार्यवत्त्वमिति नोपदिश्यात्
इति शेषः ॥ इतश्च वेदं वाक्यं इदिविधि परमेष्ठ्यमित्याह । तस्येति ॥
सदात्मत्वस्यात्कारादतेऽपि सकदनुष्ठितपरोक्षबुद्धिमात्रात्पक्षक्यावा-
दित्वस्याभिधानमनर्थक्यपक्षेण । यथा सकदनुष्ठितादपि यागाहुवति
अर्थसङ्ग्रहिह च चिरधिति ज्ञेयकरणं योजयेति ॥ तस्माद्वेदं इदिविधि-
परमित्यर्थः ॥ किञ्च विधिवादिना प्रतीयमानेऽर्थे वाक्यस्याप्रामाण्यं
विषयासङ्गच्छत्वं वा वाच्यं तदुभयं दुर्वाच्यमित्याह । न चेति ॥ तत्त्वमसी-
त्यधिकारिणं प्रत्युक्ते सति प्रमाणभूतेन तेन वाक्येन, जनिता सङ्ख्याह-
मिति वा तस्य बुद्धिसां निवर्त्तमित्यत्र नाहं सदिति वचनस्य बुद्धित्वमेति
न शक्यते वक्तुम् । विशेषतः नुतवाक्यस्य तथापि बुद्ध्यादित्यादाश्च वाधि-
कारिणः नुतवाक्यस्य सङ्ख्याहमिति बुद्धिर्नोत्पद्येति वक्तुं शक्यम् । अधि-
कारिणः प्रसितिकनको वेद इति न्यायात् । न च वेदप्रत्ययो यथोक्तः वा

मिति तद्वत् । तस्य तावदेव चिरमिति चाक्षेपकरणं न
युक्तं स्यात् । सदात्मतत्त्वे विज्ञातेऽपि सकृदबुद्धिमात्रकरणे
मोक्षप्रसङ्गात् । नच तत्त्वमसीत्युक्तेनाहं सदितिप्रमाण-
वाक्यजनिता बुद्धिर्निवर्त्तयितुं शक्या नोत्पद्येति वाक्यं
वक्तुम् । सर्वोपनिषद्वाक्यानां तत्परतयैवोपक्षयात् ।
यथाग्निहोत्रादिविधिजनिताग्निहोत्रादिकर्त्तव्यताबुद्धीना-
मतथार्थत्वमनुत्पन्नत्वं वा न शक्यते वक्तुं तद्वत् । यदुक्तं
सदात्मा सन्नात्मानं कथं न जानीयादिति । नासी दोषः ।
कार्यकारणसङ्घातव्यतिरिक्तोऽहं जीवः कर्त्ता भोक्ते-
त्यपि स्वभावतः प्राणिनां विज्ञानादर्शनात् किम तस्य

ब्रह्मकस्तस्मात्प्रभेदप्रत्ययवन्निष्ठात्वात्तुभानादित्यर्थः ॥ इतश्च तत्त्वमसिवाक्यं
वस्तुपरमेवेत्याह । सर्वोपनिषदिति ॥ तत्त्वमसिवाक्याच्च यथार्था बुद्धि-
र्नापि न भवत्येव बुद्धिरित्येतमर्थं दृष्टान्तेनाह । यथेति ॥ जीवे भावमाने-
ऽप्यनवभासमानत्वाच्च स्वभावो ब्रह्मेत्युक्तमनूद्य दूषयति । यदुक्तमिति ॥
लोकायतातिरिक्तानां देहादतिरेको जीवस्य स्वाभाविकोऽपि आवभासते
तथा ब्रह्मभावोऽपि । तस्मान्नायनिर्वाण्यः शानसामर्थ्यादेव नावभासिष्यते ।
तथाच तस्मिन् भावमानेऽप्यनवभासमानत्वञ्च स्वभावो ब्रह्मेत्युक्तं व्याख्य-
भावादित्याह । कार्येति ॥ देहव्यतिरिक्तस्वभावादिनामात्मनि भाति
देहव्यतिरिक्तोऽपि भात्येनेति व्याप्तिरितिद्विरित्याशङ्क्याह । कथमिति ॥
देहादिषुक्तातादतिरिक्तोऽहमित्येवं व्यतिरिक्तविज्ञाने सति कथं तेषां
कतत्वादिविज्ञानं सम्भवति । न हि सुक्ताताभिमानविनये तद्युज्यते ।
नच तदाक्षीरव दह्यमानत्वादित्यर्थः ॥ सिद्धे दृष्टान्ते दाष्टीनिष्कषाह ।
तद्वदिति ॥ देहादतिरिक्तस्य सतोऽप्यप्रतिमानवत्सदात्मकस्यापि श्वेतकेतो-
र्देहादिज्वालाभिमानित्वात्सदात्मनि ब्रह्मणि विज्ञानं न स्यादतस्तत्त्व-

॥ॐ॥ अधौहि भगव इति होपाससाद सनत्कु-
मारं नारदस्तः होवाच यद्वेत्य तेन मोपसौद

सदात्मविज्ञानम् ॥ कथमेवं व्यतिरिक्तविज्ञाने सति तेषां
कर्तृत्वादिविज्ञानं सम्भवति । दृश्यते च । तद्वत्तस्यापि
देहादिष्वात्मबुद्धित्वान्न स्यात्सदात्मविज्ञानम् । तस्माद्विका-
रावृताधिकृतजीवात्मत्वविज्ञाननिवर्त्तकमेवेदं वाक्यं तत्त्व-
मसीति सिद्धमिति ॥ इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः
कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे षष्ठः प्रपाठकः सम्पूर्णः ॥ ६ ॥

ॐ तत्सत् ॥ परमार्थतत्त्वोपदेशप्रधानपरः षष्ठो-
ऽध्यायः सदात्मैकत्वनिर्णयपरतथैवोपयुक्तः । न सतोऽर्वा-

भावस्यापि ब्रह्मभावस्याप्रतिभानसञ्ज्ञानकृतमित्यर्थः ॥ वाक्यस्यार्थान्तरपर-
त्वासम्भवे फलितसुपसंहरति । तस्मादिति ॥ महाव कथसोक्तया
विधवाद्यार्थान्तरपरत्वासम्भवाद्विकारेऽनृताभिसन्निहतोऽयं जीवात्मेत्येवं
रूपं यन्निश्चयज्ञानं तस्य सनिदानस्य निवर्त्तकमेवेदं तत्त्वमसिवाक्यं न
त्वभूतप्रादुर्भावफलमित्येवं जीवब्रह्मणोरैक्यं सर्वोपनिषत्सारभूतं
स्थितमित्यर्थः ॥ इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकश्रीशुक्लानन्दपूज्यपादादि-
ष्यभगवदानन्दज्ञानकृतायां श्रीशङ्करभगवत्कृतछान्दोग्यभाष्यटीकायां
षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥ ॐ तत् सत् ॥

ॐ । षष्ठसप्तमयोरध्याययोः सम्बन्धं वक्तुंकासः षष्ठे वृत्तं कीर्त्तयति ।
परमार्थेति ॥ उत्तमाधिकारिणं प्रत्यवाधिततत्त्वबोधनं प्रधानं तत्त्वरोऽतो
तोऽध्यायः स सर्वो ब्रह्मणः प्रत्यङ्गनिश्चयपरत्वेनैव व्याख्यात इत्यर्थः ॥
अध्यायान्तरभूमिकामारचयति । न सत् इति ॥ मध्यमधिकारिणं प्रवि-
परम्परया ब्रह्मात्मत्वसुपदेशुः सप्तमप्रपाठकप्रवृत्तिरित्यर्थः । नन्वात्र

ततस्तज्जुर्वेदं वक्ष्यामीति ॥१॥ स होवाचर्वेदं भग-
वोऽथ्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमि-
तिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्रां राशिं
दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्म-

ग्विकारलक्षणानि तत्त्वानि निर्दिष्टानीत्यतस्तानि नामा-
दीनि प्राणान्तानि क्रमेण निर्दिश्य तद्वहारेणापि भूमाख्यं
निरतिशयं तत्त्वं निर्देक्ष्यामीति शाखाचन्द्रदर्शनवदितीमं
सप्तमं प्रपाठकमारभते । अनिर्दिष्टेषु हि सतोऽर्वाक्तत्वेषु
सम्भावे च निर्दिष्टेऽन्यदप्यविज्ञातं स्यादित्याशङ्का कस्य-
चित्स्यात्सामा भूदिति वा तानि निर्दिदिक्षति । अथवा
सोपानारोहणवत्स्थूलादारभ्य सूक्ष्मां सूक्ष्मतरश्च बुद्धि-
विषयं ज्ञापयित्वा तदतिरिक्ते स्वाराज्येऽभिषेक्ष्यामीति
नामादीनि निर्दिदिक्षति । अथवा नामाद्युत्तरोत्तर-
विशिष्टानि तत्त्वान्यतितराश्च तेषामुत्कृष्टतमं भूमाख्यं

ब्रह्मात्ममेवोपदेष्टुमिष्टञ्चेत्किमिति तर्हि नामादीनि तत्त्वानि निर्दि-
श्यन्ते तत्राह । अनिर्दिष्टेति । वाच्यम् : यद्वागिरासावेत्यर्थः । यद्वा
द्वयोरध्याययोरद्वितीयब्रह्मात्मविषयत्वाविशेषेऽपि साक्षात्पारम्पर्याध्या-
मयोनरत्नसूक्तं सत्यनि नामादीनामुत्तरोत्तरभूयस्त्वर्कशिष्टानां सम्भाववि-
ज्ञानेनाज्ञानादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमयुक्तमित्याशङ्क्य ब्रह्मविदः सर्वज्ञत्वं
अटीकुञ्चुत्तरपन्थान्तरादप्यवस्थाह । निर्दिष्टेति ॥ नामादिस-
ङ्कोर्जनस्य तात्पर्यान्तरमाह । अथवेति ॥ अथकोऽधिकारी नामादीनि
ब्रह्मत्वेनोपास्य कर्तृकञ्च भुङ्क्ता क्रमेण साक्षात्कृतभावं प्रप्नोतीति

विद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेव-
जनविद्यामेतद्भगवोऽप्येभि ॥ २ ॥ सोऽहं भगवो
मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतं ह्येव मे भग-
वद्दशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भग-

तत्त्वमिति तत्स्तुत्यर्थं नामादीनां क्रमेणोपन्यासः । आ-
ध्यायिका तु परविद्यास्तुत्यर्थाः । कथं नारदो देवर्षिः
कृतकर्त्तव्यः सर्वविद्योऽपि सन्ननात्मज्ञत्वाच्छुशोचैव किमु
वक्तव्यमन्योऽल्पविज्जनतुरकृतपुण्यातिशयोऽकृतार्थ इति ।
अथवा नान्यदात्मज्ञानान्तरितिशयश्रेयःसाधनमस्तीत्ये-
तत्प्रदर्शनार्थं सनत्कुमारमारदाध्यायिकाऽऽरभ्यते ।
येन सर्वज्ञानसाधनशक्तिसम्पन्नस्यापि नारदस्य देवर्षेः
श्रेयो न बभूव येनोत्तमाभिजनविद्याष्टतसाधनशक्ति-
सम्पत्तिनिमित्ताभिमानं हित्वा प्राकृतपुरुषवत्सनत्कुमार-
मुपससाद श्रेयःसाधनप्राप्तयेऽतः प्रस्थापितं भवति
निरतिशयप्राप्तितावन्मन्त्रमात्मविद्याया इति । अधीहि
अधीष्व भगवो भगवन्निति हि किलोपससाद । अधी-

प्रदर्शयितुस्तस्योपन्य इत्यर्थः ॥ शास्त्राचन्द्रनिर्देशनस्यावेन मध्यमस्याधिका-
रिणो ब्रह्मसिद्धिसौकारार्थं मध्यमस्याधिकारिणो ध्यानार्थं वा नामा-
दि सङ्कीर्तनमित्युक्तमिदानीं सुत्तनमेवाधिकारिणमधिकृत्य भूमस्तुत्यर्थं
नामादिवचनमिति मतान्तरमाह । अथवा नामादीति ॥ अध्यायसम्बन्ध-
सङ्गाऽऽध्यायिकासम्बन्धमाह । आध्यायिका इति ॥ स्तुत्यर्थत्वमेव प्र-
पूर्वकं प्रकटयति । कथमित्यादिना ॥ तथा च परविद्यया कृतार्थत्वात्तस्याः

वः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारय-
त्विति त् होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगौष्ठा नामै
वैतत् ॥ ३ ॥ नाम या ऋग्वेदो यजुर्वेदः साम-

हि भगव इति मन्त्रः । मनत्कुमारं योगीश्वरं ब्रह्मनिष्ठं
नारद उपसन्नवान् । तं न्यायेनोपसन्नं होवाच यदात्मवि-
षये किञ्चिद्वैद्य तेन तत्प्रख्यापनेन मामुपसीदेदमहं
जाने इति ततोऽहं भवतो विज्ञानात्ते तुभ्यमूहं वक्ष्यामी-
त्युक्तवति स होवाच नारद ऋग्वेदं भगवोऽध्वेमि स्मरामि ।
यद्वैत्येति विज्ञानस्यष्टत्वात्तथा यजुर्वेदं सामवेदमायर्व्यं
चतुर्थं वेदं वेदगण्डस्थं प्रकृतत्वादितिहासपुराणं पञ्चमं
वेदं वेदानां भारतपञ्चमानां वेदं व्याकरणमित्यर्थः ।
व्याकरणेन हि पदादिविभागश्च ऋग्वेदादयो ज्ञायन्ते ।
पितृन् आह्वकल्पम् । राशिगणितं दैवसुत्यातज्ञानम् । निधिं
महाकाशादिनिधिशस्त्रम् । वाकोवाक्यं तर्कशस्त्रम् । एकायनं
नीतिशस्त्रम् । देवविद्यां निरुक्तम् । ब्रह्मण ऋग्वजुः सामा-

स्तुतिरत्र विवक्षितेति शेषः । अतोताध्यायादिषु सदात्मत्वविज्ञानादन्यदेव
देवतोपासनं मोक्षसाधनमित्याशङ्क्य तद्विषये सदात्मविज्ञानस्यैव मोक्ष-
साधनं द्रष्टीकर्तुमाख्यायिका प्रवृत्तेति पक्षान्तरमाह । कथमेति ॥
द्वितीयमाख्यायिकातात्पर्यं प्रपञ्चयति । येनेत्यादिना ॥ सर्वस्यापि योग्य-
सहिज्ञानं तस्य साधनसत्त्वादनं तत्र शक्या सम्पन्नो वेदवेदाङ्गाभिज्ञत्वं
तस्यापीति यावत् । अस्ति हि नारदस्योक्तसाधनजने अन्तः । ब्रह्मणो
ज्ञानसमुत्पत्त्यादस्ति कोत्तमकर्माविद्या अस्ति च इत्तं सदाचरणसंस्ति च

वेद आथर्वण्यसुर्व इतिहासपुराणः पञ्चमो
वेदानां वेदः पित्रो राशिर्देवो निधिर्वाकोवा-

त्यस्य विद्या ब्रह्मविद्या शिवाकल्पछन्दश्चितयसाः । भूत-
विद्यां भूततन्त्रम् । जलविद्यां घनवेदम् । नक्षत्रविद्यां ज्योतिषम् ।
सर्पदेवजनविद्यां सर्पविद्यां गारुडम् । देवजनविद्यां गन्धर्व्युक्ति-
नृत्यगीतवाद्यशिल्पादिविज्ञानानि । एतत्सर्वं हे भगवोऽ-
ध्येमि । सोऽहं भगव एतत्सर्वं ज्ञानमपि मन्त्रविदेवास्मि
शब्दार्थमात्रविज्ञानवानेवास्मीत्यर्थः । सर्वो हि शब्दोऽभि-
धानमात्रमभिधानं च सर्वं मन्त्रेष्वन्तर्भवति । मन्त्रवि-
देवास्मि । मन्त्रवित्कर्म्मविदित्यर्थः । मन्त्रेषु कर्म्माणीति हि
वक्ष्यति नास्मविन्मात्मानं वेद्मि ॥ नन्वात्मापि मन्त्रैः प्रका-
शयत एवेति कथं मन्त्रविद्वन् नास्मवित् । न । अभिधानाभि-
धेयभेदस्य विकारत्वात् । नच विकार आलोच्यते । नन्वा-
त्माशब्देनाभिधीयते । न । यतो वाचो निवर्तन्ते । यत्

अवच्छ्रयानादिसाधनादिमाधनयज्ञीनां धर्माधर्मसाधनस्य वा शरीरस्य
यज्ञेः सम्पत्तिश्च जन्मादयो निमित्तमस्याभिमानस्य तं त्यजेति वाचद् ।
इतिशब्देऽध्यायाख्यायिकयोः सम्बन्धोक्तिरुपमाप्रार्थः । अध्ययनेन ज्ञानं
लभ्यते ॥ तथा चाधीत्युपपत्त्यर्थः । मन्त्र उपसदनस्येति शेषः । ज्ञायतः
समित्याचिरित्यादिशब्दोक्तविधिवशादिति वाचद् ॥ अध्ययनवाचि पदं
स्वरूपपरतया कथं व्यख्यातमित्याशङ्क्याह । यदेत्येति ॥ मन्त्रयुक्तिः
कुङ्कुमादिस्पर्मादनम् ॥ तर्हि सर्वज्ञः स्वतन्त्रस्व ज्ञातकस्योऽपीत्याशङ्क्याह ।
सोऽहमिति ॥ कथं मन्त्रविदित्यस्य कर्म्मविदिति व्याख्यानमित्याशङ्क्याह ।
मन्त्रेष्विति ॥ ब्रह्मविदेव नास्मविदित्यत्र विरोधं चोदयति । नन्विति ॥

मोपास्तेति ॥४॥ स वो नामोपास्तेत्युपास्ते नामो
नामो नामं तच्चास्य यथा कामचारो भवति वो

इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । अस्मागमसावमन्त्रेव हि यस्यास्ते मम
भगवद्भ्यो युष्माकृद्भ्योभ्यस्तरथतिक्रामति श्लोकं मन्त्रा-
पमकृतार्थबुद्धितामात्मविदित्यतः सोऽहमनात्मविश्वात् हे
भगवः शोचास्यकृतार्थबुद्ध्या सन्तप्ये सर्वदा तं मा मां
शोकस्य शोकसागरस्य पारं तं भगवांस्तारयत्वात्मक्षानो-
पुपेन कृतार्थबुद्धिमापादयत्वभयं गमयत्वित्यर्थः । तमेव-
मुक्तवन्तं होवाच यदै किञ्चित्दध्यगीष्टा अधीतवानस्य ध्य-
यनेन तदर्थज्ञानमुपलक्ष्यते ज्ञातवानसीत्येतन्नामैवैतत् ।
वाचाश्चर्यं विकारो नामधेयमिति श्रुतेः । नाम वै चक्षुर्देहो
यजुर्वेद इत्यादि । नामैवैतत् । नामोपास्व ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्या ।

त्यर्थः । केवलात्मविषयस्यात्मयन्दस्य तद्दर्शनमन्तरेण विविष्टात्मवृष्टिमात्रेण
कथं प्रयोगः कथं वा तत्प्रयोगेऽपि विवक्षितात्मधोरित्वायङ्मा इष्टान्तेन
परिहरति । वषेत्तादिना ॥ आत्मनो सुखदृष्ट्या मन्त्रप्रकाशत्वाभावे
फलितमाह । तस्यादिति ॥ यद्वार्थज्ञानमात्रेण तत्त्वविज्ञानं भवतीत्यवे-
नाकार्योपदेयकमित्यज्ञानवत् दृष्टात्मविषयमित्युक्तं तत्र प्रमाणमाह । अत-
एवेति ॥ योपदेशिकस्य कथितत्वं तर्हि श्लोकस्य मित्यायङ्माह । अत इति ॥
या तर्हि तत्त्वमात्रविद्या भूदित्यायङ्मा शोकमिदं सुखाद्यत्वेन तदपेक्षां
रूपयति ॥ श्रुतमिति ॥ अत्रात्मनोऽप्येनात्मज्ञानाख्येन इत्येवेति आह ।
कथं नदीयमर्थज्ञानं सर्वं नामकात्ममित्यायङ्माह । वाचाश्चर्यमिति ।
उक्तमुपवादमिति । नाम वेति ॥ तदुपसंहरति । नामैवेति ॥ येन रूपे-
णेदं नामादर्शयमित्यायङ्माह । नमेति ॥ उपसंहारकारं इष्टान्तेन

नामब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति
नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवी-
त्विति ॥ ५ ॥ १ ॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञा-
पयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमिति-

यथा प्रतिमां विष्णुबुद्धोपास्ते तद्वत् । स यस्तु नामब्रह्मेत्यु-
पास्ते तस्य यत्फलं भवति तच्छृणु यावन्नाम्नो गतं यावन्नाम्नो
गोचरम् । तत्र तस्मिन्नामविषयेऽस्य यथा कामचारः काम-
चरणं राज्ञ इव स्वविषये भवति । यो नामब्रह्मेत्युपास्ते
इत्युपसंहारः । किमस्ति भगवो नाम्नो वाव भूयोऽधिकतरं
यद्ब्रह्म दृष्ट्यर्हमन्यदित्यभिप्रायः । सनत्कुमार आह नाम्नो
वाव भूयोऽस्त्वेवेत्युक्त आह यद्यस्ति तन्मे भगवान् ब्रवी
त्विति ॥ १ ॥

वाग्वाव । वागितीन्द्रियजिह्वामूलादिष्वष्टषु स्थानेषु स्थितं
वर्षानामभिव्यञ्जकम् । वर्षश्च नामेति नाम्नो वाग्भूयसेत्युच्यते ।

स्फुटयति । यथेति ॥ नाम्नि ब्रह्मदृष्टोपास्त्रयाने किं सादित्वाह । स
यस्त्विति ॥ यो नामेत्यादिवाक्यस्य पौनःपुन्यमित्याशङ्काह । यो नामेति ॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसीत्युक्तं वाङ्मनाङ्गोरेकत्वाद्याप्यव्यापकत्वा-
त्तुपपत्तिरित्याशङ्का व्यापटे । वागितीन्द्रियमिति ॥ जिह्वामूलादि-
ष्वित्यादिष्वेतेषुः कच्छशिरोदन्तोऽनासिकातालूनि षट्स्थाने । वागि-
न्द्रियस्य वर्षेभ्योऽभिव्यञ्जकेभ्यो भूयसेऽपि नाम्नस्तु भूयसं कुर्वन्मिता-
शङ्काह । वर्षश्चेति ॥ नयोर्व्यञ्जकप्रत्यञ्जकभावे ऽपि कथं व्याप्यव्यापकत्व-

हासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्रा ३ राशिं
 दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्म-
 विद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेव-
 जनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुञ्चाकाशञ्चापञ्च
 तेजञ्च देवाञ्च मनुष्याञ्च पशुञ्च वयांसि
 च तृणवनस्पतीञ्चापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं
 धर्माञ्चाधर्माञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधु चासाधु च
 हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्च यद्वै वाङ्माभविष्यन्न धर्मी
 ना धर्मी व्यज्ञापिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु
 न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति
 वाचमुपास्वेति ॥ १ ॥ स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते
 यावद्वाचो गतं तचास्य यथा कामचारो भवति
 यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय

कार्वाङ्गि कारणं भूयो दृष्टं लोके । यथा पुत्रात्पिता तद्वत् ।
 कथं च वाङ्माभो भूयसीत्याह । वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापय-
 त्यथऋग्वेद इति । तथा यजुर्वेदमित्यादि समानम् । हृदयज्ञं
 हृदयप्रियम् । तद्विपरीतमहृदयज्ञम् । यद्यदि वाङ्माभवि-
 ष्यद्वागभावेऽध्यापनाभावस्तदर्थं श्रवणाभावस्तच्छ्रवणाभावे
 धर्मादि न व्यज्ञापिष्यन् विज्ञातमभविष्यदित्यर्थः । तस्मा-

मित्याशङ्क्याह । कार्यादीति ॥ वाचो नाम्नो भूयस्त्वं प्रश्नपूर्वकं प्रपञ्चयति ।
 कथञ्चेत्यादिना ॥ इतश्च वाचो भूयस्त्वनेदमिति ॥ यद्यदीति ॥

इतिवाचो वाव भूयोऽस्तीति तस्मै भगवान् मवी-
त्विति ॥ २ ॥ २ ॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे
वा कोले द्वौ वाचौ सुष्टिरनुभवत्येवं वाचञ्च नाम
च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रा-
नधीयीयेत्यधाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते

हागेवैतच्छब्दोच्चारणेण सर्वं विज्ञापयत्यतो भूयसी वाङ्मना-
न्तस्मादाद्यं ब्रह्मेत्युपाख्य । समानमन्यत् ॥ २ ॥

मनो मनस्यनविशिष्टमन्तःकरणं वाचो भूयः । तद्वि
मनस्यनव्यापारवद्वाचं वक्तव्ये प्रेरयति । तेन वाङ्मनस्य
न्तर्भवति । यच्च यस्मिन्नन्तर्भवति तत्तस्य व्यापकत्वात्ततो
भूयो भवति । यथा वै लोके द्वे वामलके फले द्वे वा कोले
बदरफले द्वौ वाचौ विभीतकफले सुष्टिरनुभवति सुष्टिस्तो
फले व्याप्नोति सुष्टौ हि तेऽन्तर्भवतः । एवं वाचञ्च नाम
चामलकादिवन्मनोऽनुभवति स यदा पुरुषो यस्मिन् काले
मनसान्तःकरणेन मनस्यति मनस्यनं विवक्षाबुद्धिः कथं
मन्त्रानधीयीयोच्चारयेयमित्येवं विवक्षां कृत्वाधाधीते तथा

अन्यव्यतिरेकाभ्यां तस्या भूयस्ते सिद्धे फलितमाह । तस्मादिति ॥ स यो
वाचमित्युक्त्याऽन्यदित्युच्यते ॥ २ ॥

मनःशब्दस्य उक्तिमात्रविषयत्वं व्यावर्त्तयति । मन इति ॥ कथं तस्य
वाचो भूयस्त्वं तदाह । तद्वीति ॥ वाचो मनस्यन्तर्भावेऽपि कुतो मनस्यस्य
भूयस्त्वं तदाह । वद्वेति ॥ मनसो वामादेभ्योऽपि ब्रह्मानेन व्युत्पद्यते ।
यथेत्यादिना ॥ इतश्च मनसो ऽस्ति भूयस्त्वमित्याह । यदेति ॥ विवक्षाबु-

पुनश्च पशुश्चेच्छेयेत्येच्छत इमञ्च लोकमसु-
 ज्जेच्छेयेत्येच्छति मनो ह्यात्मा मनो हि लोको
 मनो हि ब्रह्म मन उपास्वेति ॥ १ ॥ स यो
 मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य
 यथा कामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपा-
 स्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो
 वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति
 ॥ २ ॥ ३ ॥

कर्माणि कुर्वीयेति चिकीर्षाबुद्धिं कृत्वाथ कुरुते पुत्रांश्च
 पशुंश्चेच्छेयेति प्राप्तीच्छां कृत्वा तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानेनाथे-
 च्छते पुत्रादीन् प्राप्नोतीत्यर्थः । तथेव च लोकमसुखोपा-
 येनेच्छेयमिति तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानेनाथेच्छते प्राप्नोति ।
 आत्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वञ्च सति मनसि नान्यथेति । मनो-
 ह्यात्मेत्युच्यते मनो हि लोकः । सत्येव हि मनसि लोको
 भवति तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानश्चेति । मनो हि लोको यस्मात्त-
 स्मात्मनो हि ब्रह्म । यत एव तस्मात्मान उपास्वेति । स यो
 मन इत्यादि समानम् ॥ ३ ॥

द्विजां करोतीति शेषः । रज्जेवेतीच्छां कर्त्तव्येति शेषः ॥ तस्मात्कर्तृव्युपा-
 दयति । आत्मन इति ॥ तस्य लोकत्वं साधयति । शब्देवेति ॥ ३ ॥

सङ्कल्पो वाच मनसो भूयान्वदा वै सङ्कल्पयते
 अथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति
 नास्मि मन्वा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥
 तानि ह वैतानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्म-

सङ्कल्पो वाच मनसो भूयान् । सङ्कल्पोऽपि मनस्यनव-
 दन्तःकरणवृत्तिः कर्तव्यकर्तव्यविषयविभागेन समर्थनम् ।
 विभागेन हि समर्थिते विषये चिकीर्षाबुद्धिर्मनस्यनानन्तरं
 भवति । कथम् । यदा वै सङ्कल्पयते कर्तव्यादिविषयान्
 विभजते इदं कर्तुं युक्तमिति । अथ मनस्यति मन्वानधी-
 दीयेत्यादि । अथानन्तरं वाचमीरयति मन्वादुच्चारणे ।
 ताञ्च वाचं उ नाम्नि नाम्नोच्चारणनिमित्तं विवक्षां कृत्वेर-
 यति नास्मि नामसामान्ये मन्वाः शब्दविशेषाः सन्त एकं
 भवन्त्यन्तर्भवन्तीत्यर्थः । सामान्ये हि विशेषोऽन्तर्भवति । मन्त्रेषु
 कर्माण्येकं भवन्ति । मन्त्रप्रकाशितानि कर्माणि क्रियन्ते
 नामन्त्रकमस्ति कर्म । यद्वि मन्त्रप्रकाशनेन लब्धसत्कारं

सङ्कल्पयदर्थमाह । सङ्कल्पोऽपीति ॥ का सान्तःकरणवृत्तिर्या सङ्क-
 ल्पवृत्तिरेत्युक्तमाह । कर्तव्येति ॥ द्विविधे विषये विभागेन समर्थितेऽपि
 कथं यद्योक्तस्य सङ्कल्पस्य मनसो भूयस्त्वमित्याद्युक्तमाह । विभागेन हीति ॥
 सङ्कल्पस्य कारणत्वान्नस्य कर्तव्यत्वादतो भूयस्त्वमित्यर्थः । कार्यकारणभावं
 तयोराकाङ्क्षापूर्वकं व्यक्तीकरोति कथमित्यादिनाम्न मनसः सकाशं ह्यपो
 ऽनन्तरभावित्वे विशेषं दर्शयति । ताञ्चेति ॥ नास्मि मन्त्रः सामन्त्रभावं
 समर्थयति । सामान्ये हीति ॥ कथं मन्त्रेष्वनुपसब्धकर्माणां समन्त्रभावं
 वाह । मन्त्रेति ॥ कथं कर्म नामन्त्रकमस्तीत्युच्यते त्रः कृपाविहितस्यापि

कानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि समस्तृपतां द्यावा-
 थिवीसमकल्पेतां वायुश्चाकाशञ्च समकल्पतामा-
 पञ्च तेजश्च तेषां संस्तृप्तैर् वर्षं सङ्कल्पते वर्षस्य
 संस्तृप्ता अन्नं सङ्कल्पतेऽन्नस्य संस्तृप्तैर् प्राणाः

सत्कर्म ब्राह्मणेनेदं कर्त्तव्यमस्मै फलायेति विधीयते । याप्यु-
 त्पत्तिर्ब्राह्मणेषु कर्मणो दृश्यते सापि मन्त्रेषु लब्धसत्ता-
 कानामेव कर्मणां स्पष्टीकरणम् । न हि मन्त्राप्रकाशितं
 कर्म किञ्चिद्ब्राह्मणे उत्पन्नं दृश्यते । तथीविहितं कर्मोति
 प्रसिद्धं लोके । तथीशब्दश्चर्यजुःसामसमाख्या । मन्त्रेषु
 कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्ति चाथर्वणे । तस्माद्युक्तं मन्त्रेषु
 कर्माण्येकं भवन्तीति । तानि ह वा एतानि मनश्चादीनि
 सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्प एकोऽयनं गमनं प्रलयो येषां
 तानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्मकान्युत्पत्तौ सङ्कल्पे
 प्रतिष्ठितानि स्थितौ समस्तृपतां सङ्कल्पं कृतवत्याविव हि

कर्माणो दर्शनादित्याशङ्काह । यद्वाति ॥ ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूप-
 त्वादतिस्वरूपमन्त्रानुपसन्नेऽपि कल्पयते मन्त्रोक्तत्वमित्यर्थः । एतदेव
 प्रपञ्चयति । यापीत्यादिना ॥ एकस्यां शखायां यत्कर्मा मन्त्रेष्वनुपसन्नां
 तच्छाखान्तरौयं मन्त्रप्रकाशितं भविष्यति इत्यत्र हेतुन्तरमाह । तथीवि ॥
 तथापि कथं मन्त्रप्रकाशितत्वं तत्माह । तथीशब्दश्चेति ॥ मन्त्रेषु कर्मा-
 ण्यन्तर्भवन्तीत्यत्र श्रुतेरनुवृत्तिं कथयति । मन्त्रेष्विति । तथापि कथं
 सङ्कल्पस्य भूयस्त्वमित्याशङ्काह । तानीति ॥ अयनपर्यायत्वेनोक्तगमनस्य
 क्रियात्वं व्यावर्त्तयति । प्रलय इति ॥ इतश्च सङ्कल्पस्यापि सङ्कल्पमित्याह ।

सङ्कल्पन्ते प्राणानां संकल्पैः मन्त्राः सङ्कल्पन्ते
मन्त्राणां सङ्कल्पैः कर्माणि सङ्कल्पन्ते कर्मणां
सङ्कल्पैः लोकः सङ्कल्पति लोकस्य सङ्कल्पैः सर्वं
सङ्कल्पते स एष सङ्कल्पः सङ्कल्पमुपास्येति ॥ २ ॥

द्वौच षड्विंशौ च द्वावाष्टविंशौ द्वावाष्टविंशौ निरुद्धे लक्ष्येते ।
तथा समकल्पेतां वायुश्चाकाशश्च एतावन्नि सङ्कल्पं कृत-
वत्प्रविव । तथा समकल्पतामापश्च तेजश्च स्वेन रूपेण
निश्चलानिलक्ष्यन्ते । यतस्तेषां द्वावाष्टविंश्यादीनां सङ्कल्पैः
सङ्कल्पनिमित्तं वर्षं सङ्कल्पते समर्थो भवति । तथा वर्षस्य
सङ्कल्पैः सङ्कल्पनिमित्तमन्त्रं सङ्कल्पते । दृष्टेर्ह्यन्त्रं भूषणस्य
सङ्कल्पैः प्राणाः सङ्कल्पन्ते । अन्नमया हि प्राणा अन्त्रोत्पन्ना
अन्नं दामेति हि श्रुतिस्तेषां सङ्कल्पैः मन्त्राः सङ्कल्पन्ते ॥
प्राणवान् हि मन्त्रानधीते नावलो मन्त्राणां हि सङ्कल्पैः
कर्माणि गन्निहोवादीनि सङ्कल्पन्तेऽनुष्ठेयमानानि मन्त्र-

समकल्पतामिति ॥ यतो द्वावाष्टविंश्यादिषु सङ्कल्पेऽपि सङ्कल्पानुवृत्ति-
र्दृश्यतेऽतोऽपि तस्य सङ्कल्पं गन्वते न केवलं कारयत्वादेवेत्यर्थः । इतश्च
तस्य सङ्कल्पमेवनेष्टव्यमित्याह । तेषामिति ॥ दृष्टेर्ह्यन्त्रोकादिपार्व-
त्वासदीयसङ्कल्पस्य तन्निमित्तत्वोपचारात्तस्य मन्त्रस्यैव हि द्विरित्यर्थः ।
दृष्टव्यत्वाच्च समर्थो भवतीत्यत्र प्रसिद्धिं प्रमादयति । दृष्टेर्ह्येति ॥ अन्त्रा-
धीनं प्राणसामर्थ्यं मित्यत्र हेतुमाह । अन्नमया हीति । आपोऽन्नमयाः प्राण
इत्युक्तत्वात्कथमन्नमयात्कथित्याशङ्क्याह । अन्त्रोपपन्नका इति ॥ तत्र
वायुश्चनेत्येवमिति प्रमादयति । अन्नमिति ॥ प्राणाणां मन्त्राणां कारयत्वं

स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते सङ्कल्पान् वै स लोका
 न्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्ययमानान-
 व्ययमानोऽभिसिद्धयति यावत्सङ्कल्पस्य गतं तचास्य
 यथा कामचारो भवति यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते

प्रकाशितानि समर्थीभवन्ति फलाय । ततो लोकः
 फलं सङ्कल्पते । कर्मकर्तृसमवायितया समर्थो भवतीत्यर्थः ।
 लोकस्य सङ्कल्प्यै सर्वं जगत्सङ्कल्पते स्वरूपावैकल्याय ।
 एतद्दीदं सर्वं जगद्यत्फलावसानं तत्सर्वं सङ्कल्पमूकम् । अतो
 विधिः स एव सङ्कल्पः । अतः सङ्कल्पमुपास्तेत्युक्त्वा फल-
 माह । उपासकस्य । स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेति ब्रह्मनुद्योपास्ते
 कृतान् वै धात्वास्तेमे लोकाः फलमिति कृतान् समर्थितान्
 सङ्कल्पितान्स विद्वान्ध्रुवान् निस्थान् । अत्यन्ताध्रुवापेक्षया
 ध्रुवश्च स्वयम् । लोकिनो ह्यध्रुवत्वे लोके ध्रुवकृतं निर्व्यर्थेति ध्रुवः
 सन् प्रतिष्ठितानुपकरणसम्पन्नानित्यर्थः । पशुपुत्रादिभिः

व्यत्यादयति । प्रायवानिति ॥ ततो मन्त्रप्रकाशितकर्मवशादिति यावत् ।
 कर्मफलवशाज्जगतः सर्वस्वावैक्येऽपि कथं सङ्कल्पस्य सङ्कल्पमित्याशङ्क्याह ।
 एतद्दीदं ॥ तत्सङ्कल्पे फलितमाह । अत इति ॥ आत्मातिरिक्तानां लोकानां
 कथं निश्चयमत आह । अत्यन्तेति ॥ लोकानामेवं ध्रुवत्वस्य कथां किमिति
 लोकिनस्तदुच्यते तत्राह । लोकिनो हीति ॥ कथमुपकरणेषु प्रतिष्ठितशब्दो
 भवतीत्याशङ्क्याह । पशुपुत्रादिभिरिति । यावत्सङ्कल्पस्येत्यादिश्रुतेः ॥
 निवृत्तशब्दोऽयं दर्शयति । आत्मन इति ॥ सङ्कल्पस्य वाक्योपरस्तत्वात्
 कामचारो भवतीति सम्भवः । निरङ्कुशे सङ्कल्पशब्दे का हानिरित्या-
 शङ्क्याह । उत्तरेति ॥ यदि सङ्कल्पनात्वस्य गोचरे सङ्कल्पोपासकस्य काम-

ऽस्ति भगवः सङ्कल्पाङ्गु य इति सङ्कल्पाद्वाव भूयो-
ऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥ ४ ॥

चित्तं वाव सङ्कल्पाङ्गु यो यदा वै चेतयतेऽथ
सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमौरयति ताम्

प्रतितिष्ठतीति दर्शनात्स्वयं च प्रतितिष्ठत आत्मीयोप-
करणसम्पन्नोऽप्यथमानानमित्रादिवासरहितानव्यथमानश्च
स्वयमभिसिद्ध्यभिप्राप्नोतीत्यर्थः । यावत्सङ्कल्पस्य गतं
सङ्कल्पगोचरः तत्तास्य यथा कामचारो भवति ।
आत्मनः सङ्कल्पस्य न तु सर्वेषां सङ्कल्पस्येति । उत्तर-
फलविरोधात् । यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

चित्तं वाव सङ्कल्पाङ्गु योऽस्ति । चित्तं चेतयित्वा प्राप्त-
कालानुरूपबोधवत्त्वं अतीतानागतविषयप्रयोजननिरु-
पणसामर्थ्यं च तत्सङ्कल्पादपि भूयः । कथम् । यदा वै
प्राप्तं वस्त्विदमेवं प्राप्तमिति चेतयते तदा दानाय वायो-
हाय वाऽथ सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यतीत्यादि पूर्ववत् ॥

चारो भवति तर्हि सर्वसङ्कल्पस्य विचित्रतया सर्वगोचरत्वसम्भवाद्या-
वञ्चितस्य गतिमित्यादिना वक्ष्यमाणफलं विरुद्धे न हि सङ्कल्पोपास-
नादेव सर्वस्मिन्फले सिद्धे चित्ताद्युपासनं तत्फलं वा पृथक्प्रयत्नसंचितम् ।
यतो वावत्सङ्कल्पस्येत्यादि श्रुतेरुक्तसङ्कोचो युक्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

चित्तशब्दस्य मनःशब्देन पुनरुक्तिं परिहरति । चित्तं चेतयित-
व्यमिति ॥ तस्यात्मत्वं व्यावर्त्तयति । प्राप्नोति ॥ इदं वस्त्वेवं प्राप्तमिति
प्राप्तकालवस्तुनो वस्तुसुरोधी चेतनास्त्री इति विशेषस्तद्वत्त्वं चित्त-
मित्यर्थः । अतीतं भोजनवृत्तिसाधनं इष्टं भोजनत्वात् । आनामिनोऽपि

नास्मीरयति नान्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु
 कर्माणि ॥ १ ॥ तानि ह वा एतानि चित्तैका-
 यनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्मा-
 दद्यद्यपि ब्रह्मविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैन-
 माज्जर्यदयं वेद यद्वाऽयं विद्वान्नेत्यमचित्तः स्यादि-
 त्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत
 शुश्रूषन्ते चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्माचित्तं
 प्रतिष्ठा चित्तमुपास्वेति ॥ २ ॥ स यच्चित्तं ब्रह्मेत्यु-

तानि सङ्कल्पादीनि कर्मफलानानि चित्तैकायनानि
 चिदात्मानि चित्तोत्पन्नानि चित्ते प्रतिष्ठितानि चित्त-
 स्थितान्यपि पूर्ववत् । किञ्च चित्तस्य माहात्म्यम् । यस्मा-
 द्चित्तं सङ्कल्पादिमूलं तस्माद्यद्यपि ब्रह्मविद्ब्रह्मशास्त्रादि-
 परिज्ञानवान् सन्नचित्तो भवति प्राप्तादिचेतयितृत्वसाम-
 र्थ्यविरहितो भवति तं निपुणा लौकिका नायमस्ति विद्य-
 मानोऽप्यसत्त्वम एवेत्येवमाहुः । यच्चायं किञ्चिच्छास्त्रादि
 वेद श्रुतवांस्तदप्यस्य तथैवेति कथयन्ति । कस्मात् । यद्ययं
 विद्वान् स्यादित्यमेवमचित्तो न स्यात्तस्मादस्य श्रुतमप्य-

तस्य तदेव प्रयोजनमिति निरूपयसामर्थ्यं चित्तमिति प्रसिद्धमित्याहुः ।
 अतीतेति ॥ यथोक्तस्य चित्तस्य सङ्कल्पाङ्गयत्नम् ॥ प्राप्तमपूर्वत्वं व्युत्पादयति ।
 कथमित्यादिना सङ्कल्पप्रकरणं परावृणोति । पूर्ववदिति ॥ यथा सङ्क-
 ल्पस्य निमित्तत्वे सति स्तुत्यर्थमधिकरणत्वं युक्तम् । तथा चित्तस्य विभक्तस्य
 सङ्कल्पादिषु निमित्तत्वेऽपि स्तुत्यर्थत्वमेव तदधिकरणत्वमाहुः । तानीति ॥

पास्तेचित्तान् वै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्
 प्रतिष्ठितोऽव्ययमानानव्ययमानोऽभिसिद्ध्यति या
 वच्चित्तस्य गतं तच्चास्य यथा कामचारो भवति
 यच्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवच्चित्ताद्भूय इति
 चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवी
 त्विति ॥ ३ ॥ ५ ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी
 ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायतीवापो

श्रुतमेवेत्याहुर्नित्यर्थः । अथवाऽल्पविदमपि यदि चित्त-
 वान् भवति तस्मा एतस्मै तदुक्तार्थग्रहणायैवोतापि
 शुश्रूषन्ते ओतुमिच्छन्ति । तस्माच्च चित्तं ह्येवैषां सङ्कल्पा-
 दीनामेकायनमित्यादि पूर्ववत् । चित्तानुपचित्तान् बुद्धि-
 मङ्गुणैः स चित्तोपासको ध्रुवानित्यादिचोक्तार्थः ॥ ५ ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः । ध्यानं नाम शास्त्रोक्तदेवता-
 द्यालम्बनेष्वचलो भिन्नजातीयैरनन्तरितः प्रत्ययसन्तानः ।

इतच्च चित्तस्यास्ति वैशिष्ट्यमित्याह । किञ्चेति । यद्यपि बहुधास्त्रार्थ-
 परिज्ञानवान् तथापि यद्यचित्तो भवतीति योजना ॥ अचित्तस्यासत्त्व-
 मत्वं श्रुतवैयर्थ्येऽप्युक्तं मन्त्रद्वारा विवक्ष्यते । कस्यादिन्यादिना । श्रुत-
 मपीत्यपि यदेन सत्यं नृह्यते ॥ चित्ताभावे श्रुतादेर्वैयर्थ्यात् तद्वैशिष्ट्य-
 यादिदृष्टिदाने तद्वैशिष्ट्ये हेतुत्वरमाह । अथवेति । चित्तं वतोक्तार्थेष्व-
 र्थात् ओतुमिच्छा लोकस्य भवतीत्यत्र हेतुमाह । तस्मादिति ॥ ५ ॥

किं तस्मान्मित्यपेक्षायामाह । ध्यानं नामेति ॥ अचक्षत्वं चाधत्तति ।
 भिन्नजातीयैरिति ॥ कथं तस्य चित्ताद्भूयस्त्वमित्याद्यह्यानेकापतादोषो-

ध्यायन्तीव प्रवृत्ता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य
इह मनुष्याणां महतां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाए-
शा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना
उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाएशा
इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्वेति ॥ १ ॥ स यो

एकाग्रतेति समाहुः । इच्छते च ध्यानस्य साहाय्यं
फलतः । कथम् । यथा योगी ध्यायन्निश्चलो भवति ध्यान-
फललाभे । एवं ध्यायतीव निश्चला इच्छते पृथिवी
ध्यायतीवान्तरिक्षमित्यादि समानमन्यत् । देवाश्च मनु-
ष्याश्च देवमनुष्या मनुष्या एव वा देवमनुष्याः शमादि-
गुणसम्पन्ना मनुष्या देवस्वरूपं न जहातीत्यर्थः । यस्मा-
देवंविशिष्टं ध्यानं तस्माद्य इह लोके मनुष्याणामेव
धनैर्विद्यया गुणैर्वा महतां महत्त्वं प्राप्नुवन्ति धनादि-
महत्त्वहेतुं लभन्त इत्यर्थः । ध्यानापादांशा इव ध्यानस्या-
पादानभापादो ध्यानफललाभ इत्येतत्तस्मांशोऽवयवः

पङ्कतस्यातीतादिफलनिरूपणेन सामर्थ्यादर्शनादेकाग्रतारूपो ध्यानपदा-
र्थश्चेति यद्वत्वात्तस्य कारणात्ततो भूयानेवेत्यभिप्रेत्याह । एकाग्रतेति ॥
इतश्चास्ति तस्य भूयस्त्वमित्याह । इच्छते चेति ॥ फलद्वारा तत्साहाय्यं
प्रज्ञपूर्वकं इष्टाग्नेन स्फटयति । कथमित्यादिना ॥ गौरवपरिहाराय
पञ्चान्तरमाह । मनुष्या एवेति ॥ मनुष्याणामेव यथा कुतो देवत्वनिष्ठा-
यस्याह । यनादीति ॥ ध्यानफलं नैव त्वं तत्कृतुषु पृथिव्यादिषु इष्टं
तथाच तद्वैशिष्ट्यमित्यर्थः ॥ तत्रैव स्तिवन्तरमाह । यस्यादिति ॥ धना-

ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेयावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथा
कामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति
भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति
तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ ६ ॥

कला काचिद्व्यानफललाभकतावन्त इवेत्यर्थः । ते भवन्ति
निश्चला इव लक्ष्यन्ते न क्षुद्रा इव । अथ ये पुनरल्पाः
क्षुद्राः किञ्चिदपि धनादिमहत्त्वैकदेशमप्राप्तास्ते पूर्वोक्त-
विपरीताः कलहिनः कलहशीलाः पिशुनाः पर-
दोषोद्भासका उपवादिनः परदोषं सामीप्ये युक्तमेव
वदितुं शीलं येषां ते उपवादिनश्च भवन्ति । अथ ये
महत्त्वं प्राप्ता धनादिनिमित्तं तेऽन्यस्मिन् प्रति भवन्तीति
प्रभवो विद्याचार्यराज्येश्वरादयो ध्यानापादांशा इवे-
त्याद्युक्तार्थम् । अतो दृश्यते ध्यानस्य महत्त्वं फलतो भूय-
श्चित्तादतस्तदुपास्तेत्याद्युक्तार्थम् ॥ ६ ॥

दिभिर्महत्त्वे हेतुसत्कृष्टं कर्मेति यावद्व्यानस्यापादनमनुष्ठानं तेन तत्फ-
ललाभो लक्ष्यते तस्यांशो येषामस्ति ते तथा ध्यानफललाभकलावन्तमेव
एक इत्यनि । निश्चला इति ॥ एवकारार्थमाह । नेति ॥ महत्त्वं पुरुषेण
ध्यानफलानुवृत्तिर्दृष्टेत्तन्मयसुखा व्यतिरेकमाह । अथेति ॥ व्यतिरेकं
दर्शयित्वाऽन्यस्यसंस्कारति । अथ ये महत्त्वमिति ॥ महत्त्वं नैवस्यदर्शनमतः-
शब्दार्थः ॥ महत्त्वफलमाह । अत इति ॥ ६ ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाङ्गुयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं
 विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतु-
 र्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्रां
 राशिं देवं निधिं वाकोवाक्यमेकाधनं देवविद्यां
 ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां
 सर्पदेवजनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुञ्चाका-
 शञ्चापञ्च तेजश्च देवाञ्च मनुष्याञ्च वसांसि
 च तृणवनस्पतीञ्चापदान्याकौटपतङ्गपिपीलिकं
 धर्माञ्चाधर्माञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधु चासाधु च
 हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्चानञ्चरसञ्चेमञ्चलोकमनु-
 ञ्च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्येति ॥१॥

विज्ञानं वाव ध्यानाङ्गुयः । विज्ञानं शास्त्रार्थविषयं
 ज्ञानं ध्यानं तस्य च कारणत्वाद्यानाङ्गुयस्त्वम् । कथं च
 तस्य भूयस्त्वमित्याह । विज्ञानेन वै ऋग्वेदं विजानाति
 अथऋग्वेद इति प्रमाणतया यस्त्यार्थज्ञानं ध्यानकारणम् ।
 तथा यजुर्वेदमित्यादि । किञ्च पञ्चादिष्वधर्माधर्मौ
 शास्त्रसिद्धौ साध्वसाधुनी लोकतः स्मार्त्ते वा दृष्टविषयश्च
 सर्वं विज्ञानेनैव विजानातीत्यर्थः । तस्माद्युक्तं ध्यानादि-

विज्ञानस्योक्तभूयस्त्वं प्रत्यपूर्वकं दर्शयति । कथमित्यादिना ॥ यद्यपि
 प्रमाणतया तद्वानं शास्त्रार्थज्ञानपूर्वकं तथापि कथं तस्य भूयस्त्वं तन्नाह ।
 यस्मेति ॥ इतश्च तस्य ध्यानाङ्गुयस्त्वमित्याह । किञ्चेति ॥ भूयस्त्वफलमाह ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स
लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिद्ध्यति यावद्विज्ञानस्य
गतं तथास्य यथा कामचारो भवति यो विज्ञानं
ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति
विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तस्मै भगवान् ब्रवी-
त्विति ॥ २ ॥ ७ ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानव-
तामैको बलवानाकम्पयते स यदा बलौ भवत्य-
थोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति

ज्ञानस्य भूयस्त्वम् । अतो विज्ञानमुपास्तेति । ब्रह्मेत्युपासनफलं
विज्ञानवतः । विज्ञानं येषु लोकेषु तांस्विज्ञानवतो
लोकान् ज्ञानवतश्चाभिसिद्ध्यति प्राप्नोति विज्ञानं शास्त्रा-
र्थविषयं ज्ञानमन्यविषयनैपुण्यं तद्विद्विर्युक्तान् लोकान्
प्राप्नोतीत्यर्थः । यावद्विज्ञानस्येत्यादि पूर्ववत् ॥ ७ ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयः । बलमित्यन्वोपयोगजनितं
मनसो विज्ञेये प्रतिभानसामर्थ्यम् । अनशनाहनादीनि
न वै सा प्रतिभान्ति भो इति श्रुतेः । शरीरेऽपि तदेवोत्था-
नादिसामर्थ्यं विज्ञानवतां शतमध्येकः प्राण्यौ बलवाना-

शत इति ॥ विज्ञानवद्वयोरर्थभेदं कथयति । विज्ञानमिति ॥ तथापि
लोकानामवचेतनानां कुतस्तद्विज्ञानवतमिच्छामहेत्याह । तद्विद्विरिति ॥ ७ ॥

यदीहो बलवद्वयौ चेत्तत्तद्वयौ प्रमादवति । अनशनादिति ॥
कथं तर्हि शरीरहापथ्यं बलवत्प्रयोगसामर्थ्यम् । शरीरेऽपीति । तदेवोत्था-

परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता
भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्त्ता भवति
विज्ञाता भवति बलेन वै प्रथिवी तिष्ठति बले-
नान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवम-
नुष्या बलेन पश्यन् वथाऽसि च दृश्यन्स्पतयः
श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं बलेन लोकस्ति-
ष्ठति बलमुपास्वेति ॥ १ ॥ सं यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते
यावद्वलस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति

कल्पयते यथा इक्षी । यतो मनुष्याणां शतं समुद्दितामपि ।
यस्मादेवमन्त्राद्युपयोगनिमित्तं बलं तच्चास्य पुरुषो यदा
बली बलेन तद्गान् भवत्यथोत्पातोत्पानस्य कर्त्तोऽस्तिष्ठं च
सुखानामाचार्यस्य च परिचरिता परिचरस्य शुभ्रपायाः
कर्त्ता भवति परिचरन्नुपसत्ता तेषां समीपगोऽन्तरङ्गः
प्रियो भवतीत्यर्थः । उपसीदं च समीपं गच्छन्नेकाग्रत-
याऽऽचार्यस्त्वाम्यस्य चोपदेष्टुर्गुरोर्द्रष्टा भवतीत्यर्थः । तत-
स्तदुक्तस्य श्रोता भवति । तत इदमेभिस्तमेवमुपपद्यते
इत्युपपत्तितो मन्ता भवति मन्त्रान्त्र बोद्धा भवति ।

ओपबोधनमित्येवेत्यर्थः । न केवलं कारणत्वादेव कर्त्तृविज्ञानाद्भूतत्वम् ।
किन्तु प्रत्यक्षं तस्य तत्रो भूतत्वमित्याह । विज्ञानवशादिति । तच्चास्य
विज्ञानाद्भूतत्वमिति शेषः । समुद्दितामपि कल्पयते कथाम्नामपि दृष्ट-
त्वमिति शब्दः । यथादेवं वदस्य कारणत्वं विज्ञानस्य च कार्यत्वं

यो बलं ब्रह्मेत्युपासेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति
बलाद्वा भूयोऽस्तीति तस्मै भगवान् ब्रवी-
त्विति ॥ ८ ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्ना-
ग्नीयाद्यद्यु ह जीवेद्यथाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोधा
ऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवत्यथाऽन्नस्यायै द्रष्टा भवति

एवमेवेदमिति । तत एवं निश्चित्य तदुक्तार्थस्य कर्त्ताऽनु-
ष्ठाता भवति विज्ञाताऽनुष्ठानफलस्यानुभविता भवती-
त्यर्थः । किञ्च बलस्य साहाय्यं बलेन वै पृथिवी तिष्ठती-
त्याद्यन्वर्थम् ॥ ८ ॥

अत्र वाव बलाद्भूयः । बलहेतुत्वात् । कथमन्नस्य बल-
हेतुत्वमित्यथ्यते । यस्माद्वलकारणमन्नं तस्माद्यद्यपि कश्चि-
द्दशरात्रीर्नाग्नीयात्सोऽन्नोपयोगनिमित्तस्य बलस्य साहा-
य्यमेव न चेन्म्रियते यद्यु ह जीवेत् । दृष्टेऽन्ने हि मासवय-
नश्नन्तो जीवन्तोऽथवा सजीवन्त्यद्रष्टा भवति सुरोरपि
तत एवाग्नीतेत्यादि पूर्वविपरीतं सर्वं भवति । अथ यदा
ब्रह्मन्वान्यनशितो दर्शनाद्विक्रियास्त्वसमर्थः सन्नस्यस्यायी

तस्मात्तत्तद्भूयस्तमित्येतत्किञ्चर्थे कार्यकारणभावमेतयोर्ह्युपादयति ।
यथादित्यादिना ॥ इतश्च बलस्य भूयस्त्वमेवमित्याह । किञ्चेति ॥ ८ ॥

अथवा यदि सोऽभुङ्गानेऽपि कथञ्जिज्जीवेत्तदा जीवन्नपि सोऽद्र-
ष्टेति सम्भवः ॥ कथमन्नमन्त्रयस्य जीवनमित्यथ्यते । दृष्टेऽन्ने इति ॥
अन्नोपयोगभावे बलकारणिरिति व्यतिरेकसङ्गा तदुपवीने बलं भवतीत्य-
न्ये व्याचष्टे । अथवेति ॥ अथात्रस्यायैत्यपि पाठोऽस्ति तत्रात्रस्याय

स्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता
भवति विज्ञाता भवत्यन्नसुपास्वेति ॥ १ ॥ स यो
ऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतो-
ऽभिसिद्ध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथा काम-
चारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो-
ऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तस्मै भगवान्
ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ ६ ॥

आगमनमायोऽन्नस्य प्राप्तिरित्यर्थः सा यस्य विद्यते
सोऽन्नस्य आयी । आय इत्येतद्वर्षव्यत्ययेनेकारस्य व्यत्ययेन
ईकारान्तत्वेन । अथान्नस्यायै इत्यपि पाठे एवमेवाप्रोत्थेव-
मेवार्थस्तत्र हेतुमाह । आयै इत्येदिति । ऐकारस्य
वर्षस्य व्यत्ययेन ईकारान्तत्वेनैवेत्यर्थः । इत्येतद्वर्षव्यत्य-
येन अथान्नस्यायै इत्यपि पाठे एवमेवार्थः । द्रष्टेत्यादि-
कार्यश्रवणात् ॥ इत्युक्ते ह्युक्तोपयोगे दर्शनादिसामर्थ्यं न
तदप्राप्तावतोऽन्नसुपास्वेति ॥ फलं चान्नवतः प्रभूतान्नान्यै स
लोकान् पानवतः प्रभूतोदकाश्चान्नपानयोर्भित्त्वसम्बन्धा-
ल्लोकानभिसिद्ध्यति । समानमन्यत् ॥ ६ ॥

इत्येतदेव पदमन्नस्य प्राप्तिपरतया व्याख्येयमेकार्मीकारत्वेन विपरिणम्य
इष्टप्रत्ययाङ्गीकारादिष्वह । आय इत्येतदिति ॥ द्रष्टा श्रोतेत्याद्य-
कार्यस्य श्रवणादि पाठान्तरमन्नप्राप्तिपरतया व्याख्येयमिच्छाह । द्रष्टे-
त्यादीति ॥ कथं तदङ्गकार्यमित्याद्यङ्गान्यव्यतिरेकौ दर्शयति । इत्युक्ते
हीति ॥ ६ ॥

आपो वा अन्नाद्भूयसाश्चाद्यदा सुदृष्टिर्न भवति
 व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ
 यदा सुदृष्टिर्भवत्यनन्दिनः प्राणा भवन्तग्रन्
 वज्र भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्त्ता येयं दृष्टिवी
 यदन्तरिक्षं यदौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पश-
 वश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः आपदान्याकौ-
 टपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्त्ता अप उपा-
 स्वेति ॥ १ ॥ स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति
 सर्वान् कामांस्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं
 तत्रास्ते यथा कामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्यु-

आपो वाऽन्नाद्भूयसोऽन्नकारणत्वात् । यश्चादेवं तस्या-
 द्यदा यस्मिन् काले सुदृष्टिः शस्यक्षिता शोभना दृष्टिर्न
 भवति तदा व्याधीयन्ते प्राणा दुःखिनो भवन्ति । किञ्चि-
 मित्तमित्याहान्नमस्मिन् संवत्सरे नः कनीयोऽल्पतरं भवि-
 ष्यतीति । अथ पुनर्यदा सुदृष्टिर्भवति तदाऽऽनन्दिनः
 सुखिनो हृष्टप्राणाः प्राणिनो भवन्त्यन्नं वज्र प्रभूतं भवि-
 ष्यतीति ॥ अप्सम्भवत्वान्नूर्तस्वास्वस्वाप एवेमा मूर्त्तामूर्त्त-
 भेदाकारपरिणता इति मूर्त्ता येयं दृष्टिवी यदन्तरिक्षम् ।
 इत्याद्याप एवेमा मूर्त्ता अतोऽप उपास्वेति फलम् । स यो

अग्नौ कारयत्येनाद्वाङ्मयस्त्वमग्नयस्यतिरेकाभ्यां साधयति । अन्ना-
 दित्यादिना । अपां सर्वजगदात्मकत्वाद्वाङ्मयस्त्वद्विषयमित्याह ।
 अप्सम्भवत्वादिति ॥ दधिपयःप्रभृत्याहुतिपरिणामत्वादनारिचादेरन्न-

पास्तेऽस्ति भगवोऽङ्गो भूय इत्यङ्गो वाव भूयो
ऽस्तीति तस्मै भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ १० ॥

तेजो वा अङ्गो भूयस्तदा एतद्वायुमुपगृह्या-
काशमभितपति तदाङ्गनिशोचति नितपति
वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वा
ऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्यु-
द्भिरद्वादाश्चरन्ति तस्मादाङ्गविद्योतते स्तनयति
वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयि-

ऽपो ब्रह्मेत्युपास आप्नोति स सर्वान् काम्यान्मूर्त्तिमतो
विषयानित्यर्थः । अथ तत्राच्च तस्मैरसूपासनात्तृप्तिमांश्च
भवति । समानमन्यत् ॥ १० ॥

तेजो वाऽङ्गो भूयः । तेजसोऽपकारणत्वात् । काशमप-
कारणत्वमित्याह । यस्मादव्योनिस्तोजसस्मात्तदा एतत्तेजो
वायुमागृह्यावष्टभ्य स्वात्मना निचलीकृत्य वायुमाकाश-
मभिव्याप्नुवन्तपति यदा तदाङ्गलौकिका निशोचति
स्तनपति सामान्येन जगन्ति तपति देहानतो वर्षिष्यति
वै इति । प्रसिद्धं हि लोके कारणमभ्युद्यतं दृष्टवतः
कार्यं भविष्यतीति विज्ञानम् ॥ तेज एव तत्पूर्वमात्मान-

इत्यमवसेयम् । अपां सर्वमूर्त्तात्मकत्वमुपसंहरति । इत्यादीति ॥ १० ॥

इति यदसदाङ्गरेण स्वस्थते ॥ वैश्वार्धं दर्शयति । प्रसिद्ध-
यति । अग्नेजसोदङ्गं कार्यकारणत्वं उपजीव्य फलितमाह । तेज-
येति ॥ अग्नेजसोर्विधान्तरेण कार्यकारणभावं दर्शयति । विश्वान्ब्रह्मदिति ॥

त्वाऽथापः सृजते तेज उपास्वेति ॥१॥ स यस्तेजो
ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्
भ्रास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति यावत्तेजसो
गतं तन्मास्य यथा कामचारो भवति यस्तेजो
ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो
वाच भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् प्रवीत्विति ॥
२ ॥ ११ ॥

सुदृढं दर्शयित्वाऽथानन्तरमपः सृजतेऽतोऽपृच्छत्वाद्भूयो-
ऽङ्गस्तेजः किञ्चान्यत्तदेतस्तेज एव स्तनयित्वरूपेण वर्ष-
हेतुर्भवति । कथं ऊर्द्धाभिर्चोर्द्धगाभिर्विद्युद्भिस्तिस्रशी-
भिश्च तिर्यग्गताभिश्च महाह्लादाः स्तनयनशब्दाश्चरन्ति ।
तस्मात्तद्दर्शनादाञ्जलौकिका विद्योतते स्तनयति वर्षि-
ष्यति वा इत्याद्युक्तार्थमतस्तेज उपास्वेति । तस्य तेजस
उपासनफलं तेजस्वी वै भवति । तेजोवत एव च लोकान्
भ्रास्वतः प्रकाशवतोऽपहततमस्कान् वाच्यानाध्यात्मिकान-
श्चानाद्यपहततमस्कान् अपनीतवाच्याध्यात्मिकादितम-
स्कानभिसिद्ध्यति । अन्वयमन्यत् ॥ ११ ॥

तदेवोपपादयति । ऊर्द्धाभिरिति ॥ तेजसो भूयस्त्वफलमाह । तेज इति ॥
तमःशब्दार्थमाह । वाञ्छेति । वाञ्छन्तः शर्वरं प्रसिद्धवाध्यात्मिकमन्त्रा-
नरानादि तदुभयमपहततमस्कानित्वात् तमःशब्दित्यर्थः अपहत-
तमशब्दार्थमाह । अपनीतेति ॥ ११ ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानांकाशे वै सूर्या-
 चन्द्रमसामुभौ विद्युन्मन्त्रेनाप्यग्निराकाशेनाहव-
 त्वाकाशेन श्रुतोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे
 रमत आकाशे न रमत आकाशे जायते आका-
 शमभिजायते आकाशमुपास्तेति ॥ १ ॥ स य
 आकाशं ब्रह्मेत्युवाच अकाशवतो वै स लोकान्
 प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरगायवतोऽभिसिद्ध्यति वा-

आकाशो वाव तेजसो भूयान् । वायुसहितस्य तेजसः
 कारणत्वाद्योक्तो वायुमागच्छेति तेजसा सहोक्तो वायु-
 रिति पृथगिह नोक्तस्तेजसः कारणं हि लोके काष्ठी-
 झूषो दृष्टम् । यथा घटादिभ्यो घटतथाकाशो वायुसहितस्य
 तेजसः कारणमिति ततोऽपि भूयान् । कथमाकाशे वै
 सूर्याचन्द्रमसामुभौ तेजोरूपौ विद्युन्मन्त्रेनाप्यग्निरिति
 पाश्चात्काशेऽन्तः । यच्च यस्यान्तर्वर्त्ति तदल्पं भूय इतरत् ।
 किञ्चाकाशेनाह्वयति चान्यमन्य आहूतचेतर आकाशेन
 शृणोत्यन्योक्तञ्च शब्दमन्य प्रतिशृणोति आकाशे रमते
 क्रीडत्यन्योऽप्यं सर्वज्ञत्वा न रमते आकाशे वधादिवियोगे
 आकाशे जायते न मूर्त्तेर्जायतञ्चे । तथाकाशमभिल-

वायोः सकाशादाकाशो भूयानिति वक्तव्यं कथं तेजसो भूया-
 नित्युक्तमत आह । वायुरिति ॥ कारणत्वेऽपि कथमाकाशस्य वायुसहि-
 तात्तेजसो भूयस्त्वमित्याह आह । कारणं हीति ॥ तेजसो वायुसहितादा-
 काशस्य भूयस्त्वं प्रकृपूर्वकं प्रकाराकारेण दर्शयति । कथमित्यादिना ॥
 इतथाकाशस्यापि भूयस्त्वमित्याह । किञ्चेति ॥ तद्भूयस्त्वमित्याह । अथ

यदाकाशश्च कर्तुं तदास्य यथा ज्ञानमपारो भवति
न चाकाशं ब्रह्मेणु मासेति न नैव चाकाशमूय
इत्याकाशस्य मूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्
ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ १२ ॥

अरो वा आकाशमूयस्तथाप्यपि ब्रह्म आ-
सीरन् अरन्तो नैव ते कञ्चन ब्रह्मयुग्मं मन्वीरन्
विजानीरन् यदा वांवे ते अरेयुरथ ब्रह्मयुरथ

आदुरादि जायते न प्रतिसोमम् । अत आकाशसुपास्व ।
प्रथं नृत्वाकाशवतो नै विसारसुक्तान् स विहान् लोकान्
प्रकाशवतः । प्रकाशाकाशयोर्नित्यसम्बन्धात्प्रकाशवतश्च
लोकानसम्बाधान् सम्बाधनं सम्बाधः सम्बाधोऽन्वोन्व-
पीडां तद्रहितानसम्बाधानुब्रूयावतो विकीर्णगतीन्वि-
कीर्णप्रचारान् लोकानभिसिद्ध्यति । नावहाकाशस्योक्ता-
द्युत्तार्यम् ॥ १२ ॥

अरो वा आकाशमूयः । अरन्तं अरोऽन्तःकरचयर्णः ।
स आकाशमूयानिति द्रष्टव्यम् । विद्वन्मन्त्रेण अर्तः ।
अरन्ते हि सत्ताकाशादिसर्वमर्जयत् अरन्तवतो भोज्यत्वात् ।
असति तु अरन्ते सहस्रसदेव । सत्तत्त्वावर्णाभावात् । नापि

रतिः । यथनाकाशोपासकस्य प्रकाशस्याल्लोकमाप्तिरिज्जायद्वाह ।
प्रकाशाकाशवोरिति ॥ १५ ॥

ननु ब्रह्मविष्णुं श्रुतं इति श्रुत्येन यत्नं आकाशमिज्जायद्वाहं विकीर्ण-
प्रमत्ताभिरवाह । विद्वन्मन्त्रेणेति ॥ यत्नं इवः अरन्तकाकाशमू-
यस्यमिज्जायद्वाह । अरन्ते इति ॥ यन्मन्त्रेणा अरन्ते इत्येवमिति ।

मन्वीरस्य विजानीरन् सारथ्यं वै पुत्रान्विजाना-
नाति सारथ्यं पश्यन् सारथ्यपात्रेति ॥ १ ॥ स वः
सारं ब्रह्मेत्युपासो यावत्सारस्य मत्तं तपस्य
यथा कामचारो भवति नः सारं ब्रह्मेत्युपासोऽस्ति
भगवः साराहूय इति साराहाय भूयोऽस्तीति
तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ १३ ॥

सुखं सुखभावे शब्दमाकाशादीनामवगन्तुमित्यतः सारथ्य-
स्याकाशादभूयस्त्वम् ॥ दृश्यते हि लोके सारथ्यस्य भूयस्त्वं
यथात्तच्छास्त्रमपि समुदिता बहव एकस्मिन्नासीरन्मुपविशे-
युस्ते तदासीना अन्वोन्महापितृमपि न सारन्तचेत्सुनैव
ते कश्चन शब्दं श्रुत्युपसया न मन्वीरस्यन्तव्यसेत्सारथे-
सदा मन्वीरन् सुखभावत्वात् मन्वीरन् तथा न
विजानीरन् । यदा वाव ते सारेषुर्मन्त्राद्यं विज्ञातव्यं श्रोत-
व्यश्चायं श्रुत्युपसय मन्वीरस्य विजानीरन् । तदा सारेष
वै मम पुत्रा एत इति पुत्रान्विजानाति सारेष पश्यन् ।
अतो भूयसात्सारथ्यमुपास्येति । उक्तार्थमन्यत् ॥ १३ ॥

अवतीति ॥ आकाशादेः सारथ्याभावेऽपि सारथ्यप्रीत्या भोग्यत्वात्
वादानर्थक्यसक्तं सारथ्यस्य सारथ्ये नालीत्याह । नापीति ॥ सार-
थ्यस्य भूयस्त्वमनुभावनवाहसारेण वाच्यति । दृश्यते इति ॥ हिमवद्भौं
यथादिशुक्तः ॥ सारथ्याभावे नवसाद्यन्तवे अतिरेकदृष्ट्या तदभावे तद-
भावनववत्याह । नरेति ॥ एतदास्ति सारथ्यस्य भूयस्त्वमित्याह । तरेति ॥
तद्भूयस्ते वाच्यताह । अत इति ॥ १३ ॥

आशा वाव साराद्भूयसी । अप्राप्तवत्त्वाकाङ्क्षा आशा
 कर्माणि कुर्वते पुत्राश्च पशून्वेष्टते
 इमञ्च लोकममुञ्चेष्टते आशासुपास्येति ॥ १ ॥ स
 य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते आशायाऽस्य सर्वे कामाः
 सन्धस्थस्त्वमोषा हास्यगिषो भवन्ति यावदा-
 शाया गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति च
 आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ती भगव आशाया भूय
 इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्
 ब्रवीत्विति ॥ २ ॥ १४ ॥

आशा वाव साराद्भूयसी । अप्राप्तवत्त्वाकाङ्क्षा आशा
 त्वया काम इति यामाहुः पर्व्यायैः सा च सारात् भूयसी ।
 कथमाशया चान्तःकरणस्थतया स्मरति चर्त्तव्य आशा-
 विषयरूपं स्मरन्वसी स्मरो भवत्यत आशेह आशयाभि-
 वर्द्धितः स्मरभूतः स्मरवृत्तादीन्मानधीतेऽधीत्य च
 तदर्थं ब्राह्मणेभ्यो विधीय श्रुत्वा कर्माणि कुर्वते तत्फल-
 शयैव पुत्राश्च पशून्च कर्माफलभूतानिच्छतेऽभिवाञ्छति
 आशयैव तत्साधनाव्यनुतिष्ठन् इमञ्च लोकमाशेह एव
 स्मरन् लोकसङ्ग्रहेतुभिरिच्छन्मनुञ्च लोकमाशेह स्मरन् ।
 तत्साधनानुष्ठानेनेच्छते आशारसनावहं साराकाशा-
 दिनामपर्वन्तं जगच्चक्रीभूतं प्रतिप्राप्य सत आशायाः
 सारादपि भूयस्त्वमित्यत आशासुपास्य ॥ यस्याशां ब्रह्मे-
 त्युपास्ते नृण्य तस्य फलमाशया सदोपासीतवास्तोपास-

प्राणो वा प्राणानां भूयस्त्वया वा कृतः सर्वो
समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं

कस्य सर्वं कामाः सद्यन्ति सद्यं गच्छन्त्यमोघा
हास्याशिषः प्रार्थनाः सर्वा भवन्ति यत्प्रार्थितं सर्वं
तदवश्यं भवतीत्यर्थः । यावदाद्या गतमित्यादि
पूर्ववत् ॥ १४ ॥

नामोपक्रमशान्तं कार्यकारणत्वेन निमित्तनैमि-
त्तिकत्वेन चोत्तरोत्तरभूयस्तयाऽवस्थितं स्मृतिनिमित्त-
सङ्गवशादशरयनापाशैर्विप्राशितं सर्वं सर्वतो विसमिव
तन्तुभिर्यस्मिन् प्राणे समर्पितम् । येन च सर्वतो व्यापिना
अन्तर्वह्निर्गतेन सूत्रे मणिगणा इव सूत्रेण ग्रथितं
विधृतम् । स एष प्राणो वै आशाया भूयान् । कथमस्य
भूयस्त्वमित्याह दृष्टान्तेन समर्थयंस्तद्भूयस्त्वं यथा वै लोके
रथचक्रस्यारो रथनाभौ समर्पिताः सञ्चोताः सञ्च-
वेयिता इत्येतत् । एवमस्मिन् लिङ्गसङ्घातरूपे प्राणे प्रज्ञा-

आशाया भूयस्त्वयाकाङ्क्षाया वा व्याप्यते । कथमित्या-
दिना ॥ १४ ॥

प्राणस्य सर्वाङ्गदत्तेन भूयस्त्वं कथयति । नामोपक्रममिति ॥
प्रवृत्तस्मृतिवशात्तदुपक्रमेणैव जनतोऽस्ति तत्तथा पाठक्रमेणैवास्ति तस्या
शान्ते वक्ष्यति त्वज्जनत्वेति विभक्तः । कार्यकारणत्वं कारिकाश्रयादा-
नोपादेयत्वं निमित्तनैमित्तिकत्वमपि कारिकाश्रयेण चोत्तरोत्तरभूयस्तया
पूर्वप्राप्त्यर्थमात्रमात्रादेव चोत्तरोत्तरवागादिभूयस्त्वेनेति शक्तम् ॥ स्मृति-
निमित्तः सङ्गावो वक्ष्ये तत्तथा । आशायाश्चैरशरयनापाशैः सर्वतो विप्राशित-

प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय
 ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता
 प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥१॥
 स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं

तन्नि दैहके मुखे यस्मिन् परा देवता नामरूपव्याकर-
 णायाऽऽदर्शादौ प्रतिक्लिब्वज्जीवेनात्मनानुप्रविष्टा । यश्च
 महाराजस्त्रेव सर्वाधिकारीश्वरस्य । कस्मिन्ग्वहमुत्क्रान्ते
 उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्या-
 मीति स प्राणमसृजतेति श्रुतेः । यस्तु छायेवानुगत ईश्वरम् ।
 तद्यथा रथस्थारेषु नेभिरर्पितो नाभावरः अर्पिता एव
 मेधैता भूतमाताः प्रज्ञामातास्वर्पिताः प्रज्ञामाताः
 प्राणोऽर्पिताः । स एव प्राण एव प्रज्ञातोति कौपीतकीनाम् ।
 अत एवमस्मिन् प्राणे सर्वं यथोक्ते समर्पितम् । अतः स एव

मित्यत्र दृष्टान्तमाह । विसमिचेति ॥ विसशब्दो नृणां विषयः । यथोक्तं
 जगदास्मिन्नर्पितं स एव भूयानिति सम्बन्धः । सर्वस्य जगतः ॥ तस्मि-
 न्नर्पितत्वमेव दृष्टान्तद्वारा स्पष्टयति । येन चेति ॥ सर्वतो व्यापिनेत्यस्यैव
 स्फुटीकरणमन्तर्वर्हिर्गतेनेति प्राणस्याथायाः सकाशाद्भूयस्तमाकाङ्क्षा-
 पूर्वकं समर्पयते । कथमित्यादिना ॥ लिङ्गानां व्यष्टीनां सङ्घातः सङ्घ-
 दायस्तद्रूपे समष्ट्यात्मनीति यावत् ॥ उपाधितत्त्वतोरेक्यमभिमेल्य
 विधिनष्टि । प्रज्ञात्मनीति ॥ तस्यैवाध्यात्ममधिदैवज्ञावस्थानं सूचयति ।
 दैहिकमिति ॥ प्राणान्तरं व्यावर्त्तयति । सख्य इति ॥ यथोक्तोऽस्मिन् प्राणे
 सर्वं समर्पितमित्युत्तरत्वं सम्बन्धः ॥ प्रज्ञात्मनीति परमात्मोपाधित्वं
 प्राणसोक्तं तदुपपादयति । यस्मिन्निति ॥ तस्मिन् सर्वं समर्पितमिति

वाचायै वा वाचायै वा विम्विदमृषमिव प्रत्या
 विज्ञाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पित्रहा वै त्वमसि मातृ-
 हा वै त्वमसि भातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वम

प्राणोऽपरतन्त्रः प्राणेन स्वयत्नैव याति नान्यकृतगम-
 नादिक्रियास्वस्य सामर्थ्यमित्यर्थः । सर्वं क्रियाकारक-
 फलभेदजातं प्राण एव न प्राणादहिभूतमस्तीति प्रक-
 रणार्थः । प्राणः प्राणं ददाति । यद्ददाति तत्स्वात्मभूत-
 मेव । यस्मै ददाति तदपि प्राणायैव । अतः पित्राद्या-
 ख्योऽपि प्राण एव । कथं पित्रादिशब्दानां प्रसिद्धान्येति चेत् प्राणविषयत्वमिति । उच्यते । सति प्राणे पित्रादिशब्द-
 प्रयोगात्तदुक्तान्तौ च प्रयोगाभावात् कथं तदित्याह ।
 स यः कश्चित्पित्रादीनामन्यतमं यदि तं अग्रमिव तद-

पूर्ववत्प्रभवः । किमिति चक्षुरादिषु विद्यमानेषु सुखसौख्यं प्राणस्य
 परमात्मोपाधिकत्वमुपगतमित्याशङ्क्याह । यथेति ॥ प्राणस्यैवरं प्रति
 सर्वाधिकारत्वे तुल्यतरं प्रमाणवति । कश्चादिति ॥ ईश्वरं प्रति
 प्राणस्यैवोपाधिकत्वे हेतुन्तरमाह । यस्त्विति ॥ अत्रापि पूर्ववदन्वयः ॥
 प्राणस्यायावदीश्वरमनुगच्छतीत्यत्र तुल्यतरं प्रमाणवति । तद्यथेति ॥
 भूतमात्राः शब्दादयः प्रविष्टादयश्च विषया प्रज्ञामात्राश्च शब्दादिबुद्धिषु
 तज्जनकेन्द्रियेषु चेत्तर्ह्यः । भवतु तासां प्राणोऽर्हितत्वं तथापि कथं प्राणस्य
 आयावदीश्वरं प्रमाणवतित्वात् । स इव इति । कौलेतकीनां श्रुति-
 रिति शेषः । प्राणस्य बुधोक्तविशेषवैशिष्ट्यभूतः शब्दार्थः । व्याख्यातं भाग-
 भनूदावहितमं व्याकरोति । एवमिति ॥ प्राणः प्राणेन वासीत्यस्या-
 र्थमाह । अत इति । सर्वास्तदत्वादिति वाच्यम् ॥ प्राणः प्राणेन
 वासीत्यादेः प्राणो ह्येवैतां सर्वान्पि भूतानीत्यत्र तात्पर्यादिं ब्रह्मिण

स्थानार्थहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसि ॥२॥
अथ यद्यप्येमास्तुक्कान्तप्राणाच्छूखेन समासं व्यति-
सन्दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न

ननुरूपमिव किञ्चिद्वचनं त्वकारादियुक्तं प्राणाह तदेनं
पार्श्वस्था आहुर्विवेकिनो धिक्त्वास्तु धिगस्तु त्वामित्येवम् ॥
पितृहा वै त्वं पितुर्हन्तेत्यादि । अथैनानेषोक्तान्तप्राणा-
स्त्यक्तदेहान् अथान्यदपि शूखेन समासं समस्य व्यतिसन्द-
हेद्वात्यस्य सन्दहेदेवमतिक्रूरमपि कर्म समासव्यत्यासा-
दिप्रकारेण दहनलक्षणं तद्देहसम्बद्धमेव कुर्वाणं नैवैनं
ब्रूयुः पितृहेत्यादि । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते
एतत्पितृहात्योऽपि प्राण एवेति । तस्मात्प्राणो ह्येवैतानि
पितृहादीनि सर्वाणि भवन्ति यत्नानि स्थिराणि च । स वा

कथयति । कथमिति ॥ दातुर्देयस्य सम्प्रदानस्य च प्राणाभिज्ञत्वं प्रकटयति ॥
प्राण इति ॥ तदपीति देयमानमुच्यते । सस्य सम्प्रदानस्य च प्राणा-
भिज्ञत्वात्प्राणायैवेत्युक्तं प्राणस्य सञ्ज्ञात्त्वमन्तःशब्दार्थः । प्रसिद्धिरनति-
क्रमणीयेति शङ्कते । कथमिति ॥ अन्यव्यतिरेकाभ्यां पितादिशब्दानां
प्राणविषयत्वाच्च प्रसिद्धे शङ्कानमित्याह । उच्यते इति ॥ अन्यव्यतिरे-
कानेव प्रक्रम्यैकं प्रकटयति । कथमित्यादिना ॥ पितादिषु प्राणे इति
पितादिशब्दानां प्रयुज्यमानत्वमन्यथा चाप्रयुज्यमानत्वं तदित्युच्यते ।
त्वकारादियुक्तमित्यादिप्रदेन तिरस्कारप्रभेदो व्युद्ध्यते ॥ पितादिषु-
प्रियवादिनं प्रति विवेकिना धिक्कारवचने हेतुमाह । पितृहेति ॥ इति
प्राणे पितादिषु पितादिशब्दानां प्रयुज्यमानत्वमित्यन्यत्तस्मात् व्यति-
रेकमाह । अथैनानेषेति ॥ समस्य उल्लेखेन व्यत्यस्रावयवान्निभजत

भाहृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न
ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥ प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि
भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एव

एष प्राणवित् । एवं यथोक्तप्रकारेण पश्यन् फलतोऽनु-
भवमेव मन्वान उपपत्तिभिश्चिन्तयमेव विज्ञानमुप-
पत्तिभिः संयोज्यैवमेवेति निश्चयं कुर्वन्वित्यर्थः । मनन-
विज्ञानाभ्यां हि सम्भूतः शास्त्रार्थो निश्चितो दृष्टो भवेत्
अत एव पश्यन्मतिवादी भवति । नामाद्याशान्तमतीत्य
वदनशीलो भवतीत्यर्थः । ते चेद्भूयुस्तं यदि एवमतिवा-
दिनं सर्वदा सर्वैः शब्दैर्नामाद्याशान्तमतीत्य वर्तमानं
प्राणमेव वदन्ति एवं पश्यन्मतिवदनशीलमतिवादिनं
ब्रह्मादिस्तत्त्वप्रव्यन्तम् । तस्य हि जगतः प्राण आत्माऽह-

इत्यर्थः । यद्यपीत्युपक्रमादेवमपीत्येतत्तथापीत्यष्टिद्वये द्रष्टव्यम् । तदेवाति-
क्रूरं कर्मा विशिनष्टि । यथासेति ॥ अवयवविभजनसादिशब्दाद्यैः ।
तद्देहसम्बन्धमित्यत्र तच्छब्दः क्रूरपितृणादिविषयः । यद्यपि तत्प्राणेष्वपि-
देहेषु पित्रादिशब्दो द्रष्टव्यतायां नास्तीति शङ्क्यः । तद्विषये क्रूरकर्माह-
शानेऽपि शिट्ठमर्हतिरेति भावः ॥ अज्ञानमव्यतिरेकफलमुपशङ्कति ।
तस्मादिति ॥ प्राणस्यैव पित्रादिष्वप्युक्तत्वे किं स्मादिनाप्रज्ञाह ।
तस्मात्प्राणो ह्येति ॥ प्राणस्य भूयस्त्वमित्यं व्युत्पाद्य तद्विज्ञानफलमाह ।
स वा इति ॥ प्राणविदितिवादी भवतीति शङ्क्यः ॥ कथं प्राणवित्पनि-
त्येवास्माकाह । स्वचित्ति ॥ स्वर्वाप्तत्वं यथोक्तप्रकारः फलतोऽनुभवः
फलरूपत्वेन साक्षात्कारः ॥ तदनुदर्शनेनैव प्राणवित्पे विज्ञानि सति
चित्तिनिति मननविज्ञाने प्रथमपञ्चलोके तस्माह । मननविज्ञानाभ्यां ह्येति ॥
अज्ञानमव्यतिरेकाच्छोषपश्चिदनुसङ्गताहास्याद्युपपत्तिव्यं श्रावं ज्ञाते

विज्ञानन्नतिवादी भवति तच्चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसौ-
त्यतिवाद्यस्मीतिब्रूयान्नापद्भुवीत ॥ ४ ॥ १५ ॥

एष तु अतिवदति यः सत्येनातिवदति
सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानैति सत्यन्त्वेव

मिति ब्रूवाणं यदि ब्रूयुरतिवाद्यसीति । वाढमतिवाद्यस्मीति
ब्रूयात् नापद्भुवीत । कस्माद्वासावपद्भुवीत । यत्प्राणं सर्वे-
श्वरमयमस्मीत्यात्मत्वेनोपगतः ॥ १५ ॥

स एष नारदः सर्वातिशयं प्राणं स्वमात्मानं
श्रुत्वा नातः परमस्तीत्युपरराम । न पूर्ववत्किमस्ति भगवः
प्राणाद्भूय इति प्रपच्छ । यतस्तमेवं विकारानृतब्रह्म-
विज्ञानेन परितुष्टमकृतार्थं परमार्थसत्यातिवादिनमा-
त्मानं मन्यमानं योस्य शिष्यमित्थीग्रहविशेषादिप्रस्था-
वयन्नाह भगवान्सनत्कुमारः । एष तु वा अतिवदति
यमहं वक्ष्यामि न प्राणविदतिवादी परमार्थतः । नामा-

तदत्र विज्ञानं विवक्ष्यते । तत्फलसाक्षात्करणं दर्शनमिति भेदः । मननवि-
ज्ञाने विना दर्शनासम्भवोऽतः शब्दार्थः । एवं मननादिद्वारेणेति यावत् ॥
अतिवादित्वं व्युत्पादयति । नामादोति ॥ नापद्भुवीतेत्युक्तं व्यक्तीकरोति ।
कस्मादिति ॥ १५ ॥

यद्यच्चादयं विद्वानात्मत्वेन सर्वेश्वरं प्राणोऽस्मीत्युपगतवांस्तस्यादप-
द्भवे हेत्वभावादात्मनोऽतिवादित्वम् ॥ नापद्भुवीतेत्यत्र प्राणान्मरुतपदैर्वा श्रुत्वा
नारदस्य शृण्वीभावे किं कारणमित्याशङ्कायासाह । स एष इति ॥ कथं
तस्योपरतिरवगतेत्याशङ्काह । न पूर्ववदिति ॥ किमिति तर्हि प्राप्ता-
यास्तपेक्षायां स्वयमेवासाध्यो व्युत्पादयतीत्याशङ्काह । तमेवमिति ॥

विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास
इति ॥ १ ॥ १६ ॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजा-

द्यपेक्षन्तु तस्यातिवादित्वम् । यस्तु भूमाख्यं सर्वातिक्रान्तं
तत्त्वं परमार्थसत्यं वेद सोऽतिवादीत्यत आह । एष तु वा
ऽतिवदति यः सत्येन परमार्थसत्यं विज्ञानवत्तयाऽति-
वदति सोऽहं त्वां प्रपन्नो भगवन्सत्येनातिवदानि । तथा
मां नियुनक्तु भगवान् यथाहं सत्येनातिवदानीत्यभिप्रायः ।
यद्येवं सत्येनातिवदितुमिच्छसि सत्यमेव तु तावद्विजिज्ञा-
सितव्यमित्यत आह नारदः । तथास्तु तर्हि सत्यं भगवो
विजिज्ञासे विशेषेण ज्ञातुमिच्छन्वतोऽहमिति ॥ १६ ॥

यदा वै सत्यं परमार्थतो विजानाति । इह पर-
मार्थतः सत्यमिति ततोऽदृतं विकारजातं वाचरन्मथं

एतन्नाज्जायते प्राण इति नृत्त्यन्तरात्म्यस्य विकारत्वेनादृतत्वम् ॥ वाचा-
रन्मथं विकारो नामधेयमित्यक्तम् । तस्मिन्नदृते प्राये ब्रह्मणि विज्ञानं
तेनेति यावत् ॥ परितुष्टत्वे कथमज्जगत्तार्त्वमित्याह यस्तु मिथ्याज्ञानया-
जित्वादित्याह । परमार्थेति ॥ न च तस्योपेक्षाहंत्वमित्याह । योग्यमिति ॥
मिथ्यापहविशेषो नास्ति प्राणात्यरमित्यभिमानः ॥ कथं तर्हि प्राणविदो
ऽतिवादित्वमुक्तं तत्राह । नामादीति ॥ कस्तर्हि परमार्थतोऽतिवादी-
त्याह ॥ यस्मिन्ति ॥ सोऽतिवादीति ॥ यतः सन्तः सारस्वताभि-
प्रायेऽत एवाहेति योजना ॥ ननु नारदस्य नाद्यापि सत्यविज्ञानस-
त्यस्य कथं सत्येनातिवदानीति पृच्छति तत्राह । तथेति ॥ १६ ॥

यदा वै विजानातीत्यादिवाक्यं व्याकुर्वन्नुत्तरमाह । वदेति ॥
यदि विषयं सङ्गोपादनुमताङ्गिजनसदेव स्थाय्यदि त्वमिदं सन्मात्रमेव

नन् सत्यं वदति विज्ञानमेव सत्यं वदति विज्ञा-

दित्वा सर्वविकारावस्थं सदैवैकं सत्यमिति तदैवायं वदति
यद्वदति । ननु विकारोऽपि सत्यमेव । नामरूपे सत्यान्ता-
भ्यामयं प्राणस्त्वन्त्रः प्राणा वै सत्त्वं तेषामेष सत्यमिति
श्रुत्यन्तरात् । सत्यमुक्तं सत्यत्वं श्रुत्यन्तरे विकारस्य न
तु परमार्थापेक्षमुक्तं किन्तु हीन्द्रियविषयाविषयत्वापेक्षं
सत्त्वं त्यजेति सत्यमित्युक्तं तद्वारेण च परमार्थसत्यस्योप-
लब्धिर्विवक्षितेति । प्राणा वै सत्त्वं तेषामेष सत्यमिति
शोक्तम् । इहापि तदिष्टमेव । इह तु प्राणविषयात्परमार्थ-
सत्यविज्ञानाभिमानाद्युत्थाप्य नारदं यत्सदेव सत्त्वं पर-
मार्थतो भूमाख्यं तद्विज्ञापयिष्यामीत्येष विशेषतो विव-
क्षितोऽर्थः । नाविज्ञाननृसत्त्वं वदति ॥ यत्सविज्ञानम् इति
सोऽम्बादिशब्देनाम्नादेन परमार्थसद्रूपान्मन्यमानो

परमार्थसत्त्वं सिद्धोदिति परमार्थतः सत्त्वं यदैव विज्ञानातीत्यर्थः ॥
विज्ञानप्रकारमभिनयति । इदमिति ॥ तत्सदाऽन्वतं विकारजातं कृत्वा
सदेव सत्यमिति कृत्वा यद्वदति तत्तदेव वदतीति योजना ॥ सत्यविज्ञा-
नस्य तद्वदनं प्रति हेतुत्वद्योतनार्थोऽयं शब्दः ॥ श्रुत्यन्तरावस्थेषु
भेदाभेदादौ शङ्कते । नन्विति ॥ किं बृहदारण्यकमुक्त्वा विकारस्य
सत्यत्वमुक्तमिच्छेतावन्मात्रमुच्येत किं वा परमार्थसत्यत्वमिति विव-
क्ष्यग्राह्यमङ्गीकरोति । सत्यमिति ॥ द्वितीयं दूषयति । न त्विति ॥
भेदाभेदयोर्विरोधादेकोपाधावयोगाद्विकारस्य च सत्त्वं सर्वत्रावस्थितत्वात्तु-
मानादत्यन्ताबाध्यत्वाभिप्रायेण सत्यत्वं श्रुत्यन्तरेष्वेवोक्तमित्यर्थः ॥ कथं
नर्हि प्राणादिषु सत्त्वत्वमुक्तमिच्छायास्तुल्यकारं स्वीकरोति । किन्तुहीति ॥
इन्द्रियजनितसह विविचयत्वापेक्षं सत्यत्वं सद्विज्ञानमिति । तद्विषयत्वा-

नन्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो
विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ १७ ॥

वदति न तु ते रूपत्वव्यतिरेकेण परमार्थतः सन्ति ।
तथा तान्यपि रूपाणि सद्पेक्षया नैव सन्तीत्यतो नावि-
ज्ञाननसत्त्वं वदति । विज्ञानमेव सत्त्वं वदति । नच तत्सत्त्व-
विज्ञानमविजिज्ञासितमप्रार्थितं ज्ञायत इत्याह । विज्ञा-
नमेव विजिज्ञासितव्यमिति । यद्येवं विज्ञानं भगवो

मेवं भूतद्वयं त्वदिति व्यवह्रियते । तथा च भूतपञ्चकं सद्य त्वमेति
व्युत्पाद्य सत्त्वमिति वयोक्तम् । तथा तद्बीजभूतयोगीश्वरपयोसदात्मकत्वाच्च
प्राणानां सत्त्वत्वं व्यावहारिकमिष्टमित्यर्थः ॥ इतश्च प्राणादिभ्यः किञ्चा-
भूतेष्वपि सत्त्वश्रुतिरविरुद्धेत्याह । तद्वारेणेति ॥ प्राणादीनां व्याव-
हारिकसत्त्वत्वाद्युपादहारेण भ्यारोपापवादव्यावेन परमार्थसत्त्वस्य ब्रह्म-
णोऽवगतिर्विवक्षितेति ॥ कस्मा तेष्वपि सत्त्वत्वश्रुतिरविरुद्धेत्यर्थः ॥
वयोक्तोऽर्थो विवक्षितो बृहदारण्यकश्रुतावित्त्वत्वं नमकमाह । प्राणा
वा इति ॥ ननु श्रुत्यन्तरे विकारस्यापि व्यावहारिकं सत्त्वत्वमिष्टं
प्रकृते तु न तद्व्यतिरेकं भूत्वा एव सत्त्वत्वाङ्गीकारात् । तथा च विरोधता-
दवस्थग्रभन आह । इहापीति ॥ यदि प्राणस्यापि व्यावहारिकः सत्त्वत्वमु-
पगतं किन्तर्हि सनत्कुमारस्य विवक्षितमित्याशङ्क्याह । इह त्विति ॥
यदा वै जानातीत्यत्र सत्त्वं वदतीति यद्यास्यातं तदन्वयव्यतिरेकाभ्यां
स्मृतवत्त्वादौ व्यतिरेकमाह । नाविज्ञानमिति ॥ परमार्थसत्त्वमविज्ञान-
मपि वदत्यग्न्यादीनीत्याशङ्क्याह । यस्मिन् इति ॥ तर्हि कथं सदेव
परमार्थसत्त्वमिति वदतोऽभौटसिद्धिरित्याशङ्क्याह । न त्विति ॥ तात्त्वेव
तर्हि रूपाणि पृथग्विद्यन्ते तेनेत्याह । तथेति ॥ अतोऽस्य नास्ति
सत्त्ववादित्वमेत्युपसंहरति । इत्यत इति ॥ व्यतिरेकं दर्शयित्वाऽन्यदना-
चरे । विज्ञानमेवेति ॥ अस्तु तर्हि सत्त्वविज्ञानपूर्वकमतिवादित्वमित्या-

यदा वै मरुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ १८ ॥
 यदा वै अहधात्यथ मरुते नाथहधन्मरुते अहधदेव मरुते अथा त्वेव विजिज्ञासितव्येति अथां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ १८ ॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ अहधाति नानिस्तिष्ठ-
 अहधाति निस्तिष्ठन्नेव अहधाति निष्ठा त्वेव
 विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास
 इति ॥ १ ॥ २० ॥

विजिज्ञास इति । एवं सत्यादीनां चोत्तरोत्तराणां
 करोत्यन्तानां पूर्वपूर्वहेतुत्वं व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

यदा वै मरुत इति । मतिर्मननं तर्को मन्तव्यविषय
 आदरः ॥ १८ ॥ आसिष्यबुद्धिः अज्ञा ॥ १९ ॥

निष्ठा गुणशुद्धादिसात्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय ॥ २० ॥

यज्ञाह । न चेति ॥ वक्ष्येवं जिज्ञासाद्वारा सत्त्वविज्ञानं ज्ञेयमित्येवमि-
 दं हेतुत्वैः । सत्त्ववदनं प्रति सत्त्वविज्ञानस्य यथा कारणत्वसङ्गतं तथा
 पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरसत्तरे कारणत्वेन द्रष्टव्यमित्यतिदिशति ।
 एवमिति ॥ १७ ॥

विज्ञानकारणीभूतां मतिं व्याचष्टे । मतिरिति ॥ मननहेतुभूतां
 अज्ञां व्याकरोति । अस्तीति ॥ १८ ॥ १९ ॥

अज्ञाहेतुं निष्ठां व्याचष्टे । निष्ठेति ॥ २० ॥

यदा वै करोत्यत्र निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्ति
ष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासि
तव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ २१ ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा
करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव वि
जिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास
इति ॥ १ ॥ २२ ॥

यदा वै करोति कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्रता कार-
णञ्च । सत्यां हि तस्यां निष्ठादीनि यथोक्तानि सम्भवन्ति
विज्ञानावसानानि ॥ २१ ॥

सापि कृतिर्यदा सुखं लभते सुखं निरतिशयं वक्ष्य-
माणं लब्ध्वयं मयेति मन्यते तदा भवतीत्यर्थः । यथा
दृष्टफलसुखाकृतिस्तथेहापि नासुखं लब्ध्वा करोति । भवि-
ष्यदपि फलं लब्धेत्युच्यते । तत्तदुद्दिश्य प्रवृत्तुपपत्तेः ।
अथेदानो कृत्यादिषूत्तरोत्तरेषु सत्सु सत्यं स्वयमेव प्रति-

निष्ठा निदानम् ॥ कृतिं विभजते । कृतिरिति ॥ कथं पुनरेतेषां सुत्त-
रुत्तरे पूर्वस्य पूर्वस्य कारणो भवति तत्राह । सत्यं हीति ॥ २१ ॥

कृतिर्कृद्भिर्कृतो भवतीति तत्राह । सापीति ॥ यदा सुखं लभते
तदा भवतीति सम्बन्धः । ननु सुखलाभाख्येन्द्रियसंयमादिव्यतिरेकेषां भा-
वात्कथं सुखलाभाधीना कृतिरित्याशङ्क्याह । सुखमिति ॥ वक्ष्यमाणसुख-
लब्धव्यत्वाभिमानादेव यथोक्ताकृतिः सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ सुखं लब्ध्वा करोतीत्ये-
तदुद्दानेन साधयति । यथेति ॥ इदं फलं पुत्रपत्यादि तत्पञ्चसुखोद्दे-

यो वै भूमा तत् सुखं नाह्ये सुखमस्ति भूमैव
सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भवानं
भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥ २२ ॥

अस्ति न तद्विज्ञानाय पृथग्यत्नः कार्य इति माज्ञं तत्
इदमुच्यते । सुखमेव विजिज्ञासितव्यमित्यादि । सुखं
भगवो विजिज्ञास इत्यभिमुखीभूतायाह ॥ २२ ॥

यो वै भूमा महत् निरतिशयं बह्विति पृथ्व्यास्तत्सुखम् ।
ततोऽर्वाक्यातिशयत्वादल्पम् । अतस्तस्मिन्मन्त्रे सुखं नास्ति ।
अल्पस्याधिकतृणाहेतुत्वात् । तृणा च दुःखबीजम् । न हि
दुःखबीजं सुखं दृष्टं पुरादि लोके । तस्माद्युक्तं नाल्पे
सुखमस्तीति । अतो भूमैव सुखम् । तृणादिदुःखबीजत्वा-
सम्भवाद्भूम्नः ॥ २३ ॥

यपूर्विका लोके कतिर्दृष्टा । तथाहमपि सुखं सर्वध्वैव करोति नत
विना तदुद्देशमित्यर्थः । नन्विन्द्रियाणां मनसश्च संयमपूर्वकं सुखं
भवति तथा च कथं तद्व्यवस्था करोतीत्युच्यते तत्राह । भविष्यदपीति ॥
उत्तरयन्ममाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति । कथेत्यादिना ॥ २२ ॥

भूम्नोऽर्वागपि वैभविष्यं सुखमस्तीत्याशङ्काह । ततोऽर्वागिति ॥
कथमस्यत्वेऽपि सुखत्वं वार्यते तत्राह । अस्मत्तेति ॥ दुःखरूपां तृणां
प्रत्यक्षस्य सुखस्य हेतुत्वेऽपि कथं कथं सुखं न भवतीत्याशङ्काह । न
हीति ॥ अस्मत्सु सुखस्य दुःखान्नामने सिद्धे कथितमाह अत इति ॥ २३ ॥

यच्च नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्वि-
जानाति स भूमा अथ यच्चान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणो-

किञ्चलक्षणेऽसौ भूमेत्याह । यत् यस्मिन् भूमि तत्त्वे
नान्यद्द्रष्टव्यमन्येन करणेन दृष्टोऽन्यो विभक्तो दृष्ट्याद-
न्यत्पश्यति तथा नान्यच्छृणोति । नामरूपयोरेवान्तर्भावा-
द्विषयभेदस्य । तद्भावाकयोरेवेह दर्शनश्रवणयोर्ग्रहणम् ।
अन्येषाञ्चोपलक्षणार्थत्वेन सममन्वतोक्तं द्रष्टव्यम् । नान्यन्वा-
नुत इति । प्रायशो मननपूर्वकत्वाद्विज्ञानस्य । तथा नान्य-
द्विजानाति । एवंलक्षणो यः स भूमा । किमत्र प्रसि-
द्धान्यदर्शनाभावो भूमोच्यते नान्यत्पश्यतीत्यादिना ।
अथान्यं न पश्यत्यात्मानं पश्यतीत्येतत् । किञ्चातो यद्यन्य-
दर्शनाद्यभावमात्रमित्युच्यते तदा द्वैतसंख्यवहारविल-

भूम्नः स्वविशेषत्वं निर्विशेषत्वं वेति प्रश्नपूर्वकं निर्विशेषत्वं निरुद्धा-
रयति । किमित्यादिना ॥ नान्यच्छृणोति स भूमेति सम्बन्धः । किमिति
स्यर्शनादिवपि सत्सु दर्शनश्रवणयोरेव निवेध्यत्वे नात्र पश्यमित्याशङ्काह ।
नामेति ॥ अतुक्तानां स्यर्शादीनामुपलक्षणार्थत्वेनात्र द्वयोर्पश्यं
स्यर्शनाद्यविषयत्वस्यापि भूमि भावादित्याह । अन्येषामिति ॥ अत्रेति
लक्षणवाक्योक्तिः ॥ तत्र हेतुमाह । प्रायश इति ॥ यस्मिन्निष्करणे
तत्त्वविचारणादिसम्बन्धोऽन्यं न पश्यति न शृणोति न अनुते न विजा-
नाति स भूमेति द्रष्टृदृष्ट्यादिविकल्पनिषेधेनाध्यासाधिकरणत्वोपलक्षितस्य
विकल्पाविषयत्वमेव भूमिलक्षणमित्युपसंहरति । एवमिति ॥ उक्तमेव
लक्षणं स्फुटमितं विवक्ष्यति । किमत्रेति ॥ लोकाप्रसिद्धदर्शनादिविष-
यत्वाभावमात्रं भूमौ लक्षणं तद्विषयेन ससंयत्वं वेति विमर्शार्थः ॥
कस्मिन्पक्षे को लाभः को वा दोष इति शिष्यः पृच्छति । किञ्चात

त्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदस्य तमय
यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कश्चिन् प्रतिष्ठित

क्षयो भूमेत्युक्तं भवति । अथान्यदर्शनविशेषप्रतिषेधेनात्मानं
पश्यतीत्युच्यते । तदेकस्मिन्नेव क्रियाकारकफलभेदोऽभ्युप-
गतो भवेत् । यद्येवं को दोषः स्यात् । नन्यमेव दोषः
संसारानिदृष्टिः । क्रियाकारकफलभेदो हि संसार इति ।
आत्मैक्य एव क्रियाकारकफलभेदः संसारविलक्षण इति
चेत् । न । आत्मनो निर्विशेषैकत्वाभ्युपगमे दर्शनादिक्रिया-
कारकफलभेदाभ्युपगमस्य शब्दमात्रत्वात् । अन्यदर्शनाद्य-
भावोक्तिपक्षेऽपि यत्तत्त्यन्यन्नपश्यतीति च विशेषणोऽनर्थके
स्थातामिति चेत् । दृश्यते हि लोके । यत्तद्गूढं नृहेऽन्यन्न
पश्यतीत्युक्ते सम्भादनात्मानं च न नपश्यतीति गम्यते । एव-

इति ॥ आद्यमनूय तत्तत्तामं दशैयति । यदिति ॥ अन्यस्य प्रसिद्धस्य
दर्शनादेर्विषयत्वं भूम्नि नास्तीत्येतावन्मात्रं तस्य लक्षणमित्युच्यते
चेत्तत्त्वविकल्पातीतः प्रत्यगात्मा भूमेत्यस्य लक्षणविरहितत्वः ॥ द्वितीयं
पक्षमनूय तस्मिन्दोषं सूत्रवति । अथेत्यादिना ॥ तमेव दोषं प्रकृष्टपूर्वकं
स्फुटयति । यद्येवमित्यादिना ॥ सति क्रियाकारकफलभेदे कथं संसारानि-
दृष्टिसत्ताह । क्रियेति ॥ सति भेदे क्रियादेः संसारत्वं लोके दृष्टं
तद्वैलक्षण्यादेकस्मिन्नेव क्रियाकारकभावस्य न संसार इति चोदयति ।
आत्मैक्य इति ॥ एकस्मिन्क्रियादिभेदस्यासम्भवं दर्शयन्नुत्तरमाह ।
नात्मान इति ॥ द्वितीयपक्षस्य दुष्टत्वे अटीकते प्रवचनपक्षस्यापि सत्ता-
नदुष्टत्वमिति शिष्यः शङ्कते । अन्येति ॥ अद्यपक्षेऽपि न पश्यतीत्येतावन्तैव
दर्शनाद्यभावात्त्यन्यदिति च विशेषणं व्यर्थं स्थातामित्यर्थः ॥ व्यर्थ-
मेवेदं वचनमित्याशङ्क्य शिष्यः अस्यमेव ब्रूते । दृश्यते हीति ॥ लोके

इति खे महिम्नि यदि वा न महिम्नौति ॥ १ ॥

मिहापीति चेत् । न । तत्त्वमसीत्येकत्वे पदेषादधिकारणा-
धिकर्तव्यभेदानुपपत्तेः । तथा सदेकमेवाद्वितीयं सत्त्वमि-
ति षष्ठे निर्धारितत्वात् । अदृश्येऽनाद्येन समृद्धे तिष्ठति
रूपमस्य विजातारमरे केन विजानीयादित्यादिभ्युत्पत्तिभ्यः
स्वात्मनि दर्शनाद्यनुपपत्तिः । यत्नेति विशेषणमनर्थकं
प्राप्तमिति चेत् । न । अविद्याकृतभेदापेक्षत्वात् । यथा सत्त्वै-
कत्वाद्वितीयत्वमुक्तिं प्रकृतावपेक्ष्य सदेकमेवाद्वितीयमिति
सङ्ख्याद्यनर्थमप्युच्यते । एवं भूम्नोक्तस्मिन्नेव यत्नेति विशेषणम् ।
अविद्यावस्थायामन्यदर्थानुवादेन च भूम्नि । अतस्तदभाव-
त्वज्ञप्तिस्तस्य विवक्षितत्वान्मान्यत्वमप्यतीति विशेषणम् । तस्मा-
त्संसारव्यवहारो भूम्नि नास्तीति समुदायार्थः । अथ यत्ना-

दि यत्नं चून्ने षष्ठे नान्यत्पक्षवि तद्देवदत्तीयमिति प्रयोगो दृश्यते
नच तस्य नैरर्थक्यमिदम् । व्यवहाराङ्गत्वाद्यथोक्ते धनधान्याद्यदर्शनेऽपि
सम्भादीन् षष्ठ्युच्यते न न पश्यतीति न्युतस्य नैरर्थक्यं न गम्यते । किन्तु
सम्भादीनां तस्य च दर्शनमिदम् । तथा यत्नं नान्यत्पक्षतोत्पत्त्यापि
विशेषणवैयर्थ्ये समाधानं वक्तव्यमिदमर्थः । किं विशेषणवैयर्थ्यानुपपत्त्या
भूम्नधिकारणाधिकर्तव्यभावः स्वात्मदर्शनं च वाच्यमित्युच्यते किं वा
न्युतस्य नतिर्वक्तव्येति प्रपञ्चते चेत्तत्वाद्यं दूषयति । नेत्यादिना । तथा
तत्त्वमसीति वदित्वर्थः । निर्धारितत्वादधिकारणाधिकर्तव्यभेदानुपपत्ति-
रिति शेषः । अज्ञान्यस्य पश्यतीति विशेषणादात्मनः स्वदर्शनं वाच्यमिति
तत्वात् । अदृश्य इति । द्वितीयमनूद्य गतिमाह । यत्नेत्यादिना ।
परिहारभावं दृष्टान्तेन अप्युच्यते । यथेति । एकस्मिन्नेव भूम्नि यत्नेति
विशेषणमनर्थकमपि प्रयुज्यते । महिम्नादुपदेनाधिकारणाद्विकल्पाविष-

गोत्रमहिम्नं महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दास-

विद्याविषयेऽन्येऽन्येनान्यत्पश्यतीति तद्वस्त्वमविद्याकालभावि
इत्यर्थः । यद्यस्वप्नदृश्यं वस्तु प्राक् प्रतिबोधान्तत्काल-
भावीति तद्वत् । तत एव तन्मार्त्वं विनाशि स्वप्नवस्तुवदेव
तद्विपरीतो भूमा यस्तद्वत्तम् । तच्छब्दोऽस्तत्वपरः ।
स तर्ह्येवंलक्षणो भूमा हे भगवन् कस्मिन् प्रतिष्ठित
इत्युक्तवन्तं नारदं प्रत्याह सनत्कुमारः । स्वे महिम्नीति
स्वे आत्मीये महिम्नि माहात्म्ये विभूतौ प्रतिष्ठितो भूमा ।
यदि प्रतिष्ठामिच्छसि क्वचित् यदि वा परमार्थमेव
पृच्छसीति न महिम्नपि प्रतिष्ठित इत्यवोचाम । अप्रतिष्ठि-
तोऽनाश्रितो भूमा क्वचिदपीत्यर्थः । यदि स्वमहिम्नि
प्रतिष्ठो भूमा कथं तर्ह्यप्रतिष्ठ उच्यते । शृणु । गोऽश्वादि

यत्त्वलक्षणस्य भूम्नो लक्षणस्य विविक्षितत्वादित्याह । एवमिति ॥ यद-
विद्यावस्तुमन्वद्दर्शनादि तदनुवादेन नान्यत्पश्यतीति विषये वक्ष्यन् भूम्नि
न विद्वध्यते । दर्शनाद्यविषयत्वलक्षणस्य भूम्नो लक्षणस्य विविक्षितत्वादि-
त्याह । अविद्येति ॥ लक्षणवाक्यार्थसुपसंहरति । तस्यादिति ॥ दर्शनादि-
सकलसांसारिकव्यवहाराभावोपलक्षितं तत्त्वं भूमेत्यर्थः ॥ अथ वक्ष्येत्यादि-
व कथं व्याकरोति । अथेति ॥ परिच्छिन्नस्याविद्याकालभाविष्यं इष्टान्तेन
विद्वध्येति । यथेति ॥ तत एव परिच्छिन्नत्वादिति । यावत् । कथं
तद्वत्तमिति भूम्नि तच्छब्दप्रयोगस्तत्वाह । तच्छब्द इति ॥ भूम्नः
सुखत्ववचनान्तस्य चान्त्र्यं पृच्छति । सतर्हीति ॥ व्यवहारवज्ज्ञा प्रज्ञो
वस्तुदृष्ट्या वेति विकल्पग्राह्यप्रत्याह । इत्युक्तवन्ममिति ॥ द्वितीयलक्षणस्य
निराकरोति । वदीति ॥ पूर्वापरविरोधमाशङ्क्य परिहरति । वदी-
त्यादिना ॥ भूम्नः सतोऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितत्वाभावेऽन्येऽन्युच्यते तत्त्वान्यो

भार्य्यं चेचाण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि
ब्रवीमीति ह होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित
इति ॥ २ ॥ २४ ॥

स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात् स पश्चात् स
पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्व-

इह महिमेत्याचक्षते । गावश्चाश्वान् गोऽश्वं द्वन्द्वैकवद्भावः ।
सर्वत्र गवाश्चादिमहिमेति प्रसिद्धम् । तदाश्रितस्तत्प्रतिष्ठितैर्लो
भवति । यथा नाहमेवं स्वतोऽन्यं महिमानमाश्रितो भूमा
चैववदिति । ब्रवीम्यत्र हेतुत्वेनाभ्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित
इति व्यवहितेन सम्बन्धः ॥ किन्त्वेवं ब्रवीमीति होवाच
स एवेत्यादि ॥ २४ ॥

कस्मात्पुनः क्वचिन्न प्रतिष्ठित इत्युच्यते । यस्मात्स एव
भूमा । अधस्तान् तर्क्षतिरेकेणान्यद्विद्यते यस्मिन् प्रतिष्ठितः
स्यात् । तथोपरिष्ठादित्यादि समानम् । सति भूम्नोऽन्यस्मिन्
भूमा हि प्रतिष्ठितः स्यान्न तु तदस्ति । स एव तु सर्वम् । अत-
स्तस्यादसौ न क्वचित्प्रतिष्ठितः । यत्र नान्यत्पश्यतीत्यधि-
करणाधिकर्त्तव्यतानिर्देशात्स एवाधस्तादिति च परोक्ष-

होत्यादिवाक्यस्य हेतुना तेन व्यवहितेनाहमेवं ब्रवीमीत्यस्य सम्बन्धमिति
योजना ॥ कथं तर्हि ब्रवीति भवानित्याशङ्क्याह । किन्त्विति ॥ २४ ॥

अवतारितमेव वाक्यं प्रश्नपूर्वकमवतार्य्यं व्याचष्टे । कस्मादिस्मा-
दिना ॥ उक्तमेवार्थं व्यतिरेकद्वारा विदधोति । ब्रवीतीति ॥ अहङ्कारा-
त्मनीयदेशस्याभिप्रायमाह । यत्नेति ॥ कोऽप्यहङ्कारेणादिस्त्व

मित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुप-
रिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्त-
रतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥ १ ॥ अथात आ-
त्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्ठादात्मा

निर्देशात् । द्रष्टुर्जीवादित्यो भूमा स्यादित्याशङ्का कस्य-
चिन्माभूदिति । अथातोऽनन्तरमहङ्कारेणादिष्यत इत्य-
हङ्कारादेशः । द्रष्टुरन्यत्वं दर्शनार्थं भूमैव निर्दिश्यतोऽह-
ङ्कारेणाहमेवाधस्तादित्यादिना । अहङ्कारेण देहादिस-
ङ्घातोऽप्यादिष्यतेऽविवेकिभिरित्यतस्तदाशङ्का मा भूदिति ।
अथानन्तरमात्मादेश आत्मनैव केवलेन सत्स्वरूपेण ब्रह्मे-
नादिष्यते । आत्मैव सर्वतः सर्वमित्येवमेकमजं सर्वतो
व्योमवत्पूर्णमन्यग्रन्थं पश्यन् स वा एष विद्वान्मननविज्ञा-
नाभ्यामात्मरतिरात्मन्येव रतीरमणं यस्य सोऽयमात्म-
रतिस्तथात्मक्रीडः देहमात्रमाधना रतिर्वाङ्मासाधना
क्रीडा । लोकेस्त्रीभिः सखिभिश्च क्रीडतीति दर्शनात् । न

इत्याशङ्का प्रयोजनानुवादपूर्वकमाह । द्रष्टुरिति ॥ अहङ्कारादेशात्
पृथगात्मादेशस्य तात्पर्यमाह । अहङ्कारेणेति ॥ उक्तात्मविज्ञानवतः
कृतज्ञव्यतःकाह । आत्मैवेति ॥ एकमिति जगतीयभेदराहित्यस्योक्तिः ॥
अन्यग्रन्थमिति विजगतीयभेदग्रन्थावस्यते ॥ रत्यात्मक्रीडयोरवा-
न्तरभेदं दर्शयति । देहमात्रेणेति ॥ क्रीडा वाङ्मासाधने त्वत्त्व लोकसम्प-
त्तिमाह । लोक इति ॥ देहस्य जीविते च भोगत्यागयोश्च निमित्तं
वाङ्मावस्तु तत्त्व सर्वत्र निरपेक्षो यद्वच्च, चाभेदासङ्गवर्जितो विद्वानित्याह ।

पञ्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मेतरत
 आत्मैवेदः सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं
 मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्म-
 मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु

तथा विदुषः किन्तर्ह्यात्मविज्ञाननिमित्तमेवोभयं भव-
 तीत्यर्थः । मिथुनं द्वन्द्वजनितं सुखं तदपि द्वन्द्वनिरपेक्षं
 यस्य विदुषस्तथानन्दः शब्दादिनिमित्तः । आनन्दोऽपि-
 दुःषां न तथाऽस्य विदुषः किन्तर्ह्यात्मनिमित्तमेव सर्वं
 सर्वदा सर्वप्रकारेण च । देहजीवितभोगादिनिमित्त-
 वाह्यवस्तुनिरपेक्ष इत्यर्थः । स एवं लक्षणो विद्वान् जीव-
 न्नेव स्वाराज्येऽभिषिक्तः । पतितेऽपि देहे स्वराडेव भवति ।
 यत एवम्भवति तत एव तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो
 भवति । प्राणादिषु पूर्वभूमिषु तत्वास्वेति तावन्मात्रपरि-
 शिन्नाकामचारित्वमुक्तमन्यराजत्वं चार्थप्राप्तं सातिशय-
 त्वादुपधा प्राप्तस्वाराज्यकामचारत्वानुवादेन ततस्तन्निवृ-
 त्तिरिहोच्यते स स्वराडित्यादिना । अथ पुनर्येऽन्वया
 ऽत उक्तदशनादन्यथा वैपरीत्येन यथोक्तमेव वा सम्यङ्

देहेति ॥ जीवन्मुक्तिपञ्चा विदेहर्हाक्तं दर्शयति । स इति । स्वाराज्यं
 निमित्तकीकृत्य फलान्तरमाह । यत एव मिति । स्वाराज्यवर्गं लोकाकामचा-
 रकोलात्यर्थमाह । प्राणादिष्विति । बावचान्नो नतं तत्वास्तु कथाकाम-
 चारो भवतीत्यादिना परिशिष्टं परतन्मस्य पूर्वभूमिषु फलउक्तमन
 त परमानन्दप्राप्तौ तद्व्यावृत्तिरुच्यते न त लोपाभिक्तं रूपमित्यर्थः ।

लोकेषु कामचारो भवति । इयं येऽन्यथातो
विदुरनगराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां
सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥ २५ ॥

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वान-
स्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशा-

विदुस्तेऽन्यराजानो भवन्ति । अन्यः परो राजा स्वामी
एषां तेऽन्यराजानस्ते । किञ्च क्षय्यलोकाः क्षयो लोक
एषां ते क्षय्यलोकाः । भेददर्शनस्याल्पविषयत्वादल्पञ्च
तन्मार्त्तमित्यवोचाम । तस्मादेव द्वैतदर्शिनस्ते क्षय्यलोकाः
स्वदर्शनानुरूप्येणैव भवन्त्यत एव तेषां सर्वेषु लोकेष्वका-
मचारो भवति ॥ २५ ॥

तस्य ह वा एतस्येत्यादि स्वाराज्यं प्राप्तस्य प्रकृतस्य
विदुष इत्यर्थः । प्राक्कृदात्मविज्ञानां स्वात्मनोऽन्यथात्मतः
प्राणादेर्नामात्मन्तोत्पत्तिप्रलयावभूतां सदात्मविज्ञाने
तु सतीदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ तथा सर्वोऽप्यन्यो-
व्यवहार आत्मत एव विदुषः । किञ्च तदेतस्मिन्नर्थे

फलप्रदर्शनद्वारेण सुखा विद्यामविद्वन्निन्दाद्वारायितां ज्ञौति ।
अथेत्यादिना । ते क्षय्यलोका भवन्तीति सम्बन्धः ॥ भेददर्शनां विना-
शिफलवत्त्वे हेतुमाह । भेददर्शनस्येति ॥ परिच्छिन्नस्य विनाशित्वं
वचनं तस्मादिति परावृत्त्यति ॥ २५ ॥

उक्तविद्यासुखार्थमेव विदुषः कटृत्वमाह । तस्येति ॥ तथा विदुषः
कटृत्वव्यवहारवर्तिद्वयार्थः । प्रोक्तादिरन्यो व्यवहारो न केवलं ब्राह्म-
णोक्तमिह विद्याफलं किन्तु मन्मोक्तञ्चेत्याह । किञ्चेति तन्मन्मार्थः

ऽऽत्मतः स्वर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज
 आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावा-
 त्ततोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो
 ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन
 आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः
 कर्माण्यात्मत एवेद् सर्वमिति ॥१॥ तदेषल्लोको

एष लोको मन्त्रोऽपि भवति । न पश्यः पश्यतीति । पश्यो
 यथोक्तदर्शी विद्वानित्यर्थः । सत्त्वं मरणम् । रोगं ज्वरादि ।
 दुःखतां दुःखभावश्चापि न पश्यति । सर्वं ह सर्वमेव स
 पश्यः पश्यत्यात्मनमेव सर्वं ततः सर्वमाप्नोति सर्वशः
 सर्वप्रकारैरिति । किञ्च स विद्वान् प्राक्सृष्टिप्रभेदादेक-
 धैव भवत्येकधैव च सन् विधादिभेदैरनन्तभेदप्रकारो
 भवति सृष्टिकाले । पुनः संहारकाले मूलमेव स्वं पारमा-
 र्थिकमेकधाभावं प्रतिपद्यते । स्वतन्त्र एवेति विद्यां फलेन
 प्ररोचयन् स्तौति । अथेदानीं यथोक्ताया विद्यायाः
 सत्यगवभासकारणं सुखावभासकारणस्यैवादृशस्य विष्णु-

सप्तम्या निर्दिश्यते । स च विद्याफलरूपः ॥ न पश्य इति मन्त्रमा-
 दाद्यव्याचष्टे । पश्यतीत्यादिना ॥ सर्वमाप्नोतीति पूर्वतापरिच्छेद-
 भजनव्यावर्तनेन विवक्षिता नष्ट क्रियाकीटकादिभावोऽपुनरुपार्थत्वप्र-
 सङ्गादिति द्रष्टव्यम् ॥ विद्यास्तुतिपौन्यस्यार्थं सयुचविद्याफलमपि निर्गु-
 णमज्ञविदाप्नोतीत्यह । किञ्चेति ॥ विधा तेजोवस्वरूपेण । शब्दस्पर्श-
 दिरादिशब्दार्थः । विद्यां तत्फलं तदपेक्षितां स्तुतिज्जाभिधायः हार-

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नीत दुःखतां
 सर्व ए ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति
 स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा
 नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतञ्च दश चैकञ्च
 सहस्राणि च विंशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः

द्विकारणं साधनमुपदिश्यते आचारशुद्धौ । आहृत्यत
 इत्याहारः शब्दादिविषयज्ञानम् । भोक्तृभोगयाहृत्यते
 तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशु-
 द्धीरानुद्वेषमोहदोषैरसंस्पृष्टविषयविज्ञानमित्यर्थः । तस्या-
 माहारशुद्धौ सत्यां तद्वतोरन्तःकरणस्य सत्त्वस्य शुद्धि-
 र्नेर्मूल्यं भवति । सत्त्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते भूमा-
 त्मनि ध्रुवाऽविच्छिन्ना हतिरवस्मरणां भवति । तस्याश्च
 लब्धायां स्मृतिलभ्ये सति सर्वेषामविद्याकृतानर्थपाशक-
 पाणामनेकजन्मान्तरानुभवभावनाकठिनीकृतानां कृद्वा-
 श्रयाणां ग्रन्थीनां विप्रमोक्षविशेषेण मोक्षणं विनाशो
 भवतीति । यत एतदुत्तरोत्तरं यथोक्तमाहारशुद्धिमूलं
 तस्मात्सा कार्थ्येत्यर्थः । सर्वं शास्त्रार्थमशेषत उक्त्वाऽऽस्था-

नूतनविद्यादेस्तत्पर्यभाह । अनेति ॥ रागद्वेषविकृतौसु विषयानिन्द्रिये-
 वरक्षित्वादित्युतिमान्तराहारशब्दं व्याकरोति । आहृत्यत इतीति ॥
 कथं तस्माद्विषयभाषणं तन्माह । भोक्तुरिति ॥ कोट्यो तस्य शुद्धिरित्या-
 शङ्काह । रागेति आहारशुद्धिकथनाह । तस्यामिति ॥ जनाःकरणशु-
 द्धिकथनं कथयति । सत्तेति ॥ हतिरुपलभ्यते दर्शयति । तस्याह्वेति ॥

सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा श्रुतिः श्रुतिलभ्ये सर्वग्रन्थीनां
विप्रमोक्षस्तस्यै ऋदितकषायाय तमसः पारं
दर्शयति भगवान्सनात्कुमारस्तः स्कन्द इत्या-
चक्षते तः स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥ २६ ॥ इति
सप्तमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ७ ॥

यिकामुपसंहरति श्रुतिः । तस्यै ऋदितकषायाय वार्त्तारा-
दिरिव कषायो रागद्वेषादिदोषः सत्त्वस्य रञ्जनारूपत्वात्स-
न्धानवैराग्याभ्यासरूपक्षालेन क्षालितो ऋदितो विनाशितो
यस्य नादरस्य तस्यै योग्याय ऋदितकषायाय तमसोऽव-
द्यालणात्पारं परमार्थतत्त्वं दर्शयति दर्शितवानित्यर्थः ।
कोऽस्ती भगवानुत्पत्तिं प्रलयश्चैव भूतानामागतिं गतिं
वेति विद्यामविद्याञ्च • स वाच्यो भगवानित्येवंधर्मा सन-
त्कुमारः । तमेव सनत्कुमारं देवं स्कन्द इत्याचक्षते
कथयन्ति तद्ब्रह्म । द्विवचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ २६ ॥
इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्रा-
जकार्थस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ स्कान्दोपनिषद्ब्रह्म-
रण्ये सप्तमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ७ ॥

भवतीत्याहारपुत्रिरपेक्षितेति शेषः ॥ प्रकृतवत्कृतात्पर्यस्य सङ्कटं हरति ।
यत इति ॥ तस्यै ऋदितकषायावेत्यादिवाक्यव्यपत्तार्थं व्याचष्टे । सर्वमिति ॥
ज्ञानमिति नतिमावध्यम् । तस्य च वैशिष्ट्यान्तरमाह । तमेवेति ॥ २६ ॥
इति श्रीभक्त्यरमहंसपरिव्राजकार्थश्रीपुद्गलानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदा-
नन्दज्ञानकृतायां स्कान्दोपनिषद्भाष्यटीकायां सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

॥ हरिः ॐ ॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे
दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-

ॐ परमात्मने नमः ॥ यद्यपि दिग्देशकालादिभेद-
शून्यं ब्रह्म सदेकमेवाद्वितीयमात्मैवेदं सर्वमिति षष्ठसप्त-
मयोरधिगतं तथापीह मन्दबुद्धीनां दिग्देशादिभेद-
वद्वस्त्वित्येवं भाविता बुद्धिर्न शक्यते सहसा परसार्थवि-
षयीकर्तुं मित्यनधिगम्य च ब्रह्म न पुत्रार्थसिद्धिरिति
तदधिगमाय हृदयपुण्डरीकदेश उपदेष्टव्यः । यद्यपि
सत्सम्यक्प्रत्ययैकविषयं निर्गुणब्रह्मतत्त्वं तथापि मन्द-
बुद्धीनां गुणवत्त्वस्थेष्टत्वात्सत्यकामादिगुणवत्त्वञ्च वक्तव्यम् ।
तथा यद्यपि ब्रह्मविदां स्रष्टादिविषयेभ्यः स्वयमुपरमो
भवति तथाप्यनेकजन्मविषयसेवाभ्यासजनिता विषय-
षया लक्षणा न सहसा निवर्त्तयितुं शक्यत इति ब्रह्मचर्या-
दिसाधनविशेषो विधातव्यः । तथा यद्यप्यात्मैकत्वविदां

पूर्वस्मिन्नध्यायद्वये निर्विशेषमात्मतत्त्वमनवच्छिन्नं सदादन्दे-
कतानमावेदितं तथा चोपनिषदारब्धोचरितार्थं किमवशिष्यते यद्वर्धन-
ध्यायान्तरमित्याशङ्काह । यद्यपीति ॥ कर्तुमिति तदधिगमाय विधि-
तोपदेश उपदेष्टव्य इति सम्बन्धः । मन्दबुद्धीनां तर्हि परमार्थवस्तुनो
ब्रह्मणोऽधिगतिरपेक्षितेत्यर्थः ॥ न केवलं मन्दाधिकारिणां ब्रह्माधिग-
मयेवमेव हृदयदेश उपदेश एवात्र कर्त्तव्यः किन्तु पूर्वलाभकगुणा-
द्यर्थान्तरूपदेशश्च कार्य इत्याह । यद्यपीति ॥ अवशिष्टमर्थान्तरसुपदे-
ष्टव्यमन्वाचते । तथेति ॥ मन्दाधिनां ब्रह्मधीयेवमेव देशविशेषवद्बुद्धि-
येवमेव ब्रह्मचर्यादिसाधनविशेषो विधातव्य इति सम्बन्धः । यदो-

स्तस्मिन्वदन्तस्तदन्वेष्यं तद्वाव विजिज्ञासित-
व्यमिति ॥ १ ॥ तच्चेद्भूयूर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे
दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः

गन्तृगमनगन्तव्याभावादविद्यादिशेषस्थितिनिमित्तक्षये ग-
गन इव विद्युदुद्भूत इव वायुर्दग्धेन्येन इवाग्निः स्वात्म-
न्येव निवृत्तिसंस्थापि गन्तृगमनादिवासितबुद्धीनां हृद-
यदेशगुणविशिष्टब्रह्मोपासकानां भूर्बुध्न्यवा नाद्या गति-
वर्त्तव्येत्यष्टमः प्रपाठक आरभ्यते । दिग्देशसुखगतिफल-
भेदशून्यं हि परमार्थसत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनाम-
सदिव प्रतिभाति । सन्मार्गस्थाप्तावद्भवन्तु ततः शनैः
परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुतिः । अद्यान-
न्तरं यदिदं वक्ष्यमाणं दहरमल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीकस-
दृशं वेश्म इव वेश्म द्वारपालादिमन्वात् । अस्मिन् ब्रह्मपुरे

क्तब्रह्मज्ञानवतां विधिं विनापि विषये वैसृज्यसम्भवात्किं विधनेत्याशङ्काह ।
यद्यपि ब्रह्मविदामिति ॥ तथा साधनविशेषो वक्तव्योऽवशिष्यते तथोपा-
सकानां गतिश्च वक्तव्येत्यवशिष्टमर्थान्तरमाह । तथेति ॥ एकत्वदर्शनां
गन्नादिसर्वभेदप्रत्यक्षास्तमयादविद्यादिशेषस्य देहस्थितिनिमित्तस्य क्षये
सति स्वात्मन्येव निवृत्तिसम्भवात्कुतो गतिवर्त्तव्येत्याशङ्काह । यद्यप्यात्मै-
कत्वविदामिति ॥ अविद्यादिशेषस्थितिनिमित्तक्षये स्वात्मन्येव निवृ-
त्तिरित्युत्तरेण सम्बन्धः । स्वात्मानिर्वाणोऽपि कृतकरूपत्वागेन स्वाभाविक-
स्वरूपावस्थानमित्यत इटान्तमाह । गगन इवेति ॥ अनेकोदाहरणोपा-
दानं बुद्धिसौकर्यार्थम् ॥ उक्तमेवाध्यायतात्पर्यं सङ्क्षिप्य दर्शयति ।
दिग्देशेति ॥ दिशा देशेन सुखैर्गन्तव्या फलभेदेन च शून्यं तदवच्छिन्न-
मिति जायते ॥ तस्य दिगाद्यवच्छिन्नत्वे हेतुमाह । अद्वयमिति ॥ तर्हि

किन्तदप विद्यति यदन्नेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासि-

ब्रह्मणः परस्य पुरम् । राज्ञोऽनेकप्रकृतिमद्यथा पुरं तथे-
दमनेकेन्द्रियमनोबुद्धिभिः स्वाव्यर्थकारिभिर्युक्तमिति ब्रह्म-
पुरम् । पुरे च वेश्म राज्ञो यथा तथा तस्मिन् ब्रह्मपुरे
शरीरे दहरं वेश्म ब्रह्मण उपलब्धधिष्ठानमित्यर्थः ।
यथा हि विष्णोः शालग्रामः । अस्मिन् हि स्वविकार-
शुद्धे देहे नामरूपव्याकरणाय प्रविष्टं मदात्म्यं ब्रह्म
जीवेनात्मनेत्युक्तम् । तथादस्मिन् हृदयपुरदहरीके वेश्मनि
उपसंस्कृतकरौर्वास्त्यविषविरक्तौ विशेषतो ब्रह्मचर्यसत्यता-
घनाभ्यां युक्तैर्वक्ष्यमाणगुणब्रह्मायमानैर्ब्रह्मोपलभ्यत इति
प्रकरणात् । दहरोऽल्पतरोऽस्मिन्दहरे वेश्मनि वेश्मनो
ऽल्पत्वान्तदन्तर्वर्त्तिनोऽल्पतरत्वं वेश्मनः । अन्तराकाश इ-
काशाख्यं ब्रह्म । आकाशो वै नमिति हि वक्ष्यति ।

तेषां भ्रमापोहार्थं परमार्थसदृश्यं ब्रह्म स्फुरितव्यं किमिदमन्यथोप-
दिश्यते तन्माह । सन्तर्गस्था इति ॥ अध्यायतात्पर्यं सङ्क्षेपवित्ताराभ्यां
दर्शयित्वा श्रुत्वचराणि व्याकरोति । अथेत्यादिना ॥ उत्तमबुद्धीन्प्रति
निर्विशेषब्रह्मोपदेशानन्तरं । सन्बुद्धीन्प्रति सविशेषमुपदिश्यते
ब्रह्मेत्यर्थः ॥ तत्र तावदुपाख्यातनं निर्विषयति । यदिदमिति ॥ हृदयपुरद-
हरीकस्य वेश्मसादृश्ये हेतुमाह । द्वारपाशादिति ॥ तस्य ह वा एतस्य
पञ्च देवसुषय इत्यादिश्रुतेरुक्तहेतुसिद्धिः ॥ तस्यान्वयं दर्शयति । अस्मि-
न्निति ॥ शरीरस्य ब्रह्मपुरत्वं दृष्टान्तेन साधयति । राश इति तलोक्तवे-
श्मदृष्टान्तेन स्पष्टयति । पुरे चेति ॥ कथं पुनः सर्वगमस्य निरवयवस्य
ब्रह्मणो वयोक्तवेश्मनिवसित्वायद्वाह । ब्रह्मण इति । ननु संसारस्थो

तद्व्यमिति ॥ २ ॥ ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाश-
स्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्वावा-

आकाश इवाशरीरत्वात्सूक्ष्मत्वसर्वगतत्वसामान्याच्च तस्मिन्-
वाकाशाख्ये यदन्तर्मध्ये तदन्वेष्टव्यम् । तद्वाव तदेव च विशेषेण
विज्ञासितव्यम् । सुखा अयमवयवाद्युपायैरन्विष्य च साक्षात्कर-
णीयमित्यर्थः । तच्चेदेवमुक्तवन्तमाचार्य्यं यदि ब्रूसुरन्ते-
वासिनसोदयेसुः कथं यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे परिच्छिन्ने
ऽन्तर्दहरं पुण्डरीकं वेद्यं ततोऽप्यन्तराऽल्पतर एवाकाशः ।
पुण्डरीक एव वेद्यं नि तावत्किं स्यात् किन्ततोऽल्पतरे खे-
यङ्गवेदित्वाङ्कः । दहरोऽस्मिन् अन्तराकाशः किन्तदत्र विद्यते ।
न किञ्चन विद्यत इत्यभिप्रायः । यदि नाम बदरमात्रं किमपि
विद्यते किं तस्यान्वेषणेन विजिज्ञासनेन वा फलं विजिज्ञा-
सितुः स्यात् । अतो यस्तत्त्वान्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं वा न तेन

ब्रह्मातिरिक्तस्य स्वकर्म्मोपाजितेन शरीरेण स्वानित्यसम्बन्धो न
ब्रह्मणस्तदसम्बन्धित्वात्कथं ततोपलब्धिरत आह । अस्मिन् हीति ॥
ब्रह्मणो जीवात्मना हृदे कार्ये जलार्कवत्प्रवेशे हृदयपुण्डरीकस्य
ब्रह्मोपलब्धप्रधिष्ठानत्वं पूर्वोक्तमविरुद्धमित्वाह । तस्मादिति ॥ अन्त-
राकाशस्यात्वस्यतरत्वे हेतुमाह । वेद्यं इति ॥ आकाशशब्दस्य
भूताकाशविषयत्वं व्यावर्त्तयति । आकाशाख्यमिति ॥ कथं वाक्यशेषेऽ-
प्याकाशशब्दो ब्रह्मणि वर्त्तते तत्वाह । आकाश इवेति ॥ तस्मिन्वद-
न्तस्तदाश्रयेण सङ्गान्वेष्टव्यं तस्मिन्वा खे भङ्गिणि यदन्तस्तदाकाशाख्यं
ब्रह्म तदन्वेष्टव्यं तस्मिन्वा हृदयपुण्डरीकावच्छिन्ने नभसि यदन्त-
राकाशाख्यं ब्रह्म तदन्वेष्टव्यमिति योजना ॥ दहरोऽस्मिन्निष्ठादिवा-
च्यस्य यथान्तमर्थं गृहीत्वा बोध्यस्तत्त्वापयति । तच्चेदिति ॥ तदेव

प्रथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च
सूर्याचन्द्रमसाधुभौ विद्युन्मन्त्राणि यच्चास्येहास्ति

प्रबोधनमित्युक्तवतः स आचार्यो ब्रूयादिति श्रुतेर्वचनं
श्रुतम् । तत्र यद्ब्रूय पुण्डरीकान्तःस्थस्यास्यत्वान्तत्स्यमल्पतरं
स्यादिति । तदसत् । न हि खं पुण्डरीकवेष्यगतं पुण्डरी-
कादल्पतरं मत्वाऽवोचं दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति ।
किं तर्हि पुण्डरीकमल्पं तदनुविधाय तत्स्यमन्तःकरणं
पुण्डरीकाकाशं परिच्छिन्नं तस्मिन्विद्युद्दे संवृतकरणानां
योगिनां स्वच्छ इवोदके प्रतिबिम्बरूपमादर्श इव च शुद्धे
स्वच्छं विज्ञानव्याप्तिः स्वरूपावभासं तावन्मात्रं ब्रह्मोपल-
भ्यत इति । दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्यवोचाम अन्तः-
करणोपाधिनिमित्तम् । स्वतस्तु यावान्वै प्रसिद्धः परिमाणतो
ऽयमाकाशो भौतिकस्तावानेवोऽन्तर्हृदय आकाशो यस्मि-

चोद्यमाकाश्याहारा विवक्ष्यते । कथमित्यादिना ॥ भवत्तु परिच्छिन्ने
शरीरे पुण्डरीकाकारस्य हृदयस्यत्यत्वं तदन्तर्वर्तिनश्चाकाशस्य
ततोऽल्पतरत्वं तथापि प्रकृते किं स्यादित्याशङ्क्याह । पुण्डरीक एवेति ॥
किंशब्दस्य प्रश्नविषयत्वं व्यावर्त्तयति । न किञ्चेति ॥ हृदयपुण्डरीकान्त-
र्वर्त्तिनश्चाकाशस्यपेक्षायां दूषयति । यदि नावेति ॥ फलानुपलब्धोऽतःश-
ब्दार्थः । तत्वेत्यन्तर्वर्त्त्याकाशोक्तिः । शिष्याश्चार्थव्यतिरिक्तस्यात्वाप्रस्तु-
तत्वात्कस्येदं नियोगवचनमित्यशङ्क्याह । इति श्रुतेरिति ॥ किमाचार्यो
ब्रूयादित्यपेक्षायां वक्ष्यमाणेऽर्थे शिष्याणां मनःसमाधानमादौ प्रार्थयत
इत्याह । श्रुणुतेति ॥ श्रोतव्यमेव दर्शयितुं शिष्यैरुक्तमनुवदति । तत्वेति ॥
किमाकाशस्य स्वाभाविकं दहरोत्पत्त्येव चोद्यते किंवा परोपाधिनि-
मित्तमिति विकल्पाद्यं दूषयति । तदसदिति ॥ ततश्च तस्य स्वाभाविकं

यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥३॥
तज्ज्ञे ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं

अन्वेष्ट्यं विजिज्ञासितव्यञ्चावोचाम । नाप्याकाशतुल्य
परिमाणत्वमभिप्रेत्य तावानित्युच्यते । किं तर्हि ब्रह्मणो-
ऽश्रुरूपस्य दृष्टान्तान्तरस्याभावात्कथं पुनर्नाकाशसममेव
ब्रह्मोत्पन्नमस्यते । येनावृतं खञ्ज दिवं महीञ्च । तस्माद्वा
एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । तस्मिन् खल्वक्षरे
गार्वाकाश्च इत्यादित्युक्तिभ्यः । किञ्चोभेऽस्मिन्वावायुश्चिवी
ब्रह्माकाशे बहुपाधिविशिष्टेऽन्तरेव समाहिते सम्यगा-
हिते स्थिते । यथा वा घरा नाभावित्युक्तं हि । तयोभा-
वग्निस्य वायुश्चेत्यादि समानम् । यज्ञास्याग्नेन आत्मीयत्वेन
देहवतोऽस्ति विद्यत इह लोके । तथा यज्ञात्मीयत्वेन न
विद्यते । नष्टं भविष्यञ्च नास्तीत्युच्यते । न त्वत्यन्तमेवासत् ।

दहरत्वनावित्य चोद्यं निरवकाशमिति शेषः ॥ कथं तर्हि दहरत्वोक्ति-
राकाशखेत्वायस्याह । किन्तुहीति ॥ तस्मिन्निगुप्ते तावन्मात्रं ब्रह्म
यथोक्तविशेषणं योगिनां विवर्णेभ्यो विमुञ्च्योक्तताऽन्तःकरणानामुपलभ्यत
इति सम्बन्धः ॥ अन्तःकरणस्य गुप्तत्वे दृष्टान्तस्याह । खञ्ज इवेति ॥
ब्रह्मणस्तस्मिन्नुपलभ्यमानत्वे प्रतिबिम्बरूपमिवेत्युदाहरणं प्रतिपत्ति-
सौकर्यार्थम् ॥ उदाहरणान्तरं ब्रह्मणो नैसर्गिकमागन्तुकञ्च व्यवधानं
नास्तीत्युपलब्धिसिद्ध्यर्थं विधिनष्टि । खञ्जमिति ॥ तादृशेव दहरत्वमादाय
चोद्यते चेदनौपाधिकं ब्रह्मणस्तत्पेक्ष सभाधिः सम्भवतीति विकल्पान्तरं
निरस्तमिति । सतस्त्विति । अस्मिन्नेष्टव्यमात्रमेव सहेति शेषः ।
वावाकावानिति वचनादाकाशेन तत्त्वपरिमाणत्वं ब्रह्मचोऽभिप्रेतम् ।
तथाच ज्ञावो नाकाशादित्यादि विरुद्धमित्याशङ्क्याह । नापीति ॥

सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैवज्जरावाप्नो-
ति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥४॥

तस्य हृद्याकाशे समाधानानुपपत्तेः । तच्चेदेवमुक्तवन्तं ब्रूयुः
पुनरन्तेवासिनोऽस्मिन्नेद्यथोक्ते चेद्यदि ब्रह्मपुरोपलक्षिता-
न्तराकाश इत्यर्थः । इदं सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि
सर्वे च कामाः । कथमाचार्येणानुक्ताः कामा अन्तेवासि-
भिरुच्यन्ते । नैष दोषो यस्मात्स्येहास्ति यच्च नास्तीति । उक्ता
एव ह्याचार्येण कामाः । अपि च सर्वशब्देन चोक्ता एव
कामाः । यदा यस्मिन् काले एतच्छरीरं ब्रह्मपुराख्यं
जरावलिपलितादिलक्षणा वयोदानिर्वा प्राप्नोति शस्वा-
दिना वृकं प्रध्वंसते विखंसते विनश्यति किन्ततोऽ-
न्यदतिशिष्यते । घटाश्रितक्षीरदधिक्षिप्त्वादिबहुटनाशे
देहनाशेऽपि देहाश्रयमुत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वनाशावस्थती-

केनाभिप्रायेण तर्हि तावानित्युक्तमत आह । किं तर्हीति ॥ न तस्य
प्रतिमास्तीत्याकाशादियेन व्याप्तं लोकोऽनुभवति तस्मिन्मकरे सर्वं स्रगादि
समाहितमित्यर्थः । कार्यकारणयोरतुल्यपरिमाणत्वप्रसिद्धे च नाकाशस-
धत्वा ब्रह्मणोऽस्तीत्याह । तथादिवि ॥ व्याधाराधेययोरतुल्यपरिमाण-
त्वाच्चैवमित्याह । एतस्मिन्निति ॥ इतश्चाकाशस्य न स्वाभाविकं दहरत्व-
मित्याह । किञ्चेति ॥ कार्यं हि द्यावापृथिव्यादिकारणे समाहितं तच्च
हृदये ध्येयमित्यभिमतं बहुप्रतिविष्टमित्युक्तम् । आकाशे द्यावापृथि-
व्यादेः समाहितत्वे भूकविद्यासंवादं दर्शयति । यथा वेति ॥ न विद्यते
सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति शङ्काः । नास्तिशब्दस्यास्मात्सद्विवक्षितं
व्यावर्तयति । नहमिति ॥ आश्रयनायादाश्रितनाशः स्यादिति व्यञ्जना-

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य
हन्यत एतत्सत्त्वं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समा-

त्यभिप्रायः । एवं प्राप्ते नाशे किन्ततोऽन्यद्यथोक्ताद-
तिशिष्यतेऽवतिष्ठते न किञ्चनावतिष्ठत इत्यभिप्रायः ।
एवमन्तेवासिभिश्चोदितः स आचार्यो ब्रूयात् तन्मति-
मपनयन् । कथमस्य देहस्य जरयैतद्यथोक्तमन्तराका-
शाख्यं ब्रह्म ब्रह्मिन् सर्वं समाहितं न जीर्यति देहवज्ज-
क्रियत इत्यर्थः । न चास्य वधेन शस्त्रादिघातेनैतद्वन्यते
यथाकाशं किमु ततोऽपि सूक्ष्मतरमशब्दमस्पर्शं ब्रह्म
देहेन्द्रियादिदोषैर्न स्पृश्यत इत्यर्थः । कथं देहेन्द्रियादि-
दोषैर्न स्पृश्यत इत्येतस्मिन्नावसरे वक्तव्यं प्राप्तं तत्प्रकृत-
व्यासङ्गो माभूदिति नोच्यते । इन्द्रविरोचनाख्यायिकाया-
मुपरिटादव्याप्तो युक्तिः । एतत्सत्यमवितथं ब्रह्मपुरं

नित्यं शङ्कते । तच्चोदिति ॥ अद्यस्मिन्सर्वं समाहितं ततो देहनाशे
किमवशिष्यत इति सन्बन्धः ॥ शिष्याणामधिकावापं दोषमाशङ्कते ।
कथमिति ॥ शङ्कितं दोषं परिहरति । नैव दोष इति ॥ सर्वं तदस्मिन्स-
माहितमित्यजोक्तेन सर्वशब्देनेति शेषः ॥ शिष्याणामधिकावापं दोषं
परिहृत्य प्रकृतञ्चोद्यं विवक्षोति । यदेत्यादिना ॥ आकाशस्य शिष्यमाश-
त्वमाशङ्कात् । षटेति ॥ ततो वधोक्तास्त्राद्यादितिसन्बन्धः । कथा पुनः
रोक्षा न्यन्यविषया शिष्यमतिरपनेनेति मन्त्रपूर्वकं विवक्षोति । कथ-
मित्यादिना ॥ देहादिविक्रियया ब्रह्मणो न विक्रियास्तीत्येतत्कैवर्तक-
न्यायेन साधयति । न चेदिति ॥ देहादिषु प्रादात्मेन स्थितश्चेद्देहा
दोषैरसंस्पृष्टमित्युक्तमित्याशङ्कात् । कथमिति ॥ प्रकृतदेहरोषक्षणा तत्र
व्यासङ्गो विद्येयः । अदि देहादिदोषैरसंस्पृष्टत्वं ब्रह्मणो नोच्यते चेदेते

हिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विन्द-
त्युर्विशोको विजिह्वोऽपिपासः सत्यकामः

ब्रह्मैव पुरं ब्रह्मपुरं शरीराख्यन्तु ब्रह्मपुरम् । ब्रह्मोपलक्ष-
यार्थत्वात् । तत्त्ववृत्तमेव वाच्यारम्भणं विकारो नामधेय-
मिति श्रुतेः । तद्विकारेऽवृत्तेऽपि देहशुद्धे ब्रह्मोपलभ्यत
इति ब्रह्मपुरमित्युक्तं व्यावहारिकम् । सत्यन्तु ब्रह्मपुरमेत-
देव ब्रह्म । सर्वव्यवहारास्यदत्त्वात् । अतोऽस्मिन् पुण्डरी-
कोपलक्षिते ब्रह्मपुरे सर्वे कामा ये बहिर्भवद्भिः प्रार्थ्यन्ते
तेऽस्मिन्नेव स्वात्मनि समाहिताः । अतस्तत्प्राप्त्युपायमेवानु-
ष्ठानात् वाच्यकामविषयत्वस्यां त्यजतेत्यभिप्रायः । एष
आत्मा भवतां स्वरूपम् । शृणुत तस्य लक्षणम् । अपहत-
पाप्मा । अपहतः पाप्मा धर्माधर्माख्यो यस्य सोऽयमप-
हतपाप्मा । तथा विजरो विगतजरो विन्दत्युद्य । तदुक्तं

य कश्चिदुपपद्यन्ते ॥ तर्हि तदविवक्षितमेव स्यादित्याशङ्काह । एतदिति ॥
कथं यथोक्तं ब्रह्मणः पुरमवितथं स्यादित्याशङ्काह । ब्रह्मैवेति ॥
सत्यवद्व्याप्त्यानाधिकारव्यापकसमाससिद्धिरित्यर्थः ॥ कथं तर्हि शरीरं
ब्रह्मपुरमित्युक्तमत आह । शरीराख्यत्विति ॥ नाख्यत्वादिनोक्तेऽर्थे
हेतुमाह । इन्द्रेति ॥ तदेव स्फुटितं शरीरस्य भिद्यत्वात् समभाषं
दर्शयति । तत्त्विति ॥ अथ भिद्यभातस्य तस्य कथं ब्रह्मपुरत्वमत आह ।
तद्विकार इति ॥ किञ्च व्यावहारिकं सत्यमिदं शरीरं तद्युक्तं तस्यान्त-
स्यापि ब्रह्मोपलक्ष्यधितानस्य ब्रह्मपुरत्वमित्याह । व्यावहारिकमिति ॥
ब्रह्म त परमार्थसत्यमतश्चेतदेव सत्यसक्तं ब्रह्मपुरमित्याह । सत्यत्विति ॥
ब्रह्मणः सत्यत्वेऽपि पुरत्वाद्योगात्तु तो ब्रह्मपुरत्वमित्याशङ्काह । सर्व-
व्यवहारेति ॥ देहकायस्यासत्यं विनाशित्वमित्याशङ्कितं दोषं परि-

सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्यानिशान्ति
यथाऽनुशासनं यं यमस्तमभिकामा भवन्ति यं

पूर्वमेव न वधेनास्य हन्यते किमर्थं पुनरुच्यते । यद्यपि
देहसम्बन्धिभ्यां जरास्त्युभ्यां न सम्बध्यते । अन्यथापि सम्ब-
न्धसाभ्यां स्यादित्याशङ्कानिवृत्तार्थं विशोको विगत-
शोकः । शोको नामेष्टादिवियोगनिमित्तो मनसः सन्तापः ।
विजिघत्सो विगताशनेच्छः । अपिपासोऽपानेच्छः ॥ नन्वप-
हतपाप्मत्वेन जरादयः शोकान्ताः प्रतिषिद्धा एव भवन्ति ।
कारणप्रतिषेधात् । धर्माधर्मकार्या हि ते इति ।
जरादिप्रतिषेधेन वा धर्माधर्मयोः कार्याभावे विद्यमा-
नयोरप्यसत्त्वमत्वमिति पृथक् प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ।
सत्यमेवं तथापि धर्मकार्यानन्दव्यतिरेकेण स्वाभाविका-
नन्दो यथेश्वरे विज्ञानमानन्दमिति श्रुतेः । तथा धर्म-

हृत्त्वोपास्यत्वसिद्ध्यर्थं पातनिकां करोति । अत इति । अस्मिन् सर्वकाम-
समाधाने फलितसुपासनसुपदिशति । अतस्तदिति ॥ यथोक्ते दहराकाशे
कीदृशुपासनं कर्त्तव्यमित्यपेक्षायामङ्गुलैरेष्यताम् । एव इति ॥ पुनरुक्तिं
युज्यते । तदुक्तमिति ॥ तां परिहरति । अद्यपीति ॥ अन्यथा देहसम्बन्धं
विना स्वभावतोऽपीत्यर्थः । निवृत्त्यर्थं पुनरुच्यत इति पूर्वेषां सम्बन्धः ॥
प्रकारान्तरेण पुनरुक्तिं बोधयति । नन्विति ॥ शोकस्यान्ताः किञ्चिद्भावधाय
पिपासा-वेष्टास्ति ते शोकान्तास्तेषां जरादीनामपहतपाप्मत्वेन प्रतिषिद्धत्वे
हेतुत्वमाह । कारयेति ॥ कथं धर्माधर्मप्रतिषेधे जरादिविचारप्रति-
षेधस्तत्माह । धर्मोति ॥ इति पृथक् प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यादिति सम्बन्धः ।
जरादिप्रतिषेधे धर्मस्वार्थवत्त्वमङ्गीकृत्य प्रतिषेधस्य नैरर्थक्यमिति पक्षा-

जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥
तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमिवासुष

कार्यजरादिप्रतिरेकेणापि जरादिदुःखस्वरूपं स्वाभाविकं स्थादित्याशङ्केत अतो युक्तसन्निवृत्तये जरादीनां धर्माधर्माभ्यां पृथक् प्रतिषेधः । जरादिग्रहणं सर्वदुःखोपलक्षणार्थम् । पापनिमित्तानान्तु दुःखानामानन्यात्मत्वेकं च तत्प्रतिषेधस्साशकत्वात्सर्वदुःखप्रतिषेधार्थं युक्तमेवापहतपाप्मत्ववचनम् । सत्या अवितथाः कामा यस्य सोऽयं सत्यकामः । वितथा हि संसारिणां कामाः । ईश्वरस्तु तद्विपरीतः । तथा कामहेतवः सङ्कल्पा अपि सत्या यस्य स सत्यसङ्कल्पः । सङ्कल्पः कामाच्च शुद्धसत्त्वोपाधिनिमित्ता ईश्वरस्य । चित्तगुवत् । न स्वतो नेति नेतीत्युक्तत्वात् । यथोक्तलक्षण एव बोद्धा विद्म्येयः । गुह-

नुरमाह । जरादीति । धर्मादेर्जरादेर्णां निषेधादितरनिषेधः सिद्धोत्पत्तीकरोति । सत्यमेवमिति । तर्हि किमित्यपहतपाप्मेत्युक्ता विजरो विस्तृतिरित्याद्यच्यते तन्माह । तथापीति ॥ तथापि दुःखे प्रतिषिद्धे किञ्चित् जरादि प्रतिषिद्यते तन्माह । जरादीति ॥ यत्तु कार्याभावे अतोरपि धर्माधर्मादोक्तत्वात्तदनोरनवदकिञ्चित्करत्वात्पहतपाप्मेति न पृथग्वक्तव्यमिति तन्माह । पापनिमित्तानामिति ॥ ईश्वरस्य सत्यकामत्वं साधयति । वितथा हीति ॥ अथेश्वरावितथाः कामसया सङ्कल्पाहेत्याह । तथेति ॥ अभावरूपाणां धर्माधर्माद्वैताविद्यात्मकत्वेन सम्भावितत्वेऽपि सत्त्वं भावरूपा धर्माः सम्भवेयुरित्य शङ्काह । सङ्कल्पः इति ॥ शुद्धसत्त्वं रजस्तमोभ्यामलृप्तं त्रिगुणाया जायाया अयभूतं तदेवोपाधिसिद्धिमितं येषां ते तथा । अस्वाभाविकानां सङ्कल्पादीनामोद्धारविशेषणत्वे

पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमनख-
विद्य मज्जन्तेताएस्स सत्त्वान् कामाएसेवाए सर्वेहु

भ्यः शास्त्रतत्त्वान्नसंबेद्यतया स्वाराज्यकामैर्न चेद्विज्ञायते
को दोषः स्यादिति । नृणां ताव दोषं दृष्टान्तेन । यथा
क्षेत्रेह लोके प्रजा अन्वाविशन्ति अनुवर्तन्ते यथानुशा-
सनम् । यथेह प्रजा अन्यस्वामिनं. अन्यमानास्तस्य स्वामिनो
यथा यथानुशासनं तथा तथान्वाविशन्ति ॥ किं यं य-
मन्तं प्रत्यन्तं जनपदं क्षेत्रभागश्चाभिकामा अर्धिन्यो
भवन्त्यात्मबुद्धानुरूपं तं तमेव च प्रत्यन्तादिमुपजीव-
न्तीति । एष दृष्टान्तो स्वातन्त्र्यदोषमिति पुण्यफलोप-
भोगे । तथाऽन्यो दृष्टान्तस्तत्त्वयमिति तद्यथेहेत्यादिः ।
तत्तत्क्षेत्रेह लोके तासामेव स्वाभ्यानुशासनानुवर्तिनीनां
प्रजानां सेवादिजितो लोकः पराधीनोपभोगः क्षीयते
अन्तवान् भवति । अथेदानीं दार्ष्टान्तिकमुपसंहरति ।
एवमेवामुत्वाग्निहोत्रादिपुण्यजितो लोकः पराधीनोप-

दृष्टान्तमाह । चित्तगुणदिति ॥ यथा चित्ता गावोऽस्वाभाविकाचित्तगोर्देव-
दत्तस्य विद्येयं तथा ब्रह्मणोऽपि कामादव दत्तयर्थः । किमिति कामादयो
ब्रह्मणि स्वाभाविका न भवन्ति । धर्मधर्मिणोरेवोपचारादहैतन्तुतेरुपप-
त्तेरित्याशङ्क्याह । न सत्य इति ॥ वाक्यान्तरमवतारमित्त्वं पातनिकां करो-
ति । यथोज्जेति ॥ ज्ञानप्रकारं निमित्ताधिकारिप्रवर्धनं तद्दर्शनपूर्वकं दर्श-
यति । सुदृश्य इति ॥ प्रत्ययपूर्वकं यथा ह्रीत्यादिवाक्यमाह । नचेदिति ॥ यथा
ऽऽकाशात्मा परिज्ञानमात्रेति परावृत्तमपरोत्यमर्थं यथाह्युपेक्षनेन दृष्टान्तेषु

लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमननुविद्य
व्रजन्त्येता एष सत्यान् कामास्तेषां सर्वेषु
लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥ १ ॥

भोगः चरियत एवेति । उक्तो दोष एषामिति विषयं दर्श-
यति तद्य इत्यादिना । तत्तत्रेहास्मिन् लोके ज्ञानकर्माणो-
रधिष्ठता योऽथाः सन्त आत्मानं यथोक्तलक्षणं शास्त्रा-
चार्योपदिष्टमननुविद्य यथोपदेशमनु स्वात्मसंवेद्यताम-
ल्लवा व्रजन्ति देहादस्मात्प्रयन्ति । यत एतांश्च यथोक्तान्
सत्यान् सत्यसङ्कल्पकार्यांश्च स्वात्मस्थान् कामानननुविद्य
व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारिताः स्वतन्त्रता भवति ।
यथा राजानुशासनानुवर्तिनीनां प्रजानामित्यर्थः ।
अथ येऽन्ये इहलोके आत्मानं शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्य
स्वात्मसंवेद्यतामापाद्य व्रजन्ति यथोक्तांश्च सत्यान् का-
मांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारिता भवति राज्ञ इव
सार्वभौमस्येह लोके ॥ १ ॥

दर्शयित्वा वाक्यार्थं कथयति । यथा ह्येवेति ॥ असुमर्थं प्रपञ्चकाम-
न्यायते । किञ्चित्वादिना ॥ उक्तदृष्टान्तेन विवक्षितमर्थमनुया इहात्मान-
रस्य तात्पर्यमाह । एष इति ॥ विधानेन दोषो भवतीत्याकाङ्क्षायाभावात् ।
उक्त इति ॥ कर्मसाध्यस्य पारतन्त्र्यं कथितुमशक्यं ज्ञानहीनकर्मा-
साध्याविषयमस्मीमांसकानामेव दोषो भवतीत्युत्तरवाक्यनित्यर्थः ॥
अविदुषामेवासातन्त्र्यदोषमुक्त्वा विदुषां सातन्त्र्यफलं कथयति ।
अथेत्यादिना ॥ १ ॥

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादे-
 वास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन
 सम्पन्नो महीयते ॥१॥ अथ यदि मातृलोककामो
 भवति सङ्कल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन
 मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ २ ॥ अथ यदि
 भ्रातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य भ्रातरः
 समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते
 ॥३॥ अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सङ्कल्पा-
 देवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन
 सम्पन्नो महीयते ॥ ४ ॥ अथ यदि सखिलोक-
 कामो भवति सङ्कल्पादेवास्य सखायः समुत्ति-
 ष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५ ॥

कथं सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्युच्यते । य आत्मानं
 यथोक्ततत्त्वात् हृदि साक्षात्कृतवान् वक्ष्यमाणब्रह्मचर्यादि-
 साधनसम्पन्नः सन् तत्त्व्यांश्च सत्यान् कामान् सन्त्यक्तदेहः ।
 यदि पितृलोककामः पितरो जनयितारस्त एव सुख-
 हेतुत्वेन भोग्यत्वात्लोका उच्यन्ते तेषु कामो यस्य तैः
 पितृभिः सम्पन्नेष्वा यस्य सङ्कल्पमात्रादेव पितरः
 समुत्तिष्ठन्ति आत्मसम्बन्धितामापद्यन्ते शुद्धसत्त्वतया
 सत्त्वसङ्कल्पत्वादीश्वरस्येव तेन पितृलोकेन भोगेन सम्पन्नः

उक्तमिवाचमाकाङ्क्षापूर्वकमुपपादयति । कथमित्यादिना । सुख-

अथ यदि गन्धमात्यलोककामो भवति सङ्कल्पा-
 देवास्य गन्धमात्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमात्य-
 लोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ६ ॥ अथ यद्यन्नपान-
 लोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्त्रान्नपाने समु-
 त्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ७ ॥
 अथ यदि गीतवादिषलोककामो भवति सङ्क-
 ल्पादेवास्य गीतवादिषे समुत्तिष्ठतस्तेन गीत-
 वादिषलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ८ ॥ अथ
 यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः
 समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते
 ॥ ९ ॥ यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामयते
 सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो
 महीयते ॥ १० ॥ २ ॥

सम्पत्तिरिष्टप्राप्तिस्तया सष्टद्वौ महीयते पूज्यते वर्द्धते वा
 महिमानमनुभवति । समानमन्यत् । सातरो जनयित्व्यो
 ऽतीताः सुखहेतुभूताः सामर्थ्यात् ॥ न हि दुःखहेतु-
 भूतासु ग्रामशूकरादिजन्मनिमित्तासु मातृषु विभुद्व-
 मप्सस्य योगिन इच्छा तत्सम्बन्धो वा युक्तः । यं यमन्तं
 प्रदेशमधिकामो भवति । यं यं कामं कामयते यद्योक्त-
 व्यतिरेकेणापि सोऽस्यान्तः प्राप्नुमिष्टः । कामश्च सङ्कल्पा-

हेतुभूता इति कुतो विद्येनष्टमित्वापह्लादः । शाक्यादिति ॥ तदेव

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां
सत्यानां सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यखेतः

देव समुत्तिष्ठति अस्य । तेनेच्छाऽविधाततयाऽभिप्रेतार्थ-
प्राप्ता तत्सम्पन्नो महीयत इत्याद्युक्तार्थम् ॥ २ ॥

यथोक्तात्मध्यानसाधनानुष्ठानं प्रति साधकानामुत्साह-
जननार्थमनुक्रोशन्त्याह । कष्टमिदं खलु वर्त्तते यत्स्वा-
त्मस्थाः शक्यप्राप्ता अपि ते इमे सत्याः कामा अनृतापि-
धानास्तेषामात्मस्थानां स्वाश्रयाणामेव सतामनृतं वाङ्म-
विषयेषु स्वयम्भोजनादिषु तृष्णा तन्निमित्तञ्च स्वेच्छा-
प्रचारत्वं मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वादनृतमित्युच्यते । तन्नि-
मित्तं सत्यानां कामानामप्राप्तिरित्यपिधानमिवापिधानम् ।
कथमनृतापिधाननिमित्तं तेषामलाभ इत्युच्यते । यो यो
हि यस्मादस्य जन्तोः पुत्रो भ्राता वा इष्ट इतोऽस्मा-

स्मृदयति । नहीति ॥ तेन ज्ञानमाहात्म्येनेति यावत् ॥ २ ॥

त इमे सत्याः कामा इत्यादेस्तात्पर्यमाह । यथोक्तेति ॥ आह सन्नरा-
श्रुतिरिति शेषः ॥ तमेवानुक्रोशं दर्शयति । कष्टमिति ॥ अन्यतमपिधानमिवा-
पिधानं तेषामिति सम्बन्धः । किन्तदनृतं तदाह ॥ वाङ्मेति कथं तदपिधा-
नमत्मास्थानां कामानामित्याशङ्क्याह । तन्निमित्तमिति ॥ उक्तमर्थमाका-
ङ्क्षापूर्वकमुत्तरं वाक्यमवतार्यैवपादयति । कथमित्यादिना ॥ तं हृदया-
काशे स्वात्मनि सन्नमपि द्रष्टुमिच्छन् अपि यस्मात् लभते तस्मात्तदनृतापि-
धानं निमित्तं ज्ञत्वा तदलाभो भवतीति योजना । इतश्च तेषामलाभे
निमित्तमनृतापिधानमेवेत्याह । अथ पुनरिति ॥ यथोक्तेन विधिनेत्युपा-
स्तिप्रकारोक्तिः ॥ आत्मस्थानां कामानामनृतापिधानत्वमुक्तं निगमयति ।
अनेति ॥ यस्मादविद्वद्भिरलभ्यानिद्विष्यन्त्याः कामाः सर्वाधारे

प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥ अथ ये चा-
स्येह जीवा ये च प्रेता वक्ष्यान्वदिच्छन् लभते सर्वं

लोकोक्तमैति प्रगच्छति म्रियते तमिह पुनं भ्रातरं वा
स्वहृदयाकाशे विद्यमानमपीह पुनर्दर्शनापेक्षकमपि न
लभते । अथ पुनर्ये चास्य विदुषो जन्तोर्जीवा जीवन्तीह
पुनरा भ्रातादयो ये च प्रेता हता इष्टाः सम्बन्धिनो
यस्यान्वदिह लोके वक्ष्यान्वपानादि वा वक्षिच्छन् लभते
तत्सर्वमत इहृदयाकाशाख्ये ब्रह्माणि गत्वा यथोक्तेन
विधिना विन्दते लभते । अत्रास्मिन्हादाकाशे हि यस्याद-
स्यैते यथोक्ताः मत्याः कामा वर्तन्तेऽवृतापिधानाः ॥
कथमिव । तदन्यायमित्युच्यते । तत्तत्र यथा हिरण्यमेव
पुनर्यहणाय निधातुभिर्निधीयत इति निधिस्तं हिरण्य-
निधिं निहितं भूमेरधस्तान्निक्षिप्तमक्षेपज्ञा निधिं शास्त्रै-

जगत्सु सकारणे ब्रह्माणि सात्मभूते वर्तन्ते तस्मात्ते भवन्त्यवृतापिधानाः ॥
सत्त्वानविद्यावासनुषङ्गत्वात् । प्रथमने चोपलब्धादित्यर्थः । बहुक्तं ब्रह्माणि
सात्मनि कामाः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्त इत्यन्यायमिति तत्र वृत्तान्तं
प्रत्यपूर्वकसत्त्वाय व्याचष्टे । कथमिवेत्यादिना । तत्र स्वायत्तत्वात्प्राप्तौ
वृत्तान्तो निर्दिश्यत इति शेषः । दाटीमिकं व्याकरोति । एवमेवेति ॥
असामप्रकारमनिरवति । एवोऽहमिति ॥ तत्र हेतुमाह । अद्यतेनेति ॥
यो योक्तेन मित्याज्ञानशब्दितानाद्यनिष्ठां चानुलतेन लब्ध्याप्रभेदेन
तन्निमित्तेनेत्याशयेत्यर्थः । तस्याप्रमाणं सात्मभूतब्रह्मलोकसाध-
इति शेषः ॥ सङ्ख्यादनुतेनाद्युतत्वमेव स्मरवति । अविद्यादीति ॥
प्रकृतमाक्रोशपसंहरति । अत इति ॥ अनुक्रोशद्वारा वयोक्तब्रह्मा-

तद्वच गत्वा विन्दतेऽन श्रमैते सत्माः कामा
अनृतापिषाणापाद्यमापि हिरण्यनिधिं विहि-
तमघ्नेषणा उपर्यपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरे-

निधिक्षेत्रमजानन्तस्ते निधेरप्युपरि सञ्चरन्तोऽपि निधिं
न विन्देयुः शक्यवेदनमपि । एवमेव इमा अविद्या-
वत्यः सर्वा इमाः प्रजा यथोक्तं हृदयाकाशाख्यं ब्रह्म-
लोकं ब्रह्मैव लोकसमहरहः प्रत्यहं गच्छन्त्योऽपि सुप्त-
काले न विन्दन्ति न लभन्ते एषोऽहं ब्रह्मलोकभाव-
मापन्नोऽस्माद्येति । अनृतेन हि यथोक्तेन हि यस्मात्प्र-
त्यूठा कृताः स्वात्मस्वरूपात् अविद्यादिदोषैर्वहिरप-
लटा इत्यर्थः । अतः कष्टमिदं वर्त्तते जन्तूनां यत्स्वाय-
त्तमपि ब्रह्म न लभ्यत इत्यभिप्रायः । स वा एष आत्माप-
हतपाप्मेति प्रकृतो वैशब्देन तं स्मारयति । एष विवक्षित

नानुष्ठाने प्रयत्नस्य कर्त्तव्यतोक्ता । सम्प्रति नास्माद विव हृदये ब्रह्मदृष्ट्यः-
रोपमात्रमिति शङ्कां वारयितुमनन्तरवाक्यमवतार्य व्याकरोति । स वा-
दस्यादिना ॥ कथमात्मा यथोक्तो हृदयेऽस्तीति मन्यते तत्राह । तस्येति ॥
यथोक्तावनतिफलमाह । अहरहरिति ॥ एवंविदिति विशेषणमनृ-
ताद्यः शङ्कते । नन्विति ॥ अनैवंविदोऽपि सुपुत्रिकाये ब्रह्मप्राप्तिमङ्गीक-
रोति । वादमेवेति ॥ तर्हि किमित्येवंविदिति विशेषणमित्याशङ्क्याह ।
तथापीति ॥ विद्वद्विदुषोर्विशेषमेवं दृष्टान्तेन आहवति । तथापीति ॥
त्वं तद्वीक्षाचार्येण प्रतिबोधितो विद्वन् नृ सदेव भवत्यस्यैव विद्वानस्मीति
देहादिकमेव जानन्न सदेव भवतीति योजना । हेतुपातेऽपीत्यभिप्रायेण
जीवदवस्था दृष्टान्तिता । सम्प्रसादस्य विदुषो बन्धुत्वावस्थं यत् न

वमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्म-
लोकां न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूहाः ॥ २ ॥ स वा
एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदय-

आत्मा हृदि हृदयपुण्डरीके आकाशशब्देनाभिहितः ।
तस्यैतस्य हृदयस्यैतदेव निरुक्तं निर्वचनं नाम्बत् । हृदय-
यमात्मा वर्त्तत इति यस्मात्तस्माद्दृश्यनामनिर्वचनप्रसि-
द्धापि स्वहृदये आत्मत्ववगन्तव्यमित्यभिप्रायः । अह-
रहर्वे प्रत्यहमेवंवित् हृदयमात्रेति जानन् स्वर्गं लोकं
हाहं ब्रह्मैति प्रतिपद्यते । नन्वेवंविदपि सुषुप्तिकाले सता-
सोम्य तदा सम्पन्न इत्युक्तत्वात् । वाढमेवं तथाप्यस्ति
विशेषः । यथा जानन्नजानंश्च सर्वो जन्तुः सदब्रह्मैव तथापि
तत्त्वमसीति प्रतिबोधितो विद्वान् सदेव नान्योऽस्मीति
जानन् सदेव भवति । एवमेव विद्वानविद्वान्श्च सुषुप्तौ

तत्तदात्मप्रोपदेशे नोपास्यं स्तोतुं सम्प्रसादशब्दार्थं कथयति । सुषुप्तेऽपि ॥
सम्यक्प्रसोदतीति सम्प्रसादो विद्वानिति शेषः । स्वाभाविकमेवात्मनः
स्वास्थ्यं कथं सुषुप्ते प्रसोदतीति शिष्यते । तत्राह । आपदिति ॥
अज्ञातीति सुषुप्तः पुरुषः सम्प्रसाद इति विशेषः । व्युत्पत्तिबलेन सम्प्र-
सादशब्दः सौषुप्तसर्वजीवसाधारणस्तत्कथमेव सम्प्रसाद इति सञ्जि-
हितविद्वत्परामर्शस्तत्राह । सम्प्रसादशब्द इति ॥ तस्य सौषुप्तसर्वजीवसा-
धारणत्वेऽपि प्रक्रमवशाद्विद्वानेवैव प्रकृतः सम्प्रसाद इति व्यपदिश्यते ।
यथा सञ्जिहिताप्यौ यत्नविशेषादेव इतिशब्दवशादुच्यते तथेहापीत्यर्थः ।
अ एष एवंविदप्रकृतः सम्प्रसादः स विद्वानिति यावत् । विवेकानन्तर्यम-
यशब्दार्थः ॥ सकृत्प्रानयन्त्यस्य सकृत्प्रार्थनं वारयति । नत्विति ॥ देहादुत्थि-
तस्यापि स्वेन रूपेणाभिनिवृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह । न हीति ॥

मिति तच्चावृद्धमहरहर्षा एवंवित्स्वर्गं लोक-
मेति ॥ ३ ॥ अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरा-
त्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणा-

यद्यपि सम्पद्यते तथाप्येवंविदेव स्वर्गं लोकमेतीत्युच्यते ।
देहपातेऽपि विद्याफलस्यावच्छन्नावित्वादित्येष विशेषः ।
सुषुप्तकाले स्वेनात्मना सता सम्पन्नः सन् सम्यक् प्रसीदतीति
जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयेन्द्रियसंयोगजातं कालुष्यं जहातीति ।
सम्प्रसादशब्दो यद्यपि सर्वजन्तूनां साधारणस्तथाप्येवं-
वित्स्वर्गं लोकमेतीति प्रकृतत्वादेष्टव्यं सम्प्रसाद इति सन्नि-
हितवत् । यत्तविशेषात् । सोऽथेदं शरीरं हित्वाऽस्माच्छरी-
रात्समुत्थाय शरीरात्मभावनां परित्यज्येत्यर्थः न त्वासना-
दिवत्समुत्थायेति इह युक्तम् । स्वेन रूपेणेति विशेषणात् ।
न ह्यन्यत उत्थाय स्वरूपं सम्पत्तव्यम् । स्वरूपमेव हि तन्न
भवति । प्रतिपत्तव्यं चेत्सुग्राह्यं परमात्मलक्षणं विज्ञप्ति-

कृतोऽयं स्वरूपेऽभिनिष्पत्तिप्रयोगस्तत्वाह । प्राप्तिरिति ॥ एतच्छब्दः सम्य-
गुक्तानविषयः । अनात्मस्वरूपप्रतिपत्तिभ्रान्तिनिवृत्त्यपेक्षया स्वरूपसम्पत्ति-
रूपचरितेत्यर्थः ॥ किन्तुस्वरूपमिति तदाह । अशरीरता इति ॥ यथा
मिथ्यारूप्यतादात्म्यनिवृत्तौ स्वाभाविकेनारूप्यात्मना शुक्तिरवतिष्ठते ।
तथा शरीरतादात्म्यभ्रान्तिनिवृत्तौ तदभावोपलक्षितं स्वच्छं स्वरूपमे-
वावस्थितं भवतीत्यर्थः ॥ एष अत्रेति श्रुवाचेत्यत्रैषशब्दार्थमाह । यत्स्व-
मिति ॥ कोऽष्टावृत्तिकर्सेत्याकाङ्क्षायाभाह । स प्रयादिति ॥ न केवलमा-
त्ममेव प्रकृतस्य ज्योतिरूपः किन्तु रूपान्तरत्वमस्तीत्याह । किञ्चेति ॥
अविनाशित्ये हेतुमाह । भूमेति । तथापि कथमविनाशित्वं तत्वाह । वो

मिनिष्यद्यत एव आत्मेति होवाचैतद्व्यतमभय-
मेतद्व्यतेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्त्व-
मिति ॥४॥ तानि ह वा एतानि चैव्यक्षराणि

स्वभावज्योतीरूपं सम्पद्य स्वास्थसुपगम्येति । एतत्स्वेनात्मी-
येन रूपेणाभिनिष्यद्यते प्रागेतस्याः स्वरूपसम्पत्तेः । अवि-
द्यया देहमेवापरं रूपमात्मत्वेनोपगत इति तदपेक्षेदमु-
च्यते स्वेन रूपेणेति । अशरीरता ह्यात्मनः स्वरूपं
यत्स्वं परं ज्योतिःस्वरूपमापद्यते सम्प्रसाद एव आमेति
होवाच । स ब्रूयादिति यः श्रुत्या न्युक्तेऽन्तेवासिभ्यः ।
किञ्चैतद्व्यतमविनाशि । भूमा यो वै माभूद्व्यतमि-
त्युक्तमत एवाभयं भूम्नो द्वितीयाभावादत एव ब्रह्मेति ।
तस्य ह वै एतस्य ब्रह्मणो नामाभिधानम् । किन्तुत्य-
मिति । तत्सत्यं ह्यवितथम् । तत्सत्यं स आत्मेति ह्युक्तम् ।
अथ किमर्थमिदं नाम पुनः पुनरुच्यते तदुपासनविधि-

वा इति ॥ इतिब्रह्मो हेत्वर्थः । यस्याद्ययोक्तव्यत्वं ब्रह्म तस्यादुपासना-
वर्क्यतेत्वर्थः ॥ उपासत्यस्य ब्रह्मणो नाम निर्दिश्यति । तस्येति । उक्तस्य
पुनरुक्तिरनर्थमेत्याशङ्क्य परिहरति । किमर्थमिदंदिना ॥ उपासत्युक्तव्यं
नामोक्त्वा तादर्थ्येनैव नामाक्षराणि प्रसूति । जानीति ॥ तानि जानीत्व-
पेक्षावाभावात् । एतानीति । कथं तकार इत्युच्यते । इकारस्यापि तत्र
भावादित्याशङ्क्याह । इकार इति ॥ तत्र हेतुमाह । हृत्सेवेति ॥ दीर्घ-
मीकारश्चिह्नस्य हृत्स्य उभरदुवदस्य विवक्षितत्वमेव नामाक्षरेषु तस्य हृत्-
वतीत्वर्थः ॥ तत्राक्षरानक्षराणावबानरेदं दर्शयति । तेनास्ति ॥

सतीयमिति तद्यत्तदन्तमद्य यदि तन्मर्त्तमद्य
वद्यन्तेनोभे यच्छति वदनेनोभे यच्छति तस्माद्य-
महरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥ ३ ॥

सुत्यर्थम् । तानि ह वा एतानि ब्रह्मणो नामाक्षराणि
तीत्येतानि मतीयमिति सकारस्तकारो यमिति च । इका-
रस्तकारे उच्चारणार्थोऽनुबन्धः । द्वस्वेनैवाक्षरेण पुनः
प्रतिनिर्देशोऽन्तेषाम् । तत्तत्र यत्सत्यकारस्तदन्तं सद्ब्रह्म ।
अन्तवाचकत्वादन्त एव सकारस्तकारान्तो निर्दिष्टः ।
अथ यत्तकारस्तन्मर्त्तम् । अथ यद्यमक्षरं तेनाक्षरेणाश्रितं
मर्त्तग्राह्ये पूर्वे उभे अक्षरे यच्छति यमयति नियमयति
वशीकरोति आत्मनेत्यर्थः । यद्यस्मादनेन यमित्येतेनोभे
यच्छति । तस्माद्यमादौ संयत इव हि एतेन यमा
लक्ष्यते । ब्रह्मनामाक्षरस्यापि इदमश्रितत्वादिधर्मवत्त्वं
महाभाष्यम् । किमुत नामवत इत्युपास्यत्वाय सूयते ब्रह्म-

निर्द्धारणे षष्ठी ॥ वस्तुविभागः नन्तर्यमयशब्दार्थः । तकारस्याक्षरसामान्या-
न्तर्यत्वम् । कथमक्षरेऽपूर्वेऽयमित्यक्षरेण प्रसोक्ता नियमयतीत्याकाङ्क्षायां
नियमनस्वाभाव्येनेत्याह । आत्मनेति ॥ यमित्यक्षरस्य नियमनस्वाभाव्यमेव
साधयति । यद्यस्मादिति ॥ तस्य तत्सम्भावत्ये अमुभवमनुसङ्गं लयति ।
संयत इवेति ॥ यमो यमित्यक्षरेणेत्यर्थः । तस्य पूर्वार्थाभ्यामुपरिष्ठाद्भाषित्वं
तच्चिद्यमकत्वं हेतुरिति मत्वाह । एतेनेति ॥ अक्षरेऽपूर्वे अक्षरे इति
शेषः ॥ ब्रह्मणः सत्यमिति नाम तस्य वदिवेचनं कृतं तस्य प्रसोजनमाह ।
ब्रह्मेति ॥ फलवाक्यस्यैवंवित्यहं व्याकरोति । एवमिति ॥ वाक्यन्त

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोका-
नामसम्भेदाय नैतए सेतुमहोरात्रे तरतो न
जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं

नामनिर्वचनेनैव नामवतो वेत्ता एववित् । अहरहर्वा
एववित्स्वर्गं लोकमेतीत्युक्तार्थम् ॥ ३ ॥

अथ य आत्मेति । उक्तलक्षणो यः सम्प्रसादस्तस्य
स्वरूपं वक्ष्यमाणैरुक्तैरनुक्तैश्च गुणैः पुनः सूयते । ब्रह्म-
चर्यसाधनसम्बन्धार्थम् । य एष यथोक्तलक्षण आत्मा स सेतु-
रिव सेतुः । विधृतिर्विधरणः । अनेन हि सर्वं जगद-
स्मात्प्रमादिक्रियाकारकफलादिभेदनियमैः कर्तुंरनुरूपं
विदधता विधृतम् । अध्रियमाणं हीश्वरेणोदं विश्वं विनश्येत्
यतस्तस्मात्स सेतुर्विधृतिः । किमर्थं स सेतुरित्याह ।
एषां भूरादीनां लोकानां कर्तृकर्मफलान्प्रयाणाम-
सम्भेदायाऽविदारणायाऽविनाशयेत्येतत् । किंविशिष्ट
आसौ सेतुरित्याह । नैनं सेतुमात्रानमहोरात्रे सर्वस्य
जनिमतः परिच्छेदके सति नैतं तरतः । यथाऽन्ये संसा-

न व्याख्येयं प्रागेव व्याख्यातत्वादित्याह । अहुरिति ॥ ३ ॥

वाक्यान्तरभादत्ते । अथेति ॥ तस्य तात्पर्यमाह । उक्तलक्षण
इति ॥ प्रकारान्तरेण स्तुतिप्रारम्भार्थं वाक्यस्योऽग्रशब्दः ॥ किमिति
स्तुतिरित्येषायां स्तुते ब्रह्मस्थाभारे ब्रह्मचर्याख्यस्य साधनस्य
मन्त्रविधानार्थमित्याह । ब्रह्मचर्येति ॥ यथा आदादिभ्यः सेतु-
र्व्यवस्थाहेतुरस्येदं चेन्निति । तथायमपि व्यवस्थाहेतुरित्याह ।
सेतुरित्येति । सेतुत्वं साधयति । विधृतिरिति ॥

सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येव
ब्रह्मलोकस्तस्याद्वा एतए सीतुं तौर्त्वाऽन्वः सन्त-

रिणः कालेनाहोरात्रादिसङ्ख्येन परिच्छेद्या न तत्रार्थ
कालपरिच्छेद्य इत्यभिप्रायः । यस्माद्वर्गव्यत्यरोऽहोभिः
परिवर्तत इति श्रुत्यन्तरात् । अत एवैनं न जरा तरति
न प्राप्नोति । न तथा सत्युर्नतु शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ।
सुकृतदुष्कृते धर्माधर्मौ । प्राप्तिरत्र तरणशब्देनाभिप्रेतो
नातिक्रमणम् । कारणं ह्यात्मा । न शक्यं हि कारणाति-
क्रमणं कर्तुं कार्येण । अहोरात्रादि च सर्वं सतः कार्यम् ।
अन्येन ह्यन्यस्य प्राप्तिरतिक्रमणं वा क्रियेत । नतु तेनैव
तस्य । न हि घटेन स्रष्ट्राप्यतेऽतिक्रम्यते वा । यद्यपि
पूर्वं य आत्मापहतपाप्मेत्यादिना पाप्मादिप्रतिषेध उक्त
एव तथापीहायं विशेषो न तरतीति प्राप्तिविषयत्वं

विधारकत्वमुपदायति । अनेनेति ॥ वर्णाश्रमादीत्यादिशब्दो वयोऽवस्था-
विषयः । फलादीत्यादिशब्दस्तु तदवान्तरजातीयविषयः कर्त्तुं मुख्यपक्रिया
दिभेदविषयनिवर्तः सवर्णादि व्यवस्थापयता परमेष्ठिरेण सर्वं जगद्विधृत
मिति सम्बन्धः ॥ अन्ययसुखेनोक्तमेव व्यतिरेकसुखेनाह । अभियमाथो
हीति ॥ उक्तमेवार्थं प्रश्नपूर्वकं विषययति । किमर्थमित्यादिना ॥
नैतमिति प्रतीकपङ्कथं यत्पद्याचष्टे । सेतुरित्यादिना ॥ तदेव वैधर्म्य-
दृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथेत्यादिना ॥ परमात्मनो न कालपरिच्छेद्य-
तेत्याद्यर्थव्यञ्जतिं प्रमाणयति । यस्मादिति ॥ तरतीति तरतेरति-
क्रमणार्थो नात्मनि सम्भवतीत्यत्र हेतुमाह । कारणं हीति । कार्यस्य
कारणातिक्रमणं नाभूदहोरात्रादेस्तात्मातिक्रमणं किं न स्यादित्याद्य-

नन्वो भवति विद्वः सन्द्विद्वो भवत्युपतापी
सन्द्विद्वो भवति तस्माद्वा एतत् सेतुं तीर्त्वा-

प्रतिषिध्यते । तत्राविशेषश्चराद्यभावमात्रमुक्तम् । अहो-
रात्राद्या उक्ता अनुक्ताभ्याम्बे सर्वे पाप्मान उच्यन्तेऽतो
ऽस्मादात्मनः सेतोर्निवर्त्तन्तेऽप्राप्यैवेत्यर्थः । अपहतपाप्मा
स्यैव ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक उक्तः । यस्माच्च पाप्मकर्मा-
न्वादिशरीरवतः स्यान्मत्वशरीरस्य तस्माच्चै एतमात्मानं
सेतुं तीर्त्वा प्राप्यानन्वो भवति । देहवन्त्वे पूर्वमन्वोऽपि सन् ।
तथा विद्वः सन्देहवन्त्वे देहवियोगे सेतुं प्राप्याविद्वो
भवति तथोपतापी रोगाद्युपतापवान् सन्द्विद्वो भवति ।
किञ्च यस्मादहोरात्रे न साः सेतौ तस्माद्वा एतत् सेतुं
तीर्त्वा प्राप्य नक्तमपि तमोरूपं रात्रिरपि सर्वमहरेवा-
भिनिष्पद्यते । विद्वन्नामन्योतिःस्वरूपमहरिवाहः सदै-

व्याह । अहोरात्रादिति चेति । तत्रैतदतिशयार्थत्वमङ्गीकृत्यापि
निषेधे सेतुमाह । अन्येनेति । तत्रतिवाक्यस्यापहतपाप्मवाक्येन
पौनरुक्त्याप्यङ्गपरिहरति । वदामीति । विशेषणानामानन्व्यः प्रत्येकं
प्रतिषेधवचनासम्भवमभिप्रेत्यह । अहोरात्राद्या इति । पाप्मकार्य-
मत्मानमप्राप्यैव तस्मिन् सेतुमाह । अपहतैति । अयोक्तसेतुमात्रौ
फलितमाह । यस्यादिति । साभाविकस्यानर्थत्वमित्याह । देहवन्त्व
इति । विद्वो दुःखादिवन्त्वो । इत्येवाहसेतोरात्रि अहोरात्रेऽहो-
मित्याह । विद्वेति । कसं सर्वमपि तमोरूपमहरेव विदुवः सावद्वि
विद्वन्नामपि विद्वदोऽर्थः विद्वन्तीत्याह । विद्वन्तीति तत्र सेतुमाह ।
सदादिति । ब्रह्म उच्यतेऽनेनो बोधः सप्रकाशविदेवतानो यतोऽवतिष्ठ-

यि ब्रह्ममहर्षिणामिनिष्यद्यति सदाविभातो ह्येवैष
ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥ तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्ये-
स्मानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु
लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥ ४ ॥

करूपं विदुषः सम्पद्यत इत्यर्थः । सदाविभातः सदा
विभातः सदैकरूपः स्वेनरूपेणैव ब्रह्मलोकः । तत्रैव सत्येतं
यद्योक्तं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण स्त्रीविषयतृष्णात्यागिन
शास्त्राचार्योपदेशमनुविन्दन्ति स्वात्मसंवेद्यतामापाद-
यन्ति एतेषामेव ब्रह्मचर्यसाधनवतां ब्रह्मविदामेष ब्रह्म-
लोकः । नान्येषां स्त्रीविषयसम्पर्कजाततृष्णानां ब्रह्मवि-
दामपीत्यर्थः । तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्यु-
क्तार्थम् । तस्मात्परममेतत्साधनं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मविदामित्य-
भिप्रायः ॥ ४ ॥

तेऽतस्तद्रूपतः हिदुषो बभूवुस्तद्रूपत्वमविरहमित्यर्थः ॥ विद्यायामेव यो-
क्तरीत्यस्य वस्तुस्थितिः सत्येतत्फलं विद्यावशेन येषां विद्यामीत्याशङ्क्याह ।
तमेति ॥ ब्रह्मचर्यवतां विद्याद्वारा ब्रह्मलोको लोकः फलमीत्यर्थः ॥
तेषां विद्वद्भिरकारणीयतममर्थमाह । नान्येषामिति ॥ ब्रह्मविदामपीति
गच्छतामब्रह्मविषयतृष्णति । तेषां ब्रह्मचर्यवतां ब्रह्मविदामिति कावत् ॥
ब्रह्मचर्यसाधनवतामेव ब्रह्मचर्येण ब्रह्मलोको लोकः भवतीति
स्थितिः कथितमाह । अन्तर्दिति ॥ साधनं ब्रह्मविद्यावर्जितमिति चेन्न ।
ब्रह्मविद्यावर्जितमिति विदुषोऽन्तर्दितमिति चेन्न ॥ ४ ॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्म-
चर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्ट-
मित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टा-

य आत्मा स चेत्तुत्यादिगुणैस्तुतस्तत्प्राप्तये 'ज्ञानसह-
कारिसाधनान्तरं ब्रह्मचर्याख्यं विधातव्यमित्याह । यद्वा-
दिभिः तत् श्रौति कर्त्तव्यार्थम् । अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते
लोके परमपुरुषार्थसाधनं कथयन्ति श्रिष्टास्तद्ब्रह्मचर्य-
मेव । यज्ञस्यापि यत्फलं तद्ब्रह्मचर्यं ब्रह्मभतेऽतो यज्ञोऽपि
ब्रह्मचर्यमेवेति प्रतिपत्तव्यम् । कथं ब्रह्मचर्यं यज्ञ इत्याह ।
ब्रह्मचर्येणैव हि यज्ञाद्यो ज्ञाता स तं ब्रह्मलोकं यज्ञ-
स्यापि पारम्यर्थेण फलभूतं विन्दते लभते ततो यज्ञोऽपि
ब्रह्मचर्यमेवेति । यो ज्ञातेत्यक्षरानुवृत्तेर्यज्ञो ब्रह्मचर्यमेव ।
अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । कथं ब्रह्मच-
र्येणैव साधनेन तमीश्वरमिष्ट्वा पूजयित्वा अथ वैषणा-
मात्मविषयां कृत्वा तमात्मानमनुविन्दते । एषणादीष्ट-

अथ यद्योक्तपरमात्मप्राप्तिसाधने ज्ञाने सहकारिब्रह्मचर्यं प्राप्ते-
वोक्तम् ॥ तथाच कृतं ब्रह्मचर्यं विषयेषोत्तरपन्थेनेत्याहङ्गाह । य आत्मेति ॥
यमाद्यपेक्षया चत्वारश्चन्दः ॥ उक्तमपि ब्रह्मचर्यं विधातुमनन्तरपन्थ-
प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ किमिति तर्हि तस्या स्तुतिरित्याहङ्गाह तस्या विधिबोध-
दर्शयति । ब्रह्मादिभिचेति ॥ स्तुतिराहोत्तरं वाक्यमिच्छुक्तं तदादाय
व्याकरोति । अथेत्यादिना ॥ ब्रह्मचर्यं लोकोत्तरीत्या विधिविहितत्वे तदी-
यस्तुतिपारम्पार्योऽयमर्थः ॥ ब्रह्मस्य ब्रह्मचर्येऽनन्तं साधयति । वक्षसा-
मीति ॥ उक्तमेवार्थमाकाङ्क्षाद्वारा उपर्ययति ॥ अथमित्यादिना ॥

त्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥ अथ यत्सत्तायणमित्याच-
क्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मन-
स्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य-

मपि ब्रह्मचर्यमेव । अथ यत्सत्तायणमित्याचक्षते ब्रह्मच-
र्यमेव तत्तथा । सतः परस्मादात्मन आत्मनस्त्राणं रक्ष्यं
ब्रह्मचर्यसाधनेन विन्दते अतः सत्तायणशब्दमपि ब्रह्मच-
र्यमेव तत् । अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्म-
चर्येणैव साधनेन युक्तः सन्नामानं शास्त्राचार्याभ्यामनुविद्य
पञ्चाङ्गानुते ध्यायति । अतो मौनशब्दमपि ब्रह्मचर्यमेव । अथ
यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । यमात्मानं
ब्रह्मचर्येणानुविन्दते स एष हि आत्मा ब्रह्मचर्यसाधन-
वतो न नश्यति तस्मादनाशकायनमपि ब्रह्मचर्यमेव । अथ
यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । अरण्यायनयो-
रर्णवयोर्ब्रह्मचर्यवतोऽयनादरण्यायनं ब्रह्मचर्यम् । यो ज्ञाना-
द्यज्ञः । एषणादिष्टम् । सतस्त्राणात्सत्तायणम् । मननाम्नौनम् ।
अनाशनादनाशकायनम् । अरण्यायोर्गमनादरण्यायनम् ।

पारमर्त्येण चित्तशुद्धिदारेणेत्यर्थः । न केवलं फलद्वारा यज्ञो ब्रह्मचर्ये-
ऽन्तर्भवति । किन्तु वकारप्रकारसंस्कारादपीत्याह । यो ज्ञातेति ॥
इत्यस्य ब्रह्मचर्यान्तिर्भावस्य काङ्क्षाद्वारा स्फोरयति । कथमित्यादिना ॥
पूर्वायत्ना तनात्मानमनुविन्दत इति वस्तव्यः ॥ ब्रह्मचर्येणात्मविषयैषणा
निष्पाद्यते । इष्टेनापि तदेव संपाद्यते । तस्मादेव सादुभयसाहचर्यरूपा-
दिष्टमपि वस्तवब्रह्मचर्यमेवेत्याह । एषणादीति ॥ वस्तुव्यजमानकं
वैदिकं कर्मा सत्तायणम् । तथा यज्ञवदिष्टव्येत्यर्थः ॥ कथं सत्तायणं

मेव ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविन्दे मनुते ॥२॥
अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव त-
देव ह्यात्मा न नष्टति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ

इत्यादिभिर्महद्भिः पुरुषार्थसाधनैः सुतत्वाद्ब्रह्मचर्यं परमं
ज्ञानसहकारिकारणं साधनमित्यतो ब्रह्मविदा यत्नो
रक्षणीयमित्यर्थः । तत्तत्र हि ब्रह्मलोके अरश्च ह वै प्रसिद्धो
य्यश्चार्णवौ समुद्रौ । समुद्रावपामेव सरसी तृतीयस्याम् । भुव-
मन्तरिक्षवापेक्ष्य तृतीया द्यौस्तस्यां तृतीयस्यामितोऽस्मा-
ल्लोकादारभ्य गण्यमानायां दिवि । तत्तत्रैव चैरं दूराऽन्तं
तन्मय एरो मण्डस्तेन पूर्वमैरं मदीयं तदुपयोगिनां मद-
करं हर्षोत्पादकं मरः । तत्रैव चाश्वत्यो वृक्षः सोमोऽश्नतं
तन्निखवोऽश्नतस्त्वमिति वा । तत्रैव च ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्य-
साधनरहितैर्ब्रह्मचर्यसाधनवद्भ्योऽन्यैर्न जीयत इत्यपरा-
जितानाम् पूः पुरी ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य । ब्रह्मणा च प्रभुणा
विशेषेण मितं निर्मिन्नं तच्च हिरण्यमयं सौवर्षं प्रभुविनिर्मितं
मण्डपमिति वाक्यशेषः । तत्तत्र ब्रह्मलोके ऐतावर्षं वा-

ब्रह्मचर्येऽन्तर्भवतीत्याशङ्काह । अत इति ॥ उपवासपरायणत्वमनाश-
कायनं तत्तत् ॥ ब्रह्मचर्येऽन्तर्भवतीत्याशङ्काह । यमात्मावमिति ॥
अरश्चायनमरणवत्सकत्वात् ब्रह्मचर्यान्तर्भवतीत्याशङ्काह । अर-
श्चयश्च्योरेति ॥ हिरण्योऽन्तर्भवति संनिष्ठाह । यो ज्ञानादिज्ञादिना ॥
यो ब्रह्मचर्येणाशक्तो ज्ञानादात्माभं विन्दते स ब्रह्मलोकं गच्छते । तस्या-
द्यहो ब्रह्मचर्यमिति कीदृशना । आदिशब्देन सर्वं परमपुरुषार्थसा-
धनत्वं ज्ञाते । ब्रह्मचर्यं सुतत्वात्तद्विषयं विधिसङ्गा तत्पुत्रकवि-
दासाध्यपत्तं कथयति । अत एव इति ॥ ब्रह्मचर्यसाधनसाधनत्वात्-

यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदरक्ष्यं

परस्मात्स्वावृत्तौ ब्रह्मचर्येण साधनेनानुविन्दन्ति ये तेषा-
मेष यो व्याख्यातो ब्रह्मलोकलोपाद्य ब्रह्मचर्यसाधनवतां
ब्रह्मविदां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति नान्येषाम-
ब्रह्मचर्यपराणां वाह्यविषयासक्तबुद्धीनां कदापीत्यर्थः ।
नन्वत्र त्वमिन्द्रस्त्वं यमस्त्वं वरुण इत्यादिभिर्यथा कश्चित्
स्तूयते महार्हः । एवमिष्टादिभिः शब्दैर्न स्त्रीविषयवृत्त्या-
निवृत्तिमात्रं स्तूत्यर्हं किन्तर्हि ज्ञानस्य मोक्षसाधन-
त्वान्तदेवेष्टादिभिः स्तूयत इति केचित् । न स्वप्नादि
वाह्यविषयवृत्त्यापहतचित्तानां प्रत्यगात्मविवेकविज्ञाना-
नुपपत्तेः । परास्मिन् खानि व्यवृत्त्या स्वयम्भूतस्मात्पराह-
प्रश्न्यति नान्तरात्मनित्यादिश्रुतिस्मृतिग्रन्थेभ्यः । ज्ञान-

इती स्तुतिरयुक्ता । तद्ब्रह्मचर्येण ज्ञानसुपलब्धं तदेव स्तूयत इति
अतस्तथापयति । नन्वेति ॥ तस्य शुद्धसाधनत्वमभिज्ञम् इतरुच्यते ।
तद्व्यतिरेकेण ज्ञानासम्भवाच्चैत्युत्तरमाह । नेत्यादिना ॥ विषयाप-
हृतचित्तानां नराणां विवेकासम्भवे प्रमाद्यमाह । परास्मीति ॥ ध्यायतो
विषयानित्याद्या श्रुतिरत्र विवक्षिता ॥ ब्रह्मचर्यस्योत्तमसाधनत्वे सिद्धे
फलितमाह । ज्ञानेति ॥ ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनस्य ब्रह्मचर्यस्य यथादिभिः
स्तुतत्वात्तेषामपि तत्प्राप्तिसाधनत्वं श्रुत्याऽभिप्रेतमिति शङ्कते ।
नन्वेति ॥ किन्तेषां पुरुषार्थसाधनत्वं प्रस्तुतश्रुत्या प्रतीतं किंवा ब्रह्म-
लोकसाधनत्वमिति विकल्पग्राह्यमङ्गीकरोति सत्यमिति ॥ न द्वितीयो
काव्यभेदप्रसङ्गादित्याह । न त्विति ॥ कथं तर्हि यथादिर्ब्रह्मचर्यस्तु-
तित्वात् । किन्तर्हीति ॥ उक्तमर्थं वदन्नेव शङ्कयति । यथेति ॥

ह वै स्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितौ दिवि

सहकारिकारणं स्यादिविषयदृष्ट्यानिवृत्तिसाधनं विधा-
तव्यमेवेति युक्तैव तत्सुतिः । ननु च यज्ञादिभिः स्तुतं
ब्रह्मचर्यमिति यज्ञादीनां पुरुषार्थसाधनत्वं गम्यते । सत्यं
गम्यते । नत्विह ब्रह्मलोकं प्रति यज्ञादीनां साधनत्वमभि-
प्रेत्य यज्ञादिभिर्ब्रह्मचर्यं स्तूयते किन्तर्हि तेषां प्रसिद्ध-
पुरुषार्थसाधनत्वमपेक्ष्य यथेन्द्रियादिभ्यो राजा न तु
यत्नेन्द्रादीनां व्यापारस्तत्रैव राज्ञ इति तद्वत् । य इमे
अर्णवादयो ब्राह्मलौकिकाः सङ्कल्पजाश्च पितादयो भो-
गास्तौ किं पार्थिवा आयाश्च । यथेह लोके दृश्यन्ते तद-
दर्शवदृक्षपूःस्वर्गमण्डपानि आहोस्त्रिन्मानसप्रत्ययमात्रा-
णीति । किञ्चातो यदि पार्थिवा आयाश्च स्थूलाः स्थू-

त्वमिन्द्रत्वं विष्णुरित्यादिना विष्वादिभ्यो राजा स्तुयते तथापि न
नखेन्द्र दिव्यापारेनिरङ्कुषं कर्तृत्वमस्तीति यथेष्ट्येन तथा यज्ञादिभि-
र्ब्रह्मचर्यस्य स्तुतस्तपि नास्ति तद्व्यफलत्वमित्यर्थः ॥ ब्रह्मलोकस्थावृष-
दार्यान्निर्णेतुं विचारमवतारयज्ञादौ तद्विषयमाह । य इम इति ॥
तत्रैकं पञ्चमुत्थाप्य दृष्टान्तेन तदुत्थितप्रकरमाह । ते किमिति ॥ पञ्चानरं
स्वप्रवृत्तानवशाद्दर्शयति ॥ आहोस्त्रिदिति ॥ कश्चिन्पक्षे को कामः
को वा दोषः ॥ दोषदर्शनान्मानसत्वेन सौख्येन पुराणानुपपन्न-
वासेन मानसा एवेत्याह । यदीति ॥ न केवलं तेषां स्थौल्ये सत्सुभेदवि-
विध्यादिवृत्त्या पुराणस्यत्या न विरोधः किन्त्वशोकं सन्नापवर्जितकर्तृत्वं
शीतस्पर्शस्य ब्रह्मलोकसुपयत्नित्वाद्याह नृतयो ब्रह्मलोकं निरूपय-
न्त्यस्तत्त्वज्ञानावर्णनां स्थौल्ये विवर्देरन् । स्थूलानां पदार्थानां तत्र
सत्वे शीतस्पर्शादेरवर्जनीकत्वमित्याह । अयोकमिति । ब्राह्मलौकि-

तदैरमदीयः सरस्तदन्वत्यः सोमसवनस्तदप-

ईद्याकाशे समाधानानुपपत्तिः । पुराणे च मनोमयानि
ब्रह्मलोके शरीरादीनीति वाक्यं विरुद्धेति । अथोकमहिम-
मित्याद्याश्च श्रुतयः । ननु समुद्राः सरितः सरांसि
वायः कृपा यज्ञा वेदा मन्त्रादयश्च मूर्त्तिमन्तो ब्रह्माण-
मुपतिष्ठन्त इति मानसत्वे विरुद्धेति पुराणश्रुतिः । न
मूर्त्तिमन्त्वे प्रसिद्धरूपाणामेव तत्र गमनानुपपत्तेः । तस्मा-
त्प्रसिद्धमूर्त्तिव्यतिरेकेण सागरादीनां मूर्त्तिमन्तरं सागरा-
दिभ्यो रूपान्तरब्रह्मलोकगन्तृत्वं कल्पनीयम् । तुल्यायाश्च
कल्पनायां यथा प्रसिद्धा एव मानस्य आकारवत्यो
मूर्त्तयो युक्ताः कल्पयितुं मानसदेहानुरूप्यसम्बन्धोप-

पदार्थानां मानसत्वेन पुराणसत्यन्तरविरोधः शंसते । नन्विति ॥
किं दृश्यमानरूपेण समुद्रादीनां ब्रह्मलोकगमनं श्रुत्यर्थः किं वा
स्वरूपान्तरेणेति विकल्पग्राह्यं दूषयति । न मूर्त्तिमन्त्व इति ॥ उभयत्र १-
सुपलम्भप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ प्रथमपक्षायोगे द्वितीयं पक्षं परिशिष्टमावष्टे ।
तस्यादिति ॥ अस्तु द्वितीयो विकल्पः का नो हानिरित्याशङ्क्य ब्रह्मलोके
मानसेन देहेन मानसानामेव सागरादीनां मानसरूपेण सह सम्बन्धो-
पपत्तेर्मानसा एव मूर्त्तयस्तेषां ब्रह्मलोकस्थाः कल्पयितुं युक्ता इत्याह ।
तस्यायाश्चेति ॥ तर्हि मनोरथकल्पितवदतिबहुलताङ्गो गव्यो ग्याकारत्वं
सागरादीनां न सादित्वाशङ्काह । इष्टादीति । स्वप्रत्यक्षत्वे मिथ्या-
त्वप्रसङ्गिरिति शङ्कते । नन्विति ॥ प्रसङ्गस्योपलभाशङ्क्य श्रुतिविरोधमाह ।
त इम इति । वे सप्त इष्टास्ते व सन्ति न तु इष्टा इति दर्शनं बाध्यते
तथा च सात्रसंवेदनस्य सत्यत्वमिदं तथैव ब्राह्मणलौकिकानां पदार्थानां
मानसत्वेति इष्टान् विदधति । मानसा इति ॥ जागरिते संविदति-

राजिता पूर्वद्वयः प्रभुविमित ए हिरण्यम् ॥३॥

यत्तेः । दृष्टा हि मानस एवाकारवत्त्वः पुंस्माद्या मूर्त्तयः
स्वप्ने । ननु ता अदृता एव । त इमे सत्त्वाः कामा
इति श्रुतिश्रुत्या सति विरुद्धे त । न । मानसप्रत्ययस्य
सत्त्वोपपत्तेः । मानसा हि प्रत्ययाः स्त्रीपुरुषाद्याकाराः
स्वप्ने दृश्यन्ते । ननु जाग्रद्व्यसनारूपाः स्वप्ने दृष्टा न
तु तत्र भ्रूयादयः स्वप्ने विद्यन्ते । अत्यल्पमिदमुच्यते ।
जाग्रद्विषया अपि मानसप्रत्ययाभिनिर्दिता एव सदीक्षा-
भिनिर्दितातेजोबन्धमयत्वाज्जाग्रद्विषयाणाम् । सङ्कल्पमूला हि
लोका इति चोक्तम् । समस्तपतां द्यावापृथिवी इत्यत्र सर्व-
श्रुतिषु च प्रत्यगात्मन उत्पत्तिः प्रलयश्च तत्रैव स्थितिश्च

रिक्ताः सन्ति पदार्थास्तद्वासनारूपास्ते स्वप्ने भान्ति न तु संविदात्मकं
तेषामिति शङ्कते । नन्विति । जागरितस्यापि संविद्विर्त्तत्वाच्च
पृथगस्ति सत्त्वमित्युत्तरमाह । अत्यल्पमिति ॥ भूमविद्यालोचनायामपि
जाग्रद्विषयाणां संविद्विर्त्तत्वं सेत्प्रतीत्याह । सङ्कल्पमूला इति ॥
इतश्च जाग्रद्विषयाणां संविद्विर्त्तत्वमित्याह । सर्वश्रुतिषु चेति ॥
ननु कुलाख्यो षट् चिकीर्षुर्भनसि सङ्कल्पितमाकारं वह्निर्निर्मितीते तत्र
सङ्कल्पो बाह्याकारस्य निमित्तं सङ्कल्पश्च पूर्वानुभूतसजातीयगोचरः
पूर्वानुभूतोऽपि पूर्वतरसङ्कल्पनिमित्तनैमित्तिकभावः सर्वस्य संविद्वि-
र्त्तत्वे कथमुपपद्यते तत्राह । तस्मादिति ॥ यच्चात्यतः सर्वस्येष्टेण
पूर्वकक्षीयसदृशगोचरं पूर्वकक्षीया ततः पूर्वतरेण निमित्ता इति ।
संविदेवेत्वं साविद्याया निवर्त्तते निरवयवस्य सत्कालस्य स्वरसेनेष-
साद्यनुपपत्तेस्तस्मात्सर्वस्य संविद्विर्त्तत्वेऽपि निमित्तनैमित्तिकभावे-
ऽवबन्निर्वाच्यो न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ अथ सङ्कल्पाद्याः संविदेऽनि-
र्वाच्यसङ्कलनाख्ये मे विषया बाह्यतया भासन्तेऽतश्च कदाचिदपि

तदा स्वैतावरं च स्वयन्कार्यवै नान्यतो नान्य-

यथा वा भरा नाभाः क्लिष्टादिनोच्यते । तस्यान्धानसानां
वाङ्मानां च विषयाणामितरेतरकार्यकारणत्वमिष्यत एव
बीजाङ्कुरवत् । यद्यपि वाङ्मा एव मानसाः मानसा एव च
वाङ्मा नादृतत्वं तेषां कदाचिदपि स्वात्मनि भवति ।
ननु स्वप्ने दृष्टाः प्रतिबुद्धस्यादृतताभवन्ति विषयाः ।
सत्यमेव । जाग्रद्विषयेष्वपि तददृतत्वं न स्वतः । तथा
स्वप्नविषयेष्वपि जाग्रददृतविषयादृतत्वं न स्वतः । विशेष-
णकारणात् तन्तु सर्वेषां मिथ्याप्रत्ययनिमित्तमिति । वाचा-
रम्भणं विकारो नामधेयमदृतं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥

संविदतिरेकेण सत्त्वानङ्गीकाराद्यन्नासत्त्वलक्षणमदृतत्वमापद्येत । तथा
च व्यवहारभङ्गप्रसङ्गस्तत्पुङ्गवः । यद्यपीति ॥ तथापि नादृतत्वमित्या-
हारः । अथस्तस्याभिप्रायश्चेव स्वात्मा । तस्मिन् कदाचिदप्यन्यत्वात् तत्त्वं
तादात्म्येनैव स्फुरणादतो न व्यवहारभङ्गप्रसङ्ग इति भावः ॥ कदाचिदपि
नादृतत्वमिति वदता प्रतीतिकासात्काशान्तरेऽपि विषयाणां नासत्त्वमि-
त्युक्तं तद्वानुभवविरोधं शङ्कते । नत्विति । स्वप्नदृष्टानां संकीर्णतमेव
काशान्तरे मिथ्यात्वमित्याङ्गीकरोति ॥ सत्यमिति ॥ तर्हि तेषामसत्त्वमेव
स्वीकृतमित्याशङ्क्याह । जाग्रदिति ॥ तथापि जाग्रद्वेनाविषयीकर-
णादसत्त्वं स्वप्नदृष्टानामेवमित्याशङ्क्याह । तथेति ॥ यदि जाग्र-
द्वेनाविषयीकरणवात्वे चासत्त्वं स्वप्नदृष्टानां पदार्थानां च तर्हि
जाग्रद्विषयाणां च स्वप्नविषयेनाविषयीकरणादसत्त्वप्रसङ्गः । तदा
कदाचिदपि संविदि विषयाणां सत्त्वमसत्त्वमित्यर्थः ॥ अथ तर्हि वाचार-
म्यसत्त्वतिरिक्तमित्याशङ्क्याह । विद्येति ॥ तद्वानां रूपाणां सत्त्वत्वे विशेषा-
कारणात् मिथ्येत्युक्तमयुक्तम् । तेऽपि विशेषाकारणं सत्त्वादित्याशङ्क्याह ।

चर्येणानुविन्दन्ति तेषामिवैष ब्रह्मलोकस्तेषां
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥ ५ ॥

तान्यपि आकारविशेषतोऽवृतम् । स्वतः सत्त्वात्स्वरूपतया
सत्यम् । प्राक्तदात्मप्रतिबोधात्स्वविषयेऽपि सर्वं सत्यमेव
स्वप्नदृष्ट्या इवेति न कश्चिद्विरोधः । तस्यान्मानसा एव
ब्राह्मणौकिका अरण्यादयः सङ्कल्पजाश्च पित्रादयः
कामाः । वास्तवविषयभोगवदशुद्धिरहितत्वाच्छुद्धसत्त्व-
सङ्कल्पजन्या इति निरतिशयमुखाः सत्याश्चेष्टराणां भव-
न्तीत्यर्थः । सत्सत्यात्मप्रतिबोधेऽपि रज्ज्वाभिव कल्पिताः
सर्पादयः सदात्मस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति सदात्मना
सत्या एव भवन्ति ॥ ५ ॥

तान्यपीति ॥ कथं तर्हि तेषु सत्यपदं प्रयुक्तमित्याशङ्क्याह । स्वत इति ॥
तर्हि तत्सत्त्वमित्येतावत्प्रयोज्यं किमिति त्रीणि रूपाणीत्येव सत्त्व-
मित्युक्तं तत्राह । प्रागिति ॥ प्रकृतमुपसंहरति ॥ तस्यादिति ॥ प्रथमप-
चवर्हितीयपक्षे दोषाभावादिति यावत् । यद्येहिकविषयवद्वाङ्मयौकिका
अपि विषया विचार्यमाणाः सत्यास्तर्हि कस्तल विषयो येनैतत्परि-
त्यागेन तत्कामिनां विद्याविधानं तत्राह । बाह्येति ॥ जन्मा ब्रह्मलोके
विषया इति शेषः ॥ प्रकृतायाः फलशुनेरित्यभ्याहारः । ननु तेषामवि-
द्यादशावागवर्जक्रियाकारित्वरूपसत्त्वत्वसम्भवेऽपि कुतो विद्यावत्त्वायां
सत्त्वत्वमित्याशङ्क्याह । सत्यत्वेति ॥ यथा रज्ज्वां कल्पितसर्पादयो रज्जु-
तत्त्वबोधे वदन्तातामेवापाद्यन्ते विवेचयन् । तथा सर्वेऽपि विषया
विद्यावत्त्वावागव्यतिरेकाभ्यां परिहारावाप्तत्वात्त्वमेव प्राप्नुव-
न्तीति तत्त्वत्वत्वमविद्वद्विमत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ वा एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिक्वलस्य-
विष्वसिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहित-
स्रोतसौ वा आदित्यः पिक्वल एव शुक्ल एव

यस्य हृदयपुण्डरीकगतं यथोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म ब्रह्म-
चर्यादि साधनसम्पन्नः त्यक्तवाङ्मयविषयानृतदृष्टः सन्नुपास्यो
तस्येयं मूर्धन्या नाड्या गतिर्व्यक्तव्येति खण्ड आरभ्यते ॥ अथ
या एता वक्ष्यमाणा हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मो-
पासनस्थानस्य सम्बन्धिन्यो नाड्यो हृदयमांसपिक्वडात्मव्यतो
विनिःसृता आदित्यमण्डलादिव रश्मयस्ताश्चैताः पिक्व-
लस्य वर्णविशेषविशिष्टस्याग्निः सूक्ष्मरसस्य रसेन पूर्णा-
स्तदाकारा एव तिष्ठन्ति वर्तन्त इत्यर्थः । तथा शुक्लस्य
नीलस्य पीतस्य लोहितस्य च रसस्य पूर्ण इति सर्वत्रा-
ध्याहार्यम् । सौरेण तेजसा पिप्ताख्येन प्राकाभिनिर्दृष्टेन

सगुणविद्याफलस्य रूपमित्यनुपपाद्य तत्प्राप्ते गतिर्व्यक्तव्येति
नाडीखण्डनवतारयति । वसिष्ठः ॥ यथोक्तो गुणः सत्यकामत्वादिः ।
ब्रह्मचर्यादीनादिशब्दः यमदमादिषट्ककार्यः । तमेवादिवर्द्धार्थं
अटवति । तज्ज्ञेति ॥ अजिह्वारिणः सफलोपासिविध्वजन्तर्व्यमयशब्दार्थः ॥
रसेनास्येति शेषः । तदाकारा इति तच्छब्दोऽक्षरसंविधयः । शुक्ल-
स्रोतादिवर्णी पूर्ववत् । सृताविति शब्दोऽध्याहारद्योतनार्थः । कथं
इतरक्षरवत् पिक्वडादिविचित्रो वर्णविशेषः सिद्धतीत्याचक्ष्णाह ।
सौरेवेति ॥ यातपिप्ताख्यं सौरं तेजः । तेन पाकोऽग्निस्तस्य जायते ।
तेनाभिनिर्दृष्टेनाख्येन कक्षेन सत्यकांशदेव पिप्ताख्यं सौरकक्षो
भवति पिक्वलम् । तेन सत्यकांशवत् नाडीनाम् जायते पिक्वलमित्यर्थः ॥

नील एष पीत एष लोहितः ॥ १॥ तद्यथा महा-
पद्म आगत उभौ ग्रामौ गच्छन्तीमञ्चापुञ्जैर्भवेता-
मभित्ताम्भ रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चा-

कफोन्माख्येन सम्पर्कात्पिङ्गलं भवति सौरं तेजः पिप्पलाख्यम् ॥
तदेव वतभूयस्वाग्नीलं भवति । तदेव च कफभूयस्वा-
ग्नुक्लाम् । कफेन समतायां पिप्पलम् । शोणितवाङ्मल्येन
लोहितम् । वैद्यकाद्वा वर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः ॥ कथं भव-
न्तीति अतिश्वाहादित्यसम्बन्धादेव तत्तेजसो नाडी-
ध्वनुगतस्यैते वर्णविशेषा इति । कथमसौ वाऽऽदित्यः
पिङ्गलो वर्णत एष आदित्यः शुक्लोऽप्येष नील एष पीत
एष लोहित आदित्य एव । तस्याध्यात्मनाडीभिः कथं
सम्बन्ध इत्यत्र दृष्टान्तमाह । तत्तत्र यथा लोके महान्
विस्तीर्णः पन्था महापथ आततो व्याप्त उभौ ग्रामौ

तदेव च पितास्त्वं सौरत्नेजो यथोक्तपाकाभिनिर्दत्तेन प्रभूतेन वातेन
सम्बन्धस्तद्वयस्याङ्गवति नीलं तेन च सम्बन्धाद्व्यतरस्याः ताडोन्मत्तः
आवर्ते नैकमित्याह । तदेवेति ॥ प्रकृतमेव पितास्त्वं सौरत्नेजो
यथोक्तपाकवशदभिनिर्दत्तकणस्य सहस्रम्विंशो भूयस्वाङ्गवति युक्तं
तेन च सम्बन्धाद्व्यतरस्याः नाडोन्मत्तः प्रोक्तः भवतीत्याह । तदेव चेति ॥
उक्तपाकाभिनिर्दत्तेन कणोऽतदभिनिर्दत्तस्यैव कणस्य समतया तदेव
तेन सहस्रम्विंशः प्रोक्तः आवर्तेः । तदसम्बन्धस्तद्वयस्याङ्गवति च नाडोन्मत्तः
प्रोक्तः भवतीत्याह । कपेदेति ॥ यदहं तु यथोक्तपाकाभिनिर्दत्तं
यथोक्तपाककणं भवति तदहं तस्य नाडोन्मत्तः सौमित्रः भवतीत्याह ।
यथोक्तपाककणः सहायककणः । यथोक्तपाकः । सहायकपाकः । यथो-

मुञ्चासुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु
रुप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽसुष्मिणा-
दित्ये रुप्ताः ॥२॥ तद्यच्चैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः

गच्छतीमञ्च सन्निहितममुञ्च विप्रकृष्टं दूरस्थमेव ।
यथा लोके दृष्टान्तो महापथ उभौ ग्रामी प्रविष्टः ।
एवमेवैता आदित्या महापथा यथा गच्छन्ति तथोभ-
यत्वादित्यस्य रश्मयः उभौ लोकावमुञ्चादित्यमण्डल-
मिमञ्च पुरुषं गच्छन्त्युभयत्र प्रविष्टाः । यथा महा-
पथः । कथममुष्मादादित्यमण्डलात्प्रतायन्ते सन्तता
भवन्ति । ता अध्यात्ममासु पिङ्गलादिवर्णासु यथो-
क्तासु नाडीषु रुप्ता गताः प्रविष्टा इत्यर्थः । आभ्यो
नाडीभ्यः प्रतायन्ते प्रवृत्ताः सन्तानभूताः रुत्स्रोऽसुष्मिन्
रश्मीनामुभयलिङ्गत्वात्ते इत्युच्यन्ते । तत्तत्र एवसति
यत्र यस्मिन् काले एतत्स्वप्नमयो जीवः सुप्तो भवति

मिति ॥ नाभेरुर्ध्वं हृदयादधस्तादामायवमाचक्षते । तद्वत् तजः सौरं
पितृमित्रमुच्यते । तज्जाह्नवरस्य धातुनारसङ्कारिवक्त्रवर्णविशेषे कार-
णमाययनं पीतं रक्तकं सरक्तनादित्यादिवर्णमादित्यैः । कथं तर्हि
पिङ्गलस्येत्याद्यां श्रुतिरित्याशङ्क्याह । श्रुतिस्त्विति ॥ उक्तमर्थमाद्या-
ङ्गाद्वारा स्मरयति । कथमित्यादिना ॥ आदित्यस्य पैङ्गलादयो वर्ण-
विशेषाः नास्वप्राभाण्यादेव प्रस्येतज्जाः ॥ आदित्यस्य तेजसो नाडी-
जह्नवनस्य पैङ्गलादयो रश्मिविशेषा भवन्तीत्युक्तं तदेव प्रवृत्तद्वारा दृष्टा-
नारसङ्कारेण चक्षयति । तस्येत्यादिना ॥ उभयतादित्यमण्डले पुरुषे
चेत्यर्थः । एवमूर्ध्वोऽमेव दृष्टान्ननुच्यते । अथेति ॥ उभौ धानौ मङ्ग-
लान् कथा मङ्गलि तयोभयत्वादित्यस्य रश्मयः प्रविष्टा इत्यर्थः । तत्रैव

स्वप्नं न विजानात्वासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति
तत्र कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा
सम्पन्नो भवति ॥३॥ अथ यच्चैतद्वलिमानं नीतो

स्वापस्य द्विप्रकारत्वाद्विशेषणं समस्त इति । उपसंस्कृत-
सर्वकरणवृत्तिरित्येतत् । अतो वाह्यविषयसम्पर्कजनित-
कालुष्याभावात्सम्यक्प्रसन्नः सम्पन्नो भवति । अत एव
स्वप्नविषयाकाराभासं मानसं स्वप्नप्रत्ययं न विजानाति
नानुभवतीत्यर्थः । यदैवं सुप्तो भवति आसु सौरतेजः-
पूर्णासु यथोक्तासु नाडीषु तदा सुप्तः प्रविष्टो नाडी-
भिर्द्वारभूताभिर्दृढयाकाशं गतो भवतीत्यर्थः । न
ह्यन्यत्र सत्यस्य सत्तेः स्वप्नदर्शनमस्तीति 'सामर्थ्यान्नाडी-
ध्विति सप्तमी तृतीयया परिणम्यते । तं सता सम्पन्नं न
कश्चन न कश्चिदपि धर्माधर्मरूपः पाप्मा स्पृशतीति स्वक-

प्रवेशं प्रज्ञाद्वारा प्रकटयति ॥ कथमित्यादिना ॥ कथं नाडीनां पिङ्ग-
लादिवर्णत्वमित्यादिना सौरतेजः तेजसेत्यादिनोक्तं व्याख्ययति । यथो-
क्तास्ति ॥ अस्तुविज्ञादित्ये स्वप्ना इति सम्पन्नः । कथं स्त्रीलिङ्गेन
निर्दिष्टानां रस्त्रीनां पुंलिङ्गेन निर्दिष्टत्वात् । रस्त्रीनामिति ॥ नाडी-
स्वरूपसङ्ख्या विज्ञानात्मनः स्वोपाधिकरणत्वेन ताः सौप्तनादौ स्वापं
प्रक्रीति । तत्तत्तेति ॥ सम्पन्नवर्णमेव स्फुटयति । एवं संतोति ॥ नाडीस्वरूपे
पूर्वोक्तरोक्ता निरूपिते सतीत्यर्थः । एतत्स्वप्नमिति क्रियाविशेषणम् ॥
स्वप्नविशेषणस्यार्थवत्त्वमाह । स्वापस्येति ॥ दर्शनवृत्तिवददर्शनवृत्ति-
येति द्विप्रकारं स्वापस्येष्टम् । तत्र दर्शनवृत्तेः स्वापस्य व्यावृत्त्यर्थं स्वप्न-
इति विशेषणम् ॥ तस्य सन्निवृत्तमर्थमाह । उपसंस्कृतेति ॥ विशेषणा-

भवति तमभित आसीना आङ्गर्जनासि मां ज-
नासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुज्ज्ञान्तो
भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥ अथ यनैतदस्माच्छ-

पावस्थितत्वात्तदात्मनः । देहेन्द्रियविशिष्टं हि रुष-
दुःखकार्यप्रदानेन पाप्मा स्पृशतीति । नतु सत्सम्पन्नं स्वरू-
पावस्थं कश्चिदपि पाप्मा स्पृष्टमुत्सृजते । अविषयत्वात् ।
अन्यो ह्यन्यस्य विषयो भवति न त्वन्यत्वं केनचित्कुतश्चिदपि
सत्सम्पन्नस्य । स्वरूपप्रच्यवनं त्वात्मनो जायतस्वप्नावस्थां
प्रति गमनम् । वाच्याविषयप्रतिबोधोऽविद्याकामकर्मावीजस्य
ब्रह्मविद्याऽज्ञतायादाहनिमित्तमित्यवोचाम षष्ठ एव तदि-
हापि प्रत्येतव्यम् । यदैवं सुप्तः सौरेण तेजसा हि नाद्यन्तर्ग-
तेन सर्वतः सम्पन्नो व्याप्तो भवति । अतो विशेषेण चक्षुरा-
दिनाडीद्वारैर्वाच्याविषयभोगायाऽप्रवृत्तानि करणान्यस्य

नरसत्त्वाच्च व्याकरोति । अत इति ॥ उपसंस्कृतसर्वकरणत्वादिति
यावत् । उक्तं विशेषणद्वयमुपजीव्य स्वप्नमित्यादि व्याचष्टे । अत इति ॥
नाडीषु प्रविष्टो भवतीति यदुक्तं तदयुक्तम् । य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस-
न्निभु र्हेत इत्यङ्गीकारादित्याशङ्काह । नाडीभिरिति । नाडीष्विति
श्रुता सप्तमी । कथं नाडीभिरिति तृतीया व्याख्यायते तत्वाह । न हीति ॥
तदेतदिति सुप्तप्रवस्थोच्यते ॥ तस्याऽनवस्थायां कर्माभावे कथं पुनरुत्था-
नमित्याशङ्काह । देहेति । सुषुप्तः सातुभवाभावात्प्रासंस्पर्शोऽल-
विबन्धितो नतु कर्माभावादित्यर्थः । अविषयत्वं साधयति । अन्यो
हीति ॥ सुप्तः स्वरूपावस्थस्य कथं प्रच्यवनमित्याशङ्काह । स्वरूपेति ॥

रीरादुत्क्रामत्यतैरेव रश्मिभिर्हृद्माक्रमते स
चेमिति सा होहामीवते स यातत्त्रिष्येकान-
क्षामदादिर्वा गच्छत्येतद्वै खलु कोकदारं वि-

तदा भवन्ति । तस्मादयं करणानां निरोधात्स्वात्मन्येवाव-
स्थितः स्वप्नं न विजानातीति युक्तम् ॥ तत्रैवं सत्यथ यत्र
यस्मिन् काले बलिमानमवलभावं देहस्य रोगादिनिमित्तं
जरादिनिमित्तं वा कृशीभावमेतन्वयनं नीतः प्रापितो देव-
दत्तो सुमूर्षु र्यदा भवतीत्यर्थः । तमभितः सर्वतो वेष्टयित्वा-
ऽऽसीनां आतय आहुर्जानासि मां तव पुत्रम् । जानासि मां
पितरं वेत्यादि । स सुमूर्षु र्यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो-
ऽनिर्गतो भवति तावत्पुत्रादीन् जानाति । अथ यत्र यदै-
तत्क्रियाविशेषणमित्यस्माच्छरीरादुत्क्रामति । अथ तदैतै-
रेव यथोक्ता रश्मिभिर्हृद्माक्रमते यथा कर्मजितं कोकम् ।

अविद्याकामकर्मणां बीजमनाद्युत्थानं तस्य ब्रह्मविद्याख्येनाग्निना
न स्थापे दाहस्तद्विमित्तं सुषुप्तस्य पुनः स्वरूपमप्यवर्णमिति सत्यव्यक्तदेव
व्याचष्टे । आपदिति ॥ कीदृक्तव्यवर्णमित्यपेक्षावाभावात् । बालेति ॥
एतच्च सति सुषुप्तस्य न विदुरित्वादावुदितमिच्छात् । रज्ज्वीजमेति ॥
तेजसा हीति साक्षात्कारेण जीतो हेतुस्तं हेतुं व्याचष्टे । अदेति ॥
तद्व्यापत्तिकार्यमाह । अत इति ॥ कार्यकरणसंयोगाभावफलं दर्शयति ।
तस्मादिति ॥ नाहीरेवं स्तुत्या ताभिर्हृद्गमनं प्रदर्शयितुं अरन्ध्रकान्तं
प्रपन्नमिति ॥ कलेति ॥ तस्मैवाचमाह । एवं सतीति ॥ नाहीनास्यशरीरत्वा
प्रामाण्ये सतीत्यर्थः । ताभिर्हृद्गमनप्रदर्शनमारम्भाच्चोपपद्यते । रीमादी-
त्यादिपदवागन्तुकसर्वनिमित्तसंयुक्तार्थं जरादीत्यादिपदं तु नैव सर्वव-

दुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

मेत्त्व विद्वान् । इतरस्तु विद्वान्वयोक्तसाधनसम्पत्तः । स
 ॐ इत्योक्तादेणात्मानं ध्यायन् यथापूर्वं वा ॥ एवं
 अर्जोऽं वा विद्वांश्चेदितरस्तीर्थङ्केत्यभिप्रायः । मीयते
 प्रमीयते गच्छतीत्यर्थः । स विद्वानुत्कृष्टसिद्ध्यन्वावत्क्षियेन्नानो
 यावता कालेन मनसो क्षयः स्यात्तावता कालेनादित्यं
 गच्छति प्राप्नोति क्षिप्रं गच्छतीत्यर्थो न तु तावतैव काले-
 नेति विवक्षितम् । किमर्थमादित्यं गच्छतीत्युच्यते । एतद्वै
 खलु प्रसिद्धं ब्रह्मलोकस्य द्वारं य आदित्यसेन द्वार-
 भूतेन ब्रह्मलोकं गच्छति विद्वान् । अतो विदुषां प्रपदनं
 प्रपद्यन्ते ब्रह्मलोकमनेन द्वारेणेति प्रपदनम् । निरोधनं
 निरोधोऽस्मादादित्यादविदुषां भवतीति निरोधः ।

सर्वनिमित्तद्योतनार्थमिति भेदः । एतन्नयनमिति क्रियाविशेषणम् ।
 प्रारम्भकस्माद्विधानार्थोऽयमव्ययः । एतदिति क्रियाविशेषणमेतदुक्तमर्थं
 यथा स्यात्तथेत्यर्थः । यथोक्ताभिर्नाडीषु प्रसूताभिरादित्यमण्डलादान-
 ताभिरिति यावत् । कर्माणां जितं वशीकृतं स्वात्मसम्बन्धितामा-
 पादितं लोकमनतिक्रम्य तं मेत्त्व विद्वान् केवलकर्मावान् गच्छतीत्यर्थः ॥
 दङ्करविद्यावतो गतिं दर्शयति । इतरस्त्विति ॥ यथोक्तसाधनं
 दङ्करविद्यानं तेन सम्पन्नो विधिष्ट इत्यर्थः । स ध्यायन् गच्छतीत्युत्तरान-
 सम्बन्धः । यथा पूर्वं स्वप्नावस्थायामिव शरणावस्थायामपीत्यर्थः । वा
 चेति निपातद्वयस्यावधारणरूपमर्थं कथयति । एवेति ॥ उच्छ्वसार्थमाह ।
 अर्जुमिति ॥ वाच्येन द्योतितां विकल्पं दर्शयति । किद्वांश्चेदिति ॥
 यदि विद्वान् प्रमीयते तदोर्ध्वमेव गच्छति । यदि त्वविद्वान् प्रमीयते तदा
 विक्षेपेव गच्छतीति विभागः ॥ किङ्कपङ्कजदेवस्मादित्यमात्रावस्थ-

तदेव श्लोकः शतश्लैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां
मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्द्धमायन्मसृतत्वमेति
विष्वङ्मुन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥ ६ ॥

सौरेण तेजसा देहे एव निरुद्धाः सन्तो मूर्धन्या नाड्या
नोत्क्रमन्त एवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

विष्वङ्मुन्या इति श्लोकादेतस्मिन्न्यथोक्तेऽर्थे एष श्लोको
मन्त्रो भवति । शतश्लैका चैकोत्तरशतं नाड्यो हृदयस्य
मांसपिण्डभूतस्य सन्निव्यः प्रधानतो भवन्ति । आनन्त्या-
देहे नाडीनां तासामेका मूर्धानमभिनिःसृता विनिर्गता
तयोर्द्धमायन् गच्छन्मसृतत्वमसृतभावमेति विष्वङ्मुनाम-
यस्तिर्यग्विस्पर्षिण्य ऊर्द्धगाश्चान्या नाड्यो भवन्ति संसार
गमनद्वारभूता न त्वमसृताय किं तत्तर्ह्युत्क्रमणे एवो-
त्क्रमन्त्यर्थमेव भवन्तीत्यर्थः । द्विरभ्यासः प्रकरणममा-
प्त्यर्थः ॥ ६ ॥

नयैव दर्शयितुमनन्तरवाक्यमादत्ते किं स्यादित्यत आह । अत इति ॥
अविदुषामपि तर्हि प्राप्तानामादिष्वं ततो निरुद्धानां पुनर्ब्रह्मलोक-
प्राप्तिरित्याशङ्काह । सौरेणेति ॥ ५ ॥

देहे निरुद्धानां मूर्धन्यया नाड्या नोत्क्रमणमविदुषामित्यत्र लिङ्गं
दर्शयति । विष्वङ्मुन्या इति । यथोक्तार्थो ॥ नाडीविभागलक्षणः प्रधानान्त
इति विशेषणतः स्पर्शमाह । आनन्त्यादिति । प्रकरणं नाडीविषयं
दहरविद्याविषयं वा ॥ ६ ॥

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्तुर्वि-
शोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यरु-
द्धल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च
लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानम-

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्ममुत्थाय परं
ज्योतीरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति
होवाचैतद्व्यस्तमभयमेतद्ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र कोऽसौ सम्प्र-
सादः कथं वा तस्याधिगमः । यथा सोऽस्माच्छरीरा-
त्ममुत्थाय परं ज्योतीरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।
येन लक्षण्येनाभिनिष्पद्यते स किलक्षण आत्मा । सम्प्र-
सादस्य च देहसम्बन्धीनि रूपाणि ततो यदन्यत्कथं स्वरूपं
इत्येतैर्था वक्तव्या इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । आख्यायिका
तु विद्याग्रहणसम्प्रदायविधिप्रदर्शनार्था विद्यास्तुत्यर्था
च । राजसेवितं पानीयमिति वत् ॥ य आत्माऽपहतपाप्मा

दहरविद्यायामुपास्यस्तुत्यर्थमुक्तमनुवदति । अर्धेति ॥ विवेकान-
न्दार्थमयशब्दार्थो व्याख्यातः । शरीरात्ममुत्थानं तस्मिन्नहंममाभिमान-
त्यागः ॥ स्वरूपं विशिनष्टि । एष इति ॥ उक्तकर्तृत्वमाचार्यस्य
दर्शितमेव ॥ प्राणो वा सम्प्रसादो विज्ञानात्मा वेति संशयात्मुक्तिः ।
तत्रेति । प्रकृतं वाक्यं सुप्रस्यर्थः । तस्य च सम्प्रसादस्य परमात्मविषयं
ज्ञानं क्षेत्रोपायेन भवतीति प्रश्नान्तरमाह । कथं वेति ॥ किन्तस्य पर-
मात्माधिगमेनेत्याशङ्काह । यथेति ॥ तथा तस्याधिगमः कथमिति
सम्बन्धः । अभिनिष्पद्यमानरूपस्य त्वा सविशेषो निर्विशेषो वेति
प्रश्नान्तरं करोति । येनेति ॥ आत्मनो हि सर्वज्ञानन्दैकतानादुर्धा-

तुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिस्वाच ॥ १ ॥
 तदोभये देवासुरा अनुवुषधिरे ते होचुर्हन्त तमा-
 त्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च
 लोकानामोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव देवा-

विजरो विस्त्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिघासः सत्यकामः
 सत्यसङ्कल्पः । वस्योपासनायोपलब्धार्थं हृदययुग्म-
 रीकमभिहितम् । यस्मिन् कामाः समाहिताः सत्या अनृ-
 ताभिधाना अनुपास्तनसहभावि ब्रह्मचर्यं साधनमुक्तम् ।
 उपासनफलभूतकामप्रतिपत्तये च मूर्धन्या नाद्या गति-
 रभिहिता । सोऽन्वेष्टव्यः शास्त्राचार्योपदेशैर्ज्ञातव्यः स
 विशेषेण ज्ञातुमेष्टव्यो विजिज्ञासितव्यः स्वसंवेद्यतामा-
 पादयितव्यः । किन्तस्यान्वेषणाद्विजिज्ञासनाच्च स्यादि-
 त्युच्यते स सर्वांश्च लोकानामोति सर्वांश्च कामान् यस्त-
 म्मात्रानं यथोक्तेन प्रकारेण शास्त्राचार्योपदेशेनान्वेष्य

मराणि रूपाणि दृश्यमानानि शरीरवस्त्वप्रयुक्तानि । तथा च ततः
 शरीरादुपाधेर्यद्व्यक्तस्य स्वकर्म तत्कथं सर्वप्रसाधाऽप्रतिपन्नमस्तीति
 ब्रह्मानरथाह । यद्यथादत्तं चेति ॥ एतेषां प्रश्नानामुत्तरपञ्चमवतारयति ।
 इत्येत इति । प्रजापतेरित्स्मृतिरोचनयोश्च वस्वादरूपा वाऽत्मास्वायिका
 दृश्यते वा किमर्थेत्वायद्याह । आस्वायिका इति । यिष्यस्य विद्या-
 पुरुषे पुरोक्तस्याः स्वयम्प्रदाने च यो विधिः अज्ञानत्वादिप्रकारस्त-
 त्त्वंदर्शनार्थेति सातन् । अथा विद्यायाः पुरुषं स्वीकृत्यं यस्त स्वमदाने
 वज्ञानपात्रे यिष्ये दृश्यते तस्य विधिर्ज्ञानवर्माद्विस्तृतदर्शनार्थेत्तुर्थः ॥
 आस्वायिकायाकात्यर्थान्तरथाह । विद्येति ॥ प्रजाप्रतिज्ञा प्रोक्ता

नामभिप्रवक्ष्यामि विरोचनोऽसुराणां तौ हासंदि-
 दानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः
 ॥ २ ॥ तौ ह हाचिपशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यम्-

विजानाति स्वसंवेद्यतामापादयति तस्यैतत्सर्वलोकका-
 मावाप्तिः । सर्वात्मताफलं भवतीति ह किल प्रजापतिरु-
 वाच । अन्वेष्टव्यो विजिज्ञासितव्य इति चैष नियमवि-
 धिरेव नापूर्वविधिः । एवमन्वेष्टव्यो विजिज्ञासितव्य
 इत्यर्थः । दृष्टार्थत्वादन्वेष्टव्यविजिज्ञासनयोः । दृष्टार्थत्वञ्च
 दर्शयिष्यति नाहमत आभोग्यं पश्यामीत्यनेनासक्तम् । पर-
 रूपेण च देहादिधर्मैरवगम्यमानस्यात्मनः स्वरूपाधि-
 गमे विपरीताधिगमनिवृत्तिर्दृष्टं फलम् । इति नियमाथ-
 तैवास्य विधेयं न त्वग्निहोत्रादीनामिवापूर्वविधित्वमिह
 सम्भवति । तद्वोभय इत्याद्याख्यायिकाप्रयोजनमुक्तम् ॥
 तच्च किल प्रजापतेर्वचनमुभये देवासुराः । देवासा-
 सुराश्च देवासुरा अनु परम्परागतं स्वकर्षणोचरापन्न-

देवैरसुरैश्च प्रार्थिता इन्द्रविरोचनाभ्यां देवासुराधिपतिभ्याम.य.सैन
 मङ्गता प्रेषिता देवराजेन च कथञ्चित्प्राप्ता । तस्यान्वकार्यं विवोति
 तस्याः स्तुत्यर्थाऽऽख्यायित्वार्थः ॥ मङ्गलरूपासितस्य मङ्गलत्वे दृष्टान्तम.ह ।
 राजसेविवर्धति ॥ यस्यासोपाधि सविशेषं चैतन्म तदेव निरुपाधि
 निर्विशेषमिति । सविशेषमिति शब्दोभेदाभिप्रायेण प्रकाशितवाक्यं
 व्याकर्तुमादत्ते । य.य.मेति ॥ तत्र सोऽन्वेष्टव्य इति वाक्ये समन्वयसाह ।
 ममेति ॥ उपासनमपि किमर्थमित्यपेक्षाभावात् । उपसन्मर्थमिति ॥
 तस्यैतत्फलमिति सम्बन्धः । क्वचिन्निर्गुणमित्याह । सर्वलोककामावाप्तिः

षतुस्तौ ह प्रजापतिरवाच किमिच्छन्ताववास्त-
मिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो
विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्य-

मनुबुबुधिरेशुबुहवन्तः । ते चैतत्प्रजापतिवचो दुष्ठा किम-
कुर्वन्वित्युच्यते । ते होचुस्तवन्तोऽन्योन्यं देवाः स्वपरिषद्य-
सुराश्च । हन्त यद्यनुमतिर्भवतां प्रजापतिनोक्तान्तमात्मान-
मन्विच्छामोऽन्वेषणं कुर्मो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च
लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानित्युक्ता इन्द्र एव राजैव
स्वयं देवानामितरान्देवांश्च भोगपरिच्छेदश्च सर्वं
स्थापयित्वा शरीरमात्रेणैव प्रजापतिं प्रत्यभिप्रववाच
प्रगतवान् । तथा विरोचनोऽसुराणां विनयेन सुरवोऽभि-
गन्तव्या इत्येतद्दर्शयति । त्रैलोक्यराज्याच्च गुरुतरा
विद्येति । यतो देवासुरराजौ महार्हभोगार्हौ सन्तौ
तौ तथा गुरुमभ्युपगतवन्तौ । तौ ह किंतासंविदाना-
वेवान्योन्यं संविदमविकुर्वाणौ विद्याफलं प्रत्यन्योन्यमीर्षां

कथमित्याशङ्क्य । सञ्जाततेति ॥ परिच्छेदभ्रमव्यावृत्त्या पूर्वसंख्येया-
वस्थितिरित्यर्थः ॥ प्रजापतिवाक्यात्प्रतीयमानविधिस्वरूपमाह । कन्वे
दव्य इति एवकारव्यावर्त्तनं दर्शयति । नापूर्वविधिरिति ॥ यद्वादेव
विद्योदये तदुत्पत्त्यर्थोऽपूर्वविधिरस्मिहोलादिविधिवच्च सम्भवतीत्यर्थः ।
कथमिह निबन्धविधिरपि स्वादवधार्तविधिवदित्याशङ्क्य । एवमिति ॥
निष्ठाशानसंस्कारप्रावृत्त्यदनात्माभिनिवेशस्य यत्ने प्राप्तौ शास्त्राचार्या-
भ्यामात्मान्मेयत्वेनैव कार्यमिति निबन्ध इत्यर्थः । इतश्च निबन्धविधिरेव

कामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासि-
तव्यः स सर्वांश्च लोकानाम्प्रोति सर्वांश्च कामान्

दर्शयन्तौ समित्पाणी समिद्धारहस्तौ प्रजापतिसकाय-
माजगमनुरागतवन्तौ । तौ ह गत्वा द्वात्रिंशत् वर्षाणि
शुश्रूषापरौ भूत्वा ब्रह्मचर्यमूपतुरपितवन्तौ । अभि-
प्रायश्चः प्रजापतिस्तावुवाच किमिच्छन्तौ प्रयोजन-
मभिप्रेत्येच्छन्ताववास्तुपितवन्तौ युवामितीत्युक्तौ तौ
होचतुः । य आत्मेत्यादि भगवतो वचो वेदयन्ते श्रिष्टा
अस्तनामान् ज्ञातुमिच्छन्ताववास्वेति । यद्यपि
प्राक्प्रजापतेः समीपागमनादन्योन्यभीषायुक्तावभूतां
तथापि विद्याप्राप्तिप्रयोजनगौरवान्तात्परागहेषमोहेषादि-

नापूर्वविधिरित्याह । इदार्थत्वादिति ॥ अन्वेषणविजिज्ञासनाभ्यां
साधनसंज्ञम् । तस्य च विद्याद्वाराऽविद्यानिवृत्तिर्दृष्टमेव फलमन्वयव्यति-
रेकाभ्यां तद्भेदत्वावगमात्तथा च तत्र नापूर्वविधेरवकाशोऽस्तीत्यर्थः ॥
तयोर्दृष्टफलवत्त्वे वाक्ये समनुकूलयति । इदार्थत्वमेति कथमसत्प्रयुक्तेन
पश्यामीति वर्तमानोपदेशे नान्वेषणादेर्दृष्टफलत्वेत्याशङ्क्य देहातिरि-
क्तत्ववादिनां वाक्योत्पत्त्यानादनुमानाच्च अनुव्यत्यदिभ्रमनिवृत्ति-
प्रसिद्धेर्भैवमित्यभिप्रेत्याह । पररूपेणेति ॥ अन्वेषणादेर्दृष्टफलत्वे
फलितमाह । इति नियमार्थेति ॥ अपूर्वविधित्वं तद्विषयत्वमिति यावत् ।
इदमेत्यन्वेषणादेरुक्तिरस्मिन्निहोत्यादिवदन्वेषणादेरत्यन्ताप्राप्तभावस्योक्तत्वा-
दित्यर्थः ॥ इदानीमाख्यायिकां व्याख्यातमाख्यायिका तु विद्यापक्ष-
चक्षुष्यादानविधेः प्रदर्शनार्थेत्यादिनोक्तं आरयति । तद्भेदिति ॥ अवतारि-
ताख्याविकाक्षराणि व्याचष्टे । तद्भेदत्वादिना ॥ किमितोन्मूविरोचनौ
विद्याभिर्भावपि परित्यक्तं परित्यज्य परीरनात्मेण प्रजापतिं प्रगतवन्तौ

यस्मिन्मात्मानेनमहविद्य विज्ञानातीति भगवतो
ब्रह्मो विद्वन्मो तस्मिन्मात्मानाववाप्तमिति ॥३॥ तो ह

दोषावेव भूत्वोषतुर्ब्रह्मचर्यं प्रजापतौ । तेनेदं प्रख्या-
पितमात्मविद्यागौरवं तावेवं तपस्विनौ शुद्धावकल्पायौ
योन्मादुपलब्ध प्रजापतिरवाचाह । य एषोऽक्षिणि पुरुषो
निवृत्तचक्षुर्भिर्बर्द्धितकषायैर्दृश्यते योगिभिर्द्रष्टा । एष
आत्माऽपहतपाप्मादिगुणो यमवोचं पुराऽहं यद्विज्ञाना-
त्सर्वलोककामावाप्तिरेतद्व्यतं भूमाख्यम् । अत एवाभय-
मत एव ब्रह्म दृढतममित्यथैतत्प्रजापतिनोक्तम् । अक्षिणि
पुरुषो दृश्यत इति वचः श्रुत्वा क्वायारूपं पुरुषं जगद्वस्तुः
मृहीत्वा च दृढीकरणाय प्रजापतिं पृथ्वन्ती । अथ

तत्ताह । विनयेनेति ॥ तयोर्वक्त्ररूपगतिवशादेव दर्शितमथान्तरं कथयति ।
मौक्त्येति । विद्येति दशयतीति पूर्वेषु सम्बन्धः ॥ तस्या गुह्यतरत्वे
हेतुमाह । यत इति ॥ अस्मिद् भेलौ तमात्मानं ज्ञातुमिच्छन्नाववाप्त
इति वक्तव्येऽप्यवाप्तमिति प्रजापतिवचोऽनुकर्षणमात्ममिति द्रष्टव्यम् ।
अथ इन्द्रविरोचनयोर्भिषो वैरिणोः कथमेकत्वावस्थानं चिरमासीदि-
त्याशङ्काह । यद्यपीति ॥ देवाद्युरराजयोः स्वभावो वैरिणोरपि विद्या-
र्धित्वेन चिरमेकत्वं ब्रह्मचर्यवासेन सूचितमर्थं दर्शयति । तेनेति ॥ शुद्ध-
कल्पायौ प्रकाशितदोषाविति वाच्यत् । पुरुषो द्रष्टेति सम्बन्धः ॥ अथा-
दर्शदम्भितत्वं दृष्टा दृष्टे नासीत्याशङ्काह । निवृत्तेति । इन्द्रियाणां
विनयेनोपैक्यत्वे हेतुमाह । अदितेति । योगिभिः समाधिनिर्भरम-
र्ददृग्भिर्दिग्भि वाच्यत् । य आत्मैत्यादिवाक्येनात्मैकवाक्यतां दर्शयति ।
इव इति । भूर्भुवश्च या आत्मैकवाक्यत्वं सूचयति । भूमाख्यमिति ।

प्रजापतिरवाच य एषोऽक्षिणि पुत्रयो दंष्ट्रत
एष आमेति होवाचैतद्व्यतसंभवमेतद्व्यतसं

योऽयं ह भगवोऽप्सु परिख्यायते परि समन्ताज्जायते ।
यश्चायमादर्शे आत्मनः प्रतिबिम्बाकारः परिख्यायते ।
खड्गादौ च कतम एष एषां भगवद्भिक्तः किंवैक एव
सर्वेष्विति ॥ एवं पृष्टः प्रजापतिरवाच । एष उ एव दक्ष-
क्षुषि द्रष्टा मयोक्त इति । एतस्मिन्सि कृत्वेषु सर्वेषु मध्येषु
परिख्यायत इति होवाच ॥ ननु कथं युक्तं शिष्ययो-
र्विपरीतग्रहणमनुज्ञातुं प्रजापतेर्विगतदोषस्याचार्यस्य सतः ।
सत्यमेवं नानुज्ञातम् । तथाप्याकन्यध्यापितपाण्ड-
त्यमहन्त्वबोद्धुत्वौ हीन्द्रविरोचनौ तथैव च प्रार्थितौ लोके ।
तौ यदि प्रजापतिना मूढौ युवां विपरीतग्राहिणा-

इति शब्दो वाक्यसमाप्रार्थः । उक्तेऽर्थे वाक्यं पातयति । अथ योऽयमिति ॥
प्रजापतेऽयमब्दः । इतिशब्दः समाप्रार्थः । यश्चक्षुरपलङ्घितो द्रष्टा एव एव
मयोक्तोऽपहृतपाप्मत्वादिधर्मवानात्मा युवाभ्यां पुनरन्यथा न्यङ्गीतमिति
निपातेन सूत्रवत्कृतवान्प्रजापतिरित्यह । एवमिति ॥ प्रजापति-
चेदेवमुक्तवान् कथं तर्हि तयोर्विपरीतं न निवृत्तमित्याशङ्क्यह । एतदिति ॥
ययोक्तवचोक्तं वक्ष्यति यावत् ॥ यत्प्रजापतिना मनसि निहितं
तत्प्रकटीकृतं बोधयति । नन्विति ॥ शिष्टशिष्यगतं विपरीतग्रहण-
माचार्येण बुद्धादुपयुक्तमित्यङ्गीकृत्य प्रजापतेरभिप्रायनाह । सत्यमेव-
मिति ॥ कथं तर्हि तयोर्विपरीतग्रहणमपनेतव्यमित्याशङ्क्यह । न्यङ्गी-
तामिति ॥ तावद्विपरीतमिति शेषः । यकारेण प्रजापदेनदुक्तव्यते ।

योऽयं भगवोऽप्यु परिख्यायते यच्चायमादर्शो
कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परि-
ख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥ ७ ॥

वित्युक्तौ स्यातां ततस्तयोश्चित्तदुःखं स्यात्तच्छान्तिताञ्च
चित्तावसादात्पुनः प्रश्नश्चवर्णनद्वयवधारणं प्रत्युत्साह-
विधातः स्यादतो रक्षणीयौ शिष्याविति मन्यते प्रजा-
पतिः । गृह्णीतां तावत्तदुद्वेगवदृष्टान्तेनापनेष्यामीति
च । ननु न युक्तमेष उ एवेत्युक्तं वक्तुम् । न चावृत्त-
मुक्तम् । कथमात्मनोक्तोऽक्षिपुरुषो मनसि सन्निहिततरः
शिष्यगृहीताच्छायात्मनः सर्वेषांश्चाभ्यन्तरः सर्वान्तर
इति श्रुतेः । तमेवावोचदेष उ एवेत्यतो नावृत्तमुक्तं
प्रजापतिना । तथा च तयोर्विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थं
ह्याह ॥ ७ ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठ इति न्यायेन सर्वेषां गृहावादित्वं स्यादिति शङ्कते ।
नन्विति ॥ प्रजापत्यमात्रमात्रमेव प्रकटयन्निति प्रसङ्गं परिहर्तुं तदेवम-
वृत्तवादित्वं दूषयति । न चेति ॥ तदेवाकाङ्क्षापूर्वकं स्फुरयति ।
कथमभित्यादिना ॥ शिष्याभ्यां गृहीतो योऽयमात्मा ततः सकाशादात्मना
स्वेनैव प्रजापतिनोक्तो योऽन्यच्छ्रुत्पलङ्घितो दृष्टा स मनसि प्रजा-
पतेः सन्निहिततरोऽतः स एव च तेनोक्त इत्यर्थः । इतश्च दृष्टा प्रजा-
पतेर्भनसि सन्निहिततर इत्याह । सर्वेषांश्चेति ॥ प्रजापतेर्भनसि
दृष्टः सन्निहिततरोऽपि कथं तस्य न गृहावादित्वमत आह । तमेवेति ॥
इतश्च प्रजापतेर्न गृहावादित्वमित्याह । तथा चेति ॥ ७ ॥

उदशरावे आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव

उदशरावे उदकपूर्णे शरावादावात्मानमवेक्ष्यानन्तरं यत्तवाऽऽत्मानं पश्यन्तौ न विजानीथस्तन्मे मम प्रब्रूतमाचक्षीयाथामित्युक्तौ तौ ह तथैवोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्रातेऽवेक्षणञ्चक्रतुस्तथा कृतवन्तौ। तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ननु तन्मे प्रब्रूतमित्युक्ताभ्यामुदशरावेऽवेक्षणं कृत्वा प्रजापतये न निवेदितमिदमावाभ्यां न विदितमित्यनिवेदिते चाज्ञानहेतौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति। तत्र कोऽभिप्राय इति। उच्यते। नैव तयोरिदमावयोरविदितमित्याशङ्का माभूच्छायात्मन्यात्मप्रत्ययो निश्चित एवासीत्। येन वक्ष्यति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुरिति। न ह्यनिश्चितेऽभिप्रेतार्थे प्रशान्तहृदयत्वमुपपद्यते। तेन नोचतुरिदमावाभ्यामविदित-

आत्मानमुदशरावेऽवेक्ष्यन्तं तत्तत्त्मानं पश्यन्तौ तावन्नन्तरं यदात्मनो न विजानीथो युवां तन्मे प्रब्रूतमिति दम्बत्वः॥ प्रजापतिवचनमुपक्रमात्कुलं न भवतीति शङ्कते। नन्विति॥ उपक्रममतिक्रम्य ब्रुवाणस्य प्रजापतेरभिप्रायमाह। उच्यत इति॥ तत्र प्रथममिन्द्रविरोचनाभ्यामिदमविदितमिति प्रजापतिं प्रत्यवचने कारणमाह। नैवेति॥ छायात्मनि छायायां तद्गतौ शरीरे चेन्द्रविरोचनयोर्वैधाक्रममात्मधीरियं निश्चिता

आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥१॥ तौ ह
प्रजापतिस्त्वाच साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृ-
तौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेयामिति तौ ह साध्वल-
ङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वो दशरावेऽवेक्षा-

मिति । विपरीतप्राहिणौ च शिष्यावनपेक्षणीयाविति
स्वयमेव पप्रच्छ किं पश्यथ इति । विपरीतनिश्चयाप-
नयाय च वक्ष्यति साध्वलङ्कृतावित्येवमादि । तौ होचतुः ।
यथैवावां हे भगवो लोमन्खादिमन्तौ स्तः । एवमेवेदं
लोमन्खादिसहितजावयोः प्रतिरूपमुदशरावे रभ्याव
इति । तौ ह पुनः प्रजापतिस्त्वाच । छापात्मनिश्चयापन-
याय साध्वलङ्कृतौ यथा स्वगृहे सुवसनौ महार्चदस्त्रप-
रिधानौ परिष्कृतौ छिन्नलोमन्खौ च भूत्वोदशरावे
पुनरीक्षेयायामितीह च नादिदेश यदज्ञातं तन्मे प्रब्रूत-
मिति । कथं पुनरनेन साध्वलङ्कारादि कत्वोदशरावा-
वेक्षणेन तयोऽन्वायात्मग्रहोऽपनीतः स्यात् । साध्वलङ्का-
रसुवसनादीनामागन्तुकानां छायाकरत्वमुदशरावे यथा-

प्राप्तेत्यर्थः । तयोस्तत्वात्मप्रत्ययस्य निश्चितत्वे गमकत्वाद् । वेनेति ॥
प्रव्रजनेऽपि शान्तकृदवयोस्तयोः सत्यप्रत्ययस्य कथं निश्चितत्वमित्या-
शङ्का न कीति ॥ तेन विपरीतप्राहित्वेनेति यावत् । उक्तमन्वहीत्वा
विपरीतं गृहीतवन्तौ तर्हि प्रजापतिभोग्रेक्षणीयौ कुदुहित्वादिद्वयाशङ्का
प्राजापत्यमभिप्रायमाह । विपरीतप्राहिणौ चेति ॥ कथमिदं प्रजापतौ-
रभित्तमिदमधिगतमत आह । विपरीतेति ॥ प्राजापत्ये प्रश्ने देवा-

वृक्काति तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यस्य इति
॥२॥ नौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलकृतौ
सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्व-

शरीरसम्बन्धानामेवमेवं शरीरस्यापि छायाकरत्वं पूर्वं
बभूवेति गम्यते । शरीरैकदेशानाञ्च लोमनखादीनां
नित्यत्वेनाभिप्रेतानामखण्डितानां छायाकरत्वं पूर्वमा-
सीत् । छिन्नेषु च नैव लोमनखछाया दृश्यतेऽतो लोम-
नखादिवच्छरीरस्यागमापायित्वं सिद्धमिति । उदश-
रावादौ दृश्यमानस्य तन्निमित्तस्य च देहस्यानामत्वं सिद्धम् ।
उदशरावादौ छायाकरत्वाद्देहसम्बद्धानङ्गारादिवत् ।
न केवलमेतावदेतेन यावत्किञ्चिदाभीयत्वाभिमतं सुख-
दुःखरागद्वेषमोहादि च । कादाचित्कत्वान्नखलोमादि-
वदनामेति प्रत्येतव्यम् । एवमशेषमिथ्याग्रहापनयनिमित्ते
साध्वलङ्कारादिदृष्टान्ते प्रजापतिनोक्ते श्रुत्वा तथा
कृतवतोरपि छायात्मविपरीतग्रहो नापजगाम यस्मा-

सुरराजयोर्विपरीतग्रहणमनुवदति । तौ हेति ॥ तदपनयनप्रकारं
सूचयति । तौ ह पुनरिति ॥ छायायां तद्धेतौ च देहे तयोरात्मनिश्चयो
यस्तस्य निरासायेति यावत् । इह चेति पर्यायोक्तिः । नादिदेश तत्रयोज-
नाभावादित्यर्थः ॥ उक्तोदाहरणेन छायायां देहे चेन्द्रविरोचन-
योरात्मप्रत्ययो नापनीतो भवतीति शङ्कते । कथमिति ॥ छायायास्तत्का-
रणस्य चागन्तुकत्वादानात्मत्वस्य विवक्षितमित्युत्तरमाह । साध्व-
लङ्कारेति ॥ पूर्वं सुदकादिसम्बन्धावस्थायाश्चिति यावत् । व्यभिचारित्वाच्च
छायातत्कारणयोरेवानात्मत्वमित्याह । शरीरैकदेशानाश्चिति ॥ उपप-

लङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति
होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ
प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥ तौ हान्वेक्ष्य प्रजापतिरवाच

सस्मात्स्वदोषेणैव केनचित्प्रतिबद्धविवेकविज्ञानादिन्द्र-
विरोचनावभूतामिति गम्यते । तौ पूर्ववदेव दृढनिश्चयौ
पप्रच्छ किं पश्यथ इति । तौ तथैव प्रतिपन्नौ यथैवेद-
मिति पूर्ववद्वथा साध्वलङ्कारादिविशिष्टावावां स्व एव-
मेवेमौ छायात्मानाविति सुतरां विपरीतनिश्चयौ बभूव-
तुः । यस्यात्मनो लक्षणं य आत्माऽपहतपाप्मेत्युक्ता पुन-
स्तद्विशेषमन्विष्यमाणयोर्य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत
इति साक्षादात्मनि निर्दिष्टे तद्विपरीतग्रहापनयायोदश-
रावे साध्वलङ्कारदृष्टान्तेऽप्यभिहितमात्मस्वरूपबोधोद्दि-
परीतग्रहो नापगतः । अतः स्वदोषेण केनचित्प्रतिबद्धविवे-
कविज्ञानसामर्थ्याविति मत्वा यथाभिप्रेतमेवात्मानं मनसि
निधाय एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति

त्तिभ्यां सिद्धमर्थं निगमयति । इत्थुदशरावादाविति । न केवलं छाया-
तत्कारणयोरेवानात्मत्वं किन्तु कृत्यायेनाङ्कारादीनां तद्गर्भाणाञ्चात्मी-
यत्वं प्रत्युक्तमिति प्रसङ्गादतिदिशति । न केवलमिति । आत्मत्वाभि-
मतमङ्कारादीति शेषः । मोहादावात्मीयत्वाभिमतमित्यध्याहार्यम् ॥
एतेनेति सूचितमेव हेतुं दर्शयति । कदचित्कत्वादिति ॥ अनात्मे-
त्यनात्मत्वमनात्मीयत्वोपलक्षणार्थम् ॥ तर्हि तयोरेक्येकरीत्या विप-
रीतग्रहणस्यापगतत्वात्किमुत्तरेण प्रजातिवक्ष्येनेत्याशङ्काह । एवमिति ॥
तथैवेत्यस्य व्याख्यानं पूर्ववदिति ॥ यथैवेदमिति प्रतीकग्रहणं तद्व्याचष्टे ।
यथेति ॥ आवां स्व इतीदृशदाहरणं यथैवेति सम्बन्धः । अक्षिवाक्या-

अनुपलभ्यात्मानमनुविद्य द्रुजतो यत एतदुप-
निषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा तेषामभवि-
ष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुरान्

प्रजापतिः । पूर्ववत् । न तु तदभिप्रेतमात्मानम् । य
आग्नेत्याद्यात्मलक्षणश्रवणेनाक्षिपुरुषश्रुत्या चोदशरावा-
दुपपत्त्या च संस्कृतौ तावत् महचनं सर्वं पुनः पुनः
स्मरतः प्रतिबन्धक्षयाच्च स्वयमेवात्मविषये विवेको भवि-
ष्यतीति मन्वानः पुनब्रह्मचर्यादेशे च तयोश्चित्तदुःखो-
त्पत्तिं परिजिहीर्षन् कृतार्थबुद्धितया गच्छन्तावप्युपेक्षि-
तवान्प्रजापतिः । तौ हेन्द्रविरोचनौ शान्तहृदयौ तुष्ट-
हृदयौ कृतार्थबुद्धीव प्रवृजतुरित्यर्थः । ननु शम एव
शमश्चेत्तयोर्जातो विपरीतग्रहो विगतोऽभविष्यत् प्रव-
ब्रजतुर्गतवन्तौ एवं तयोर्गतयोरिन्द्रविरोचनयो राजो-
र्भोगामक्तयोर्यथोक्तविस्मरणं स्यादित्याशङ्क्याप्रत्यक्षं प्रत्यक्ष-
वचनेन तयोश्चित्तदुःखं परिजिहीर्षुस्तौ दूरं गच्छन्ताव-

दुदशराववाक्यात्माध्वलङ्कारवाक्याच्च जायातइतेरन्यतरस्यैवात्मत्वम-
भ्यासादिति भवमातिशयः सुतरामित्युक्तः ॥ प्रजापतिवाक्यसुत्याप-
यति यथेत्यादिना ॥ वाक्यव्याख्यानमतिदिशति । पूर्ववदिति ॥
एवमब्देन तयोरभिप्रेतमेवात्मानं जायातव्यं देहाख्यं च परास्मयं
प्रजापतिरनुमोदितवानित्यशङ्काह । नन्विति ॥ तौ ह शान्तहृदया-
वित्वादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह । आत्मेत्यादीति ॥ संस्कृतौ तावद्भव-
तामिति शेषः । संस्कृतयोरपि तयोरात्मविषये कथं विवेको भविष्यती-
त्याशङ्काह । महचनमिति ॥ उपेक्षायां कारणान्तरमाह । पुनरिति ॥

जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह
मह्य्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानमेवेह मह्य-
न्मात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमञ्चास-

न्वीष्य य आत्माऽपहनपाशेत्यादिवचनवदेतदप्यनयोः
अवशगोचरत्वमेव्यतीति मत्वोवाच प्रजापतिमनुपलभ्य
यथोक्तलक्षणमात्मानमननुविद्य स्वात्मप्रत्यक्षश्चाकृत्वा विप-
रीतनिश्चयौ च भूत्वेन्द्रविरोचनावेतौ प्रवृजतो गच्छेयाताम् ।
अतो यतरे देवा वाऽसुरा वा किं विशेषितेनैतदुपनिषद
आभ्यां या गृहीताऽऽत्मविद्या सेयमुपनिषद्वेषां देवानाम-
सुराणां वा त एतदुपनिषद एवं विज्ञाना एतन्निश्चया
भविष्यन्तीत्यर्थः । ते किं पराभविष्यन्ति त्रेयोमार्गा-
त्पराभूता वहिर्भूता विनष्टा भविष्यन्तीत्यर्थः । स्वगृहं
गच्छतोः सुरासुरराजयोर्योऽसुरराजः स ह शान्तहृ-
दय एव सन् विरोचनोऽसुरास्त्रगाम । गत्वा च तेभ्यो
ऽसुरेभ्यः शरीरात्मबुद्धिर्योपनिषन्तामेतामुपनिषदं प्रो-

किमिति शान्तहृदयत्वं तदहृदयत्वेन व्याख्यायते हृदयगतः शम एव
किं न विवक्ष्यते तत्वाह । नत्विति ॥ यदि प्रजापतिस्त्वावपेक्षितवान्
किमिति तर्हि तौ ह्यान्वीष्येत्त्यादिवाक्यमित्याशङ्क्याह । राज्ञोरिति
प्रजापतिरुवाचेति सम्बन्धः । तर्हि किमिति तावास्तव नोक्तवानि-
त्याशङ्क्याह । प्रत्यक्षवचनेनेति ॥ कर्तृत्वेन सम्बन्धार्थमुक्तमेव पुनरनु-
वदति । य आत्मेति । किमवावूचिवागित्यपेक्षयाह । अनुपल-
भ्येति ॥ यथोक्तं प्रजापतिवाक्यं श्रुत्वापि गच्छतोरिन्द्रविरचनयोर्योर्वि-
रोचनगतमवान्तरविशेषसाह ॥ स्वगृहमिति ॥ पित्रातपोक्तत्वेऽपि

ञ्चेति ॥ ४ ॥ तस्मादप्यदोहाददानमस्य हृधानमय-
जमानमाहुरासुरो वतेत्यसुराणां ह्येषोपनि-
षत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारयेति
संस्कृष्यन्त्येते न ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते
॥ ५ ॥ ८ ॥

वाचोक्तवान् । देहमात्रमेवात्मा पितोक्त इति । तस्मा-
दात्मैव देह इह लोके मह्यः पूजनीयस्तथा परिचर्यः
परिचरणीयस्तथात्मानमेवेह लोके देहं मह्यन् परि-
चरन्धोभौ लोकाववाप्नोतीमश्वासुह । इह लोके परलो-
कयोरेव सर्वे लोकाः कामाद्यान्तर्भवन्तीति राज्ञोऽभि-
प्रायः ॥ तस्मान्तस्मदायोऽद्याप्यनुवर्त्तत इतीह लोक
अददानं दानमकुर्वाणमविभागशीलम् । अथ हृधानं सत्का-
र्येषु अङ्गारहितं यथाशक्ति । अयजमानमयजनस्वभाव-
माहुः । आसुराः सुरः खल्वयं यत एवं स्वभावो वतेति
खिद्यमाना आहुः शिष्टाः । असुराणां हि यस्मादअह-
धानतादिगुणैषोपनिषत् । तथोपनिषदा संस्कृताः सन्तः
प्रेतस्य शरीरं कुणपं भिक्षया गन्धमाल्यान्नादिलक्षणाया

किमस्माभिस्तत्र कर्त्तव्यमित्यशङ्काह । तस्मादिति ॥ तथा पूजनीय-
त्ववदिति यावत् ॥ तथापि प्रार्थिता सर्वलोककामावाप्तिरसिद्धे त्वा-
शङ्काह । इहलोकेति । विरोचनसम्यदावसानवच्छिन्नत्वं दर्शयति ।
तस्मादिति ॥ देहात्मवादस्यासुरत्वादिति यावत् । तत्सम्यदावसेषां
विरोचनप्रवृत्तीनामसुराणां सम्यदायो देहात्मवोपदेशः । किमिदं तत्-

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददश यथैव
खल्वयमस्मिच्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो
भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः
एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति सामे सामः

वसनेन वस्त्रादिप्रकारेणालङ्कारादिकरणेन ध्वजपता-
कादिकरणेनेत्येवं संस्कुर्वन्त्येतेन कुणपं संस्कारेणामुं प्रेत्य
प्रतिपत्तव्यं लोकं जेध्यन्तो मन्यन्ते ॥ ८ ॥

अथ ह किलेन्द्रोऽप्राप्यैव देवान् । दैव्याऽक्रौञ्चादि-
सम्पदा युक्तत्वाद्गुरोर्वचनं पुनः पुनः स्मरन्नेव गच्छन्ने-
तद्वक्ष्यमाणं भयं स्वात्मग्रहणनिमित्तं ददर्श दृष्टवान् ।
उदशरावदृष्टान्तेन प्रजापतिना यदर्धो न्याय उक्तस्त-
देकदेशो मघवतः प्रत्यभादबुद्धौ । येन आयात्मग्रहणे
दोषं ददर्श । कथम् । यथैव खल्वयमस्मिच्छरीरे साध्व-

त्वादिरक्षितमासुरमाहुरित्यपेक्षायामाह । असुराणां हीति ॥
प्रकृतोपनिषत्कार्यं कथयति ॥ तथेति ॥ ८ ॥

एवं विरोचनगतं विशेषं दर्शयित्वा देवराजगामिनं विशेषमाह ।
अथेत्यादिना ॥ इयोस्तुल्यत्वेऽपि प्राजापत्यवाक्यश्रवणे देवराजस्यैव
कथं पथि तदनुसन्धानवृत्तमित्याशङ्क्याह । दैव्येति ॥ स्मरणफलमाह ।
स्मरन्नेवेति ॥ प्रजापतिवचनं स्मरतोऽपि कथमिन्द्रस्य आयात्मग्रहणे
दोषदर्शनमित्याशङ्क्याह । उदशरावेति ॥ यदर्धो देहादेरनात्मत्वज्ञापना-
येति यावत् । कादाचित्कत्वव्यभिचारित्वादिन्यायः । तदेकदेशो व्यभि-
चारिणो नात्मत्वम् ॥ न्यायैकदेशदृष्टिफलमाचष्टे । वेनेति ॥ दोषदर्शन-
मेवाकाङ्क्षादारा स्मरयति । कथमित्यादिना ॥ उदङ्कृते वाक्ये

परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशम-
 न्वेष नश्यति नाऽहमन्न भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥
 स समित्पाणिः पुनरेयाय तः ह मन्त्रापतिः-

लङ्घ्यते छायात्मापि साध्वलङ्घ्यतो भवति सुवसने च
 सुवसनेः परिवृक्ते परिवृक्तः । यथा नखरोमादिदेहा-
 वयवापगमे छायात्मापि परिवृक्तो भवति । नखरो-
 मादिरहितो भवति । एवमेवायं छायात्माप्यस्मिन्-
 शरीरे नखलोमादिभिर्देहावयवत्वस्य तुल्यत्वात् न च चक्षु-
 षोऽपगमेऽन्यो भवति स्वामे स्वामः किलैकनेत्रस्य स्थान-
 त्वेन गतत्वाच्चक्षुर्नासिका वा यस्य सदा स्रवति स स्वामः ।
 परिवृक्णश्चिह्नहस्तश्चिह्नपादो वा । स्वामे परिवृक्णे
 देहे छायात्मापि तथा भवति । तथाऽस्य देहस्य नाशमन्वेष
 नश्यति । अतो नाहमन्त्रास्मिन् छायात्मदर्शने देहात्म-
 दर्शने वा भोग्यं फलं पश्यामीति । एवं दोषं देहे छाया-

विवर्जितमर्थं कथयति । यथेति ॥ परिवृक्तो भवतीत्येतद्वाच्ये । नखेति ॥
 एवमेव देहस्य नखाद्यपगमे छायात्मनोऽपि तदपगमवदित्यर्थः । शरीरे-
 ऽस्मिन्नन्वे सति छायात्माप्यन्यो भवतीति सम्बन्धः । किमिति देहस्यान्वे
 छायात्मनस्तद्विदित्वा शङ्काह । नखरोमादिभिरिति । तैः सह चक्षुरा-
 दीनां तुल्यत्वाद्देहावयवत्वस्य देहे नखाद्यभावे छायायामपि तदभावाभ्यु-
 पगमाद्देहे चक्षुराद्यभावेऽपि छायायां तदभावो युक्त इत्यर्थः ॥ स्वामशब्दस्या-
 पुनस्तत्त्वमर्थं कथयति । स्वामः किलेति ॥ पदार्थसङ्गा वाक्यार्थमाह । स्वाम
 इति ॥ पारतन्त्र्यादनन्तत्वं छायाया दर्शयित्वा तत्रैव हेतुनन्तरमाह ।

यत्न मयवन्त्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरो-
चनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होमाय
यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिंश्चरौरे साध्यलङ्घ्यते

तददर्शने चाध्यवस्य समित्याणिर्ब्रह्मचर्यं वस्तु पुनरेयाय ।
तं ह प्रजापतिरवाच । मयवन् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः
प्रगतवानसि विरोचनेन सार्धं किमिच्छन् पुनरागम
इति । विजानन्नपि पुनः पप्रच्छ इन्द्राभिप्रायाभि-
व्यक्तये । यदेत्य तेन मोपसीदेति यदुत्तथा च स्वाभि-
प्रायं प्रकटमकरोत् । यथैव खल्वयमित्याद्येवमेवेति
चान्वमोदप्रजापतिः । ननु तुल्येऽक्षिपुरुषश्रवणे देह-
च्छायामिन्द्रोऽयहीदात्मेति देहमेव तु विरोचनस्तत्किञ्चि-
मित्तं तत्र मन्यते । यथेन्द्रस्योदयरावादिप्रजापतिवचनं
स्मरतो देवानप्राप्तस्यैवाचार्योक्तबुद्ध्या छायात्मग्रहणं
तत्र दोषप्रदर्शनञ्चाभूत् न तथा विरोचनस्य किन्तर्हि

तथेति ॥ विनाशित्वादियुक्तिदर्शनफलसुपसंहरति । अथ इति ॥
दोषं दृष्ट्वा यथोक्तरीत्या किं कृतवानित्यपेक्षायामाह । इत्येवमिति ॥
सर्वज्ञो हि प्रजापतिरिन्द्राभिप्रायं जानन्नैव किमर्थं प्रकृतवत्पुच्छती-
त्याशङ्क्याह । विजानन्नपीति ॥ आचार्यस्य ज्ञानवतोऽपि शिष्यं प्रत्यभि-
प्रायं विश्लेषेण ज्ञातुं प्रश्नोपपत्तौ दृष्टान्तमाह । यदेत्येति ॥ तथाच
प्रजापतिप्रश्नादुपेक्षेनेति यावत् । इन्द्रविषयः स्वशब्दः । शिष्ययोः
अवस्थासाक्ष्येऽपि प्रतिपत्तिर्वैधव्ये निमित्तं दृच्छति । नन्विति ॥ आचार्य-
मतेऽपि साक्षादपि परिहरति । तमेति ॥ तत्र प्रतिपत्तिविशेषे वे दृष्टा-
नो न निमित्तविशेषं दर्शयति यथेति ॥ आचार्योक्तबुद्ध्या तात्पर्येण

साध्यतद्भूतो भवति सुवसने सुवसनः परि-
ष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्मध्येऽस्यो भवति
स्वामि स्वामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव
शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाऽहमत्र भोग्यं

देह एव त्वात्मदर्शनम् । नापि तत्र दोषदर्शनं बभूव । तद्-
देव विद्याग्रहणसामर्थ्ये प्रतिबन्धदोषादल्पत्ववज्ज्वापेक्ष-
मिन्द्रविरोचनयोश्चायात्मदेहयोर्ग्रहणम् । इन्द्रोऽल्पदोष-
त्वादृश्यत इति श्रुत्यर्थमेव अद्धानतया जग्राहेतरश्चा-
यात्मनिमित्तं देहं हित्वा श्रुत्यर्थं लक्षणया जग्राह प्रजा-
पतिनोक्तोऽयमिति दोषभूयस्त्वात् । यथा किल नीला-
नीलयोरादर्शे दृश्यमानयोर्वाससोर्यन्नीलं तन्महाहं-
मिति छायानिमित्तं वास एवोच्यते न छाया तद्विरो-

प्रजापतिना छायात्मनोक्त इति भ्रान्त्येत्यर्थः । विरोचनस्येन्द्रवच्छाया-
त्मग्रहणमाचार्योक्तबुद्ध्यामाभूदित्याह । न तथेति ॥ कथं तर्हि तस्यात्म-
दर्शनमित्याशङ्क्याह । देह एवेति ॥ आचार्येणात्मादेह एवोक्त इति
बुद्ध्या तत्रैव विरोचनस्यात्मत्वज्ञानमासीदित्यर्थः । इन्द्रस्य छायात्मग्र-
हणे देवानप्राप्नस्यैव मार्गमध्ये दोषदर्शनवद्विरोचनस्यासुरानप्राप्नस्याध्वनि
देहात्मदर्शने दोषप्रदर्शनञ्च न प्रवृत्तमित्याह । नापीति ॥ इष्टान्तेसुक्ता
दार्ष्टान्तिकमाह । तद्वदेवेति ॥ विद्याग्रहणौपायिकस्य सामर्थ्यस्य प्रति-
बन्धभूतो यो रागादिदोषस्तदल्पत्वापेक्षमिन्द्रस्य छायायामात्मग्रहण-
मित्युक्तं व्यक्तीकरोति । इन्द्र इति ॥ यथोक्तदोषभूयस्त्वापेक्षं षष्ठ्युक्तो
विरोचनस्याभिप्रायं इष्टान्तेन दर्शयति । यथेत्यादिना ॥ उक्तमर्थं
बृहदारण्यकश्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति । स्वचित्तेति ॥ देवान्मनुष्यान्सुरांश्च
प्रजापतिना दकारोपदेशसाधारण्येन कृतं तेषां तदीयश्रवणे तस्येऽपि

पश्चामीति ॥२॥ एवमेवैव मभवन्निति होवाचै-
तन्मेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वचाऽपराधि
द्वाचिएषतं वर्षीणीति स हापराधि द्वाचिएषतं
वर्षीण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥ ८ ॥

चनाभिप्रायः । स्वचित्तगुणदोषवशादेव हि शब्दार्थाव-
धारणं तुल्येऽपि अवशे स्थापितम् । दास्यत दत्त दयध्व-
मिति दकारमात्रश्रवणाच्छ्रुत्यन्तरे निमित्तान्यपि तदनु-
गुणान्येव सङ्गकारीणि भवन्ति । एवमेवैव मभवन् सम्यक्
त्वयावगतं न ह्यायात्मेत्युवाच प्रजापतिर्यो मयोक्त आत्मा
प्रकृत एतमेवमात्मानन्तु ते भूयः पूर्वं व्याख्यातमप्यनु-
व्याख्यास्यामि । यस्मात्सकृद्याख्यातं दोषरहितानामवधा-
रणविषयप्राप्तमपि नागृहीतमतः केनचिद्दोषेण प्रति-

तर्थाविशेषावधारणं स्वचित्तगुणदोषवशादेव बृहदारण्यके स्थापितं
तत्रेहापीत्यर्थः । तत्र वा कथं तुल्येऽपि अवशेऽर्थविशेषबुद्धिस्तत्राह
दास्यतेति ॥ अदान्ना हि वयं स्वभावतस्तेन दास्यतेत्यस्मान्प्रति पितो-
क्तवानिति देवानां मतिराविरासीत् । स्वभावतो लुब्धा वयं तेन दत्ते-
त्यस्मान्प्रत्युक्तवान्पितेति अनुव्याप्तां बुद्धिरासीत् । क्रूरा हि वयं
स्वभावतस्तेन दयध्वमित्यस्मान्प्रजापतिः सूचितवानित्युच्यते प्रतिपत्ति-
र्बभूव । तदेवं दकारमात्रश्रवणादात्मचित्तानुरोधेन विचित्रा तेषां
अनीषा प्रवृत्ता तथेन्द्रविरोचनयोरपि भविष्यतीत्यर्थः ॥ अथेन्द्रविरो-
चनयोर्युक्तिर्दर्शनाविशेषादर्थप्रतिपत्तेरप्यविशेषः स्यादिति चेन्नैवाह ।
निमित्तान्वपीति ॥ युक्तिदर्शनान्यपि स्वचित्तगुणदोषात्मत्ववस्तुता-
मेवावगततत्त्वयोस्तदपेक्षं प्रतिपत्तिवैयर्थ्यमविबुद्धमित्यर्थः । इन्द्राभिप्रायं
बध्ना प्रजापतिरनुमोदितवानित्युक्तमिदानीमनुमोदितवाक्यं व्याकरोति ।

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति
 होवाचैतद्वदन्तमभयमेतद्ब्रूतेति स ह शान्तहृदयः
 प्रवव्राज स हाम्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तस्मिन्
 पीदण् शरीरमभं भवत्यनन्धः स भवति यदि
 साममस्रामो न वैपोऽस्य दोषेण दुष्कृति ॥ १ ॥
 न वधेनास्य हन्यते नास्य साम्येण स्रामो म्रन्ति
 त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्प्रपि

बहुप्रहणसामर्थ्यस्वमतस्तत् क्षपणीयं वसापराणि द्वात्रिंशत्
 वर्षाणीत्युक्त्वा तथोपितवते क्षपितदोषाय तस्मै होवाच ॥ ८ ॥

य आम्नाऽपहतपाप्मादिलक्षणो य एषोऽक्षिणीत्या-
 दिना व्याख्यात एष सः । कोऽसौ । यः स्वप्ने महीमानः
 स्यादिभिः पूज्यमानश्चरत्यनेकविधान् स्वप्नभोगाननु-
 भवतीत्यर्थः । एष आत्मेति होवाचेत्यादि समानम् । स हैव-
 सुक्त इन्द्रः शान्तहृदयः प्रवव्राज । स हाम्राप्यैव देवान्
 पूर्णवदस्मिन्नप्यात्मनि भयं ददर्श । कथं तदिदं शरीरं
 यद्यप्यन्धं भवति स्वप्नात्मा योजनन्धः स भवति । यदि

एवमेवेति ॥ इन्द्राभिप्रायविषय एषशब्दः ॥ अतुव्याख्याज्ञानीसुक्तं
 सुत्वा चोक्तानसप्तशतमिन्द्रं प्रप्राह । यस्यादिति ॥ पूर्ववच्छा-
 यात्तदर्शनवदित्यर्थः ॥ अस्मिन्नप्यात्मनीति स्वप्नशरीरार्थः ॥ ८ ॥

आवात्मनः शरीरातुविधावित्पवत् स्वप्नदृक्कदहविधावित्पम् ॥
 यत्र च कथं पूर्णवद्दीपदर्शनमित्याद्यह्य परिहरति । कथमित्यादिना ।
 साम्येण चक्षुरादिगतानवरतसन्धिलग्ननविषयत्वेनेति यावत् । देहदोषे-

रोदितौव नहिमच भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥ स
समित्पाणिः पुनरेयाय त ए ह प्रजापतिरुवाच
भवन्त्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजौः किमिच्छन्पुनरा-
गम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं
भवत्यनन्धः स भवति यदि साममसामो नैवै-
षोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥ न वधेनास्य हन्यते
नाऽस्य साम्येण सामो भ्रन्ति त्वेवैनं विच्छादय-

साममिदं शरीरमसामञ्च स भवति नैवैष स्रग्नामा
ऽस्य देहस्य दोषेण दुष्यति नाप्यस्य वधेन स हन्यते
छायात्मवत् । न चाऽस्य साम्येण सामः स्रग्नामा भवति ।
यदध्यायादावागममात्रेणोपन्यस्तं नास्य जरयैतज्जीर्ण-
तीत्यादि । तदिह न्यायेनोपपादयितुमुपन्यस्तम् । न तावदयं
छायात्मवद्देहदोषयुक्तः किन्तु भ्रन्ति त्वेवैनमेवशब्द इवार्थे
भ्रन्ति वैनं केचनेति द्रष्टव्यम् । न तु भ्रन्त्येवेत्युत्तरेषु सर्व-
स्विवशब्ददर्शनात् । नाऽस्य वधेन हन्यत इति विशेषणात्
भ्रन्ति त्वेवेति चेन्नैवम् । प्रजापतिं प्रमाणीकुर्वतोऽश्रुतवा-

णात्मनो न दोषो भवतीति प्रागेवोक्तं तत्किमर्थमिह पुनरुच्यतेऽत
आह । यदध्यायादाविति । न्यायोऽन्वयव्यतिरेकाख्यः यतद्देहाभिमाने-
हि सत्येव देहधर्मेण संयुज्यत इव दृष्टा स्रग्ने त्वेतद्देहाभिमाना-
भावाच्च तेन संयुज्यत इत्याह । तदिहेति ॥ स्रग्ने दृष्टा चेद्देहदोषेण न
युज्यते कथं तर्हि तत्किन्दोषदर्शनमित्याह आह । न तावदिति ॥ किमि-
त्येवकारो यथान्शुतो न व्याख्यायते तत्राह । नत्विति । इतिशब्दो

न्तीवाऽप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाऽहमच-
भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मवधमिति होवाचैत-

दित्वापादमानुपपत्तेः । एतद्व्यतिरिक्तमित्येताच्चापत्तिवचनं
कथं कथा कुर्वादिन्द्रस्य प्रमाणीकुर्वन् । ननु कथापुरुषे
प्रजापतिनोक्तेऽस्य शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यतीति दोष-
मदधान्तयेहापि स्यात् । नैवम् । कस्माद्य एषोऽक्षिणि पुरुषो
दृश्यते इति न कथायाः प्रजापतिनोक्त इति मन्यते मघ-
वान् । कथमपहतपाप्मादिलक्षणे पृष्टे यदि कथायाः प्रजा-
पतिनोक्त इति मन्यते तदा कथं प्रजापतिं प्रमाणीकृत्य
पुनः अवस्थाय समित्पाणिर्गच्छेत जगाम च । तस्यान्व
कथायाः प्रजापतिनोक्त इति मन्यते । तथा च व्याख्यातम् ।
द्रष्टाक्षिणि दृश्यत इति । तथा विच्छादयन्तीव विद्रावय-
न्तीव तथा च पुत्रादिमरणानिमित्तमप्रियवेत्तेव भवति ।
अपि च स्वयमपि रोदितीव । नन्वप्रियं वेत्तेव कथं वेत्ते-

द्रष्टव्यमित्यनेन सम्बध्यते । देहस्य वधेन नायं दृश्यत इति विशेषणा-
त्त्वतो वधः स्वप्नप्रवृत्तौ नियन्तरो विवक्षितः । कस्मादेवमन्तो न कथामृत
एवेति शङ्कते । नास्तीति ॥ किमयं प्रजापतिमाप्नोषनाम् वा मन्यते ।
यद्यनाम् बुध्यते न तर्हि तं प्रत्युपगतिरिन्द्रस्य विद्यापुरुषार्थं सम्भव-
तीति मत्वाऽऽह । नैवमिति ॥ विकल्पान्तरमाह । प्रजापतिमिति ॥ न
त्वतो वधनं स्वप्नप्रवृत्तौ विवक्षितमिन्द्रस्येति शेषः । उक्तमेव स्मोरवति ।
एतदिति ॥ दृष्टान्तेन शङ्कते । नन्विति ॥ दृष्टान्तं विषयवति । नैवमिति ॥
तद्विषयप्रकारं प्रत्युपगतिं प्रकटयति । कथादिवादिना ॥ इतरेका-
काङ्क्षापूर्वकं प्रपञ्चयति । कथमित्यादिना ॥ कथेन्द्रे दृश्यत इति

न्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसाऽपराणि
 द्वात्रिंशत् वर्षाणीति स हाऽपराणि द्वात्रिंशत्
 वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ४ ॥ १० ॥

वेत्युच्यते । न । अष्टाभयत्ववचनानुपपत्तेः । ध्यायतीवेति
 च श्रुत्यन्तरात् । ननु प्रत्यक्षविरोध इति चेत् । न । शरी-
 रात्मत्वप्रत्यक्षवद्भ्रान्तिरुन्मवात् । तिष्ठतु तावदप्रियवेत्तेव
 न वेति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि । स्वप्नात्मज्ञानेऽपि दृष्टं
 फलं नोपलभ्यत इत्यभिप्रायः । एवमेवैष तवाभिप्रायेति
 वाक्यशेषः । आत्मनोऽष्टाभयगुणवत्त्वस्याभिप्रेतत्वात्
 द्विरुक्तमपि न्यायतो मया यथावन्नावधारयति । तस्मा-
 त्पूर्ववदस्याद्यापि प्रतिबन्धकारणमस्तीति मन्वानस्तत्त्व-

श्रुत्यर्थं गृहीत्वा ज्ञायात्मानमेव गृहीतवानित्युक्तं कथमिदानीमन्य
 धोच्यते तत्राह । तथेति ॥ यथेदं वाक्यमध्युपलक्षितद्रष्टृपरं तथा
 प्रागेव व्यख्यातं न तु स्वप्नद्रष्टरि ज्ञायात्मानोव स्वप्ना विनाशदर्ष्टरि-
 त्यर्थः । यथावदुपगम्य स्वप्नद्रष्टारं भ्रान्तीव तथेति यावत् ॥ इवशब्द-
 माक्षरति । नन्विति ॥ वेत्तृत्वं विकारश्चेदस्त्वत्वं न स्यान्मृदादिव-
 द्दिनाशित्वप्रसङ्गात्तस्मादिवशब्दो युक्त इत्युत्तरमाह । उच्यते इति ॥
 अहं वेद्मितीति विक्रियाश्रयत्वप्रत्यक्षविरोधादिवशब्दो न युक्त इति
 शङ्कते । नन्विति ॥ अध्यसादपि प्रत्यक्षोपपत्तेर्न विकारित्वं सिद्ध्यतीति
 परिहरति । नेत्यादिना ॥ नाहमित्यादि वाक्यमवतारयति । तिष्ठ-
 त्विति ॥ न वेत्त्यप्रियवेत्तैव भवतीत्यर्थः ॥ इदं सर्व्वलोककामावाप्ति-
 लक्षणं विधेये ब्रह्मभावे नाध्याशिकमप्यप्रियवेत्तृत्वादिकमस्ति । तत्पुनर्हृ-
 द्देशेऽप्यागतमतस्त्वदभिप्रायेणाप्रियवेत्तेवं स्वप्नद्रष्टा ॥ न तु मदभिप्राये-
 षेति विशिनष्टि । तथेति ॥ तत्र हेतुमाह । आत्मन इति ॥ वसापरा-

तद्यच्चैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न
विजानात्येष आत्मेति होवाचैतददृष्टतमभयमे-
तद्वद्वेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राथैव
देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेव स सम्प्रत्या-
त्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि
भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र
भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥ स समित्पाणिः

पणाय वसापराणि हात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमित्यादि-
देश प्रजापतिः । तथोषितवते क्षयितकल्मषायाह ॥ १० ॥
पूर्ववदेतन्मेव त इत्याद्युक्त्वा तद्यत्नैतत्सुप्त इत्यादि
व्याख्यातं वाक्यम् । अक्षिणि यो द्रष्टा स्वप्ने च महीयमान-
श्चरति स एषः सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजाना-
त्येष आत्मेति होवाचैतददृष्टतमभयमेतद्वद्वेति स्वाभिप्रेत-
मेव मधवान् । तत्रापि दोषं ददर्श । कथं नाह नैव सुषुप्त-
स्थोऽप्यात्मा खल्वयं सम्प्रति सस्यगिदानीञ्चात्मानं जानाति
नैवं जानाति । कथमयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि
चेति । यथा जाग्रति स्वप्ने वा । अतो विनाशमेवेति

शीत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह । द्विरुक्तमपीति ॥ तथा प्रजापतिवाक्या
दुसारेणेति यावत् ॥ १० ॥

यथापूर्वमेतन्मेव ते इत्याद्युक्त्वा एव स्वप्ने महीयमान
इत्याद्युक्तं तथेहमेतन्मेवेत्युक्त्वा तद्यत्नैतदित्याह । विणिष्टाधिकारिणे
प्रजापतिरिति योजना ॥ व्याख्यातस्यैव वाक्यस्यार्थं सङ्क्षिप्य दर्शयति ।
अक्षिणीति ॥ तत्रापि सुषुप्तदर्शनेऽपीत्यर्थः ॥ तदेव दोषदर्शनं प्रश्नद्वारा

मुनरेयाय तए ह प्रजापतिस्वाच मधवन्ध-
 च्छान्तहृदयः प्राव्राजौः किमिवेकन्पनरागम
 इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एवए
 सम्प्रत्यात्मानं जानात्यमहमस्मीति नो एव-
 मानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाह-
 मच भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥ एवमेवैष
 मधवन्निति होवाच एतन्वेव ते भूयोऽनुव्या-

नाशमेवेति पूर्ववत्तद्वृत्त्यम् । अपीतोऽतिगतो भवति विनष्ट
 इव भवतीत्यभिप्रायः । ज्ञाने हि सति ज्ञातुः सङ्भावो
 गम्यते नाऽसति ज्ञाने । न च सुषुप्तस्थस्य ज्ञानं दृश्यतेऽतो
 विनष्ट इवेत्यभिप्रायः । न तु विनाशमेवाप्तनो मन्यते
 ऽव्यक्ताभयवचनस्य प्रामाण्यमिच्छन् पूर्ववदेवमेवेत्युक्त्वा यो
 मयोक्तस्त्रिभिः पर्यायैस्तमेवैतं नो एवान्यत्रैतच्छादात्त-
 नोऽन्यं कश्चन किन्तर्हि एतमेव व्याख्यास्यामि । खल्वस्तु
 दोषस्तवावशिष्टस्तत्क्षपणाय वसाऽपराण्यन्यानि पञ्चवर्षा-
 णीत्युक्तः स तथा चकार । तस्मै हृदितकषायादिदोषाय
 स्थानत्रयदोषसम्बन्धरहितमात्मनः स्वरूपमपहतपाप्मत्वा-
 दितक्षणां मधवते तस्मै होवाच । तान्येकशतं वर्षाणि

स्फोरयति । कथमित्यादिना ॥ स्वात्मानं न जानातीत्युक्तमेवाकाङ्क्षा-
 दादेषाभिभवति । कथयति ॥ तत्र वैषम्यं दृष्टान्तघातः । ज्ञेयेति ॥
 स्वपरविवेकाभावे दोषघातः । अत इति ॥ ज्ञानोत्पत्तेरन्वयोक्तं कथयति ।
 पूर्ववदिति ॥ ज्ञानो ज्ञानाभावस्य त्वेव विनष्टत्वमित्यादिप्रतीकमभिप्रायं

ख्यास्यामि नो एवान्यचैतच्छादसाऽपराणि पञ्च
वर्षाणीति सहापराणि पञ्च वर्षाणुप्रवास तान्ये-
कशतं सम्पेदुरेतत्तद्यदाङ्कुरेकशतं ह वै
वर्षाणि मधवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास तस्मै
होवाच ॥ ३ ॥ ११ ॥

मधवन्मृत्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना

सम्पेदुः सम्पन्नानि बभूवुः । यदाङ्कुरोके शिष्टा एकशतं
ह वै वर्षाणि मधवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवासेति । तदे-
दात्रिंशतमित्यादिना दर्शितमित्याख्यायिकातोऽपहत्य
मृत्योच्यते । एवन्तु किलैतदिन्द्रत्वादपि गुरुतरमि-
न्द्रेणापि महता यत्नेनैकोत्तरवर्षशतशतायासेन प्राप्त-
मात्मज्ञानमतो नातुः परं पुरुषार्थान्तरमस्तीत्यात्मज्ञानं
स्तौति ॥ ११ ॥

मधवन्मृत्यं वै मरणधर्मीदं शरीरम् । यन्नन्यसेऽव्याधा-
रादिलक्षणः सम्प्रसादलक्षण आत्मा मयोक्तो विनाश-
मेवापीतो भवतीति । मृगु तत्र कारणम् । यदिदं शरीरं

अप्ययति । ज्ञाने हीति ॥ एवकारो यथान्वृत एव किं न स्यादित्याशङ्क्याह ।
न त्विति ॥ पूर्व्वं ब्रह्मचर्य्यादेशाभावे हेतुमाह । स्वल्पत्विति ॥ व्याख्या-
यिकातोऽपहत्य मृतिरसम्भवं किमर्थमित्युपदिशतोऽप्याशङ्क्याह ।
एवम्विति ॥ ११ ॥

कार्यकारणपरिवेष्टितौ विन्यतैजसावुक्तौ । कारणमात्मवद्भूत
प्राप्तो व्याख्यातः ॥ सम्प्रत्यशरीरन्तरेयमुपदेष्टुं शरीरतां निन्दति ।
मधवन्निति ॥ शरीरवदात्मनोऽपि विनाशित्वमवस्थाविशेषे दर्शि-

सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम् न वै सशरी-

अशरीरस्वभावस्यात्मनस्तदेवाऽहं शरीरं शरीरमेव चाह-
मित्यविवेकादात्मभावः सशरीरत्वमत एव सशरीरः
सम्मानो ग्रहः प्रियाप्रियाभ्याम् । प्रसिद्धमेतत्तत्त्व च न वै
सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोर्वाह्यविषयसंयोगवियोग-
योर्निमित्तयोर्वाह्यविषयसंयोगवियोगौ ममेति मन्यमा-
नस्यापहतिर्विनाश उच्छेदः सन्ततिरूपयोर्नास्तीति । तं
पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निवर्त्तता विवे-
कज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः । स्पृशः
प्रत्येकं सम्बध्यत इति । प्रियं न स्पृशत्यप्रियं न स्पृशतीति
वाक्यद्वयं भवति । न ज्ञेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह सम्भाषेतेति
यद्वत् । धर्माधर्माकार्ये हिताहिते यतोऽशरीरता तु
स्वरूपमिति । तत्र धर्माधर्मायोरसम्भवात्तत्कार्यभावो
दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशतः । ननु यदि प्रियम-

मघवाग्निआदिवाक्यं सप्रत्यर्थः । तिस्रान्तया जापत्प्रसुप्तप्रिया-
नन्वयसम्बन्धित्वेनेति यावत् । अस्तत्त्वं बहुभिर्वाजितत्त्वमशरीरत्वं
स्वाभाविकसावयत्वादिराहित्यं आत्मनोऽधिष्ठानमित्यत्र भोगेक्षये-
क्षितपूर्व्यं कृतं भोगावतनं शरीरमिति विषयेष्वर्थास्तद्वा तस्यैवार्था-
न्तरमाह । आत्मनो वेति ॥ अधिष्ठानं जनयितुं क्षयोपशब्देरधिकरणमिति
यावत् ॥ अधिष्ठानशब्दस्यार्थान्तरमाह । जीवेक्ष्येणेति ॥ उत्तरवाक्यत्वं
सशरीरशब्दं व्यापडे । यस्येति ॥ रूढयं वर्ज्यत्वादिविशेषणवदित्यर्थः ॥
तद्यथोक्तं शरीरमधिष्ठितमनेनेति व्युत्पत्त्या तदधिष्ठितशब्दः पुनर-
द्वितीयः ॥ तस्यैव सम्बन्धितमर्थमाह । तद्वानिति ॥ उक्तोऽर्थे विशेषणं

रसः सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्यशरीरं

यशरीरं न स्पृशतीति यन्मववतोक्तं सुषप्तस्थो विनाश-
मेवापीतो भवतीति तदेवेहाप्यपन्नम् । नैष दोषो घर्मा-
धर्मकार्मयोः शरीरसम्बन्धिनोः प्रियाप्रिययोः प्रतिषेधस्य
विवक्षितत्वात् । अशरीरं न प्रियाप्रिये स्पृशत इत्यादि-
श्रुतिः । आगमापार्थिनोर्हि स्पर्शशब्दो दृष्टो यथा शीत-
स्पर्श उष्णस्पर्श इति । न त्वग्नेरुष्णप्रकाशयोः स्वभावभूत-
योरग्निना स्पर्श इति भवति । तथाग्नेः सवितुर्वोष्णप्रका-
शवत्स्वरूपभूतस्यानन्दस्य प्रियस्यापि नेह प्रतिषेधो विज्ञा-
नमानन्दमानन्दो ब्रह्मेति श्रुतिभ्यः । इहापि भूमैव
सुखमित्युक्तत्वात् । ननु भूम्नः प्रियस्यैकत्वेऽसंवेद्यत्वात् ।
स्वरूपेणैव नित्यसंवेद्यत्वान्निर्विशेषतेति नेन्द्रस्य तदिष्टम् ।
नाह खल्वयं सप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो
एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र

पातयति । अशरीर इति ॥ अशरीरस्य कथं सशरीरत्वमित्याशङ्क्याह ।
अशरीरेति ॥ अविवेकतः सशरीरो भवतीति पूर्वेषु सम्बन्धः । यतः
सशरीरोऽतएव प्रियाऽप्रियाभ्यामात्तो वै पुरुष इति योजना ॥
वैश्वदेवार्थमाह । प्रसिद्धमिति ॥ एतच्छब्दार्थमेवोत्तरवाक्यध्याख्यानेन
स्फोरयति । अशरीरस्येति ॥ तौ ममेति सम्बन्धमात्रस्य कृतः स्वस्य तयोः
सन्ततिरूपयोरपहतिर्नास्तीति सम्बन्धः । प्रियाः प्रिययोः स्मारणेन
विनाशोऽस्ति क्षणिकत्वादित्याशङ्क्य सन्ततिरूपयोरित्युक्तम् । इतिशब्दो
वाक्यसमाप्तरर्थः ॥ अत्रत्य देहसम्बन्धद्वारा संसारित्वसङ्गा तस्यैव
विद्यावतो देहनिवृत्तिद्वारेण छक्तिं दर्शयति । तं पुनरिति ॥ छक्ते-

वाच सन्तं न प्रियाप्रिये सृष्टः ॥ १ ॥

भोन्व पश्चामीत्युक्तावात् । तद्दीन्द्रस्वेष्टं यद्भूतानि चाजान
च जानाति । न चाप्रियं किञ्चिद्वेत्ति । स सर्वान्च लोका-
नाप्नोति सर्वान्च कामान् येन ज्ञानेन । सत्यमेतदिष्ट-
मिन्द्रस्वेष्टमानि भूतानि मत्तोऽन्यानि लोकाः कामाश्च सर्वे
मत्तोऽन्येऽहमेवां स्वामीति । न त्वेतदिन्द्रस्य हितम् । हित-
ञ्चेन्द्रस्य प्रजापतिना वक्तव्यम् । व्योमवदशरीरात्मतया
सर्वभूतलोककामात्मत्वोपगमेन या प्राप्तिस्तद्वितमिन्द्राय
वक्तव्यमिति प्रजापतिनाऽभिप्रेतम् । न तु राज्ञो राज्या-
प्रिवदन्यत्वेन । तत्रैवं सति कं केन विजानीयादात्मैकत्वे
इमानि भूतान्ययमहमस्मीति । नन्वस्मिन्पक्षे स्त्रीभिर्वा

युं सि प्रियाप्रिययोर्मिलितयोरेवार्थेऽप्येकैकस्य स्वार्थः स्यादित्युच्यते ॥
सृष्टिरिति ॥ प्रत्येकसम्बन्धमभिनयति । प्रियमिति ॥ समस्ततया सुतस्या-
नेकस्य प्रत्येकं क्रियासम्बन्धे दृष्टान्तमाह । नेति ॥ प्रियाप्रिययोर्द्वौ ज्ञातव्य-
संस्पर्शं पातनिकापूर्वकं कैश्चित्कण्ठावेन दर्शयति । धर्माधर्म्येति ॥
तत्वेत्यशरीराख्यं स्वरूपमुच्यते ॥ प्रियस्वार्थाभावं सुत्वा मोक्षस्वापुमर्थत्वं
यङ्कते । नन्विति ॥ इहापीति उक्तो न्यङ्कते । स्वाभाविकप्रियाप्रिय-
प्रतिषेधदोषांश्चापुमर्थत्वं उक्तोरित्युत्तरमाह । नैव दोष इति ॥ प्रतिषेध-
नेषाभिनयति । अशरीरमिति ॥ कादाचित्कयोरेव प्रियाप्रिययोरेव
निनेष इत्यत्र निबानकमाह । आगमापायिनोरिति ॥ कादाचित्कत्वे
स्वार्थवद्बन्ध स्यात्तन्वेतच्छब्देऽस्तीत्याह । न त्विति ॥ आत्मनि तर्हि
कादाचित्कमेव प्रियमिति तन्मात्रप्रतिषेधात्तदवस्थमपुमर्थत्वमित्याह ॥
तन्वितुरिति ॥ भूमविद्यालोचनायाकपि सुखमात्रस्यात्मनि न प्रतिषेधो-
ऽस्तीत्याह । इहापीति ॥ तथापि विषयविषयीभावेन भेदाभावात्तदवस्थ-

यानैर्वा स यदि पितृलोककामः स एकधा भवतीत्याद्यै-
 श्वस्यैश्वर्ययोन्युपपन्नाः । न सर्वात्मनः सर्वफलसम्बन्धो-
 पपत्तेरविरोधात् । अद इव सर्वघटकरककुण्डाद्याप्तिः ।
 ननु सर्वात्मत्वे दुःखसम्बन्धोऽपि स्यादिति चेन्न । दुःखस्या-
 प्यात्मत्वोपगमादविरोधः । आत्मन्यविद्याकल्पनानिमित्ता-
 न्नि दुःखानि रज्ज्वामिव सर्पादिकल्पनानिमित्तानि ।
 सा चाविद्या शरीरात्मकत्वस्वरूपदर्शनेन दुःखनिमित्तो-
 च्छिन्नेति दुःखसम्बन्धाशङ्का न सम्भवति । शुद्धसत्त्व-
 सङ्कल्पनिमित्तानान्तु कामानामीश्वरदेहसम्बन्धः सर्व-
 भूतेषु मानसानां पर एव सर्वसत्त्वोपाधिद्वारेण भोक्तेति
 सर्वाविद्याकृतसंव्यवहाराणां पर एवात्मासदं नान्योस्तीति

मपुरुषार्थत्वमिति शङ्कते । नन्विति ॥ भेदो न पुमर्थत्वयोगो केवलव्यति-
 रेक्यभावात्सुखसाक्षात्कारस्तु पुरुषार्थः ॥ स स्वाभेदेऽपि भिद्यते इत्या-
 शङ्काह । स्वरूपेणेति ॥ आत्मनि विशेषज्ञानराहित्यमिन्द्रिय नेष्ट-
 मित्वत्वे हेतुमाह । नाहेति ॥ किन्तर्हि इन्द्रियेष्टमित्याशङ्काह । तद्वीति ॥
 येन ज्ञानेनाप्नोति तदिष्टमिन्द्रियेति पूर्वेषु सम्बन्धः । किमिदं
 विशेषविज्ञानमिन्द्रियेष्टमित्युच्यते किंवा हितमिति विवक्ष्यते तत्वाद्य-
 मङ्गीकरोति । सत्यमिति ॥ द्वितीयं दूषयति । न त्विति ॥ द्वितीयाह
 भयं भवतीत्यादिश्रुतेरित्यर्थः ॥ तथापीष्टमेवेन्द्राय प्रजापतिनोपदेष्टव्य-
 मित्यशङ्काह । हितमेवेति ॥ किन्तर्हि तस्य हितमिति चेत्तदाह ।
 व्योमवदिति ॥ वक्तव्यमिति सम्बन्धः ॥ हितमेव न त्वमिष्टमिति स्थिते
 फलितमाह । तत्रेति ॥ सर्वेषां भूतानां लोकानां कामानाश्चात्मा सच्चि-
 दानन्दमात्मन् । तद्रूपत्वं चेनुक्तस्येष्ट्यते कथं तर्हि तस्यैश्वर्ययोन्युतो
 निर्व्यङ्ग्योति चोदयति । नन्विति ॥ सगुणविद्यावतां यदैश्वर्यं तच्चि-
 र्गुणविद्यासुखार्थं सङ्कीर्त्तते ॥ ब्रह्मीभूतस्य उक्तस्य सगुणविद्याया अपि-

वेदान्तसिद्धान्तः । य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत इति
 छायापुरुष एव प्रजापतिनोक्तः सप्रसुप्तयोश्चान्य एव ।
 न परोऽपहतपाप्मत्वादिलक्षणो विरोधादिति केचि-
 न्नन्यन्ते । छायाद्यात्मनाञ्चोपदेशे प्रयोजनमाचक्षते ।
 आदावेवोच्यमाने किल दुर्विज्ञेयत्वात्परस्यात्मनोऽत्यन्त-
 वाह्यविषयासक्तचेतसोऽत्यन्तसूक्ष्मवस्तुश्रवणे व्यामोहो मा-
 भूदिति । यथा किल द्वितीयायां सूक्ष्मं चन्द्रं दिदर्श-
 यिषुर्दृष्टं कश्चित्प्रत्यक्षमादौ दर्शयति । पश्चात्सुमेष चन्द्र
 इति । ततोऽप्यन्यं गिरिमूर्द्धानं चन्द्रसमीपस्थमेष चन्द्र
 इति । ततोऽसौ चन्द्रं पश्यति । एवमेतद्य एषोऽक्षिणीत्या-
 द्युक्तं प्रजापतिना त्रिभिः पर्यायैर्न पर इति । चतुर्थे तु
 पर्याये देहान्मर्त्यात्सुमुल्यायाऽशरीरतामापन्नो ज्योतिः-

प्रत्यग्भूतत्वात्फलस्य तत्रोपचरितं युक्तत्वादिति परिहरति । नेत्या-
 दिना ॥ सर्वात्मने निन्दापि प्राप्नोतीति शङ्कते । नन्विति ॥ दुःखस्य
 दुःखत्वाभाववत्तस्यात्मा विद्वानपि दुःखो भविष्यतीति समर्थते । न
 दुःखस्येति ॥ तर्हि दुःखिनामात्मा मुक्त इति दुःखी स्यात्तत्वाह । आत्म-
 नीति ॥ न तावदात्मनः स्वभावतो दुःखित्वं किन्त्वाविद्यकम् । सा च
 मुक्तस्य दग्धत्वादप्रसङ्गिरित्यर्थः । तर्हि विद्याया दग्धायामविद्यायां
 तदध्यारोपितमैश्वर्यमपि ईश्वरस्य सगुणविद्याफलभूतं तद्दग्धमेवेति कथं
 स्तुत्यर्थमिह तदुपदेशसिद्धिरित्यायङ्ग्याह । शुद्धेति ॥ शुद्धं सत्त्वं रजस्तमो-
 श्यामलसृष्टं तस्मान्मायैकदेशाज्जाताः सङ्कल्पा निमित्तानि येषां कामा-
 नामैश्वर्यभेदानां ते तथोक्तास्तेषां सर्वेषु भूतेषु विषयेषु मनोमात्रेण-
 श्वराभिधानरूपेण सिद्धानामीश्वराख्येन स्वभावेनाभिसम्बन्धो मायाव-
 स्यायां सिद्ध्यतीत्यर्थः । ननु जीवानामेवाविद्यातत्कार्यसम्बन्धो नेश्वर-
 स्येति चेष्टेत्याह । पर एवेति ॥ चतुर्थेऽपि पर्याये तु त्वमर्थानुवादेन तस्य

स्वरूपम् । यस्मिन्नुत्तमपुरुषे क्वादिभिर्जनन् प्रीतिम-
माणो भवति स उत्तमपुरुषः पर उक्त इति आहुः ।
माद्यंरमणीया तावदियं व्याख्या श्रोतुम् । न त्वर्थाः स्व प्रत्य-
स्यैवं सम्भवति । कथमक्षिणि पुरुषो दृश्यत इत्युपन्यस्य
शिष्याभ्यां छायात्मनि गृहीते तयोस्तद्विपरीतग्रहणं मत्वा
तदपनयायोदशरात्रोपन्यासः । किं पश्यथ इति च प्रश्नः ।
साध्वलङ्कारोपदेशश्चानर्थकः स्यात् । यदि छायात्मैव प्रजा-
पतिनाऽक्षिणि दृश्यत इत्युपदिष्टः । किञ्च यदि वा तेन स्वय-
मुपदिष्टग्रहणस्याप्यपनयनकारणं वक्तव्यं स्यात् । स्व प्रसुप्त-
मात्मग्रहणयोरपि तदपनयनकारणं च स्वयं ब्रूयात् । न
चोक्तं तेन मन्यामहे । नाक्षिणि छायात्मा प्रजापतिनोप-
दिष्टः । किञ्चाप्यदक्षिणि दृष्टा चेदृश्यत इति उपदिष्टः

तदर्थात् विधेयमिति स्वाभिप्रायेण प्रजापतिवाक्यं व्याख्यातम् । सम्प्रति
स्वयूच्यन्तस्तुत्यापयति । य एव इति ॥ प्रथमपर्यायस्य छायात्मवर्हितीय-
पर्याययोरपि विज्ञानात्मविषयत्वमित्याहुः । स प्रेति ॥ अन्य एव परस्मा-
दुक्त इति सम्बन्धः ॥ चतुर्थपर्यायवत्पर्यायत्वयेऽपि परमात्मैव कक्षा-
द्योच्यते । तन्माहुः । न पर इति ॥ अपहृतपाप्मात्वादेरवस्थावत्त्वस्य च
मित्रो विरोधो हेत्वर्थः । नन्वान्तिमे पर्याये परस्मोपदेशो युज्यते ।
तज्ज्ञानस्य सकृत्कलत्वात्किमिति पूर्वेषु पर्यायेषु छायाद्वो निर्दिश्यन्ते
तत्फलभावादत आहुः । छायाद्यात्मनाच्चेति ॥ तत्र प्रथमं छायात्मनो-
पदेशस्य प्रयोजनमाहुः । आदांनेवेति ॥ परस्मानिस्त्वप्यत्वेन दुर्विज्ञेयत्वा-
त्तद्विज्ञेयादावुच्यमाने इति तस्यापि सूक्ष्मस्य अवयवेऽपि श्रोतुरनात्म-
निष्ठस्य किल व्याप्तेरुक्तः स्यात् आभूदिति पृथक्छायात्मोपदेशः कृत इति
सम्बन्धः ॥ सत्रसुप्तयोर्विज्ञानात्मोपदेशस्य प्रयोजनं दर्शयन्नङ्गमर्थं दृष्टा-

स्यात्तत इदं युक्तम् । एतन्त्रेव त इत्युक्त्वा स्वप्नेऽपि द्रष्टुरेवो-
पदेशः । स्वप्ने न द्रष्टोपदिष्ट इति चेन्नापि रोहितीवा-
प्रियवेत्तेवेत्युपदेशात् । न च द्रष्टुरन्यः कश्चित्स्वप्ने महि-
मानश्चरति । अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिरिति न्यायतः
श्रुत्यन्तरे सिद्धत्वात् । यद्यपि स्वप्ने सधीर्भवति तथापि न
धीः स्वप्नभोगोपलब्धिं प्रति करणत्वं भजते । किन्तर्हि
पटच्चित्रवज्जाग्रहासनाश्रया दृश्यैव धीर्भवतीति । न द्रष्टुः
स्वयं ज्योतिष्टुबाधः स्यात् । किञ्चान्यत् । जाग्रत्स्वप्नयो-
र्भूतानि चात्मानं च जानातीमानि भूतान्ययमहमस्मीति
प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधो युक्तः स्यान्नाह खल्वयमित्यादि ।
तथा चेतनस्यैवाविद्यानिमित्तयोः सशरीरत्वे सति

न्तेन स्पष्टयति । यथेत्यादिना ॥ इतिशब्दस्तिङा सम्बध्यते ॥ पर्यायान्तरस्य
तात्पर्यमाह । चतुर्थे त्विति ॥ मरणधर्माद्देहात्पृथग्भूत्वा ज्योतिः-
स्वरूपमशरीरत्वं प्राप्तो यद्यपि चतुर्थे पर्याये कथ्यते तथापि कथमसौ
परमात्मा स्यादित्याशङ्काह । यच्चिच्छितिः ॥ स रुक्मसादो यो विद्वान्
कलत्रेन विवर्क्षितः किमिदं व्याख्यानं शब्दानुसारि किंवाऽर्थानुसारीति
विकल्पप्राप्त्यसङ्गीकरोति । सत्यमिति ॥ द्वितीयं दूषयति । न त्विति ॥
असम्भवभेदाकाङ्क्षाद्वारा स्फुटयति । कथमित्यादिना ॥ यद्याद्ये पर्याये
आयात्मोपदिश्यते तर्हीन्द्रविरोचनयोः सस्यदर्शित्वादिपरीरतपह्वापो-
हार्थं प्रजापतेरायासो दृष्टा स्यात् । तेन नेदं व्याख्यानसर्षानुसारी-
त्यर्थः इतश्च नाद्ये पर्याये आयात्मोपदेशोऽस्तीत्याह । किञ्चेति ॥
प्रजापतिनोपदिष्टस्यापि आयात्मनो ग्रहणं न गृह्यतीत्याशङ्का हेतुनान्न
स्पष्टयति । यदीति ॥ तेन आयात्मोपह्वापनयकारणवचनेनैति यावत् ।
तेन तत्प्रजापतिनेत्येकस्तच्छब्दो योज्यः ॥ इतश्च प्रथमे पर्याये द्रष्टुरेवोप-

प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्तीत्युक्त्वा तस्यैवाशरीरस्य सतो
ऽविद्यायां सत्यां सशरीरत्वे प्राप्तयोः प्रतिषेधो युक्तोऽशरीरं
बाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत इति । एकवाक्या
स्वप्नबुद्धान्तयोर्महामत्स्यवदसङ्गः सशरीरतीति युक्तान्तरे
सिद्धम् । यस्मिन् सत्प्रसादः शरीरात्मबुद्ध्यै यस्मिन्
स्वप्नादिभीरममाणो भवति सोऽन्यः सत्प्रसादादधिकरण-
निर्दिष्ट उत्तमः पुरुष इति । तदप्यसत् । चतुर्थेऽपि पक्षां ये
एतन्मेव त इति वचनात् । यदि ततोऽन्योऽभिप्रेतः
स्यात्पूर्ववदेतन्मेव त इति न ब्रूयान्मृषा प्रजापतिः ।
किञ्चान्यत्तेजोबन्धादीनां स्वष्टः सतः स्वविकारदेहे शुद्धे
प्रवेशं दर्शयित्वा प्रविष्टाय पुनस्तत्त्वमसीत्युपदेशो व्यपा

देशो न जायापुरुषस्येत्याह । किञ्चान्यदिति ॥ एतच्छब्देन सन्निहिताव-
लम्बिना जायात्मानमनुकल्प्य स्वप्ने द्रष्टुर्लक्ष्यः प्रजापतेर्दृष्ट्वावादिष्व
प्रसज्येत । तथा च प्रथमेऽपि पक्षे द्रष्टव्योपदिष्ट इत्यर्थः ॥ स्वप्नावस्थः
विशिष्टस्य स्थानान्तरे बाध्यत्वाच्च तत्र द्रष्टुर्लक्ष्योऽस्तीति शङ्कते । स्वप्न इति ॥
अनुभवानुसारेणोत्तरमाह । नेत्यादिना ॥ किञ्च प्रकाशकारणानामुपरमे
यः प्रकाशः स नैसर्गिक इति न्यायेन प्रतीचः स्वयं ज्योतिष् बृहदार-
ण्यके स्वप्नावस्थामान्वित्युक्तं तत्र तत्र द्रष्टुर्लक्ष्यः सिद्धतीत्याह । न
चेति ॥ सूर्यादीनामुपरमे यः प्रकाशो दृश्यमानः स नैसर्गिक इत्य-
युक्तम् । स्वप्नेऽप्यनःकरणस्य सत्त्वादित्याह । यद्यपीति ॥ करणत्वा
भावे हेतुं प्रवृत्तिः । किन्तुहीति ॥ नीलपीतादिजायद्वासना-
भिर्विवर्त्तमानाः साक्षिण्यो वेदतामापद्यन्ते । तथाच पदे
चित्तवद्विचित्त वाचनामवचेतसः साक्षिणमव्यक्ताच्च स्वप्नोपलब्धौ
करणं भवतीति तद्द्रष्टुः स्वयं ज्योतिष् न्यायसिद्धमित्याह ।

प्रसज्येत । तस्मिंस्त्वं स्यादिभी रन्ता भविष्यतीति युक्त उप-
 देयोऽभविष्यद्यदि सम्प्रसादादन्य उत्तमः पुरुषो भवेत् ।
 तथा भूत्याहमेवेत्यादिभ्यामेवेदं सर्वमिति नोपसक्तह-
 रिष्यद्यदि भूमा जीवादभ्योऽभविष्यत् । नान्योऽतोऽस्ति
 द्रष्टेत्यादिभ्यन्तराह । सर्वश्रुतिषु च परस्मिन्मात्राशब्द-
 प्रयोगो नाभविष्यत्प्रत्यगात्मा चेत्सर्वजन्तूनां पर आत्मा
 न भवेत् । तस्मादेक एवात्मा प्रकरणी सिद्धः । न चात्मनः
 संसारित्वम् । अविद्याभ्यस्तत्वादप्राप्तिं संसारस्य । न हिरज्जु-
 शुक्तिकागनादिषु सर्परजतमलादीनि मिथ्याज्ञानाभ्य-

पेति ॥ प्रासङ्गिकं हित्वा द्रष्टृवापदिष्टः ॥ स्वप्नावस्थाव्याप्तित्वत्वं
 हेत्वन्तरमाह । किञ्चेति ॥ तथाच जाग्रदवस्थायांमिव स्वप्नेऽपि द्रष्टृवो-
 पदिष्ट इति शेषः ॥ इतश्च द्रष्टुरवोपदेशः स्वप्नदशाव्याप्तित्वाह । प्राप्ता-
 विति ॥ न केवलसुप्तसौषुप्तौ निषेधो निषेध्यप्राप्तिप्रापेक्षत्वादवस्थाद्वये
 द्रष्टुरपदेशमाकाङ्क्षति किन्तु तुरीयगतो निषिद्धोऽपि निषेध्यमाकाङ्क्ष-
 वस्थाद्वये द्रष्टुरपदेशमाकाङ्क्षतीत्याह । तथा चेति ॥ निषेधस्य प्राप्तिप्रापे
 क्षत्वात्प्रकृतस्यैव द्रष्टुरविद्यानिदाने सशरीरत्वे तन्निमित्तयोः स्थान-
 ह्यगतयोर्न प्रियाप्रिययोरपहृतिरस्तीति न ह वै सशरीरस्येत्यादिनो-
 क्तसशरीरत्वे प्राप्तयोः प्रियाप्रिययोस्तस्यैवावस्थाव्याप्तीतस्य सत्त्वां
 विद्यायांशरीरमित्यादिना प्रतिषेधो युक्त इति योजना ॥ स्वप्ने द्रष्टु-
 रूपदेशे हेत्वन्तरमाह । एकमेति ॥ चतुर्थपर्यायस्य सौषुप्तादर्थान्तर-
 विषयत्वसुप्तमनुभाष्य दूषयति । यज्ञोक्तमित्यादिना ॥ तदेव व्यतिरेकद्वारा
 स्फोरयति । वदीति ॥ अधिकरणाधेयभावेन भेदः सत्त्वो नास्तीत्यत्र
 हेत्वन्तरमाह । किञ्चान्यदिति ॥ जीवपरयोर्भेदस्य षष्ठप्रपाठकविरोधवत्
 सप्तमप्रपाठकविरोधोऽपि स्यादित्याह । तथेति ॥ बृहदारण्यकश्रुत्यालोच-
 नायात्मपि जीवेन्नभेदो न सम्भवतीत्याह । नान्य इति ॥ इतश्च जीव-

स्थानि तेषां भवन्तीति । एतेन सशरीरस्य प्रियाप्रिययो-
रपहतिर्नास्तीति व्यख्यातम् । यच्च स्थितमप्रियवेत्तेति ना
प्रियावेत्तैवेति सिद्धम् । एवञ्च सति सर्वपर्यायेऽप्येतद्व्य-
मभयमेतद्व्यतिष्ठति प्रजापतेर्वचनम् । यदि वा प्रजापति-
च्छब्दरूपायाः श्रुतेर्वचनं सत्यमेव भवेत् । न च तत्कु-
तर्कबुद्ध्या च्छपाकर्तुं युक्तम् । ततो गुरुतरस्य प्रमाणान्तर-
स्थानुपपत्तेः । ननु प्रत्यक्षं दुःखाद्यप्रियवेत्तृत्वमर्थमिचा-
र्यनुभूयत इति चेन्न । जरादिरहितो जोर्षोऽहं जातोऽह-
मायुष्मान् गौरः छशो ज्ञत इत्यादिप्रत्यक्षानुभववन्त-

परयोर्भेदो नास्तीत्याह । सर्वश्रुतिष्विति ॥ श्रौतमर्थसुपसंहरति ।
तस्मादिति ॥ आत्मैक्ये परस्यैव संसारित्वं सर्वदेहेषु स्यादिति चेन्नोत्तराह ॥
न चेति आरोपितसंसारित्वं वस्तुतो नात्मन्यस्तीत्येतद्वृष्टानेन स्पष्ट-
यति । न हीति ॥ मिथ्या च तदज्ञानञ्चेति मिथ्याज्ञानम् । तेनाध्यस्ता-
न्यविद्यमानान्येव विद्यमानवत्प्रतीतिमापादितानीति यावत् । न ह वै
सशरीरस्येत्यादि वदता वास्तवत्वं प्रियाप्रियसम्बन्धस्य विवक्षितमिति
शङ्कासक्तन्यायातिदेशेन निरस्यति ॥ एतेनेति ॥ आत्मनि संसारस्य
प्रसङ्गिर्नेति यावत् । यावदध्यासभावित्वं प्रियाप्रिययोरपहृत्यभावो न
वास्तवत्वं शरीरसम्बन्धस्यैव प्रियाप्रियमूलस्य दुर्निर्हृतत्वादित्यर्थः ॥
अप्रदृष्टा खल्वप्रियवेत्तैव भवति न त्वप्रियवेत्तैवेति यत्पूर्वत्वं स्थितं
तत्त्वज्ञं साभान्तरमाह । एवञ्चेति ॥ प्रजापतेर्वचनं कथं भवेदिति सम्बन्धः ।
अपौरुषेयां श्रुतीकृतः प्रजापतेर्वचनं सावकाशमित्याशङ्क्याह । यदि
चेति ॥ सुखादयः सामान्याः गुणत्वाद्भूपादिवदित्यनुमानात्तदाश्रयः
परिशेषादात्मा भविष्यतीति वैशेषिकादितर्कविरोधादसत्त्वं श्रुतेर्वच-
नमित्याशङ्क्याह । न चेति ॥ सुखादीनामुपाधिधर्मत्वेन सिद्धसाम्य-
व्याख्यासि श्रौतवचसो बाधकमित्यर्थः ॥ प्रत्यक्षमिति शङ्कते । नन्विति ॥

दुपपत्तेः । सर्वमध्येतत्त्वमिति चेदस्यैवैतदेवं दुरव-
गमं येन देवराजोऽप्युदयरावादिदर्शिता विनाशयुक्तरपि
मुमोहैवात्र विनाशमेवापीतो भवतीति । तथा विरोचनो
महामात्रः प्राजापत्योऽपि देहमात्रात्मदर्शनो बभूव ।
तथेन्द्रस्यात्मविनाशभयसागरे एव वैनाशिकाः न्यमज्जन् ।
तथा साक्षाः दृष्टारं देहादिव्यतिरिक्तमवगम्यापि
त्यक्तागमप्रमाणत्वात् न्यत्युविषय एवान्यत्वदर्शने तस्युः ।
तथाऽन्ये काणादादिदर्शनाः कषायरक्तमिव क्षारादिभि-
र्वस्त्रं नवभिरात्मगुणैर्गुक्तामात्मद्रव्यं विशोधयितुं प्रवृत्ताः ।
तथाऽन्ये कर्मिणो वाच्यविषयापहतचेतसो वेदप्रमाणा
अपि परमार्थसत्यमात्मैवत्वं विनाशमिवेन्द्रवन्दन्यमाना
घटीयन्त्रवदारोहावरोहप्रकारैरनिशं बन्धुमन्ति । कि-
मन्ये क्षुद्रजन्तवो विवेकहीनाः स्वभावत एव बहिर्विष-
यापहतचेतसः । तस्मादिदं त्यक्तसर्ववाच्येष्वैः अनन्यश-

तस्याभासत्वाच्च बाधकत्वमिति परिहरति । नेत्यादिता ॥ दृष्टान्तोऽपि
सम्यतिपक्षो न भवतीति शङ्कते । सर्वमिति ॥ जरादेः सत्त्ववचनं त्वदी-
यमेवमस्येवेत्यङ्गीकरोति । अस्त्विति ॥ अङ्गीकारे हेतुमाह । दुरवग-
ममिति ॥ अधिकारिणः प्रमितिजनको वेद इति न्यायाप्तादयानाम-
नधिकारिणां दुर्ज्ञानमात्मतत्त्वम् । अतोऽस्त्वैव जरादिसत्त्वत्ववचनम् ।
न तावता वस्तुव्यतिरिक्त्यर्थः । दुरवगमत्वे लिङ्गमाह । येनेति ॥ अत्रे-
त्वात्मतत्त्वोक्तिः ॥ तस्य दुर्ज्ञानत्वे लिङ्गान्तरमाह । तथेति ॥ वैनाशिक-
भ्यान्निरप्यात्मनो दुर्ज्ञानत्वं गमयतीत्याह । तथेन्द्रस्वेति साक्ष्यभ्यान्निरपि
दुर्ज्ञानत्वमात्मनो ज्ञापयतीत्याह । तथा साक्षा इति ॥ तार्किकभ्या-
न्निरपि तस्य दुर्पक्षत्वे गमयतीत्याह । तथान्य इति ॥ बुद्धिस्तुदुःखेऽप्या-

अशरीरोवायुरभविद्युत् स्तनयितुरशरीराण्ये-
तानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्ममुत्थाय परं

रणैः परमहंसपरिव्राजकैरत्याश्रमिभिर्वेदान्तज्ञानप्ररै-
रेव वेदनीयं पूज्यतमैः । प्रजापत्यक्षेमं सम्प्रदायमनुसर-
द्भिरुपनिबद्धं प्रकरणचतुष्टयेन । तथाऽनुशासन्यद्यापि ते
एव नान्य इति । तत्राशरीरस्य सम्प्रमादस्याविद्यया
शरीरेणाविशेषतां सशरीरतामेव सम्प्राप्तस्य शरीरात्म-
मुत्थाय स्वेन रूपेण यथाऽभिनिष्पत्तिस्तथा वक्तव्येति
दृष्टान्त उच्यते । अशरीरो वायुरविद्यमानं शिरःपाण्या-
दिमच्छरीरमस्येत्यशरीरः । किञ्चाभं विद्युत्स्तनयितु-
रित्येतानि चाशरीराणि । तत्तत्तैवं सति वर्षादिप्रयोजना-
वसाने यथा । अमुष्मादिति भूमिष्ठा अतिर्द्युलोकसम्बन्धि-
नमाकाशदेशैर्व्यपदिशति । एतानि यथोक्तान्याकाशसमान-

द्वेषप्रयत्नधर्मधर्मभावना नवात्मगुणा सोमांसकभ्रान्तिः ॥ तस्य दुर्पङ्क्त-
ममकमित्याह । तथान्य इति ॥ यदा परीक्षकाणामपीडयो भ्रान्तिरात्मनो
दुरवगमत्वं गमयति तदा विचारविधुराणां लौकिकानां भ्रान्तिस्तत्र
प्रमाणयितव्येत्याह । किमन्य इति ॥ अन्येष्वर्थमन्नीति किं वक्तव्यमिति
सम्बन्धः ॥ यदि लौकिकानां परीक्षकाणां चेदमत्मातत्त्वं दुर्ज्ञानं प्रतिज्ञायते
केषां तर्हि इदं सुज्ञानमित्याशङ्क्याह । तस्मादिति ॥ एषणास्त्रिवात्मत-
त्वेऽपि तेषामौदासीन्यं वारयति । अनन्यशरणैरिति ॥ तेषां कुटो-
चरादिभावं व्यासेषति । परमहंसैति ॥ कर्म्मनिष्ठानामाश्रमज्ञानतीत्य
नैष्कर्म्यप्रामाण्येन वर्त्तमानत्वं दर्शयति । अत्याश्रमिभिरिति ॥ अनन्यश-
रणैरित्युक्तं व्यनक्ति । वेदान्तेति ॥ पूज्यतमैरिति नित्यानुवादस्तेषा-
न्नात्मवेदनोपायं प्राक्तनमुपदिशति ॥ प्रजापत्यक्षेति स्थानत्वयं तुरी-

ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥
एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्मसुत्वाय परं

रूपतामापन्नानि स्वेन वाय्वादिरूपेणागृह्यमाणानि आ-
काशाख्यताङ्गतानि । यथा सम्प्रसादोऽविद्यावस्थायां
शरीरात्मभावमेवापन्नस्तानि च तथा भूतानि असुष्माद्यु-
लोकसम्बन्धिन आकाशदेशात्मसुत्तिष्ठन्ति वर्षणादिप्रयो-
जनाभिनिर्वृत्तये । कथं शिशिरार्पाये सावित् परं ज्योतिः
प्रकटं ग्रैष्मिकसुपसम्पद्य सावित्तमभितापं प्राप्येत्यर्थः ।
आदित्याभितापेन पृथग्भावमापादिताः सन्तः स्वेन स्वेन
रूपेण पुरोवातादिना वायुरूपेण स्तिमितभावं हित्वा
ऽन्नमपि पर्वतहस्तादिरूपेण । विद्युदपि स्वेन ज्योतिर्लता-
दिचपलरूपेण । स्तनयित्त्वरपि स्वेन गर्जिताग्निरूपेणेत्येवं
प्रावृडागमे स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते । यथाऽयं

यज्ञे त्वेतिद्विषयं प्रकरणचतुष्टयम् ॥ यद्योक्ताधिकारिणमेवात्मवेदनमित्यत्र
लिङ्गान्तरमाह । तथेति ॥ अशरीरमित्यादिवाक्यव्याख्यानोपसंहारार्थ-
मितिपदं शशरीरस्य बन्धो मुक्तिरशरीरस्येति स्थिते किमर्थमशरीरो
वायुरित्यादिवाक्यमित्याशङ्काह । तत्वेत्यादिना ॥ कथं वायोरशरीरत्वं
तदाह । अविद्यमानमिति ॥ एवं सति वाय्वादीनामशरीरत्वे सतीति
यावत् । आकाशस्य सर्वत्रैकरूपत्वादसृष्टादिति कुतो व्यपदेशसिद्धि-
रित्याशङ्काह । असृष्टादितीति ॥ यद्योक्तान्यशरीराणि वाय्वादीनि
तेषामकथत्वापत्तौ ढटान्वमाह । यथेति ॥ तथा वाय्वादीनि स्वेन रूपे
णगृह्यमाणत्वादशयामाकाशाख्यतां गतानीति सम्बन्धः । तानि च
वाय्वादीनि तथाभूताम्याकाशात्मत्वं प्राप्नानीत्येतत् ॥ वर्षादिफलनिष्प-

ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स
उत्तमः पूरुषः स तत्र पर्येति जज्ञन्क्रीडन्ममाणः

दृष्टान्तो वाय्वादीनामाकाशादिसाम्यगमनवद्विद्यया
संसारावस्थायां शरीरसाम्यमापन्नोऽहमसुखं पुत्रो
जातो जीर्णो मरिष्य इत्येवमकारम् । प्रजापतिनेव मधवान्
यद्योक्तेन क्रमेण नासि त्वं देहेन्द्रियादिधर्मा तत्त्वमसीति
प्रतिबोधितः सन् स एष सम्प्रसादो जीवोऽस्माच्छरीरात्
आकाशादिव वाय्वादयः समुत्थाय देहादिवैलक्षण्यमा-
त्मनो रूपमवगम्य देहात्मभावनां हित्वेत्येतत्स्वेन रूपेण
सदात्मनैवाभिनिष्पद्यत इति व्याख्यातं पुरस्तात् । स येन
स्वेन रूपेण सम्प्रसादोऽभिनिष्पद्यते प्राक् प्रतिबोधात्
तद्भ्रान्तिनिमित्तात्मरूपो भवति यथा रज्जुः । पश्चात्कृतप्रका-
शाद्रज्ज्वात्मना स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । अत एवञ्च स उ-

क्त्यर्थं वाय्वादीनामाकाशदेयात् ससुत्यानसुक्तमाकाङ्क्षादारेण स्फुटयति ।
कथमित्यादिना ॥ स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्त इति सम्बन्धः । तत्र
वायोरन्तस्व विद्युत्स्तनयित्रीच स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिप्रकारं विदु-
ष्येति । पुरोवातादीति ॥ स्तिमितभावं हित्वा वायुरिति शेषः ॥ दृष्टा-
न्मनस्य दार्ष्टान्तिकमाह । यथेति ॥ वाष्पादीनामित्यस्यात्युत्सासत्वे-
त्यध्याहर्तव्यम् । तत्वादियन्देनाभ्रविद्युत्स्तनयित्रीचो ज्ञेयान्ते । आका-
शादित्यादिपदमन्वादिकारणसङ्ग्रहार्थम् ॥ शरीरसाम्यमेव विवर्तिष्यते ।
अहमिति ॥ प्रतिबोधने दृष्टान्तमाह । प्रजापतिनेति ॥ यद्योक्तेन
क्रमेण पर्यायवस्तुव्योपदिष्टप्रकारेणेति वाच्यम् । मधवान्प्रतिबोधित
इति सम्बन्धः । दार्ष्टान्तिके प्रतिबोधनप्रकारं दर्शयति । नासीति ॥
शरीराद्विदुषः ससुत्याने दृष्टान्तमाह । आकाशादिवेति ॥ ससुत्यानं विभ-

स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मर-

त्तमपूरुषः । उत्तमश्चासौ पूरुषश्चेत्युत्तमपूरुषः स एवोत्त-
मपूरुषः । अक्षिस्त्रप्रपूरुषौ व्यक्ताव्यक्तश्च सुषुप्तः समस्तः
सम्प्रसन्नोऽशरीरश्च स्वेन रूपेण्येति । एषामेव स्वेन रूपे-
णावस्थितः क्षराक्षरौ व्याकृताव्याकृतावपेक्ष्योत्तमपूरुष-
कृतनिर्वचनो ह्ययं गीताभु स सम्प्रसादः स्वेन रूपेण
तत्र स्वात्मनि स्वस्थतया सर्वात्मभूतः पर्येति कश्चिदिन्द्रा-
द्यात्मना जज्ञद्धसन् भक्षयन् वा भक्ष्यानुज्ञावचानीप्सि-
तान् क्विबन्धनोमातैः सङ्कल्पादेव समुत्थितैर्ब्राह्मलौकि-
कैर्वा क्रीडन् स्त्र्यादिभी रममाणश्च मनसैव नोपजनं
स्मरन् स्त्रीपुंसयोरन्योन्योपगमेन जायत इत्युपज-
नमात्मभावेन वात्मसामीप्येन जायत इत्युपजनमिदं
शरीरं तत्र स्मरन् । तत्स्मरणे हि दुःखमेव स्यात् । दुःखा-

जते । देहादौति ॥ पुनरुक्तिं परिहरति । इति व्याख्यातमिति ॥
उत्तरवाक्यस्थं सशब्दं व्याचष्टे । स येनेति । स उत्तमः पूरुष इति सम्बन्धः ॥
सम्प्रसादस्य स्वेन रूपेणाभिनिव्यक्तिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । प्रागित्यादिना ॥
उक्तदृष्टान्तासुसारेणाविद्यादशायां शरीरात्मत्वमापन्नो जीवो विद्यया
प्रकाशितब्रह्मसत्त्वः स्वेन रूपेणाभिनिव्यक्तो भवतीति दार्ष्टान्तिकमाह ।
एवञ्चेति ॥ पूरुषस्योत्तमत्वविशेषणं पूरुषान्तरव्यवच्छेदार्थमित्यभिप्रेत्य
पूरुषभेदं दर्शयति । अक्षीति ॥ इति चत्वारः पूरुषा इति शेषः । तत्र
पूर्वेषां त्रयाणां व्यवच्छेद्यं तृतीयस्य तूत्तमपूरुषत्वमित्याह । एषामिति ॥
यथोक्तोत्तमपूरुषे भगवत्सम्पत्तिं सञ्चिरते । शरेति ॥ हाविमौ पूरुषौ
लोके क्षरक्षाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पूरुषस्त्वन्वः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभ-

निर्दुः शरीरस्य स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त

त्यक्तत्वात्तस्य । नन्वनुभूतं चेन्न क्षरेदसर्वं ज्ञत्वमुक्तं स्यात् ।
 नैष दोषो येन मिथ्याज्ञानादिना जनितं तच्च मिथ्याज्ञा-
 नादि विद्युद्योच्छेदितमतस्तत्त्वानुभूतमेवेति न तदक्षरणे
 सर्वं ज्ञत्वहानिः । न ह्युक्तत्वेन यद्वद्विज्ञेतेन वा यदनुभूतं
 तदुन्मादाद्यपगमेऽपि क्षर्त्तव्यं स्यात्तथेहापि संसारिभिर-
 विद्यादोषवद्भिर्ननुभूयते तत्सर्वज्ञानमशरीरं न स्पृशति ।
 अविद्यादिनिमित्ताभावात् । ये ह्यच्छिन्नदोषैर्द्वन्द्वितकषा-
 यैर्मानसा सत्याः कामा अमृतापिधाना अनुभूयन्ते
 विद्याभिव्यङ्ग्यत्वात् त एवमुक्तेन सर्वात्मभूतेन सम्बध्यन्ते
 इत्यात्मज्ञानस्तुतये निर्दिश्यन्तेऽतः साध्ये तद्विशिनष्टि ।
 य एते ब्रह्मलोक इति । यत्र कचन भवन्तोऽपि ब्रह्मण्येव
 हिते लोके भवन्तीति सर्वात्मत्वाद्ब्रह्मण्यु उच्यन्ते । ननु कथ-
 मेकः सन्नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानातीति

त्यव्यय ईश्वरः ॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥ अतो-
 ऽस्मिंल्लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम इति हि स भगवानुचिवान् ॥ स
 तत्त्वत्वादि व्याचष्टे । स सम्प्रसाद इति ॥ कचिदिति स्वर्गलोकोक्तिः ।
 कचिन्नानोमातैरित्यत्र कचिदिति ब्रह्मलोको गृह्यते ॥ बोधजनमिति
 प्रतीकं गृहीत्वा व्याकरोति । स्त्रीपुंसयोरिति ॥ तच्च क्षरवृष्येत्येतीति
 सम्बन्धः ॥ यथोक्तदेहभृतौ कातुपपत्तिरित्याशङ्क्याह । तत्क्षरणे
 हीति ॥ विदुषो मुक्तस्यानुभूतदेहाक्षरणे दूषणस्य गृह्यते । नन्विति ॥
 असर्वज्ञत्वदोषं निराकरोति । नैव दोष इति ॥ अनुभूतार्थभृतौ हि
 सर्वज्ञ इति । न च शरीराद्यनुभूतं तस्याविद्याकामकर्मबुद्धसाक्षान-

एवमेवायमस्मिञ्चरौरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥

स भूभा कामाश्च ब्राह्मणीकिकान् पश्यन्मत इति च
विरुद्धम् । यथैको यस्मिन्नेव क्षणे पश्यति स तस्मिन्नेव क्षणे न
पश्यति चेति । नैष दोषः । श्रुत्यन्तरे परिहृतत्वादुद्दिष्टे-
रविपरिलोपात्पश्यन्नेव भवति । द्रष्टुरन्यत्वेन कामानाम-
भावान्न पश्यति चेति । यद्यपि सुषुप्ते तदुक्तम् । सुक्तस्यापि
सर्व्वैकत्वात्समानो द्वितीयाभावं । केन कं पश्येदिति
चोक्तमेव । अशरीरस्वरूपोऽपहतपाप्मादिलक्षणः सन् कश्च-
मेव पुरुषोऽक्षिणि दृश्यत इत्युक्तः प्रजापतिना । तत्र यथा
ऽसावक्षिणि साक्षाद् दृश्यते तद्वक्तव्यमितीदमारभ्यते । तत्र
को हेतुरक्षिणि दशन इत्याह सहृष्टान्तः । यथाप्रयोगः
प्रयोग्यपरो वा सशब्दः । प्रयुज्यत इति प्रयोग्योऽखो वली
वर्ही वा । यथा लोके आचरत्यनेनेत्याचरणो रथोऽनो

मात्रत्वात्तस्य च सकार्यस्य ज्ञानोदयमात्रेण नष्टत्वात्त्रागपि शरीरादे-
रनुभवविपरीतवर्त्तित्वानुपपत्तेरित्यर्थः । शरीरादिपूर्वं स्वयन्ज्ञानेन-
विषयीकृतमपि सङ्गान्त्यानुभूतमेवेति विदुषामपि कर्त्तव्यमिति चेद्वेत्ताह ।
न हीति ॥ सुक्ते पुरुषे शरीरादयो न सम्बध्यन्ते चेत्कसं तर्हि तत्र कामाः
सम्बध्येरक्षित्याशङ्काह । वेत्ति ॥ किमिति ॥ सर्व्वैरेते कामा नाह-
भूयेरक्षित्याशङ्काह । अन्धतापिधाना इति ॥ इतश्च विदुषामेव
तदभिध्यक्षितिरित्याह । विद्येति ॥ किमिति निर्गुणविद्याप्रकरणे विदुषि
सत्यकामसम्बन्धवचनं तत्राह । इत्यात्मज्ञानेति ॥ आत्मविद्यास्तत्त्वैर्
विदुषि कामसम्बन्धवचनं अनसैताम् कामानुपपद्यक्षित्यत्र विशेषवचनमपि
युक्तमित्याह । अत इति ॥ इन्द्रियादिषु भवतां कामानां कुतो ब्रह्म-

अथ यच्चैतदाकाशमनुविषस्य चक्षुः स चाक्षुषः

वा तस्मिन्नाचरणे युक्तस्तदाकर्षणाय । एवमस्मिंश्चरीरे
रयस्थानीये प्राणः पञ्चवृत्तिः इन्द्रियमनोबुद्धिसंयुक्तः
प्रज्ञात्मा विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयसंमूर्च्छितात्मा युक्तः स्क-
न्मफलोपभोगनिमित्तं नियुक्तः । कस्मिन्म्वहसुत्क्रान्तो
भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीती-
श्वरेण राज्ञा इव सर्वाधिकारी दर्शनश्रवणचेष्टाव्या-
पारेऽधिकृतः । तस्यैव तु मातृकदेशश्चक्षुरिन्द्रियं रूपोप-
लब्धिद्वारभूतम् । अथ यत्र कृष्णतारोपलक्षितमाकाशं
देहच्छिद्रमनुविषस्यमनुसक्तमनुगतं तत्र स प्रकृतोऽशरीर
आत्मा चक्षुषि भवतीति चाक्षुषश्चक्षुषि भव इति चाक्षु-
षस्तस्य दर्शनाय रूपोपलब्धये चक्षुः करणं यस्य तत् ।
देहादिभिः संहतत्वात्परस्य द्रष्टुर्यं सोऽत्र चक्षुषि दर्श-

लोकभावित्वमित्याशङ्काह । यत्नेति ॥ मनसैतान् कामानित्यादिवाक्यं
स्तुत्यर्थमपि प्रधानवाक्यविरुद्धत्वात्पञ्चमिति शङ्कते । नन्विति ॥ वाक्य-
योर्मिथो विरोधे दृष्टान्तमाह । यथेति ॥ यद्वैतज्ञ पश्यति न हि द्रष्टु-
र्दृष्टेर्विपरिचयो विद्यतेऽविनाशित्वाच्च त्व तद्वितीयमस्ति । ततोऽन्य-
द्विभक्तं यत्पश्येदिति बृहदारण्यकश्रुतिमाश्रित्य विरोधं धुनोते ।
नैव दोष इति ॥ अथ यथोक्तं वाक्यं सुषुप्तमधिकृत्य प्रवृत्तं कथं सक्तवि-
षये तयोदाहृतमत आह । यद्यपीति ॥ सुषुप्तस्य मोक्षदृष्टान्तत्वात्तत्प्रवृत्तस्य
च दार्ष्टान्ति ॥ सुषुप्तमाद्युक्तं सुषुप्ते तत्त्वमस्यो सुप्ते सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥
किञ्च सुप्तमेवाधिकृत्य यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदित्यादि तत्रैवोक्तमित्याह ।
केनेति ॥ फलार्थवदस्यानितवाक्यस्य च मिथो विरोधं शङ्कते अशरीरेति ॥

पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति
स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याह-

नेन लिङ्गेन दृश्यते परोऽशरीरोऽसंहतः ॥ अक्षिणि
दृश्यत इति प्रजापतिनोक्तं सर्वेन्द्रियद्वारोपलक्षणार्थम् ।
सर्वविषयोपलब्धा हि स एवेति । स्फुटोपलब्धिहेतुत्वा-
च्चक्षिणीति विशेषवचनं सर्वश्रुतिषु । अहमदर्शमिति
तत्सत्यं सम्भवतीति च श्रुतेः । अथापि योऽस्मिन्नेहे वेद
कथमिदं सुगन्धि दुर्गन्धि वा जिघ्राणीति अस्य गन्धं विजा-
नीयामिति स आत्मा । तस्य गन्धाय गन्धविज्ञानाय
घ्राणम् । अथ यो वेदेदं वचनमभिव्याहराणीति वदित्वाभीति
स आत्माऽभिव्याहरणक्रियासिद्धये करणं वागिन्द्रियम् ।
अथ यो वेदेदं शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ।

दृश्यत इत्यस्य पदस्य चाक्षुषदर्शने कूटत्वादशरीरस्य तदयोग्यत्वादश-
रीरात्मोक्तिर्दृश्यत इति श्रुतिर्विरुद्धेत्यर्थः ॥ आत्मत्वान्नतत्त्वाद्विज्ञा-
विषयानेकश्रुतिलिङ्गविरोधाद्दृश्यत इत्येकस्याः श्रुतेर्ज्ञानमात्रविषया-
वान्तरविरोधोऽस्तीत्यभिप्रेत्यानन्तरं वाक्यस्य पयति । तत्रेति ॥ चाक्षु-
षदर्शनाविषयत्वे सति चक्षुषो दर्शने को हेतुरित्यपेक्षायां लिङ्गहेतुकं
तावद्दर्शनं सम्भवतीति सत्त्वा दृष्टान्तमाह श्रुतिः ॥ स दृष्टान्तो यथा
भवति तथोच्यत इत्याह । तत्रेति ॥ तमेव दृष्टान्तमनूद्य व्याचष्टे । यथेत्या-
दिना ॥ व्यञ्जहारराहित्यसिद्ध्यर्थं पञ्चान्तरमाह । प्रयोग्येति ॥ एव-
मित्यनेन द्वितीयो यथाशब्दः शरीरस्य रथस्थानीयत्वं शरीरं रथमेव
त्विति श्रुत्यन्तरात्मत्वम् । तस्मिन्नुक्तशरीरे ईश्वरेण स्वकर्म्मफलोप-
भोगनिमित्तं प्राणो रथित्वेन नियुक्त इति सम्बन्धः ॥ प्राणप्राणं व्यावर्त्त-
यति । पञ्चदशिरिति ॥ बुद्धिस्तु सः रथिं विद्धि मनःप्रथममेव च ॥ इन्द्रि-

राखीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागध यो
वेदेद् ष्णानीति स आत्मा यवसाय योचं
॥ ४ ॥ अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा

अथ यो वेदेदं मन्वानीति मनमव्यापारमिन्द्रियासंप्रयुक्तं
केवलं मन्वानीति वेद स आत्मा । यो वेद स आत्मेत्वेन
सर्वत्र प्रयोमादेदनमस्य स्वरूपमित्यवगम्यते । यथा यः
पुरस्तात्प्रकाशयति स आदित्यो यो दक्षिणतो यः
पश्चाद्य उत्तरतो य ऊर्ध्वं प्रकाशयति स आदित्य इत्युक्ते
प्रकाशस्वरूपः स इति मस्यते । दर्शनादिक्रियानिर्वृत्तार्थानि
तु चक्षुरादिकरणानि । इदं साक्षात्मानः सामर्थ्यादवग-
म्यते । आत्मनः सत्तामात्र एव ज्ञानकर्तृत्वं न तु व्याप्ततया ।

याणि ह्यन्याङ्कुरितिश्रुत्यन्तरमाश्रित्याह । इन्द्रियेति ॥ आत्मानं रश्मि-
विज्ञोतिश्रुतेः प्राणस्य रश्मित्वमित्याशङ्क्य तस्य तदुपाधिर्यस्तदभेदाङ्को-
कारात्तैवमित्याह । प्रज्ञात्वेति ॥ तस्याध्यात्मसन्तानद्वयविशिष्टत्वेन
स्फुरितं स्वरूपं दर्शयति । विज्ञानेति ॥ ईश्वरस्य यथोक्तप्राणोपाधि-
द्वारा भेक्तृत्वादिसंसारित्वमन्यत्र श्रुत्यन्तरं प्रमाणयति ।
कश्चिन्निति ॥ प्रतिष्ठस्य सोति ईक्षित्वा स प्राणमसृजतेत्यादि-
श्रुतिरिति । शेषः ॥ तथाच यथा राज्ञा सर्वोपाधिकारत्वेन
सेनाध्यक्षः सन्निविष्टादौ निदुष्यते तथेश्वरेण सर्वचेष्टा-
न्तराधिकृतः स्वकार्यदर्शनादिव्यापारनिमित्तं नियुक्तो भवती-
त्याह । राज्ञेति ॥ प्राणः स्वविषययोगेन चेतनेन नियुज्यते प्रयो-
ज्यत्वादश्चादिबदित्वनुमानाद्देहसंहतात्माणादतिरिक्तोऽसंहतचेतनः शि-
ख्योति ससदायार्थः । चक्षुरादिचेष्टा चेतननिमित्ता चेष्टा-
त्वाद्वादिचेष्टावदिति ॥ अनुमानान्तरं सूचयति । तस्यैवेति ॥
प्रज्ञतप्राणविषयस्यैवः । आत्मेत्येतस्य व्याख्यानमेकदेश इति

मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन
चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥५॥ य

यथा सवितुः सप्तामात्र एव प्रकाशनकर्तृत्वं न तु व्याप्त-
तयेति तद्वत् । मनोऽस्यात्मनो दैवमप्राकृतमितरेन्द्रियै-
रसाधारणम् चक्षुश्चष्टे पश्यत्यनेनेति चक्षुः । वर्त्तमानकाल-
विषयाणि चेन्द्रियाण्यतोऽदैवानि तानि । मनसु त्रिकाल-
विषयोपलब्धिकरणं च्छदितदोषश्च सूक्ष्मव्यवहितादि
सर्वोपलब्धिकरणाच्चेति दैवश्चक्षुरुच्यते । स वै मुक्तः स्वरूपा-
पन्नोऽविद्याकृतदेहेन्द्रियमनोविमुक्तः सर्वात्मभावमापन्नः
सन्नेष व्योमवद्विशुद्धः सर्वेश्वरो मनोउपाधिः सन् एतेनै-
वेश्वरेण मनसैतान् कामान् सवितृप्रकाशवन्नित्यप्रततेन

प्राणसंवादे चक्षुरादीनां प्राणपारतन्त्र्यप्रतीतेस्तदेकदेशत्वं तेषामिति
द्रष्टव्यम् । शरीराद्यातिरिक्तामात्मानं सम्भाव्य तस्योपाधिकं द्रष्टृत्वमाचष्टे ।
अथेति ॥ अतिरिक्तात्मसम्भावनानन्तर्यमवशब्दार्थः । यत् तत्वेति सप्त-
कोभ्यां संसारदर्शोच्यते । अनुगतं चक्षुरिति सम्बन्धः ॥ दर्शनाय चक्षु-
रित्यस्यार्थं समर्थयते । यस्येति ॥ यस्य परस्य द्रष्टुरर्थं करणं चक्षु-
रितं स यश्चक्षुषा लिङ्गेन दृश्यत इति सम्बन्धः ॥ परार्थे चक्षुषो हेतुमाह ।
देहादिभिरिति ॥ यत्संज्ञितं तत्सर्वविलक्षणशेषं दृष्टम् । यथा शयनास-
नादि । तथा तदपि चक्षुर्देहादिभिः संज्ञितत्वाद्यस्य विलक्षणस्य शेषभूतं
सोऽत्र दर्शनेन लिङ्गेन दृश्यते । किमतं साक्षर्यं धर्मत्वादूपरिदृढदित्य-
नुमानादित्यर्थः ॥ दृश्यत इत्यस्याविरुद्धार्थसंज्ञाऽऽलिखीत्यस्य विवक्षित-
सर्वमाह । अलिखीपीति ॥ यथाऽलिङ्गः रा रूपापलब्धः तथा परस्मै-
दिन्द्रियद्वारा तत्तद्विषयोपलब्धः पर एवेति कृत्वा युक्त-
मिदं प्रसक्तमिति साधयति । सर्वविषयेति ॥ सर्वेन्द्रियैरुपलब्ध-
मविशिष्टं चेत्कथं तर्हि सर्वाण्यपि श्रुतिश्चक्षुषोवाक्येनोपदिश्यते तस्माह ।

एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासतं
तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च
कामाः स सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वाश्च

दर्शनेन पश्यन् रमते । कान् कामानिति विशिनष्टि । य एते
ब्रह्मणि लोके हिरण्यनिधिवद्वाह्यविषयासङ्गावृतेनापि-
हिताः सङ्कल्पमात्रलभ्यास्तानित्यर्थः । यस्मादेष इन्द्राय
प्रजापतिनोक्त आत्मा । ततः श्रुत्वा तमात्मानमद्यत्वेऽपि
देवा उपासते । तदुपासनाच्च तेषां सर्वे च लोका आत्ताः
प्राप्ताः सर्वे च कामाः । यदर्थं हीन्द्र एव शतं वर्षाणि
प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तत्फलं प्राप्तं देवैरित्यभिप्रायः ॥
तद्युक्तं देवानां महाभाग्यत्वान्न त्विदानीं मनुष्याणामत्यल्प-

स्फुटेति ॥ चक्षुषः स्फुटोपलब्धौ हेतुत्वे श्रुतिं सम्पादयति । अहमिति ॥
यत्वादर्थमिति चक्षुषः प्रत्ययस्तद्वस्तु सत्यं स्फुटोपलब्धमादिति द्वयोर्विवद-
मानयोर्दृष्टमित्यर्थः । य एषोऽक्षिणीत्यत्र सर्वेन्द्रियहारोपलब्ध्या विव-
क्षित इत्युक्तं व्यक्तीकरोति । अथापीति । चक्षुषि स्फुटोपलब्धेऽपीति
यावत् । योऽस्मिन्देहे येन केनापीन्द्रियेण । कं यं चिर्चाद्वयं वेद स
आत्मेति सम्बन्धः ॥ उक्तमेवार्थमाकाङ्क्षाद्वारा स्फोरयति । कथमित्या-
दिना ॥ जिघ्राणीति यो वेदेत्युक्तमेवं सङ्क्षिपति । अस्मेति ॥ इन्द्रिये-
र्घ्राणादिभिर्दृष्टं तत्तद्दारेणानिष्पन्नमिति यावत् । केवलं मनोमात्र-
जनितमित्येतन्नानानि सम्पादयानीत्यर्थः ॥ यो वेदेत्यत्र प्रत्ययार्थभूतं
कर्तृत्वं सापेक्षत्वान्निष्ठ्याप्रकृत्यर्थं रूपन्त संविद्यात्मनपेक्षतया
सत्यमात्रस्वरूपमित्याह । यो वेदेति । आत्मा संवेदनस्वभावश्चेत्तत्तत्त्वं
सर्वादेवविषयसिद्धिसम्भवाच्चक्षुरादिवैयर्थ्यं स्यादित्याशङ्क्याह । दर्शना-
दिति ॥ अन्तःकरणवृत्तिर्दर्शनादिक्रिया । सा चात्मनः संवेदेकरसत्वा-

कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीति ह
प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥ १२ ॥

जीवितत्वान्मन्दतरप्रज्ञत्वाच्च सम्भवतीति प्राप्ते इदमुच्यते ।
स सर्वान्श्च लोकानाप्नोति सर्वान्श्च कामानिदानीन्तनो
ऽपि । कोऽसाविन्द्रादिवद्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति
ह सामान्येन कित् प्रजापतिरुवाच । अतः सर्वेषामा-
त्मज्ञानं तत्फलप्राप्तिश्च तुल्यैव भवतीत्यर्थः । द्विर्वचनं
समाप्त्यर्थम् ॥ १२ ॥

सङ्गोदासीनस्य विषयसंसर्गभ्रमहेतुस्तन्निष्पत्त्यर्थानि चक्षुरादीनि भवन्ति
सार्धकानीत्यर्थः ॥ तेषामुक्तरीत्या सार्धकत्वे गमकमाह । इदञ्चेति ॥
करणानामुक्तं सार्धकत्वं प्रकृतस्य संविन्मात्रस्यासङ्गत्वादेव स्वतो विषय
सम्बन्धानुपपत्त्या तत्सम्बन्धभ्रान्तिकारणान्तःकरणवृत्तिविशेषापेक्षया
निर्द्धारितमित्यर्थः ॥ आत्मनः संविन्मात्रस्वभावत्वे कथं कर्तृत्वपदेश इत्या-
शङ्काह । आत्मन इति ॥ य एषोऽन्विषीत्यादि वाक्यं प्रपञ्चितं सम्प्रति
स तत्वेत्यादि फलदाक्यं प्रपञ्चयितुमिन्द्रियान्तरेभ्यो मनसो वैलक्षण्यं
दर्शयति । मनोऽस्येति ॥ तस्य चक्षुष्टेऽपि कुतो दैवत्वमित्याशङ्काह ।
वर्त्तमानेति ॥ आगन्तुकदोषराहित्यं स्मृदितदोषत्वं सर्वेश्वरो व्यच्यते ।
यस्मिन्विशुद्धे मनसि तन्मनः सर्वेश्वरं तदुपाधिरस्येति तथोक्तः । ईश्वरेण
तदभिव्यक्तकेनेत्येतदविद्यादिप्रतिबन्धकस्याभावान्मनसा नित्यं प्रतप्तं दर्शनं
नित्याभिव्यक्तस्वरूपं चैतन्यं तेन पश्यन्नितीति योजना ॥ त वा एतमि-
त्यादि व्याचष्टे । यच्चादिति ॥ पदार्थसङ्गा वाक्यार्थमाह । यदर्थं हीति ॥
सर्वान्श्चेत्यादिवाक्यमाशङ्कोत्तरत्वेनोत्थाप्य व्याचष्टे । तद्यत्तमित्यादिना ॥
यथोक्तं फलं तच्छब्दार्थः । प्रकरणनिर्बिषेयज्ञातृत्वज्ञानविषयं
दृष्टप्रकरणं विद्याप्रकरणे उपास्यस्तुत्यर्थं प्रसङ्गादुक्तं तत्प्रकरणपरि-
समाप्त्यर्थम् ॥ १२ ॥

श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छरामं प्रपद्ये
अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहो
मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमद्यतं द्युतात्मा ब्रह्म-
लोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥ १ ॥ १३ ॥

श्यामाच्छवलं प्रपद्ये इत्यादिऋन्ताम्नायः पावनो जया-
र्यश्च ध्यानार्थो वा । श्यामो गम्भीरो वर्णः श्याम इव श्यामो
हार्दं ब्रह्म । अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात्तद्दार्दं ब्रह्म ज्ञात्वा ध्यानेन
तस्माच्छ्यामाच्छवलमिव शवलोऽरण्याद्यनेककाममिश्रत्वा-
द्ब्रह्मलोकस्य शवल्यं तं ब्रह्मलोकं शवलं प्रपद्ये मनसा ।
शरीरपातादोद्धं गच्छयन् । यस्मादहं शवलाद्ब्रह्मलोकान्ता-
मरूपव्याकरणाच्छरामं प्रपद्ये हार्दं ब्रह्मभावं प्रपन्नोऽस्मी-
त्यभिप्रायः । अतस्तमेव प्रकृतिस्वरूपमात्मानं शवलं प्रपद्ये
इत्यर्थः । कथं शवलं ब्रह्मलोकं प्रपद्ये इत्युच्यते । अश्व इव
स्थानि लोमानि विधूय कम्पनेन अमं पांश्वादि च
रोमतोऽपनीय यथा निर्मालो भवत्येवं हार्दं ब्रह्मज्ञानेन
विधूय पापं धर्माधर्माख्यं चन्द्र इव च सुखाद्राज्यसल-
साद्राहोर्मुखात्प्रमुच्य भास्वरो भवति यथैवं धूत्वा प्रहाय

जतावा दहरविद्यायाः शेषभूतं जपविधानार्थसारभते । श्यामा-
दिति ॥ अत्यन्तं दुरवगाह्यत्वाज्ज्ञानहीनानामिति शेषः । कथं जीवतो
ब्रह्मलोकप्राप्तिरित्याशङ्काह । मनसेति ॥ न तर्हि सुस्था तन्माप्ति-
रित्यशङ्काह । शरीरेति ॥ विपरीतपाठं हेतुत्वेनेति ध्याचष्टे । यस्या-
दिति ॥ हेतुः प्रतिज्ञया बोध्यो । अत इति ॥ इदानीन्तनाकाङ्क्षापूर्वक-

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते
यदन्तरातद्ब्रह्म तदन्तत्सआत्मा प्रजापतेः सर्वा

शरीरं सर्वानर्याश्रयमिहैव ध्यानेन कृतात्मा कृतकृत्यः
सन्नकृतं नित्यं ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीति । द्विषन्नं मन्त्र-
परिसमाप्त्यर्थम् ॥ १३ ॥

आकाशो वै इत्यादि ब्रह्मणो लक्षणनिर्देशार्थम् । आध्या-
नायाकाशो वै नाम श्रुतिषु प्रसिद्धं आत्मा । आकाश इवा-
शरीरत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च स चाकाशो नाम । नामरूपयोः
स्वात्मस्थयोर्जगद्बीजभूतयोः सलिलस्येव फेनसंस्थानीययो-
र्निर्वहिता निर्वोढा व्याकर्त्ता । ते नामरूपे यदन्तरा
यस्य ब्रह्मणोऽन्तरा मध्ये वर्त्तते तयोर्वा नामरूपयोर-
न्तरा मध्ये यन्नामरूपाभ्यामस्पृष्टम् । यदि तद्ब्रह्म नामरू-
पविलक्षणं नामरूपाभ्यामस्पृष्टं तथापि तयोर्निर्वोढैव-
लक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः । इदमेव मैत्रेयीब्राह्मणोक्तं चिन्मात्रा-
नुगमात्सर्वत्र चित्स्वरूपतैवेति गम्यते एकवाक्यतया

भवतार्यं व्याचष्टे । कश्चित्त्वादिना शरीरस्य त्याज्यत्वं हेतुमाह ।
सर्वानर्थेति ॥ इति षडो ध्यानसंज्ञार्थः ॥ १३ ॥

दहरोऽभिन्नन्तराकाश इति लक्षणनिर्देशस्य प्रकृतोपयोगं दर्श-
यति । आध्यानावेति ॥ सर्वाणि ह वेदानि भूतान्याकाशादेव सक्त्य-
दान्ते आकाशं प्रत्यक्षं यन्ति । आकाशा ह्येवैभ्यो ज्ञानानित्याद्याः
श्रुतवः ॥ आकाशशब्देनात्मनः श्रुतिषु प्रसिद्धत्वे हेतुमाह । आकाश
इवेति ॥ ते यदन्तरेत्यत्र ते इति पदं प्रपञ्चादिवचनान्नं गृहीत्वा
व्याख्याय हितोपादिवचनान्नं पञ्चार्थादाक व्याचष्टे । तयोर्वेति ॥

वैश्व प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो
राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं

ऽऽत्मा । कथं तदवगम्यत इत्याह स आत्मा । आत्मा हि
नाम सर्वजन्तूनां प्रत्यक्चेतनः स्वसंवेद्यः प्रसिद्धश्चेन्नैव
स्वरूपेणोन्नीय अशरीरो व्योमवत्स्वर्गगत आत्मा ब्रह्मेत्य-
वगन्तव्यम् । तच्चात्मा ब्रह्माष्टतममरणधर्मा । अत ऊर्ध्वं मन्त्रः ।
प्रजापतिवृत्तुर्मुखस्तस्य सभां वैश्व प्रभुविमतं वैश्व प्रपद्ये
गच्छेयम् । किञ्च यशोऽहं यशो नामात्माहं भवामि ब्राह्म-
णानाम् । ब्राह्मणा एव हि विशेषतस्तमुपासते । अतस्तेषां
यशो भवामि । तथा राज्ञां विशाञ्च । तेऽप्यधिकृता एवेति
तेषामप्यात्मा भवामि । तद्यशोऽहमनुप्रापत्सि प्राप्नुयामि
प्राप्तुमिच्छामि । स हाहं यशसामात्मनां देहेन्द्रियमनोबु-
द्धिलक्षणां यशसामात्मा । किमर्थमहमेवं प्रपद्ये इत्यु-
च्यते । श्वेतं वर्णतः पक्वदरसमं रोहितम् । तथाऽदत्तं दन्त-

यदन्तरेति समस्तं पदं पूर्व्वत् व्याख्यातमधुना तु व्यस्तं व्याकृतं तदेव
व्याकरणं सङ्क्षिपति । नामरूपाभ्यामिति ॥ श्यामस्य दृष्टेत्कथं तच्चि-
र्व्याहकमित्याशङ्क्याह । नामरूपाभ्यामस्य दृष्टमिति ॥ मायावशादिति
शेषः । आत्मत्वेऽपि कथं करतलामलकवद्ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वमत आह ।
आत्मा हीति ॥ तेन स्वसंवेदनत्वेनेति यवत् । कुतो देहद्वयोपहत-
स्यात्मनः स्वसंवेद्यात् तत्राह । अशरीर इति ॥ परिच्छिन्नस्याशरीरत्व-
मयुक्तमित्याशङ्क्याह । व्योमवदिति ॥ ब्रह्मैव प्रत्यक्षभूतमिति कथमवगत-
मित्याशङ्क्याह । आत्मेति ॥ अनात्मत्वं चेदब्रह्मत्वप्रसङ्गात्प्रत्यक्षभूतं
ब्रह्म वस्तुव्यमित्यर्थः । उपास्यस्वरूपं दर्शयित्वा तदुपासकस्य प्रार्थ-
नामन्त्रस्य व्याख्या व्याकरोति । अत ऊर्ध्वमिति ॥ प्रथमतो ब्राह्मण-

यशसां यशः श्वेतमदत्कमदत्क् श्वेतं लिन्दु-
माभिगां लिन्दुमाभिगाम् ॥ १ ॥ १४ ॥

तद्वैतब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्म-
नवे मनुः प्रजाभ्य आचार्य्यकुलादेदमधीत्य

रहितमप्यदत्कं भक्षयित् तजोबलवीर्य्यविज्ञानधर्म्माणामप-
हन्तृ विनाशयित्वित्येतत् । तत्सेविनां स्त्रीव्यञ्जनं यदेव
लक्षणं श्वेतं लिन्दु पिच्छलं तं माभिगां माभिगच्छेयम् ।
द्विर्वचनमत्यन्तानर्थहेतुत्वप्रदर्शनार्थम् ॥ १४ ॥

तद्वैतदात्मज्ञानं सोपकरणमोमित्येतदक्षरमित्याद्यैः
सहोपासनैस्तदाचकेन ग्रन्थेनाष्टाध्यायलक्षणेन सह ब्रह्मा
हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्द्वारेण प्रजापतये कश्यपायो-
वाच । असावपि मनवे स्वपुत्राय । मनुः प्रजाभ्यः । इत्येवं श्रु-
त्यर्थसम्प्रदायपरम्परयाऽऽगतसुपनिषद्विज्ञानमद्यापि विद्व-
त्स्ववगम्यते । यथेह षष्ठाद्यध्यायत्रये प्रकाशितात्मविद्या
सफलाऽवगम्यते तथा कर्म्मणा न कश्चनार्थ इति प्राप्ते तदा-
नर्थक्यप्राप्तिपरिजिहीर्षयेदं कर्म्मणो विद्वद्भिरनुष्ठीयमानस्य-

पक्षणे हेतुमाह । ब्राह्मण एवेति ॥ विशेषं निर्दिशति । स्त्रीव्यञ्जन-
मिति ॥ योनिशब्दितं प्रजननेन्द्रियमित्यर्थः । कथं तद्वक्षयित् भवेत्त-
दह । तत्सेविनामिति ॥ तदाभिगमनं नाम गर्भवासस्तस्यातिश-
येनानर्थहेतुत्वं ज्ञापयितुं द्विर्वचनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

उक्तविज्ञानस्योत्प्रेलिकत्वशङ्कां व्युदस्यन्ननादिपारम्पर्यागतत्वं दर्श-
यति । तद्वैतदिति ॥ सोपकरणसुपकरणैः शब्दादिभिः सहितमिति
यावद् । तद्वारेण हिरण्यगर्भद्वारेणेत्यर्थः । विद्याप्रकरणं समाध्यावि-

यथा विधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य
कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिका

विपिष्टफलवत्त्वेनार्थवत्त्वमुच्यते । आचार्यकुलाद्देदमधीत्य
सहार्थतोऽध्ययनं कृत्वा यथा विधानं यथा श्रुत्युक्तैर्निय-
मैर्युक्तः सन्नित्यर्थः । सर्वस्यापि विधेः स्मृत्युक्तस्योपकुर्वा-
णकं प्रति कर्त्तव्यत्वे गुरुशुश्रूषायाः प्राधान्यप्रदर्शनार्थ-
माह । गुरोः कर्म यत्कर्त्तव्यं तत्कृत्वा कर्मशून्यो योऽति-
शिष्टः कालस्तेन कालेन वेदमधीत्येत्यर्थः । एवं हि
नियमवताधीतो वेदः कर्मज्ञानफलप्राप्तये भवति नान्य-
थेत्यभिप्रायः । अभिसमावृत्य धर्मजिज्ञासां समाप्यत्वा
गुरुकुलान्निवृत्य न्यायतो दारानाहृत्य कुटुम्बे स्थित्वा
गार्हस्थ्ये विहिते कर्मणि तिष्ठन्नित्यर्थः । तत्रापि गार्ह-
स्थ्यविहितानां कर्मणां स्वाध्यायस्य प्राधान्यप्रदर्शनार्थमु-
च्यते । शुचौ विविक्ते अमेध्यादिरहिते देशे यथावदा-
सीनः स्वाध्यायमधीयानो नित्यनैमित्तिकं कर्माधिकञ्च
यथा शक्तितो ऋगाद्यभ्यासञ्च कुर्वन् धार्मिकान् पुत्तान्

इदनुष्ठितस्य कर्मणः साफल्यमविद्वत्कृत्यन्तोषार्थं कथयति । यथेत्यादिना ॥
इहेति प्रकृतोपनिषदुक्तिः ॥ प्राङ्मुखत्वं पवित्रपाणित्वादयो नियमाः ॥
भिद्याशनस्नानाचमनादिविधिः । किमित्येष नियमोऽध्ययने कथ्यते
तत्राह । एवं हीति ॥ तत्रापीति सप्तम्या यथोक्तोऽधिकारी ऋहीतः ॥
एतत्पर्यं स्वयं कुर्वन् ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यत इति सम्बन्धः । एवं
वर्त्तयन्नित्यस्य व्याख्यानमेवं यथोक्तेन प्रकारेण कुर्वन्निति । अप्राप्तम-

विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्या-
हिंसन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं
वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च

शिष्याश्च धर्मायुक्तान् विदधद्वाग्मिकत्वेन तान्नियमयन्वा-
त्मनि स्वहृदये हार्दे ब्रह्मणि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्योप-
संहृत्य सर्वेन्द्रियग्रहणात्कर्माणि च सन्धस्याहिंसदन् हिंसां
परपीडामकुर्वन् सर्वभूतानि स्थावरजङ्गमानि भूतान्य-
पौडयन्वित्यर्थः ॥ भिक्षानिमित्तमटनादिनापि परपीडा
स्यादित्यत आह । अन्यत्र तीर्थेभ्यः । तीर्थं नाम शास्त्रानुज्ञा
विषयस्ततोऽन्यत्रेत्यर्थः । सर्वाश्रमिणां चैतत्समानम् । तीर्थे
भ्योऽन्यत्राहिंसैवेत्यन्ये वर्णयन्ति । कुटुम्बे एवैतत्सर्वं कुर्वन्
स खल्वधिकृतो यावदायुषं यावज्जीवमेवं यथोक्तेन प्रका-
रेणैवं वर्त्तयन् ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते देहान्ते । न च
पुनरावर्त्तते । शरीरग्रहणाय पुनरावृत्तेः प्राप्तायाः प्रति-
षेधात् । अर्चिरादिना मार्गेण कार्यब्रह्मलोकमभिसम्पद्य
यावद्ब्रह्मलोकस्थितिं सावत्तवैव तिष्ठति प्राकृतो नावर्त्तत

तिषेधायङ्कां वारयति । पुनरावृत्तेरिति ॥ चन्द्रलोकादिव ब्रह्मलोका-
दपि प्राप्ता पुनरावृत्तिस्तस्या न चेत्यादिप्रतिषेधान्नाप्राप्तप्रतिषेधप्रस-
ङ्गित्वेति ॥ अपुनरावृत्तिवाक्यस्यान्यतराणि व्याकरोति । अर्चि-
रादिनेति ॥ प्राप्तिमि महाप्रलयात्पूर्वकालोक्तिस्ततो ब्रह्मलोकादित्यर्थः ।
विद्यदादिजगज्जातं जातमज्ञानतो यतः । तदस्मि नामरूपादिविरहि
ब्रह्म निर्भयम् ॥ १ ॥ नमस्तुभ्यन्तसन्दोहसरसीरुहभानवे । गुरवे परपञ्चो-

पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते ॥ १ ॥ १५ ॥ इति
 अष्टमः प्रपाठकः ॥ ८ ॥ कान्दोग्योपनिषत्स
 म्यूर्णा ॥ ॐ तत्सत् ॥

इत्यर्थः । द्विरभ्यास उपनिषदि द्वापरिसमाप्तार्थः ॥ १५ ॥
 इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्रा-
 जकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ कान्दोग्योपनिषद्भाष्ये
 अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥ कान्दोग्योपनिषद्भाष्य
 समाप्तम् ॥ ॐ तत्सत् ॥

षष्ठान्तध्वंस पटोयसे ॥ २ ॥ इति श्रीसत्यरमहंसपरिव्राजकाचा-
 र्यश्रीमच्छुक्लानन्दपूज्यपादशिष्यश्रीभगवदानन्दज्ञानगिरिकृतायां कान्दो-
 ग्यभाष्यटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ कान्दोग्योपनिषद्भाष्यटीका
 समाप्ता ॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥ ॐ ॥ तत्सत् ॥

